प्रस्तावना

आयुर्वेद को जीवन-विज्ञान कहा गया है, क्योंकि इसमें सर्वप्रथम सुखमय दीर्घ जीवन की कामना की गई है। आरोग्यपूर्णसम्पन्न सुखमय जीवन जीते हुए अन्त में जीवन के चरम लक्ष्य परलोक की प्राप्ति (मोक्ष) का मार्ग इसमें निर्दिष्ट है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति की भावना से आयुर्वेद की इस परम्परा में किंचित् भिन्न साधन सिद्धान्तों के साथ रसशास्त्र का आविर्भाव हुआ। इसने भी जीवन-मुक्ति को परम प्रयोजन माना गया है तथा मोक्ष-साधन में बाधक दरिद्रता (अभाव) और रोग-नियन्त्रण के उपाय ढूँढे गये हैं। इनकी मान्यता थी कि—'भोगों के कारण शरीर नश्वर है, अतः यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए। मोक्ष तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है और तत्त्वज्ञान सतत दीर्घ अभ्यास (योगाभ्यास) से तथा अभ्यास स्थिर दृढ़ (रोगमुक्त स्वस्थ) शरीर से[1]। अतः पिण्ड (शरीर) में स्थिरता का उपाय ढूँढ़ना चाहिए। इसी मूल चिन्तन के अन्तर्गत रसशास्त्र का आविष्कार एवं विकास हुआ।

रसशास्त्र का परम प्रयोजन जीवन्मुक्ति—प्राचीन काल में शैवमतावलम्बी साधकों ने परिश्रमपूर्वक अनेक प्रयोगों के बाद पारद को इस कार्य के लिए उपयुक्त पाया और कहा कि पारद ही एक ऐसा द्रव्य है जो शरीर को अजर-अमर बना सकता है। यथा—**'एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते'**। उन्होंने अनुभव किया कि यदि इस चञ्चल और गतिमान पारद को संस्कारों से सुसंस्कृत एवं सिद्ध कर लिया जाय तो यह लोहसिद्धि (स्वर्ण-रजत निर्माण द्वारा भौतिक उपलब्धि) एवं देहसिद्धि (रोग एवं वृद्धावस्था से मुक्त स्वस्थ शरीर की प्राप्ति) दोनों को करने में समर्थ हैं। संस्कारों से सिद्ध पारद की प्रथम लोहे पर तथा लोह पर सफल जानकर उसका देह पर प्रयोग करना चाहिए। उनका ऐसा मानना था कि पारद लोह एवं देह दोनों में एकसमान क्रिया करता है[2]।

उपनिषद्-वाक्य 'रसो वै सः' के सिद्धान्तानुसार ही तत्त्वद्रष्टा अध्यात्म-

१. 'इति घनशरीरभोगान् मत्वा अनित्यान् सदैव यतनीयम्। मुक्तौ, सा च ज्ञानात्, तच्चाभ्यासात्, स च स्थिरे देहे'। —र० हृ० त० १।१०

२. 'यथा लोहे तथा देहे कर्त्तव्यः सूतकः सदा।
समानं कुरुते देवि! प्रत्ययं देहलोहयोः॥
पूर्वं लोहे परीक्ष्येत ततो देहे प्रयोजयेत्'॥—रसार्णव १७।१६५-१६६

चिन्तकों ने पारद एवं आत्मा में समानता का अनुभव किया तथा रसतत्त्वज्ञ एवं आत्मज्ञानी दोनों सूक्ष्मदर्शी माने गये[1]।

रसशास्त्र के प्रयोजन को चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि से जोड़ते हुए कहा गया है कि नष्ट राज्य की पुनः प्राप्ति, धर्म एवं अर्थ का उपभोग, दीर्घ आयु एवं युवावस्था की प्राप्ति तथा मोक्ष चाहने वालों को मुक्ति—इन चारों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की उपलब्धि इसमें निहित है[2]।

कुछ लोगों का मानना है कि रसशास्त्र का आविष्कार धातुवाद के लिए ही हुआ है, किन्तु ऐसा नहीं है। रसशास्त्र के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'रसशास्त्र धातुवाद के लिए है ऐसा नहीं मानना चाहिए, अपितु देहवेध द्वारा मुक्ति प्राप्त करना ही इसका परम प्रयोजन है[3]।

रसायन चिकित्सा का विकसित रूप रसशास्त्र—चिकित्सा एवं औषधि के क्षेत्र में समय-समय पर क्रान्तिकारी परिवर्त्तन होता रहा है। आयुर्वेदीय चिकित्सा में रसशास्त्र एवं रसौषधियों का प्रादुर्भाव भी एक इसी प्रकार की घटना रही है।

आयुर्वेदीय चिकित्सा की आर्ष-परम्परा में आरम्भ में मुख्य रूप से वानस्पतिक द्रव्यों का उपयोग होता था। खनिज द्रव्यों का उपयोग भी संहिताकाल में प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु इसका प्रयोग-क्षेत्र सीमित था। इसका मुख्य कारण खनिज द्रव्यों का स्वभाव से विषैला होना था। शोधन एवं मारण जैसी विधियाँ मध्य काल में विकसित हुई, जिनसे उपचारित होकर खनिज द्रव्य दोषमुक्त एवं औषध गुणसम्पन्न हो जाते हैं। इन विधियों के विकास के साथ ही चिकित्सा में इनके आभ्यन्तर प्रयोग का प्रचलन बढ़ा।

रोग व्याधि एवं अकाल जरा (असामयिक वृद्धावस्था) के नियन्त्रण की पूरी व्यवस्था संहिताकालीन ग्रन्थों में भी दी गई है। कुछ विद्वान् रसशास्त्र को इसी रसायन-चिकित्सा का विकसित रूप मानते हैं। संहिता काल में रसायन प्रभाव के लिए वनस्पतियों का विशेष तथा कुछ खनिज स्रोत के द्रव्यों का भी उपयोग किया जाता था।

खनिजों का सार पारद—रससिद्धों ने खनिज स्रोत के द्रव्यों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा तथा उसे शक्ति-सम्पन्न करने के लिए वानस्पतिक एवं

१. 'यथा रसस्तथा ह्यात्मा यथा ह्यात्मा तथा रसः।
आत्मविद् रसविच्चैव द्वाविमौ सूक्ष्मदर्शिनौ'॥ —रसोपनिषद्

२. 'धर्मार्थमुपभोगानां नष्टराज्यविवृद्धये।
आयुर्यौवनलाभार्थं मुक्त्यर्थं च मुमुक्षुनाम्'॥ —रसोपनिषद्

३. 'न च रसशास्त्रं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यं, देहवेधद्वारा मुक्तिरेव परमप्रयोजनत्वात्'। —सर्वदर्शनसंग्रह

Scanned with CamScanner

जांगम स्रोत के द्रव्यों का सहयोग लिया। अपने अनुसन्धान के क्रम में उन्होंने अनुभव किया कि खनिज द्रव्यों में पारद ही सर्वोत्कृष्ट खनिज है, बल्कि सम्पूर्ण खनिजों का सार पदार्थ है। इसमें समग्र वानस्पतिक एवं खनिजों के धातुओं का विशिष्ट यौगिक बनने की क्षमता है। इसी विशिष्ट गुण के कारण इसे योगवाही माना जाता है। इस योगवाही गुण के कारण पारद अपने स्वतन्त्र प्रभाव को सुरक्षित रखते हुए संयोग कराये गये द्रव्य के प्रभाव को भी प्रदर्शित करता है। इस प्रकार वानस्पतिक एवं खनिज द्रव्यों के सहयोग से पारद के जितने भी यौगिक बनाये गये वे साधारण वानस्पतिक प्रयोगों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, आशुकारी और चिरकाल तक सुरक्षित रहने वाले प्रमाणित हुए। प्रयोगों से आज भी यह सिद्ध है तथा रसशास्त्र को रसायन के विकास के परिप्रेक्ष्य में इसी उपर्युक्त आशय द्वारा समझा जा सकता है।

पारद में जो सबसे विलक्षण गुण है, वह है सृष्टि के समग्र द्रव्यों को अपने में लीन करना। इस विशेष गुण के कारण इसकी तुलना परमात्मा या ब्रह्म से की गई है और कहा गया है कि जिस प्रकार सकल प्राणिमात्र का लय परमात्मा में होता है, उसी प्रकार समस्त वस्तुजात का विलय पारद में हो जाता है[1]। यह लय इस क्रम से होता है—वनस्पतियों में पाया जाने वाला सम्पूर्ण धातुतत्त्वांश (Metallic contents/elements) नाग (Lead) में सरलता से मिल जाता है, नाग वंग (Tin) में, वंग ताम्र (Copper) में, ताम्र रजत (Silver) में, रजत स्वर्ण (Gold) में और अन्त में स्वर्ण समग्र के साथ पारद में विलीन हो जाता है[2]। यह विलयन की क्रिया पारद की विविध विशिष्ट यौगिक निर्माणक्षमता को प्रदर्शित करता है। शोधन, मारण, संस्कार एवं बन्धन आदि रसशास्त्र की प्रमुख प्रक्रियाएँ हैं। इन विशिष्ट प्रक्रियाओं से ही रसशास्त्र की अलग पहचान भी बनती है, अन्यथा पारद, गन्धक, माक्षिक, हरताल, मनःशिला, सोमल एवं अंजन आदि अधिकांश रसशास्त्रीय खनिज द्रव्य संहिताकाल में भी प्रचलित थे। उस समय चूर्ण के रूप में अधिकतर इनका बाह्य प्रयोग ही प्रचलित था। रसशास्त्रीय प्रक्रिया के विकास के साथ ही अनेक पारदीय यौगिक कल्पों का प्रादुर्भाव हुआ। शुद्ध द्रव्य, भस्म, पिष्टि, कज्जली, पर्पटी, पोटली, कूपीपक्व रस, सत्त्व, द्रुति, खल्वीरस आदि अनेक रसकल्प प्रचलन में आये। इन कल्पों का औषध-क्षेत्र में पदार्पण चिकित्सा के इतिहास की एक क्रान्तिकारी घटना मानी जाती है। अपनी विशिष्टताओं के कारण औषधियों में इन्हें श्रेष्ठ माना जाने लगा।

१. 'परमात्मनीव सततं भवति लयो सर्वसत्त्वानाम्'। —र० र० समु०
२. 'काष्ठौषध्यो नागे नागो वङ्गेऽथ वङ्गमपि शुल्वे।
शुल्वं तारे तारं कनके कनकं च लीयते सूते'॥ —र० र० समु०

उत्तम औषधि के लक्षण—उत्तम औषधि का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जिसकी मात्रा स्वल्प हो और जो विपुल गुणों को प्रदान करने वाला हो तथा शीघ्रता से जिसका दीपन-पाचन हो जाय, वह औषधि श्रेष्ठ है[1]।

रसौषधियों की विशेषता—अल्पमात्रा में उपयोग, अरुचि उत्पन्न न करना, शीघ्र आरोग्यलाभ पहुँचाना, असाध्य जटिल रोगों में भी लाभ करना तथा चिरकाल तक सुरक्षित रहना रसौषधि की विशेषता है[2]। वानस्पतिक आर्ष कल्पों की तुलना में रसौषधियाँ इतनी शक्तिशाली और सक्षम थीं कि इनका लाक्षणिक चिकित्सा के लिए भी सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा और एतदर्थ दोष, दूष्य, देश, काल अथवा रोगी-परीक्षा की आवश्यकता नहीं मानी गई[3]।

रस-चिकित्सा को दैवी चिकित्सा कहा गया तथा रसचिकित्सक को चिकित्सकों में श्रेष्ठ माना गया है[4]। रसविद्या एक गूढ़ और रहस्यपूर्ण विषय रहा है। इसका देह-धातुवादी प्रयोग गुरु-शिष्यपरम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होता था, जिसमें क्रमभंग हो जाने से इसका धातुवादी प्रयोग रहस्य बनकर पुस्तकों तक सीमित रह गया है। बिना सही गुरु के खाली पुस्तकों के आधार पर इसमें सफलता प्राप्त करना कठिन है। कहीं समय और साधन की कमी तो कहीं दक्षता एवं क्षमता का अभाव इसके व्यापक क्षेत्र को सीमित करता चला गया है और वर्त्तमान में रसशास्त्र मात्र औषध-विषयक शास्त्र होकर रह गया है। इसे साहित्य एवं प्रायोगिक अनुसन्धान द्वारा पुनरुत्थित करने की आवश्यकता है।

रसशास्त्रीय शोधन और मारण—रसशास्त्र की औषधनिर्माण-प्रक्रिया में शोधन एवं मारण सबसे महत्त्व की प्रक्रिया है। इनमें शोधन रसशास्त्र की मौलिक प्रक्रिया है। अपवादस्वरूप कुछ द्रव्यों को छोड़कर लगभग खनिज स्रोत के सभी द्रव्यों का शोधन आवश्यक होता है। शोधन के बाद ही गन्धक,

१. 'स्वल्पा हि मात्रा विपुला गुणाश्च सद्यो हि तद्दीपनपाचनश्च'॥
—र० चूडामणि
२. (क) अल्पमात्रोपयोगित्वात् अरुचेरप्रसङ्गतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वात् औषधेभ्योऽधिको रसः॥—र० सा० सं०
(ख) 'असाध्येष्वपि दातव्यः रसोतः श्रेष्ठ उच्यते'।
(ग) 'पुराणः स्युः गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः'। —शार्ङ्गधर
३. 'न रोगानां (दोषानां) न दूष्यानां न च पुंसां परीक्षणम्।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रस चिकित्सते'॥
४. 'उत्तमो रसवैद्यस्तु मध्यमो मूलिकादिभिः।
अधमः शस्त्रदाहाभ्यामित्थं वैद्यास्त्रिधा मताः'॥

Scanned with CamScanner

हिंगुल, गैरिक आदि कुछ द्रव्य औषधि-उपयोग के योग्य बन जाते हैं, किन्तु अधिकांश द्रव्य शोधन पश्चात् मारण के बाद ही प्रयोग के योग्य बन पाते हैं।

शोधन—रसशास्त्रीय शोधन कोई रासायनिक शुद्धिकरण (Chemical purification) की क्रिया न होकर संयोग (Addition) एवं विभाग (Separation) की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। यह द्रव्य की संरचना, घटक, अशुद्धि एवं गुणधर्म पर आधारित होता है तथा इस प्रक्रिया-विशेष से द्रव्य में भौतिक एवं रासायनिक परिवर्त्तन होते हैं। खनिज स्रोत के द्रव्य धातु एवं पाषाण जातीय द्रव्य होते हैं। इनकी संरचना जटिल एवं कठिन संहनन वाला होता है। शोधन की क्रिया द्वारा इन्हें शिथिल एवं भंगुर बना दिया जाता है, जिससे ये आगे की निर्माण-प्रक्रिया एवं शरीर के लिए उपयोगी बन जाते हैं।

शोधन का महत्त्व (Significance of Shodhana)—

१. अवांछनीय दृश्य-अदृश्य तत्त्वों का पृथक्करण।

२. द्रव्य के विषदोष का नाश (Detoxication of toxic qualitits of the drug)।

३. द्रव्य के विषम खण्डों (Hetrogeneous) को सम (Homogeneous) बनाना।

४. मिलावट को दूर करना।

५. कठिन द्रव्य को भंगुर बनाना।

६. द्रव्य में गुणवृद्धि करना।

७. द्रव्य को सेन्द्रिय गुणों से युक्त करना।

शोधन-प्रक्रिया (Shodhan : Process and techniques) :—शोधन हेतु निम्न क्रियाएँ की जाती हैं—

१. स्वेदन (Boilling with liquids).

२. मर्दन (Trituration with and without heating).

३. मूर्च्छन (Trituration up to fine disintigration).

४. पातन (Distillation/Extraction).

५. आवाप (Addition of certain material in liquified state)

६. निर्वाप (Heating and dipping/pouring/quenching).

७. गालन (Filtering).

८. प्रक्षालन (Washing).

९. भावना (Addition of liquids and drying through trituration).

१०. शोषण (Drying in sun or fire).

११. भर्जन (Roasting).

१२. संयोग (Addition).

१३. विभाग (Separation).

मारण (Incineration or reducess to ash)—शोधित धातु एवं खनिजों को निर्दिष्ट स्वरस या क्वाथ आदि द्रव से भावित कर अग्नि-संयोग द्वारा भस्म में परिवर्त्तन कर देना मारण कहलाता है।

मारण का महत्त्व (Importance of Marana)—

१. मारण से द्रव्य का गुरु (Heavy), कठिन (Hard) एवं रूक्ष (Rough) गुण लघु (Light), मृदु (Soft) एवं श्लक्ष्ण (Smooth), में तथा बड़े (Macro) कण सूक्ष्म (Micro) कण में बदल जाते हैं।

२. धातु एवं खनिज रस रूप (Colloidal state) तथा ग्रहण (Adoptable), आचूषण (Absorbable) एवं आत्मसात् (Assimilable) होने योग्य बन जाता है।

३. धातु एवं खनिज भस्म (Ash) में बदल जाता है।

४. द्रव्य में गुणवृद्धि एवं चिरस्थायित्व प्रदान करता है।

५. द्रव्य की उपयोग-मात्रा कम हो जाती है।

६. वानस्पतिक कल्पों की अपेक्षा यह शीघ्र लाभकारी बन जाता है।

७. मारण की क्रिया से निरीन्द्रिय (Inorganic) एवं जड़ (Inert) पदार्थ सेन्द्रिय (Organic) गुणों से युक्त एवं वीर्यवान् (Potentiated) बन जाता है।

खनिज स्रोत का द्रव्य तत्त्व (Element) अथवा यौगिक (Compound) इन्हीं दो रूपों में उपलब्ध होता है। मारण की क्रिया द्वारा तत्त्वों को यौगिक तथा यौगिकों को शरीर हेतु अन्य अनुकूल यौगिकों में परिवर्त्तित किया जाता है। परिवर्त्तन की यह क्रिया विविध माप एवं क्रम की अग्नि-संयोग द्वारा होती है। अग्नि की इस क्रिया को पुट की संज्ञा से सूचित किया गया हैं। पुट से द्रव्य के दोषों का विनाश तथा गुणों में वृद्धि होती है[1]। पुट (महापुट, गजपुट, कुक्कुटपुट, लावकपुट आदि) का चयन द्रव्य के बलाबल (Association and dissociation) को ध्यान में रखकर किया जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् (C. C. I. M.) द्वारा निर्धारित रसशास्त्र के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया है। विषय को नातिसंक्षेप विस्तार से सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इसमें विषय के शास्त्रीय पक्ष को प्रधानता दी गई है तथा अधिक से अधिक शास्त्रीय संदर्भों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पाठ्यक्रम के सम्पूर्ण विषय

---

१. 'पुटात् दोषविनाशः स्यात् पुटादेव गुणोदयः।
म्रियते च पुटाल्लोहात् तस्मात् पुटं समाचरेत्' ॥ —र० सा० सं०

Scanned with CamScanner

(इतिहास से विषोपविष पर्यन्त) को १० अध्यायों में पूर्ण किया गया है। वर्णन-शैली रसशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की वर्त्तमान शैली के अनुरूप है। द्रव्यों के वर्णन में सम्बन्धित वैज्ञानिक विवरण के साथ-साथ ग्रन्थ-विस्तार को बचाते हुए लगभग सम्पूर्ण रसशास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

इस गूढ़-गम्भीर विषय पर कुछ लिखना एक दुःसाहसपूर्ण कार्य है, तथापि अब तक के प्रचलित प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थों की सहायता से इस कार्य को पूरा किया गया है। उन सब लेखकों के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी पुस्तकों से इसमें सहयोग लिया गया है।

छात्र एवं अध्यापक दोनों के लिए ग्रन्थ उपयोगी हो सके—इस उद्देश्य को ध्यान में रखा गया है। यदि दोनों इससे लाभान्वित हो सके तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा। ग्रन्थ में अशुद्धियाँ न रहें, इसका भरसक प्रयत्न किया गया है, फिर भी प्रमादवश यदि त्रुटियाँ रह गयी हों तो विद्वज्जन लेखक को उनसे अवगत कराने की कृपा करेंगे।

विदुषामनुचर
चन्द्रभूषण झा

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय रसशास्त्र एवं उसका ऐतिहासिक विवेचन १-६०

रस शब्द की निरुक्ति १, रसवाङ्मय में रस शब्द की निरुक्ति १, रसविद्या या रसशास्त्र ३, मन्त्र-तन्त्र ४, कुल-मार्ग ५, तन्त्र ५, सिद्ध-सम्प्रदाय या नाथ-सम्प्रदाय ६, (क) नाथ-सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध ७, (ख) नाथ-सिद्धों का काल ७, (ग) अलबेरूनी ७, देहसिद्धि-लोहसिद्धि १०, नागार्जुन ११, सिद्धनागार्जुन १२, चंकुण १६, चर्पटीनाथ १६, अर्धनारीश्वर-पूजा १७, कापालिक सम्प्रदाय १८, रसेश्वर-मत : रसेश्वर दर्शन १९, रसशास्त्र के आचार्य एवं सिद्ध—(क) महासिद्ध २१, (ख) रससिद्ध २२, (ग) नाथसिद्ध तथा अन्य सिद्ध २४, **रसशास्त्र का विकासक्रम**—धातुओं से परिचय २५, गुप्तकाल २६, वृहत्त्रयी में धातु २६, चरकसंहिता २७, सुश्रुत-संहिता ३०, अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय ३२, व्याडि ३६, धातु-खनिजों का इतिवृत्त एवं यातायात ३८, **रसशास्त्र के ग्रन्थ, ग्रन्थ-कर्त्ता एवं उनका काल**—प्रारम्भिक काल ४२, नागार्जुन ४२, कुब्जिकातन्त्र ४२, रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल ४२, रसरत्नाकर की शोधनविधियाँ ४३, नन्दीतन्त्र ४५, रससिद्धिशास्त्र एवं धातुवाद-शास्त्र ४५, रसहृदयतन्त्र ४५, रसार्णव ४६, गोरक्षसंहिता ४७, रसेन्द्र-चूडामणि ४८, रसप्रकाशसुधाकर ४८, काकचण्डीश्वरकल्प-तन्त्र ४९, रसरत्नसमुच्चय ४९, रसरत्नाकर ४९, कंकालीय रसाध्याय ५०, रसरहस्य एवं रसेश्वर सिद्धान्त ५०, रसकल्प ५०, आनन्दकन्द ५०, रसराजलक्ष्मी ५०, रससार ५०, रसपद्धति ५१, शार्ङ्गधरसंहिता ५१, रसचिन्तामणि ५१, रसरत्नप्रदीप ५१, रस-संकेतकलिका ५१, रसनक्षत्रमालिका ५१, धातुरत्नमाला ५१, रसेन्द्रचिन्तामणि ५१, रसमञ्जरी ५२, लौहसर्वस्व ५२, रसेन्द्रसार-संग्रह ५२, रसेन्द्रकल्पद्रुम ५२, रसप्रदीप ५२, रसकौमुदी ५२, भावप्रकाश ५३, वसवराजीय ५३, रसकामधेनु ५३, धातुक्रिया ५३, बृहद्योगतरंगिणी एवं योगतरंगिणी ५४, आयुर्वेदप्रकाश ५४, योगरत्नाकर ५४, भैषज्यरत्नावली ५४, बृहद्रसराजसुन्दर ५४, रसतरंगिणी ५४, रसजलनिधि ५५, हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री ५५, रसायनसार ५५, रसयोगसागर ५५, रसोद्धारतन्त्र ५५, भारतीय रसशास्त्र ५६, रसराजमहोदधि ५६, रसेन्द्रपुराण ५६, आयुर्वेदीय

Scanned with CamScanner

खनिजविज्ञान ५६, रसेन्द्रसम्भव ५६, भस्मविज्ञान ५६, रसामृत ५६, भारतीय रसशास्त्र ५७, रसेन्द्रसम्प्रदाय ५७, रसायनसुधानिधि ५७, रसचिकित्सा ५७, शुल्बशास्त्र ५७, रसतत्त्वविवेचन ५७, पारद-विज्ञानीयम् ५७, अभिनव रसशास्त्र ५८, प्राचीन भारत में रसायन का विकास ५८, रसशास्त्र ५८, रत्नधातुविज्ञान ५८, रसेन्द्रविज्ञान ५८, रसमित्र ५८, रत्नविज्ञान ५८, आयुर्वेदीय रसशास्त्र ५८, सचित्र रसशास्त्र ५९, भारतीय रसशास्त्र ५९, रसदर्पण ५९, आयुर्वेदीय रसशास्त्र ५९।

द्वितीय अध्याय रसशाला-वर्णन ६१–६८

योग्य गुरु के लक्षण ६१, योग्य शिष्य के लक्षण ६२, अयोग्य शिष्य के लक्षण ६२, भृत्य (अनुचर) के लक्षण ६३, रसशाला ६३, रसशाला का निर्माण कहाँ करें ६५, रसशाला के कर्म-विभाग ६५, रसशाला में संग्रह योग्य उपकरण ६५, रसकर्म हेतु योग्य वैद्य ६६, रसकर्म हेतु योग्य परिचारक ६६, भेषज-आहरणकर्त्ता ६७, रस एवं रसायन ६७।

तृतीय अध्याय परिभाषा-प्रकरण ६९–७३

परिभाषा-लक्षण ६९, परिभाषा-ज्ञान की आवश्यकता ६९, धन्वन्तरी भाग ६९, रुद्रभाग ६९, विश्वासघाती वैद्य ६९, लवणपञ्चक ७०, लवणत्रिक ७०, सैन्धव की प्रधानता ७०, मधुरत्रय या मधुरत्रिक ७०, अम्लवर्ग ७०, पञ्चामृत ७०, पञ्चगव्य ७१, क्षीरत्रय ७१, द्रावकगण ७१, कज्जली ७१, रसपंक ७१, रसपिष्टि ७१, भावना ७२, भावना के लिए द्रव का प्रमाण ७२, सुभावित एवं दुर्भावित के लक्षण ७२, आवाप ७२, निर्वाप ७२, शोधन ७२, मारण ७३, मृत-लौह ७३, पञ्चमृत्तिका ७३।

चतुर्थ अध्याय यन्त्रोपकरण-प्रकरण ७४–११०

यन्त्र शब्द की निरुक्ति ७४, यन्त्र-वर्णन—दोला यन्त्र ७४, डमरू यन्त्र ७५, स्थाली यन्त्र ७६, पालिका यन्त्र ७७, स्वेदनी यन्त्र ७७, वालुका यन्त्र ७८, पुट यन्त्र ७९, विद्याधर यन्त्र ८०, घट यन्त्र ८१; पातना यन्त्र—ऊर्ध्वपातन यन्त्र ८२, अधःपातन यन्त्र ८३, तिर्यक्-पातन यन्त्र ८३, भूधर यन्त्र ८४, पाताल यन्त्र ८५; खल्व यन्त्र—अर्ध-चन्दाकार खरल ८६, वर्तुल खल्व (गोलाकार खरल) ८७, तप्त खल्व ८७, तुला यन्त्र ८८, उलूखल यन्त्र ८९, कच्छप यन्त्र ९०, यन्त्रों का विकास-क्रम, मूषा (Crucible)—मूषा की निरुक्ति ९४, मूषा के पर्याय ९४, मूषा के उपादान द्रव्य ९४, मूषा हेतु उपयोगी

मिट्टी ९४, सामान्य मूषा ९४, वज्र मूषा ९५, पक्व मूषा ९५, गोस्तनी मूषा ९५, वृन्ताक मूषा ९५, मल्ल मूषा, ९५, गोल मूषा ९६, महा मूषा ९६, वज्रद्रावणी मूषा ९६, योग मूषा ९६, गार मूषा ९७, वर मूषा ९७, वर्ण मूषा ९७, विड् मूषा ९७, मूण्डूक मूषा ९७, मुसल मूषा ९८, मूषा का आधुनिक स्वरूप ९८, सन्धि-बन्धन ९९, मदनमुद्रा ९९, हठमुद्रा १००, चूल्लिका १००, कोष्ठी १००, अंगार-कोष्ठी १००, पातालकोष्ठी १०१, गारकोष्ठी १०१, सत्त्वपातन कोष्ठियाँ एवं उनका आधुनिक स्वरूप १०२, धमन यन्त्र १०२, वंक नाल १०२, पुट १०३, सम्पुट १०४, चन्द्रपुट १०४, सूर्यपुट १०४, अग्निपुट—महापुट १०५, गजपुट १०५, अर्धगजपुट १०६, वाराहपुट १०६, कुक्कुटपुट १०६, कपोतपुट १०७, गोमयपुट या गोर्वरपुट १०७, भाण्डपुट १०८, वालुकापुट १०८, भूधरपुट १०८, लादकपुट १०८, पुटहेतु अनुक्त स्थल पर कर्त्तव्य १०९, कूपीपक्व विद्युत् भ्राष्ट्री १०९।

पञ्चम अध्याय पारद-प्रकरण १११–१९२

पारद का रासायनिक गुणधर्म १११, पारद के पर्याय १११, पारद के मुख्य पर्यायों की निरुक्ति ११२, पारद का संक्षिप्त इतिहास ११६, पारद के खनिज ११७, पारद एवं उसके खनिजों का प्राप्ति-स्थान ११९, पारद के दोष १२०, दोष-विवेचन १२४, पारद का ग्राह्या-ग्राह्य स्वरूप १२६, पारद का शोधन १२७, पारद का सामान्य शोधन १२८, पारद का विशेष शोधन १२९, पारद-संस्कार १३०, पारद-संस्कारों की संख्या १३०; पारद-संस्कार की विधियाँ—स्वेदन-संस्कार १३६, मर्दनसंस्कार १३७, मूर्च्छनसंस्कार १३८, उत्थापन-संस्कार १३८, पातनसंस्कार १३९, बोधनसंस्कार १४१, नियमन-संस्कार १४२, दीपनसंस्कार १४२, पारद-संस्कार का फल १४३, पारद की गतियाँ १४५, जारण या जारणा १४६, जारणा के भेद १४७, जारण-क्रम १४७, मूर्च्छना १५०, मूर्च्छना के प्रकार १५१, मूर्च्छना विधि एवं लक्षण १५१, मूर्च्छना फल १५३, मूर्च्छन एवं मूर्च्छना में भिन्नता १५३, हिंगुल से पारद-निष्कासन १५३, रस (पारदीय) कल्पनाएँ १५५, पर्पटी कल्पना १५६, पर्पटी का इतिहास १५६, पर्पटीपाक-परीक्षा १६१, रस पर्पटी १६३, लौह पर्पटी १६४, स्वर्ण पर्पटी १६५, ताम्र पर्पटी १६६, विजय पर्पटी १६७, पञ्चामृत पर्पटी १६९, गगन पर्पटी १७०, बोल पर्पटी १७०, श्वेत पर्पटी १७१, मुग्धरस १७२, कूपीपक्व रसायन १७३, कूपीपक्व रस का संक्षिप्त इतिहास १७४, कूपीपक्वरस-विधि १७५, यन्त्र उपकरण

Scanned with CamScanner

१७५, रससिन्दूर (Red Sulphide of Mercury) १७७, मकरध्वज १७९, सिद्धमकरध्वज १८१, रसपुर १८२, रसकर्पूर १८३, रसबन्ध १८६ ।

षष्ठ अध्याय महारसोपरसमाधारणरस-प्रकरण १९३-२९२

रसशास्त्रीय द्रव्यों का वर्गीकरण—महारस वर्ग १९३, उपरस वर्ग १९४, साधारणरस वर्ग १९७, रत्न वर्ग १९७, उपरत्न वर्ग १९७, लोह वर्ग १९७, रसद्रव्यों का आधुनिक वर्गीकरण १९८, रसद्रव्यों के वर्गीकरण का आधार १९९; महारस वर्ग—अभ्रक (Mica) २०१, वैक्रान्त (Tourmaline) २१२, माक्षिक (Pyrite) २१६, विमल (Iron pyrite) २२३, शिलाजतु (Asphaltum punjabinum) २२५, मस्यक (तुत्थ) (Blue vitriol) २३०, चपल (Bismuth ore) २३६, रसक या खर्पर Zinc ore or calamine) २३८, गन्धक (Sulphur) २४१, गैरिक (Ochre) २४८, कासीस (Green vitriol) २५०, स्फटिका/फिटकरी (Potash alum) २५४, हरताल (Orpiment) २५७, मनःशिला (Realgar) २६२, अञ्जन (Collyrium) २६६, कंकुष्ठ (Ruhbarb) २७१, कम्पिल्लक (Mallotus phillippinensis Muell-arg) २७४, संखिया/गौरीपाषाण (White arsenic) २७६, नवसादर (Ammonium salts) २७९, कपर्द (Cowry or Marine shell) २८१, अग्निजार (Ambargris) २८४, गिरिसिन्दूर (Red oxide or mercury) २८६, हिंगुल (Cinnabar) २८७. मुर्दाशंख (Litharge) २९० ।

सप्तम अध्याय लौहादि धातु-उपधातु-प्रकरण २९३-३८७

धातु २९३, लोहवर्ग—धातु शब्द की निरुक्ति २९६, धातुओं की विशेषता २९६, धातुओं की संख्या २९६, लोहों (धातुओं) की औषधीय उपयोगिता २९७, लोहों का वर्गीकरण २९७, धातुओं की उत्पत्ति में पौराणिक मान्यता २९८, ग्रहों का धातुओं से सम्बन्ध २९९, धातुओं के वर्ण २९९, अग्नि में धातुक्षय ३००, अग्नि में धातुओं की ज्वाला-परीक्षा ३००, धातुओं का संकेत, विशिष्ट गुरुत्व एवं द्रवणांक ३०१, धातुओं का शोधन ३०१, धातुओं का सामान्य मारण ३०२, धातुओं के भस्म के प्रकार ३०३, धातुओं के मारणार्थ अग्नि ३०३, धातुओं के भस्मों का वर्ण ३०४, धातुभस्मों की सेवन मात्रा ३०४, धातुभस्मों का निरुत्थीकरण ३०४, स्वर्ण

(Gold)—स्वर्ण के पर्याय ३०५, स्वर्ण का इतिहास ३०५, स्वर्ण का परिचय ३०६, स्वर्ण के खनिज ३०७, स्वर्ण के भेद ३०८, उत्तम स्वर्ण ३०८, त्याज्य स्वर्ण ३०९, स्वर्ण-शोधन की आवश्यकता ३०९, स्वर्ण-शोधन—स्वर्ण का मारण ३११, अपक्व स्वर्णभस्म के दोष ३१४, स्वर्णभस्म की मात्रा ३१४, शुद्ध स्वर्ण एवं स्वर्णभस्म के गुण एवं कर्म ३१४, स्वर्णभस्म का अनुपान ३१५, नष्ट स्वर्ण का गुण—सुवर्णमण्डल (वर्क) एवं उसके गुण ३१६, स्वर्ण लवण की निर्माण-विधि ३१७, स्वर्ण लवण के गुण ३१७, स्वर्ण लवण की मात्रा, प्रयोग एवं लाभ ३१८, स्वर्णभस्म के प्रमुख योग ३१८, रजत (Silver)—रजत के पर्याय ३१९, रजत की उत्पत्ति ३१९, रजत का इतिहास ३१९, रजत का परिचय ३१९, चाँदी की शुद्धता की परीक्षा ३१९, रजत का प्राप्तिस्थान ३२०, रजत के भेद ३२०, ग्राह्य एवं अग्राह्य रजत ३२१, रजत का शोधन ३२१, रजत-मारण ३२२, रजत-भस्म के गुण ३२३, रजतभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३२४, रजत दल (वर्क) ३२४, रजत-धारण के लाभ ३२४, रजत के प्रमुख योग ३२५, ताम्र (Copper)—ताम्र के पर्याय ३२५, ताम्र की उत्पत्ति ३२५, ताम्र का इतिहास ३२५, ताम्र-परिचय ३२६, प्राप्तिस्रोत ३२६, ताम्र के भेद ३२७, ग्राह्य एवं अग्राह्य ताम्र ३२७, ताम्र के आठ विषदोष ३२७, ताम्र-शोधन की आवश्यकता ३२८, ताम्र-शोधन ३२८, ताम्र का मारण ३२९, सोमनाथी ताम्र भस्म का निर्माण ३३१, ताम्रभस्म का अमृतीकरण ३३२, ताम्रभस्म का वर्ण ३३३, ताम्रभस्म की परीक्षा ३३३, ताम्रभस्म के गुण ३३३, ताम्रभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३३४, ताम्रभस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति ३३४, ताम्रभस्म से प्रमुख योग ३३४ लोहा (Iron)—लोहे के पर्याय ३३४, लोहे की उत्पत्ति ३३४, लोहे का इतिहास ३३४, लोहे का परिचय ३३५, लोहे का प्राप्तिस्रोत ३३५, लोहे के प्रधान खनिज ३३५, लोहे के भेद ३३७, लोहे के दोष ३४२, लौह-शोधन की आवश्यकता ३४२, भस्म हेतु श्रेष्ठ लौह ३४३, लोहे का शोधन ३४४, लोहे का मारण ३४५, स्वयमग्नि लौहभस्म ३४८, त्रिविध लौह पाक ३४८, लौह-निरुत्थीकरण ३५२, अमारित लौहभस्म सेवन के दोष ३५३, उत्तम लौहभस्म का लक्षण ३५३, लौहभस्म के विविध वर्ण ३५४, लौहभस्म के गुण-कर्म ३५४, लौहभस्म की मात्रा ३५६, लौहभस्म का अनुपान ३५६, लौहभस्म सेवन काल में अपथ्य ३५६, लौहभस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति ३५६, लौहभस्म के

Scanned with CamScanner

प्रमुख योग ३५६; **मण्डूर** (Iron Oxide)—मण्डूर के पर्याय ३५७, मण्डूर का परिचय ३५७, मण्डूर का स्वरूप ३५७, मण्डूर के भेद ३५७, मण्डूर की प्राप्ति ३५७, ग्राह्य मण्डूर ३५८, मण्डूर का शोधन ३५८, मण्डूर का मारण ३५९, मण्डूर भस्म के गुण-कर्म ३५९, मण्डूर की मात्रा एवं अनुपान ३५९, मण्डूर के प्रमुख योग ३६०; **वंग** (Tin)—वंग के पर्याय ३६०, वंग का इतिहास ३६०, वंग का परिचय ३६०, वंग के खनिज ३६१, वंग का प्राप्ति-स्थान ३६१, वंग के भेद ३६१, वंग-शोधन का प्रयोजन ३६२, वंग का शोधन ३६२, वंग-मारण ३६३, वंग-जारण ३६३, वंगभस्म को क्षार-मुक्त करना ३६६, वंगभस्म का वर्ण ३६६, वंगभस्म के गुण-कर्म ३६६, वंगभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३६८, अशुद्ध वंगभस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति ३६८, वंगभस्म निर्मित प्रमुख योग ३६८, स्वर्ण वंग का निर्माण ३६८; **नाग** (Lead)—नाग के पर्याय ३७०, नाग का इतिहास ३७०, नाग का परिचय ३७०, नाग के खनिज ३७०, नाग का प्राप्तिस्थान ३७१, नाग के भेद ३७१, नाग की ग्राह्याग्राह्यता ३७१, नाग-शोधन की आवश्यकता ३७१, नाग-शोधन ३७१, नाग का मारण ३७२, मनःशिला एवं गन्धक द्वारा नागमारण ३७४, पारद एवं गन्धक द्वारा नागमारण ३७४, हरताल द्वारा नागमारण ३७५, मनःशिला द्वारा नागमारण ३७५, पुटिपुट नागभस्म ३७५, नागभस्म का वर्ण ३७६, नागभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३७६, नागभस्म के गुण-कर्म ३७६, दोषघ्नता ३७६, रोगघ्नता ३७६, अशुद्ध नागभस्म-सेवनजन्य विकार की शान्ति ३७७, नागभस्म द्वारा निर्मित प्रमुख योग ३७७; **यशद** (Zinc) यशद के पर्याय ३७७, यशद का इतिहास ३७७; यशद का परिचय ३७८, यशद के खनिज ३७८, यशद का प्राप्तिस्थान ३७८, यशद की ग्राह्याग्राह्यता ३७८, यशद-शोधन की आवश्यकता ३७९, यशद-शोधन ३७९, यशद-मारण ३७९, यशदभस्म का वर्ण ३८१, यशदभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३८१, यशदभस्म के गुण-कर्म ३८१, यशदभस्म-सेवनजनित विकार की शान्ति ३८१, यशद के प्रमुख योग ३८१; **पित्तल** (Brass)—पित्तल के पर्याय ३८२, पित्तल का इतिहास ३८२, पित्तल का परिचय ३८२, पित्तल-भेद ३८२, पित्तल की ग्राह्याग्राह्यता ३८२, पित्तल का शोधन ३८३, पित्तल का मारण ३८३, पित्तलभस्म की मात्रा एवं अनुपान ३८३, पित्तल-भस्म के गुण-कर्म ३८३, असम्यग् मारित पित्तल भस्म के दोष ३८३, पित्तलभस्म-निर्मित प्रमुख योग ३८३; **कांस्य** (White

Copper)—कांस्य के पर्याय ३८४, कांस्य का इतिहास ३८४, कांस्य का परिचय ३८४, कांस्य के भेद ३८४, ग्राह्य कांस्य ३८४, अग्राह्य कांस्य ३८५, कांस्य का शोधन ३८५, कांस्य का मारण ३८५, कांस्यभस्म का वर्ण, मात्रा तथा अनुपान ३८६; कांस्यभस्म के गुण-कर्म ३८६, कांस्यभस्म-निर्मित प्रमुख योग ३८६, **वर्तलोह** (Bronze)—वर्तलोह के पर्याय ३८६, वर्तलोह का परिचय ३८६, वर्तलोह का शोधन ३८६, वर्तलोह का मारण ३८७, वर्तलोह के गुण-कर्म ३८७,

अष्टम अध्याय — रत्नोपरत्न-प्रकरण ३८८–४३२

रत्न की परिभाषा ३८८, रत्न के पर्याय ३८८, मणियों की श्रेष्ठता ३८८, रत्नों की संख्या ३८९, रत्न एवं ग्रह सम्बन्ध ३८९, रत्नों का उपयोग ३९०, रत्नों की जातियाँ ३९०, रत्नों के गुण ३९०, रत्नों के दोष ३९०, अनुकूल एवं प्रतिकूल रत्नों के धारण से लाभ एवं हानि ३९१, रत्नों पर काल का प्रभाव ३९१, रत्नों का काठिन्य ३९१, रत्नों का औषधीय गुण-कर्म ३९२, रत्नों का शोधन ३९२, रत्नों का मारण ३९२, रत्नों की द्युति ३९३, माणिक्य (Ruby) ३९४, मुक्ता (Pearl) ३९६, प्रवाल (Coral) ४०१, मरकत (पन्ना) (Emerald) ४०४, पुष्पराग (पुखराज) (Topaz) ४०६, हीरक (Diamond) ४०८, नीलम (Sapphire) ४१४, गोमेद (Zircon) ४१६, वैदूर्य (Cat's eye) ४१९, **उपरत्न** (Minor gems) ४२१, वैक्रान्त ४२२, सूर्यकान्त (Sun stone) ४२२, चन्द्रकान्त (Moon stone) ४२३, राजावर्त्त (Lapis Lazuli) ४२४, पेरोजक (Turquoise) ४२७, स्फटिक (Quartz) ४२८, व्योमाश्म (संगेयशब) (Jade) ४२९, तृणकान्त (कहरुवा) (Amber) ४३१,

नवम अध्याय — सुधा-सिकता एवं क्षारद्रव्य-प्रकरण ४३३–४५५

सुधावर्ग—सुधा (चूना) (Lime) ४३३, खटिका (Chalk) ४३४, गोदन्ती (Gypsum) ४३५, श्वेताञ्जन (सफेद सूरमा) (Calcite) ४३७, मृगशृंग (Deer horn) ४३७, शुक्ति (मुक्ताशुक्ति/जलशुक्ति) (Pearl oyster/Pearl mother/ Oyster) ४३९, शंख (Conch shell) ४४१, शम्बूक (Pila) ४४३, समुद्रफेन (Cuttle fish bone) ४४४, कूर्मपृष्ठ या कूर्मास्थि (Tortoise bone) ४४५, कुक्कुटाण्डत्वक् (Egg Shell) ४४६, **सिकता वर्ग**—दुग्धपाषाण (Talc/Soft stone)

Scanned with CamScanner

४४६, कौशेयाश्म (Asbestos) ४४७, नागपाषाण (Serpentine) ४४८, बदराश्म (Silicate of lime) ४४९, **क्षारवर्ग**—टंकण (Borax) ४४९, यवक्षार (Mixture of potassium salts) ४५२, स्वर्जिकाक्षार (Mixture of potassium salts) ४५२,

दशम अध्याय विषोपविष प्रकरण ४५६–४८०

विष शब्द की निरुक्ति ४५६, विष के नाम ४५६, विष के भेद ४५६, स्थावर एवं जांगम विष ४५६, स्थावर विष के अधिष्ठान ४५७, स्थावर विष के दो भेद ४५७, विषवर्ग ४५७, विषग्रहण-विधि ४५८, विष के दस गुण ४५८, विष के आठ वेग ४५८, विष-शोधन की आवश्यकता ४५८, विषों का सामान्य शोधन ४५८, विषों पर शोधन का प्रभाव ४५९, विष संरक्षण-विधि ४५९, विष का मारण ४५९, विष-सेवनविधि ४५९, विष-सेवन के अयोग्य व्यक्ति ४५९, विष की मात्रा ४६०, सामान्य प्रतिविष (विष-शामक) ४६०, विष-सेवन में पथ्य ४६०, वत्सनाभ (Aconitam ferex) ४६०, **उपविष** (Subpoisons) ४६३, कुचिला (विषतिन्दुक) (Strychnos nuxvomica) ४६४, अहिफेन (Opium) ४६६, जयपाल (Croton seed) ४६८, धत्तूर (Dhattura) ४७०, भंगा (Cannabis or Indian hamp) ४७१, गुञ्जा (Abrus seed) ४७३, भल्लातक (Marking nut) ४७५, करवीर (Oleander) ४७७, लाङ्गली (Gloriosa superba) ४७८, अर्कक्षीर (Latex of Calotropis procera) ४७९, स्नुहीक्षीर (Latex of Euphorbia nerifolia) ४८० ।

शुद्धिपत्र ४८२

ग्रन्थ-संकेत

संकेताक्षर		ग्रन्थ-नाम
आ० क०	:	आनन्दकन्द
आ० प्र०	:	आयुर्वेदप्रकाश
र० हृ० तं०	:	रसहृदयतन्त्र
र० प्र० सु०	:	रसप्रकाशसुधाकर
र० सा०	:	रससार
र० चू०	:	रसेन्द्रचूडामणि
र० र० स०	:	रसरत्नसमुच्चय
र० चि०	:	रसेन्द्रचिन्तामणि
रस० चि०	:	रसचिन्तामणि
र० सा० सं०	:	रसेन्द्रसारसंग्रह
र० र०	:	रसरत्नाकर
र० त०	:	रसतरंगिणी
अ० हृ०	:	अष्टांगहृदय
अ० सं०	:	अष्टांगसंग्रह
यू० द्र० गु० वि०	:	यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान
च० सं०	:	चरकसंहिता
च० सू०	:	चरक-सूत्रस्थान
च० शा०	:	चरक-शारीरस्थान
च० चि०	:	चरक-चिकित्सास्थान
सौ० भा०	:	सौभाग्यभास्कर
कर्पूरमं०	:	कर्पूरमञ्जरी
सु० सू०	:	सुश्रुत-सूत्रस्थान
सु० चि०	:	सुश्रुत-चिकित्सास्थान
र० रा० सु०	:	रसराजसुन्दर
वृ० र० रा० सु०	:	वृहद् रसराजसुन्दर
र० ज० नि०	:	रसजलनिधि
र० का० धे०	:	रसकामधेनु
बृ० यो० त०	:	बृहद् योगतरंगिणी
भै० र०	:	भैषज्य रत्नावली
शा० म० खं०	:	शार्ङ्गधर-मध्यम खण्ड

Scanned with CamScanner

संकेताक्षर		ग्रन्थ-नाम
र० च०	:	रसचण्डांशु
र० प०	:	रसपद्धति
र० नि०	:	रसोपनिषद्
नि० रत्नाकर	:	निघण्टुरत्नाकर
भा० प्र०	:	भावप्रकाश
र० सं० क०	:	रससंकेतकलिका
र० कौ०	:	रसकौमुदी
र० र०	:	रसरत्नाकर
यो० र०	:	योगरत्नाकर
सि० यो० सं०	:	सिद्धयोगसंग्रह
र० यो० सा०	:	रसयोगसागर
गो० सं०	:	गोरक्षसंहिता
सि० भै० म० मा०	:	सिद्धभैषज्यमणिमाला
अथर्व०	:	अथर्ववेद
यजु०	:	यजुर्वेद
र० धा० वि०	:	रत्नधातुविज्ञान

॥ श्रीः ॥

आयुर्वेदीय रसशास्त्र

प्रथम अध्याय

रसशास्त्र एवं उसका ऐतिहासिक विवेचन

रसशब्द की निरुक्ति

रसशास्त्र में रस शब्द से पारद अभीष्ट है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य एवं आयुर्वेद वाङ्मय में रस शब्द से अनेक द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है; यथा—पारद, स्वरस, जल, द्रव, निर्यास, स्वाद, हर्ष, अनुराग, ध्वनि, बालक, सुवर्ण, विष, अमृत, शुक्र, वीर्य, मधुरादि षड्रस, शृंगारादि नव रस, शरीर के सप्त धातुओं में आद्य आहार परिणाम धातुरस, तथा रास्ना, पाठा एवं शल्लकी आदि द्रव्यों को भी रस शब्द से सूचित किया गया है[1]।

'रस ही ब्रह्म है'—ऐसा श्रुतियों का वचन है। इस रस को प्राप्त कर पुरुषार्थ करने वाला पुरुष आनन्द को प्राप्त करता है, सिद्ध होता है, तृप्त होता है तथा परम आनन्दमय अमृतत्व को प्राप्त करता है[2]।

उपरोक्त रस शब्द के अर्थ-समूह से रस की व्यापकता का ज्ञान होता है।

रसवाङ्मय की निरुक्ति

१. पारद सभी धातुओं (स्वर्ण, रजत, ताम्र, नाग, वंग, यशद तथा अभ्रकादि) को खा जाता है, अतएव इसे रस कहते हैं[3]।

२. पारद रस वर्ग (अभ्र, वैक्रान्त, माक्षीक, विमल, अद्रिज, सस्यक, चपल एवं

---

१. (क) 'रसो जलो रसो हर्षः रसः शृङ्गारपूर्वकः।
स्वाद्वादिषु च निर्यासे पारदेऽपि रसो विषे' ॥
(ख) 'शृङ्गारादौ छले वीर्ये सुवर्णे विषशुक्रयोः।
तिक्तादावमृते चैव निर्यासे पारदे ध्वनौ ॥
आस्वादे च रसं प्राहुः रसधातुज्ञशरीरिषु'। (शब्दार्णव)
(ग) 'रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे द्रवे।
बाले रागे ग्रहे धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च' ॥ (हेमः)

२. 'रसो वै सः' इति श्रुते रसो ह्येवायं लब्ध्वा पुमान् आनन्दो भवति, स सिद्धो भवति, तृप्तो भवति, अमृतो भवति। (शाण्डिल्य)

३. (क) 'रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते'।

Scanned with CamScanner

रसक) तथा उपरस (गंधक, गैरिक, कासीस, कांक्षी, हरताल, मनःशिला, अञ्जन एवं कंकुष्ठ) में परिगणित द्रव्यों से श्रेष्ठ होने अथवा सभी का राजा होने से रस कहा जाता है[1]।

३. पारद चूँकि द्रवरूप होता है, अतः इसे रस कहते हैं[2]। पारद धातु है जो द्रवरूप में होता है। (पिघले हुए चाँदी की तरह—'गलद् रौप्यनिभम्')।

४. शिव का वीर्य होने से इसे रस कहते हैं। शिव पार्वती से कहते हैं कि यह पारद मेरे शरीर का रस है, अतः इसको रस कहते हैं[3]।

५. इस पारद को खाने से रोग, जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु नष्ट हो जाती है, अतः इसे रस कहते हैं[4]।

रस वाङ्मय में रस शब्द की निरुक्ति द्वारा रस (पारद) के धातुग्रासी गुण, श्रेष्ठत्व, स्वरूप-द्रवत्व, उत्पत्ति (मम देहो रसः शिवसम्भूतः) तथा रोग (जरा-मृत्यु) नाशकत्व गुणों को दर्शाया गया है।

रसशास्त्र का मूल द्रव्य पारद है। धातुओं को अपने में आत्मसात् करने की शक्ति के कारण ही इसे रस कहा गया है। इस पारद को लक्ष्य कर जो शास्त्र रचा गया वह 'रसशास्त्र' कहलाया। (यथा—'शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थम्')। इस शास्त्र के अन्तर्गत रस, उपरस, धातु आदि पदार्थों का विस्तारपूर्वक वर्णन, यन्त्र, पुट आदि उपकरणों की रचना, पारद के संस्कार, धातुओं की शुद्धिकरण हेतु आवश्यक भिन्न-भिन्न क्रियाओं और प्रयोगों का तथा धातुओं की शुद्धि, सत्त्व, द्रुति और भस्मीकरण इत्यादि अनेक विषयों का भी सविस्तार वर्णन किया गया है[5]। यही रसशास्त्र का विवेच्य विषय है।

'पारद' जीवन्मुक्ति का एकमात्र साधन है; पारद आजीवन निरोग रखने की एकमात्र मूल औषध है तथा पारद स्वर्ण और रजत जैसी धातुओं के निर्माण में सहायक होने के कारण संसार के वैभव का कारण है। इन्हीं मूल मान्यताओं को लक्ष्य कर विविध द्रव्यों, यन्त्रोपकरणों एवं प्रक्रियाओं के विकास में एक वृहद् शास्त्र का स्वरूप विकसित हुआ, जिसे हम रसशास्त्र के नाम से जानते हैं।

(ख) 'रसति भक्षयति सर्वान् लोहान् इति रसः'।
(ग) 'रसनाद् अभ्रकादीनां धातूनां कीर्तितो रसः'। (रसतर०)

१. 'रसोपरसराजत्वात् रस इत्यभिधीयते'।
२. 'रसत्वाद् द्रवरूपत्वात् रसः'।
३. 'मम देहरसो यस्माद् रसस्तेनायमुच्यते'। (रसार्णव)
४. 'जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः'। (र० र० स०)
५. 'रसोपरसलोहानि यन्त्रादिकरणानि च ॥
शुद्ध्यर्थमपि लोहानां तन्त्रादिकरणानि च।
शुद्धिः सत्त्वं द्रुतिर्भस्मकरणं च प्रवक्ष्यते' ॥ (र० र० स० १।९-१०)

अश्विनी कुमार? → नासत्य, दस्र

ऐतिहासिक विवेचन

रसविद्या या रसशास्त्र

वर्तमान समय में प्रचलित विविध चिकित्सा प्रणालियों में आयुर्वेद सबसे प्राचीन है। चरक ने इसे अनादि और शाश्वत कहा है[1]। स्वभाव से सिद्ध यह प्रणाली मानव की उत्पत्ति एवं सभ्यता के विकास से जुड़ी हुई है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह भी विकसित होती रही है। इतिहास भूतकाल का लेखा-जोखा होता है—'इतिहासः पुरावृत्तम्'। किसी विषय-विशेष का इतिहास उस विषय के उद्भव एवं विकास-क्रम का ज्ञान कराता है। विषय की मूल सामग्री—द्रव्य, प्रक्रिया, उपकरण, आविष्कर्त्ता एवं उनकी कृतियाँ आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, जिनका सही ज्ञान इतिहास के अवलोकन से ही होता है।

रसविद्या का प्रारम्भ में कब से हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए वर्तमान में उपलब्ध प्राचीन साहित्यों का अवलोकन करना होगा, जिसमें अधुना प्रचलित रसशास्त्रीय विषयों की सामग्री हो। समस्त भारतीय ज्ञान के आदिस्रोत वेद हैं। इसमें आयुर्वेद के सभी अंगों की सामग्री उपलब्ध है। कालक्रम से आयुर्वेद उपबृंहित होता रहा है। आज का उपलब्ध विशाल रसशास्त्र कोई एक दिन की देन नहीं, अपितु हजारों वर्षों के विशाल क्रियात्मक अनुसन्धान का परिणाम है। इसका प्रारम्भ भी वैदिक काल से ही है। वैदिक काल में मुख्यरूप से काष्ठौषधियों का प्रचलन तो था ही, साथ ही रसशास्त्र का स्वरूप भी उसी काल से आरम्भ होता है।

वेद एवं संहिता की दो परम्परा आयुर्वेद में देखी जाती है। वेदों में रूप, अग्नि, वरुण, इन्द्र, मरुत् आदि देवताओं को भिषक् कहा गया है। इन सभी में 'देवानां भिषजौ' के रूप में अश्विनीकुमारों की विशेष ख्याति है। तथापि रुद्र का स्थान प्रथम भिषक् के रूप में है—'प्रथमो देव्यो भिषक्' (यजु० १६।५)। संहिताओं की परम्परा में ब्रह्मा को आयुर्वेद का आदिज्ञाता अथवा प्रथम उपदेष्टा कहा गया है।[2] इसी प्रकार प्रत्येक रसशास्त्री रसशास्त्र का प्रादुर्भाव भगवान् शंकर से मानता है।[3] पुराणों में रुद्र-शिव की कल्पना अशुचित्वपूर्ण है। अतएव अपवित्रता से सिद्ध होने वाले तन्त्रों का सम्बन्ध शिव से जोड़ा गया है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं[4]। मन्त्र एवं तन्त्र को सिद्धि-सफलता का साधन

---

१. 'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च'। (च० सू० ३०।१५)
२. 'ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः'। (च० सू० १।४)
३. 'आदिमश्चन्द्रसेनश्च लङ्केशश्च विशारदः'। (र० र० स०)
४. 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशत्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः' ॥

Scanned with CamScanner

माना गया है। चरक ने योगियों को सिद्ध होने वाले आठ प्रकार के ऐश्वर्य बतलाये हैं—आवेश, परशरीर-प्रवेश, परचित्त-ज्ञान, इच्छानुसार विषयों को प्रस्तुत करना, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय श्रवण, प्रत्येक वस्तु का स्मरण, अमानुषी कान्ति तथा इच्छानुसार अदृश्य होना।[1] योगशास्त्र में तप, ज्ञान, समाधि के साथ औषधि को भी सिद्धिहेतु साधनरूप माना गया है। (योगदर्शन ४।१)।

औषधि को भी सिद्धि-सम्पत् देने वाला बतलाया गया है। इसी सम्पत् का सम्बन्ध तन्त्र से है। शेष वस्तुओं से प्राप्त सम्पत् का सम्बन्ध मन्त्र से है। दैवी सम्पत् तथा आसुरी सम्पत् का उल्लेख गीता में उपलब्ध है। दैवी सम्पत् संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाने के लिए तथा आसुरी सम्पत् सांसारिकता में जकड़ने के लिए है (गीता १६।५)। लोक में देव और असुर दो स्वभाव देखे जाते हैं, अतएव सिद्धि अथवा सम्पत् भी दो प्रकार की है। दोनों प्रकार के मनुष्य इसे प्राप्त कर सकते हैं। जो सिद्धि ऋषियों ने हिमालय पर तप करके प्राप्त की थी, उसी प्रकार की सिद्धियाँ श्मशान में शव के उपर बैठकर तप करके भी प्राप्त करने वाले हुए हैं। भले ही दोनों के फल में भेद हों, किन्तु जहाँ तक ऐश्वर्य का प्रश्न है दोनों ने ही इसे प्राप्त किया है।

मन्त्र-तन्त्र

मन्त्र और तन्त्र सिद्धि प्राप्त करने के दो साधन हैं। दोनों की साधना एक-दूसरे से भिन्न है। मन्त्र सिद्ध करने के लिए स्त्री-मद्य-मांस का त्याग, मिताहारी तथा मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र रहना अनिवार्य है। कुश की शय्या पर सोना, देवता की उपासना सुगन्ध-माला-उपहार-बलि से करना, इसके लिए जप और होम करना चाहिए (सु० क० ५।११-१२)। तन्त्र की प्रक्रिया को इसके विपरीत बतलाया गया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में 'सोम-सिद्धान्त' नामक कापालिक का वर्णन आया है। वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण किये श्मशान में वास करता था और नर-कपाल में भोजन करता था। योगाञ्जन से शुद्ध दृष्टि द्वारा वह कापालिक जगत् को परस्पर भिन्न देखते हुए भी ईश्वर (शिव) से अभिन्न देखा करता था[2]। इस नाटक की चन्द्रिका नामक व्याख्या में सोम-सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करते हुए सोम का अर्थ—उमा सहित शिव किया गया है। जो व्यक्ति ऐसा विश्वास करता है कि जिस तरह शिव नित्य उमा सहित कैलास में विहार करते हैं, उसी प्रकार कान्ता के

१. 'आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धिसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते'॥ (च० शा० १।१४०-४१)

२. 'नरास्थिमालाकृतचारुभूषणः श्मशानवासी नृकपालभूषणः।
पश्यामि योगाञ्जनशुद्धचक्षुषा जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्'॥
—प्र० च० ३।१२

साथ नित्य विहार करना ही मुक्ति है—वही सोम-सिद्धान्ती है ('सह उमयेति सोमः'—चक्रपाणि)।

कुल-मार्ग

कौल की परिभाषा 'सौभाग्यभास्कर' में इस प्रकार दी गयी है—'कुल' पार्वती को कहते हैं, क्योंकि उनके कुल, माता-पिता आदि का विस्तृत वर्णन शास्त्रों में है। 'अकुल' शिव को कहते हैं, इन्हें अजन्मा कहा गया है। इनके माता-पिता के सम्बन्ध की कोई चर्चा शास्त्रों में नहीं मिलती, अतः शिव अकुल हैं। जिस शास्त्र में कुल = पार्वती और अकुल = शिव के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाय उसे कुल-मार्ग, कौल-मार्ग या कौल-शास्त्र कहते हैं[1]। इनका मानना है कि पञ्च मकार यथा—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा एवं मैथुन के सेवन से ही सहज मोक्ष हो जाता है[2]। राजशेखर विरचित 'कर्पूरमञ्जरी' में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। ये अपने को कुलमार्ग लग्न या कौल कहते थे। इनका कहना था कि—कौल-मार्गी को न मन्त्र की जरूरत है और न तन्त्र की; न ज्ञान की और न ही ध्यान की। उसे गुरुप्रसाद की भी आवश्यकता नहीं[3]।

इस प्रकार तन्त्र-साधकों का मार्ग मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न था। मन्त्र का सम्बन्ध ब्रह्मा से है तथा तन्त्र का सम्बन्ध शिव से। शाक्तमतानुसार—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाम्भव—ये चार प्रधान आचार हैं। शाक्त आचार भी चार धाराओं में विभक्त हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

शाक्त-आगम तीन प्रकार के हैं; यथा—सात्त्विक अधिकारियों के लिए कहे गये आगम तन्त्र हैं; राजस् अधिकारियों के लिए बने आगम यामल और तामस् अधिकारियों के लिए बने आगम डामर हैं। (नाथ-सम्प्रदाय)

तन्त्र

'तन्त्र' शब्द चरक में आयुर्वेद-विद्या-शास्त्र-सूत्रादि शब्दों के पर्याय के रूप में व्यवहृत है (च० सू० ३०।३१)। तन्त्र शब्द शरीर-धारण के अर्थ में भी आता है ('निरुक्तं तन्त्रणात् तन्त्रम्'—च० सू० ३०।७०)। तन्त्र का अर्थ नियमन या नियन्त्रण भी किया जाता है ('प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्य तन्त्रकः'—च० शा०

१. 'कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते'॥ —सौ० भा०

२. 'मद्यं मांसं तथा मीनं मुद्रां मैथुनमेव च।
पुनः पुनः साधयित्वा पूर्णयोगी बभूव सः'॥ —महानिर्वाणतन्त्र

३. 'मंतो ण तन्तो ण अ किं पि जाणं झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
—कर्पूरमं० १।२२

Scanned with CamScanner

१।७७)। कापालिक भी अपने शरीर को नियमित एवं नियन्त्रित रखते थे, इससे उन्हें भी योगी तथा सिद्ध कहा जाता था। यही सिद्धि है। जिन्हें यह प्राप्त हुआ वे सिद्ध कहलाये[1]। इनकी संख्या ८४ है।

सिद्ध-सम्प्रदाय या नाथ-सम्प्रदाय

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'नाथसम्प्रदाय' पुस्तक में सिद्धों के सम्बन्ध में विस्तार से बतलाया गया है। जो सिद्ध हुए हैं वे नाथसम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, वे इसी परम्परा में हुए हैं। रसशास्त्र का आद्यकर्त्ता जिस नागार्जुन को कहा जाता है, वह भी इन्हीं चौरासी सिद्धों में से एक थे। हठयोगप्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द ने कहा है कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ हैं, जो स्वयं शिवस्वरूप हैं। ऐसा नाथसिद्धों का विश्वास है। इस सम्प्रदाय के लिए सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत और अवधूत-सम्प्रदाय नाम भी आते हैं। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' इस मत का अति प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अठारहवीं शताब्दी में बलभद्र पण्डित ने इस 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का संक्षिप्त रूप 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' नाम से बनाया। इससे पता चलता है कि अतिप्राचीन काल से इसे सिद्धमत कहा जा रहा है। अतएव सिद्धमार्ग ही नाथमत है।

आदिनाथ स्वयं शिव हैं और मूलतः समग्र नाथ-सम्प्रदाय शैव है। कापालिक मत भी नाथ-सम्प्रदाय से उत्पन्न हुआ है। इसका आधार शाबरतन्त्र में कापालिकों के बारह आचार्यों में पहला नाम आदिनाथ का ही आया है और बारह शिष्यों में कई नाथमार्ग के प्रधान आचार्य माने गये हैं। शाक्तमार्ग जो तन्त्र का अनुसरण करता है, उसके उपदेष्टा भी नाथ ही माने गये हैं। नाथ-सम्प्रदाय के साक्ष्यों से स्पष्ट है कि तान्त्रिकों का कौलमार्ग और कापालिक नाथ-मतानुयायी हैं। भवभूति ने 'मालती-माधव' में कापालिकों का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही भयावह है। कापालि लोग मनुष्यों की बलि दिया करते थे। तथापि 'मालतीमाधव' द्वारा इतना तो स्पष्ट होता है कि उनका मत षट्चक्र और नाड़िका-निचय के कामयोग से सम्बद्ध था (५।२)। यह कामयोग नाथ-पन्थियों की विशेषता है। ८४ बौद्ध सिद्धों में एक सिद्ध—कान्हूपाद या कृष्णपाद हुए हैं, जिन्होंने अपने को कापालि या कापालिक कहा है। ये प्रसिद्ध सिद्ध जालंधर के शिष्य थे। जालंधरनाथ औघड़ थे, जबकि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा। जो लोग कानों को छिदवाकर कर्ण-कुण्डल पहनते हैं, उन्हें कनफटा कहते हैं। बहुत से कान नहीं भी छिदवाते, तथापि इनकी वेशभूषा कुछ विचित्र प्रकार की होती है (पद्मावत १२।१२६)।

१. 'मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतिर्जुह्वतां
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत् कीलालधारोज्वलै-
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः' ॥ —प्र० च०

नाथ-सम्प्रदाय के पुराने सिद्ध :

हठयोगप्रदीपिका में नाथ-पन्थ के सिद्ध योगियों के नाम दिये गये हैं। उनमें मत्स्यानभैरव, काकचण्डीश्वर, भैरव तथा गोरखनाथ के नाम हैं। महार्णवतन्त्र में प्रस्तुत ९ नाथों में नागार्जुन का नाम भी है। 'वर्णरत्नाकर' के रचयिता कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर हैं, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (१३००-१३२१ ई०) के सभासद थे। इन्होंने इसमें ८४ सिद्धों के नाम दिये हैं। वास्तव में नाम ७६ ही हैं, ८ नाम छूट गये हैं। परन्तु पं० राहुल सांकृत्यायन ने जो सूची दी है उसमें ८४ नाम हैं। दोनों सूचियों में अनेक सिद्ध उभय सामान्य हैं। राहुल जी की सूची व्रज्रयानियों (सहजयानी सिद्धों) की है। इनके नाम के पीछे 'पा' लगा होता है।

नाथ-सिद्धों का काल :

नाथ-सम्प्रदाय में गोरखनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथ के सम्बन्ध की अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उन सभी का निष्कर्ष निकालते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

१. मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे और जालन्धरनाथ कान्हूपा के गुरु थे। मत्स्येन्दनाथ द्वारा लिखित कौलज्ञाननिर्णय के अनुसार इनका समय ११वीं शताब्दी से पूर्व का है।

२. अभिनवगुप्त आचार्य ने अपने 'तन्त्रावलोक' में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है। ये मच्छन्द विभु ही मत्स्येन्द्रनाथ हैं। अभिनवगुप्त ने सन् ९११ में ब्रह्म-स्तोत्र की रचना तथा १०१५ में प्रत्यभिज्ञान की बृहती वृत्ति लिखी थी। इस प्रकार अभिनव गुप्त का समय १०वीं शती और ११वीं शती के आरम्भ का है।

३. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की सूची में 'मीनपा'—जिनको मत्स्येन्द्र नाथ का पिता कहा गया है, वास्तव में मत्स्येन्दनाथ से अभिन्न हैं, तथा राजा देवपाल के राज्य काल में (८०९ से ८४९ ई० तक) हुए हैं। इससे इनका समय ९वीं शताब्दी निश्चित होता है।

उपर्युक्त प्रमाणों तथा 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि की कथाओं के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का काल ९वीं शताब्दी के मध्य का निश्चित होता है।

अल्बेरूनी :

अल्बेरूनी ११वीं शताब्दी में भारत आया था। उसने ३३ वर्षों तक भारत में रहकर संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषा का अध्ययन कर भारतीय ज्योतिष दर्शन, योग, आयुर्वेद आदि विषयों का अध्ययन किया। उसने अपने लेख में सिद्धों की कीमियागिरी का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि—रस विद्या और रसायन विद्या में अन्तर है तथा रसविद्या 'इन्द्रजाल' से भिन्न है। उसने विक्रमादित्य और व्याडिकी, राजा वल्लभ और रंक फल विक्रेता; धारानगरी के राजमहल में चाँदी के

Scanned with CamScanner

टुकड़े की कहानी देकर सोना-चाँदी बनाने का उल्लेख किया है। (अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ११०)। उसने नागार्जुन का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे मुझसे एक सौ वर्ष पूर्व हुए थे। उसका कहना है कि हिन्दू अलकैमी कीमियागिरी पर पूरा ध्यान नहीं देते, परन्तु कोई भी जाति पूर्णतः इससे बची नहीं है। इब्नबतूना ने भारतीय योगियों के प्रसंग में लिखा है कि चमत्कार की शक्ति प्राप्त करने के लिए बहुत से मुसलमान इनके पीछे लगे-फिरते हैं (नाथ-सम्प्रदाय पृष्ठ १९)। किसी-किसी जाति का इसके प्रति अधिक झुकाव है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि जिसका झुकाव इधर है, वह बुद्धिमान् है और जिसका झुकाव नहीं वह मूर्ख है। क्योंकि हम देखते हैं कि बहुत से बुद्धिमान् मनुष्य इस कीमियागिरी की ओर आँख भी नहीं उठाते और दूसरी ओर मूर्ख व्यक्ति इसके पीछे पागल फिरे घूमते हैं। जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस पर काम कर रहे हैं और विश्वास रखते हैं, उनको किसी प्रकार का दोष नहीं दिया जा सकता। वे केवल अपनी उत्सुकतावश भाग्य को सुधारने तथा दुर्भाग्य को दूर करने में लगे हुए हैं। एक दार्शनिक से पूछा गया कि विद्वान् किसलिए धनियों के द्वार पर जाते हैं; जबकि धनी विद्वानों के द्वार की ओर झाँकते भी नहीं। तब उसने कहा कि विद्वान् जानते हैं कि धन का उपयोग किस प्रकार से करना चाहिए, परन्तु धनी यह नहीं जानते कि विद्या का उपयोग कैसे होता है।

ये लोग इस विद्या को छिपाकर रखते हैं और जो इन पर विश्वास या श्रद्धा नहीं रखता उसको नहीं सिखाते। पूछने पर शिव ने बतलाया कि यह गुप्त रहस्य सबके सुनने योग्य नहीं है; चलो हम क्षीरसागर में रंग (डोंगी) पर बैठकर इस ज्ञान के विषय में वार्तालाप करें ('नाथ-सम्प्रदाय' पृष्ठ ४५)। 'रसार्णव' में शिव ने पार्वती को रसविद्या समझायी थी; यह ज्ञान गुप्त रखा जाता था। इसलिए मैं इस विद्या को हिन्दुओं से नहीं सीख सका। मुझे पता नहीं कि वे इसमें खनिज, प्राणिज या वानस्पतिक कौन सा द्रव्य काम में लाते हैं। मैंने उनको केवल प्रक्रिया के सम्बन्ध में ऊर्ध्वपातन (Sublimation), निक्षेपीकरण (Calcination), विश्लेपण (Analysis), वसा-स्नेह का पतला करना (Waxing of tole) कहते सुना है। इसको वे अपनी भाषा में तालक कहते थे। इसलिए मैं समझता हूँ कि कीमियागिरी की कोई खनिज प्रक्रिया होगी।

कीमियागिरी से मिलती-जुलती इनकी कोई विशेष प्रकार की प्रक्रिया है, जिसे वे 'रसायन' कहते हैं[1]। रस शब्द का अर्थ स्वर्ण है (पारद से स्वर्ण बनता था—इससे शायद अल्बेरूनी ने रस का अर्थ सोना समझा हो)। इसका अर्थ यह है कि इसमें कुछ औषधियों का उपयोग विशेषरूप से होता है। ये औषधियाँ वृक्ष-वनस्पतियों से प्राप्त की जाती हैं। इस विद्या का उद्देश्य था—निराश रोगियों को स्वस्थ करना, वृद्धों को युवा करना, जिससे उनके बाल काले हो जायें और उनमें पौरुष एवं यौवन

१. पद्मावत में अनेक स्थानों पर रसायन विद्या का उल्लेख है। अधिक जानकारी के लिए डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का संजीवन-भाष्य देखें।

पूर्व की भाँति आ जाय। ये सभी बातें रसायन से ही सम्भव हैं। इसको सत्य समझना चाहिए, यह मूर्खों की बात नहीं है। जो आदमी मुँह में रखे भोजन को नहीं निगलता, वह उसी की भाँति मूर्ख है, जो इस विद्या का उपयोग अपनी भलाई के लिए नहीं करता। सोना बनाने के लिए मूर्ख हिन्दू राजाओं के लोभ की कोई सीमा नहीं; यदि उनमें से किसी एक को सोना बनाने की इच्छा हो और उसे यह परामर्श दिया जाये कि इसके लिए कुछ छोटे-छोटे सुन्दर बालकों का वध करना आवश्यक है, तो वह राक्षस यह पाप करने से भी नहीं रुकेगा; वह उन्हें जलती आग में फेंक देगा। क्या ही अच्छा हो यदि इस बहुमूल्य रसायन-विद्या—किमियागिरी को पृथ्वी की सबसे अन्तिम सीमाओं में निर्वासित कर दिया जाय, जहाँ से इसे कोई प्राप्त न कर सके।' (अल्बेरूनी का भारत, भाग २, पृष्ठ ११६)।

स्वर्ण-निर्माण के लिए सहस्रवेधी रस की चर्चा हरिभद्र सूरि ने अपने 'धूर्ताख्यान' (भारती भवन, बम्बई से प्रकाशित) के तीसरे उपाख्यान में किया है। इनका समय आठवीं शताब्दी का माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इनसे पूर्व सातवीं शताब्दी में पारद से स्वर्ण बनने लगा था।

११वीं शताब्दी से पूर्व ९वीं और १०वीं शताब्दी में लिखे गये सिद्धयोग और चक्रदत्त में रसविद्या का एवं तत्सम्बन्धी मन्त्र-तन्त्र का उल्लेख मिलता है (वृन्द-रसायनाधिकार)। चक्रदत्त में स्वर्ण आदि धातुओं के शोधन-मारण की विधि बतलायी गयी है परन्तु सामान्यतः लौह का उपयोग उसका पत्तर बनाकर उसे प्रतप्त कर काञ्जी आदि द्रव्य में बारम्बार बुझाकर, कूटकर वस्त्रगालित सूक्ष्म चूर्ण करके प्रयोग करना बतलाया है।

पद्मावत (१६वीं शताब्दी) में जायसी ने सिद्ध योगी के द्वारा सोना बनाने तथा अन्य रसायन क्रियाओं का उल्लेख बहुत स्पष्ट किया है। इसमें सोना साफ करने की 'सलोनी' क्रिया का भी उल्लेख मिलता है। तदनुसार सोने से चाँदी की मिलावट को साफ करने के लिए सोने को पीटकर पत्तर बना लेते हैं और इस पर 'सलोनी' का लेप कर कण्डों की आग में कई बार तपाने से सलोनी चाँदी को खा जाता है और सोना शुद्ध हो जाता है।

सलोनी—कण्डे की राख, ईंट का चूर्ण, सांभर नमक और कड़ुआ तेल के मिश्रण को सलोनी कहते हैं।

महाभारत के उद्योगपर्व में कहा गया है—

'सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूपस्यापि मलं त्रपु।
ज्ञेयं त्रपु मलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम्'॥
(महा० उद्योग० ३९।६५)

१२वीं शती में लिखित द्रव्य-परीक्षा (ठक्कुर फेरू कृत) में सलोनी द्वारा सोना-चाँदी शुद्ध करने की विधि लिखी है। (संजीवन-भाष्य, पद्मावत पृष्ठ ५१)

Scanned with CamScanner

इससे स्पष्ट होता है कि रसविद्या—कीमियागिरी का रूप सिद्धों से ९वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ जो सोलहवीं शताब्दी तक पूर्ण उन्नत अवस्था में था।

देहसिद्धि-लोहसिद्धि—औषधि से भी सिद्धिसम्पत् प्राप्त होती है। इसी को आधार मानकर सम्भवतः सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वरदर्शन सम्मिलित किया गया है। इसमें पारद और अभ्रक के संयोग से शरीर को सिद्ध करने का उल्लेख है। यह सिद्धि पारद के द्वारा ही मिल जाती है। पारद का सम्बन्ध शिव से तथा अभ्रक का पार्वती से बतलाया गया है। इन दोनों के संयोग से सृष्टिजन्म-सिद्धि मिलती है। यह सिद्धि इसी जन्म से प्राप्त करनी चाहिए; मरने के बाद की सिद्धि का कोई अर्थ नहीं। अतः इस शरीर को 'दिव्यतनु' बनाना चाहिए, जो बहुत वर्षों तक स्थिर रह सके। यह सफलता पारद से सम्भव है, क्योंकि वह संसार के दुःखों से पार पहुँचाता है ('संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः')। महादेव के शरीर का रस होने से इसे 'रस' कहा गया है। अकेला पारद ही सिद्ध होकर शरीर को अजर-अमर कर देता है ('एकोऽसौ रसराजः शरीरं अजरामरणं च कुरुते')। पारद की सिद्धि की परीक्षा धातु-सिद्धि से की जाती थी। जब यह हलकी धातु ताम्र आदि को दूसरी कीमती धातु स्वर्ण-रजत में बदल सकता था तब इसे सिद्ध समझा जाता था। तब इसका उपयोग देहसिद्धि के लिए होता था। अभ्रक और पारद के संयोग से मृत्यु और दारिद्र्य दोनों नष्ट होते हैं, अर्थात् इस क्रिया से लोहसिद्धि और देहसिद्धि दोनों मिलती है[1]। ये सिद्धियाँ जिन्हें प्राप्त थीं वे ही सिद्ध कहे गये हैं। इन सिद्धों का सम्प्रदाय ही नाथ-सम्प्रदाय, कापालिक, औघड़, वामपन्थी तथा कौलाचार आदि कहा जाता है।

कौल-मत में कुल = शक्ति से अकुल = शिव का सम्बन्ध-स्थापन ही कौलमार्ग है। शिव की सृष्टि करने की इच्छा का नाम शक्ति है। चन्द्रमा और चाँदनी का जो परस्पर सम्बध है, वही शिव और शक्ति का सम्बन्ध है। कौलमत में अन्तिम सिद्धि मोक्ष ही है। इसको सर्वात्मतासिद्धि अर्थात् 'समस्त जगत् के प्रपञ्चों के साथ अपने को अभिन्न समझना' कहते हैं। यहाँ प्रपञ्च का अभिप्राय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध से है। (आनन्दराय मखी प्रणीत 'जीवानन्दनम्' नाटक)। इस प्रकार कौलमार्गियों के लिए सभी इन्द्रिय-भोगों के प्रति निस्पृह बनने, सभी वर्णों के साथ समानता का भाव बरतने एवं भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करने का उपदेश किया गया है। उसके लिए मेरा या दूसरे का भेद; बद्ध और मुक्त का कोई भेद नहीं रहना चाहिए। साधना का लक्ष्य कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करना है। इसके लिए शरीर के षट्चक्रों को जानकर इनको वश में करना होता है। इसी चक्र वर्ग के अन्तिम चक्र में सहस्रदल होने से उसे सहस्रार भी कहते हैं। यहीं पर शिव की स्थिति है। शिव का निवास होने से इसे कैलास भी कहते हैं ('कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति'—शिवसंहिता ५।१५१-५२)। सहस्रार में स्थित शिव तक शक्ति का उत्थान करके शिव के साथ

इसको मिलाना ही कौल-साधना का परम लक्ष्य है। यही मिलन आनन्दमय है। इस आनन्द की प्राप्ति के बाद साधक के लिए कुछ करणीय नहीं रहता।

आचार सात प्रकार के हैं—वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचारियों में कोई नियम नहीं; इनके लिए कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और ऋण में लेश मात्र भी भेद-बुद्धि नहीं होती। ये सभी प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होते हैं। यही इनका चरम लक्ष्य है।

तान्त्रिक प्रवृत्ति का इस मार्ग में प्रवेश होने के सम्बन्ध में अनङ्गवज्र के वचनों से प्रकाश पड़ता है। उनका कहना है कि वासनाएँ दबाने से मरती नहीं, अपितु ये अन्तस्तल में जाकर छिप जाती हैं और अवसर पाकर फिर से उभर जाती हैं तथा साधक को दबोच लेती हैं। इसलिए इनको दबाना ठीक नहीं। उचित यही है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय, तभी चित्त का संक्षोभ शीघ्र दूर होगा और सच्ची सिद्धि प्राप्त होगी। इस प्रकार की धारणा से कामोपभोग का साधना के क्षेत्र में प्रवेश हुआ। इस साधना की पृष्ठभूमि में शून्यवाद रहा है। समस्त भावों का स्वभाव शून्यता है (जैसे गुड़ का धर्म माधुर्य)। शून्यता का मूर्त रूप ही वज्रसत्त्व है। शुक्र का नाम भी वज्र है और जिससे इसे वश में करते हैं वह वज्रोली है। वज्र सत्त्व, वज्रधर, वज्रपाणि इसी शून्य के नाम हैं। यही वज्रधर समस्त बौद्धों के गुरु हैं। वज्रयान और नाथसम्प्रदाय की योगसाधना में काफी समानता है। (नाथ-सम्प्रदाय पृष्ठ ९३-९४)। नाथ-पन्थ के चौरासी सिद्धों में से कई वज्रयानी परम्परा के सिद्ध हैं। सिद्धों में कुछ गोरखनाथ के पूर्ववर्ती हैं और कुछ परवर्ती। इनमें से दसवें नागार्जुन और चौबीसवें चर्पटीनाथ थे। इनका परिचय यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। इनके परिचय से तत्कालीन रसविद्या की झलक मिलेगी।

नागार्जुन

यह सर्वविदित है कि नागार्जुन रसशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। भारतीय संस्कृति के इतिहास में अनेक नागार्जुन का उल्लेख मिलता है। ईसवी सन् १०० वर्ष पूर्व से लेकर ८वीं शताब्दी तक कई नागार्जुन हुए हैं। इनमें दो का सम्बन्ध विशेष रूप से रसविद्या के साथ रहा है; जो आगे के वर्णन-क्रम में स्पष्ट होगा।

महायान मतवालों द्वारा नागार्जुन से इनको भिन्न माना गया है। 'साधनमाला' में कृष्णाचार्य द्वारा 'कुरुकुल्ला' साधना का उल्लेख है। कुरुकुल्ला को ध्यानी बुद्ध की अभिव्यक्ति से बतलाया जाता है। अनुमानतः कुरुकुल्ला की उपासना के प्रथम प्रवर्तक शवरपाद नामक सिद्ध हैं। इनका समय ७वीं शताब्दी के मध्य का है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। नागार्जुन ने एक विशेष देवी 'एकजटा' की उपासना प्रचलित की थी। एकजटा देवी की साधना का नागार्जुन ने भोटदेश (तिब्बत) से उद्धार किया था। इसी देवी का एक नाम 'महाचीन तारा' भी है। ब्राह्मण-तन्त्रों में भी 'तारा' की उपासना का वर्णन है। 'साधनमाला' में कुरुकुल्ला की उपासना के

Scanned with CamScanner

बहुत से भेद वर्णित हैं, जिनमें एक तारोद्भवा कुरुकुल्ला है। इस प्रकार से एकजटा-तारा—कुरुकुल्ला की उपासना में कोई एक सम्बन्ध दीखता है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के मत से महाचीनतारा ही आगे चलकर हिन्दुओं में चतुर्भुजी तारा (दस महाविद्याओं में) हो गई। दस महाविद्याओं की छिन्नमस्ता को बौद्ध वज्रयोगिनी का समशील बतलाया गया है। कृष्णपाद या कृष्णाचार्य भी सम्भवतः इस देवी के उपासक थे। कृष्णाचार्य की शिष्या मेखलापा तिब्बत में छिन्नमस्ता के रूप में पूजी जाती हैं। प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे और उनसे ही इन्होंने आकाश-गमन की विद्या सीखी थी। प्राचीनकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्न मूर्ति द्वारका के पास समुद्र में डूब गयी थी, जिसका उद्धार किसी सौदागर ने किया था। गुरु से यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्वलक्षण-समन्विता स्त्री पारा घोंटे तो कोटिवेधी रस तय्यार होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य राजा सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के समक्ष पारद-मर्दन करवाया था। ऐसा भी कहा जाता है कि रानी के पुत्रों ने रस के लोभ में नागार्जुन को मार डाला था। कुछ बातें जो स्पष्ट हैं वह यह कि—नागार्जुन रसेश्वर-सिद्ध थे, वे गोरखनाथियों के पारसनाथी शाखा के प्रवर्तक थे तथा दक्षिण भारत के निवासी थे।

सिद्धनागार्जुन

भोटदेशीय ग्रन्थों के आधार पर पं० श्री हरिनाथ शास्त्री ने निम्न विचार व्यक्त किया है जो नागार्जुन (इनका समय ८वीं शताब्दी माना जाता है) की जीवन कथा से सम्बन्धित है—"विदर्भ देश के काञ्चीनगर के एक धनाढ्य किन्तु निःसन्तान ब्राह्मण को स्वप्न हुआ कि यदि वह सौ ब्राह्मणों को दक्षिणा सहित भोजन कराये तो उसे एक पुत्र होगा। इस स्वप्न के अनुसार उसने भगवद्पूजन के बाद १०० ब्राह्मणों को दक्षिणा सहित भोजन कराया। दसवें मास में उसे एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। ज्योतिषियों को बुलाकर जब उसने उसकी ग्रहदशा दिखलाई तो ज्योतिषियों ने कहा कि बालक सभी प्रकार से भाग्यवान् है किन्तु यह एक सप्ताह से अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहेगा। यदि आप १०० भिक्षुओं को भोजन करायें तो बालक ७ वर्ष तक जीवित रह सकता है। ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। बालक जब ७ वर्ष का होने आया तो उस ब्राह्मण ने अपने दृष्टि के समक्ष बालक को मरते नहीं देखना चाहते हुए काफी सोच-विचार के पश्चात् उसे अपने अनुचरों की देखरेख में जंगल में भेज दिया, जहाँ बालक शोकपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। एक दिन बोधिसत्त्व आवलोकितेश्वर अपना वेश बदलकर आये और उस बालक को साथ लेकर नालन्दा मठ में रखने की अनुमति दे आये। जाते समय बोधिसत्त्व ने कहा कि यहाँ यह बालक निर्भय रहेगा। उस समय नालन्दा के मुख्य अधिष्ठाता आचार्य सरभ थे। उन्होंने उस बालक नागार्जुन को भिक्षु बना लिया। वह बालक वहीं शिक्षा प्राप्त करता रहा। अनेक वर्षों के बाद नालन्दा के आस-पास बड़ा जबरदस्त दुर्भिक्ष पड़ा। दुर्भिक्ष की आग से लोग

सन्तप्त होने लगे। आचार्य सरभ को मठ के लोगों के भरण-पोषण की चिन्ता सताने लगी। सिद्ध सरभ को मालूम हुआ कि समुद्र पार किसी द्वीप में कोई महात्मा स्वर्ण बनाना जानता है। आचार्य सरभ ने नागार्जुन को स्वर्ण बनाना सीखने के लिए भेजा। आचार्य नागार्जुन मायूरी विद्या के ज्ञाता थे, वे उस द्वीप तक जाने के लिए समुद्र के किनारे आये और वटपत्र के दो पत्रों को तोड़ा तथा एक पत्ते के सहारे समुद्र पार कर उस द्वीप पर पहुँच गये। नागार्जुन को देखकर वह सन्यासी आश्चर्यचकित हुआ और पूछा कि आप इस द्वीप तक कैसे और क्यों आये हैं? इस पर नागार्जुन ने वट-पत्र को दिखलाया और बतलाया कि वह इसी के द्वारा समुद्र तैर कर आया है। सन्यासी ने कहा कि यदि आप इस साधन को मुझे दे दें तो मैं आपको स्वर्ण-निर्माण की विद्या सिखला दूँगा। आचार्य नागार्जुन इस शर्त को मानकर उस सन्यासी को एक वटपत्र दे दिया और सन्यासी ने उसे मायूरी विद्या सिखला दी। अपना अभीष्ट स्वर्ण-निर्माण की विद्या सीख लेने के पश्चात् नागार्जुन दूसरे वटपत्र के सहारे समुद्र पार कर अपने देश लौटकर नालन्दा आ गये। तब लोगों ने उनसे पूछा कि आपकी यात्रा कैसी रही तथा आप उत्तर भारतीयों के लिए क्या-क्या लाये हैं? इस पर नागार्जुन ने उद्घोषणा की कि इस भू-खण्ड से दरिद्रता मिटाने के लिए मैं पारद को सिद्ध करूँगा[1]। इस प्रकार नालन्दा में उन्होंने प्रचुर मात्रा में पारद द्वारा स्वर्ण बनाकर तत्कालीन भयानक दुर्भिक्ष को समाप्त किया।"

इसके अतिरिक्त पं० राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वज्रयानी बौद्धसिद्धों की ८४ परम्पराएँ मानी जाती हैं। इनमें मुख्यतः सरहपा, शबरपा, भूसुकपा, लूईपा, विरूपा, डोंबिपा, कान्हपा आदि हैं। इनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। नवीं-दसवीं शताब्दी में ही गोरखनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा नाथसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ। नाथ सम्प्रदाय का बौद्ध-सिद्धों से काफी घनिष्ठ सम्बन्ध था। शबरपा सरहपा के प्रधान शिष्य थे। सरहपा के दूसरे शिष्यों में योगी नागार्जुन और सर्वमहा भी थे। यह नागार्जुन यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो द्वितीय शताब्दी के माध्यमिक आचार्य नागार्जुन से भिन्न हैं। तिब्बती परम्परा में सरहपा छठे सिद्ध हैं; प्रथम सिद्ध लुईपा हैं। इस परम्परा में नागार्जुन सोलहवें सिद्ध हैं; यथा—लुईपा, लीलपा, विरूपा, डोम्बिपा, शुकरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शान्तिपा, तन्तिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन तथा कराहपा। फलतः नागार्जुन का समय आठवीं या नवीं शताब्दी निश्चित होता है, जबकि इनको सरहपा का शिष्य कहा गया है।

द्वितीय या प्रथम शताब्दी के नागार्जुन जिनको कनिष्क का समकालीन कहा जाता है, वे इनसे भिन्न हैं। उन्होंने बौद्धों में शून्यवाद या माध्यमिकवाद का प्रचार किया था।

शून्यवाद के प्रधान संस्थापक नागार्जुन थे। बाण ने हर्षचरित में सातवाहन

१. 'सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यमिदं जगत्'।

R·R·S

Scanned with CamScanner

राजा के साथ नागार्जुन की मैत्री का उल्लेख किया है। सातवाहन को मोतियों की एक लड़ी = माला नागार्जुन ने दी थी। यह समय ई० ४४ से ई० ८ वर्ष पूर्व का था। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'इतिहास प्रवेश' (पृष्ठ १३७) में लिखा है कि—"नागार्जुन अश्वघोष का प्रशिष्य था और अश्वघोष कनिष्क की राजसभा का पण्डित था। नागार्जुन दर्शन के साथ-साथ विज्ञान का पण्डित था। उसने एक लोहशास्त्र लिखा और पारे के योग बनाने की विधि निकालकर रसायन के ज्ञान को आगे बढ़ाया। उसने सुश्रुत के ग्रन्थ का सम्पादन भी किया।" वस्तुतः पारा सम्बन्धी बातें सिद्ध नागार्जुन से सम्बन्धित हैं जो कि नवीं या दसवीं शताब्दी में हुआ था। शून्यवाद का प्रवर्तक नागार्जुन अश्वघोष का शिष्य था, जिसकी चर्चा वाण ने की है। लोहवाद को जन्म देने वाला सिद्ध नागार्जुन है, जो सरहपा का शिष्य एवं सिद्धों की परम्परा में है। काश्यपसंहिता के उपोद्घात में भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है—"नागार्जुन के नाम से बहुत से विद्वान् हुए हैं। कक्षपुट, योगशतक, तत्त्वप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थों में कक्षपुट आदि कौतुक ग्रन्थों का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन को कहा गया है। वैद्यक सम्बन्धी योगशतक प्रकाशित है, इसका तिब्बती अनुवाद भी मिलता है। नागार्जुनकृत 'चितानन्दपटीयसी' नामक ताड़पत्र पर लिखी एक पुस्तक वैद्यक विषय की है, जो कि तिब्बत के गीममठ (गाँवठ) में है; ऐसा सुना जाता है। तन्त्र सम्बन्धी बौद्धाध्यात्म विषयक तत्त्वप्रकाश, परमरहस्यसुख, समयमुद्रा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। सातवीं शताब्दी में च्युआन शाङ्ग नामक एक चीनी यात्री भारत में आया था। उसने अपने से सातवीं या आठवीं शताब्दी पूर्व के शान्तिदेव, अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानों की भाँति बौद्ध विद्वान् बोधिसत्त्व नागार्जुन का भी उल्लेख किया है, जो कि रसायन के द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देता था। यह सातवाहन का मित्र था। राजतरंगिणी में बुद्ध के १५० वर्ष पीछे नागार्जुन के होने का उल्लेख है। इस प्रकार से अनेक नागार्जुन का उल्लेख होने से निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं। सातवाहन के लिए नागार्जुन के पत्र भेजने का उल्लेख अन्यत्र मिलता है। एक ताड़पत्र पर संस्कृत में लिखे शालिवाहन-चरित में उद्धृत है—'दृष्टसत्त्वो बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाराजगुरुः श्रीनागार्जुनाभिधानः शाक्यभिक्षुराजः'। इस स्पष्ट उल्लेख से बोधि-सत्त्वस्थानीय कुरुकुल्ल के उपदेश से तान्त्रिक शाक्य भिक्षुराज नागार्जुन सातवाहन के समय के सिद्ध होते हैं। च्युआन शाङ्ग ने भी नागार्जुन को बोधिसत्त्व तथा धातु-विद्या का विद्वान् बतलाया है। नागार्जुन ने सातवाहन राजा को रसायन गुटिका औषध दी थी; इसका भी उल्लेख है। राजतरंगिणी में उल्लिखित नागार्जुन बौद्ध होने पर सज्जन राजा के रूप में वर्णित हैं। माध्यमिक आदि नागार्जुन कभी भी राजा नहीं हुए, इसलिए राजतरंगिणी का नागार्जुन इनसे भिन्न है।" (काश्यपसंहिता, उपोद्घात पृष्ठ ६५)।

यहाँ पण्डित हेमराज शर्मा द्वारा उल्लिखित नागार्जुन को रसायन विद्या का प्रवर्त्तक मानने में बाधा यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में रसविद्या का जो उल्लेख

मिलता है, वह चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह, वृन्द एवं चक्रदत्त में नहीं है; विशेषतः जब हम यह देखते हैं कि चरक भी कनिष्क के राजवैद्य थे। (इतिहास-प्रवेश, पृष्ठ १२५)। यदि नागार्जुन इनके समकालीन थे और यही नागार्जुन रसविद्या और पत्थर से स्वर्ण बनाने की विद्या जानते थे तो चरक इसका उल्लेख अवश्य करते। उल्लेख न भी करते तो कम-से-कम प्रवाल, लोह, स्वर्ण आदि धातुओं की जो प्रयोग-विधि ११वीं शताब्दी में पाते हैं उसी प्रकार की प्रयोग-विधि बतलाते; परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण चरक में मात्र चि० अ० ७।७१ में 'सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्' ऐसा वर्णन आया है।

सुश्रुतसंहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन के सम्बन्ध में विद्वानों की मान्यता है कि ये ९वीं शताब्दी में हुए। इन्होंने नष्टप्राय एवं जीर्णशीर्ण सुश्रुतसंहिता का पुनरुद्धार किया था। रससिद्ध नागार्जुन और सुश्रुत के प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन के एक होने का समर्थन भी कई विद्वान् करते हैं। कक्षपुट के अनुसार नागार्जुन काफी लम्बी आयु तक जीवित रहे थे। हो सकता है ८वीं और ९वीं दोनों शताब्दियों में वे रहे हों। अलबेरूनी ने अपने से १०० वर्ष पूर्व नागार्जुन के होने की बात कही है। यदि दोनों नागार्जुन को एक मान लिया जाय तो शंका उत्पन्न होती है कि इतना बड़ा रसशास्त्री सुश्रुत के प्रतिसंस्कार में रसशास्त्र के सिद्धान्त अथवा स्वर्ण-निर्माण अथवा देहवाद सम्बन्धी बातें अवश्य लिखता, किन्तु सुश्रुत में ऐसा कुछ नहीं मिलता। नागार्जुन के सम्बन्ध में उपरोक्त वर्णन से इतना तो स्पष्ट होता है कि—

आचार्य नागार्जुन बौद्ध थे। उन्हें रसविद्या, रसायन विद्या, मायूरी विद्या, वज्र-यान, निःस्वभाववाद, महाप्रज्ञापारमिता (वनस्पति एवं खनिज द्रव्यों के साथ-साथ रसविज्ञान, जादू, समाधि बेला की शक्ति से स्वर्ण बनाने का ज्ञान) शास्त्र आदि का गहन ज्ञान था। वे लगभग १०६ वर्ष की लम्बी आयु तक, बल्कि कुछ विद्वानों की मान्यता के अनुसार ६०० वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। इन्होंने अपने जीवन काल में अनेक बौद्ध एवं रस-ग्रन्थों की रचना की थी।

वास्तव में रससिद्धों का उल्लेख ८वीं शताब्दी में ही मिलता है। इसी शताब्दी के सिद्ध सरहपा के एक शिष्य नागार्जुन थे। नाथ-सम्प्रदाय के मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ का भी यही समय रहा है। इस प्रकार रससिद्धि का प्रारम्भिक समय ८वीं शताब्दी निश्चित मानना चाहिए। रससिद्ध नागार्जुन इसी शताब्दी के थे। बौद्ध दार्शनिक एवं शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन पहली अथवा दूसरी शताब्दी के हैं। सम्भव है वे भी हैमवती विद्या अर्थात् स्वर्ण बनाना जानते हों। परन्तु चमत्कार या किमीया-गिरी चिकित्सा में पारा और धातुओं का उपयोग ८वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ, जब से इसे सिद्धों का आश्रय मिला। सिद्ध इस विद्या को लोगों को चमत्कार, अलौकिक सिद्धियाँ दिखाने के प्रयोग में लाते थे, जिससे जनता इनकी ओर आकर्षित होती थी। सिद्धियों के प्रदर्शन के कारण ये सिद्ध कहे जाते थे। इस प्रकार जनसामान्य में रस-शास्त्र के प्रवर्तक यही सिद्ध हैं। इनमें एक नागार्जुन भी थे। चूँकि इसी नाम के एक

Scanned with CamScanner

नागार्जुन प्रथम-द्वितीय शताब्दी में हुए हैं; उनके पास भी स्वर्ण बनाने की विद्या थी इसलिए रस-सिद्धि और पारा-सिद्धि को इनके साथ जोड़ दिया गया। वास्तव में दोनों भिन्न हैं—दोनों के बीच छः सौ से सात सौ वर्ष का अन्तर है।

चंकुण

राजतरंगिणी में कल्हण ने रससिद्ध चंकुण का उल्लेख किया है; यथा—राजा ललितादित्य ने भूःखार (आजकल का बुखारा) देश से कंकणवर्ष नामक महान् रासायनिक (रससिद्ध) के गुणसम्पन्न भ्राता चंकुण को आश्रय दिया था। वह रस-प्रयोग से स्वर्ण-निर्माण कर राजा के कोष को स्वर्ण से भरपूर रखता था। कमल के लिए जिस प्रकार तड़ाग का पानी आवश्यक है, उसी प्रकार वह राजा के लिए बहुत उपयोगी था।[1] सेना सहित राजा पंचनद देशों में दुस्तर नदियों के संगमों के तीर पर रुक जाने से चिन्तामग्न हो गया था। उसने मंत्रियों से पार जाने का उपाय पूछा। इस समय किनारे पर खड़े चंकुण ने इस अगाध जल में एक मणि डाल दी। उस मणि के प्रभाव से नदी का जल दो हिस्सों में बँट गया और राजा अपनी सेना समेत शीघ्र ही नदी के पार चला गया। चंकुण ने फिर दूसरी मणि से उस मणि को नदी से निकाल लिया। मणियों के निकलते ही नदी का जल पूर्ववत् हो गया। राजा ने उन रत्नों के ऐश्वर्यकारी प्रभाव को देखकर प्रेम के साथ चंकुण से उन दोनों रत्नों को मांगा (यथा—'मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकम्। यत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्ये उच्यते'—च० सू० २६।७०)। अन्त में चंकुण ने राजा से प्राप्त भगवान् बुद्ध की प्रतिमा लेकर उसके बदले में वे मणियाँ राजा को दे दीं। चंकुण ने इस प्रतिमा को अपने विहार में स्थापित किया। इस प्रतिमा का रंग गेरुआ और चमकीला था।

चर्पटीनाथ

नाथ-पंथ के चौरासी सिद्धों में चौबीसवें सिद्ध चर्पटीनाथ थे। ये वेश-भूषा को विशेष महत्त्व नहीं देते थे और अपने को जोगी कहलाना ही पसन्द करते थे। इन्होंने बाह्याचार धारण करने वाले दूसरे सम्प्रदायों की व्यर्थता बतलायी है[2]। एक पुस्तक में चर्पटीनाथ और गुरु नानकदेव की बातचीत का उल्लेख मिलता है।[3] इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि चर्पटीनाथ रसायन-सिद्धि के चक्कर में थे और इससे निराश

१. राजतरंगिणी, तरंग ४।२१६।

२. इक सेति पटा इक नील पटा इक तिल जनेऊ लंबि जटा।
इक फीए इक मीनी इक कानि फटा जब आवैंगी काली घटा॥

३. संत सपूर्णसिंह ने तरणतारण से प्राणसंगली में छपायी है—
इक पीत इक लंब जटा इक सूत जनेऊ तिलक छटा।
इक जंगम कहि लै भसम घटा अडलइ नहिं चीनै उलटि घटा।
तब चरपट सगले स्वांग जटा॥ (अ० ७६ पृ० ७९४)

हो चुके थे। इनके कहे पद का अर्थ ही यह है कि यदि मृत्यु पर विजय नहीं पायी तो इस वेष से क्या मतलब? मृत्यु पर विजय केवल रसायन से ही मिल सकती है। सम्पूर्ण वार्ता रसायन से सम्बद्ध है।

प्राणसंगली के वार्तालाप से मालूम होता है कि ये रसायन-सिद्धि के अन्वेषक थे। ये गोरखनाथ के कुछ ही परवर्ती थे। सम्भवतः रसायनवादी बौद्ध-सिद्धों के दल से निकल कर गोरखनाथ के प्रभाव में आये थे और अन्त तक बाह्य वेष के विरोधी रहे।

उनसठवें वज्रयानी सिद्ध का नाम चर्पटी है। तिब्बती परम्परा में इन्हें मीनपा का गुरु माना गया है। परन्तु नाथ-परम्परा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य माना गया है।

वज्रयानी सिद्धों में सान्ति (शान्ति; सम्भवतः दसवीं शताब्दी में विक्रमशिला, विहार के द्वार-रक्षक पण्डित शान्तिपाद) हुए हैं। ये बड़े विद्वान् थे। राहुलजी का कहना है कि वज्रयानी सिद्धों में इतना प्रकाण्ड पण्डित दूसरा नहीं हुआ।
(नाथसम्प्रदाय)

इससे इतना स्पष्ट है कि रसायन या रसविद्या का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था। नवीं-दसवीं शताब्दी में उसका कुछ विकास हुआ जो १६वीं शताब्दी तक पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुका था।

अर्धनारीश्वर-पूजा

अर्धनारीश्वर-पूजा रसशास्त्र का मूल आधार माना जाता है। इतिहास से यह स्पष्ट है कि बौद्धों और हिन्दुओं में धर्म-विषयक संकोच-विकास समय-समय पर होता रहता था। अशोक के समय यदि बौद्धधर्म का प्रचार था तो पुष्यमित्र के समय यज्ञ-प्रधान हिन्दूधर्म का प्रचार हुआ। कनिष्क और मिलिन्द के समय बौद्धधर्म का उत्थान हुआ तो भारशिवों के समय शिव की उपासना चली। भारशिव शिव को सिर पर धारण करते थे। गुप्तकाल में दोनों धर्म शान्तिपूर्ण ढंग से आगे बढ़े। इस उथल-पुथल में कालक्रम से दोनों धर्मों में एक-दूसरे की विशेषताएँ सम्मिलित हो गईं। परिणामस्वरूप बुद्ध भी हिन्दुओं के अवतारों में आ गये। बौद्धों की तारा देवी हिन्दुओं की चतुर्भुजी तारा बन गयी। इसी प्रकार बुद्ध की मूर्ति एवम् जैनियों की मूर्तियों की भाँति शिव की भी मूर्ति बनायी गयी। इसी मूर्ति-निर्माण में शिव और पार्वती की अर्धनारीश्वर रूप में पूजा प्रारम्भ हुई। रसशास्त्रीय मान्यता के अनुसार पारा और अभ्रक या पारा और गंधक के योग से ही दिव्य शरीर बनता है। ('दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात्'—सर्वदर्शनसंग्रह)। रसशास्त्र में पारे का सम्बन्ध शिव से तथा अभ्रक एवं गंधक का सम्बन्ध पार्वती से माना जाता है।

Scanned with CamScanner

यह पूजा शैवमत में किस प्रकार प्रारम्भ हुई ? इसकी विस्तृत जानकारी बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा प्रकाशित डाक्टर यदुवंशी की पुस्तक 'शैव-मत' में देखने को मिलती है। जिसकी संक्षिप्त जानकारी यहाँ दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि बौद्धों का वज्रयान सम्प्रदाय जिस प्रकार से आगे चलकर सिद्धों में मिलकर एक हो गया, उसी प्रकार यह पूजा भी शैवमत में आकर मिल गई। दोनों की पूजा-पद्धति एवं दोनों के देवी-देवता प्रायः समान हो गये। बौद्धों में बुद्ध के पुत्र राहुल का जो महत्त्व है, वही शैवों में शिव के पुत्र कार्तिकेय का है।

शिव की पूजा का जो सर्वप्रथम स्वरूप सामने आता है वह लिंगपूजा है। शिव की रुद्र रूप की पूजा नहीं मिलती। शिव-पूजा का दूसरा प्रतीक शक्ति-पूजा है, जिसको दुर्गा के रूप में पूजा जाता है। शिव-पूजा और शक्ति-पूजा दोनों पृथक्-पृथक् चली। कालान्तर में दोनों का मिश्रित रूप अर्धनारीश्वर की सम्मिलित उपासना की जाने लगी। इसी का एक प्रकार शिव और पार्वती का सम्मिलित रूप है। इसमें मूर्ति का दक्षिण भाग पुरुषाकार शिव का है जिसमें भगवान् शिव के सिर पर जटाजूट, सर्प, हाथ में कमण्डलु या नरकपाल और त्रिशूल; तथा वाम भाग में पार्वती, जिनके सिर पर मुकुट, भुजा एवं कण्ठ में सुशोभित आभूषण और स्त्रियोपयोगी वस्त्र चित्रित हैं। इस मूर्ति को अर्धनारीश्वर (शिव-पार्वती) के रूप में पूजा जाता था। यही अर्धनारीश्वर उपासना हरगौरी-सृष्टिसंयोग का उदाहरण है। रघुवंश के मंगलाचरण में कालिदास ने इसी स्वरूप का स्मरण किया है। शिव के साथ शक्ति की स्थायी भाव से की गई कल्पना ने ही पारे के साथ अभ्रक या गंधक को जोड़ा है। इसी से कहा गया है—'गंधकजारणरहितः संशुद्धोऽपि रसो योगेषु न योज्यः, गदहन्तृत्वशक्त्यनुदयात्। हेमादिजीर्णोऽप्यशुद्धस्तु कुत्रापि न योज्यः, वैगुण्यप्रदत्वात्' (आ० प्र०)। अतएव पारे के साथ गंधक का भी स्थायी भाव किया गया है।

कापालिक सम्प्रदाय

कापालिक पाशुपतों का एक उप-सम्प्रदाय था। इनमें एक कट्टरपंथी उपसम्प्रदाय का उद्भव हो गया था, जिनके अनुयायी 'कालमुख' कहलाते थे। इनका प्रारम्भिक नाम 'कारुकसिद्धान्ती' था। १२वीं शताब्दी में इनका अस्तित्व था। ये लोग अपने कार्यों को सिद्धियाँ कहते थे। ये सिद्धियाँ छः थीं—१. कपाल में भोजन करना, २. शरीर में भस्म लगाना, ३. श्मशान में रहना, ४. लट्ठ लेकर चलना, ५. सुरापात्र रखना तथा ६. सुरापात्र में स्थित भैरव की पूजा करना। सामान्यतः कापालिक और काकमुख एक ही हैं। यह सम्प्रदाय आठवीं शताब्दी में प्रचलित था (यह भवभूति के मालतीमाधव से स्पष्ट है)।

कालान्तर में बौद्धों का वज्रयान कापालिक मत में समा गया। कापालिक शिव की उपासना भैरव के रूप में करने लगे। शिव की भैरव के रूप में उपासना ही

आयुर्वेद के रस-ग्रन्थों का आधार बनी। इसमें वज्रयान-सम्प्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन को विस्मृत नहीं किया गया। प्रारम्भ में नागार्जुन को इसका जन्मदाता मानकर सिद्धों की परम्परा में प्रचलित करते हुए शिव से पूर्णतः सम्बद्ध कर दिया गया।

रसेश्वर-मत : रसेश्वर दर्शन

यह शरीर एवं इसके उपभोग के सभी पदार्थ नाशवान् हैं। अतः यत्नपूर्वक शरीर की रक्षा करनी चाहिए। रोग और जरावस्थामुक्त स्थिर शरीर से ही मुक्ति सम्भव है। यह मुक्ति ज्ञान और ज्ञान के अभ्यास से प्राप्त हो सकती है[१]। रसशास्त्र के विकास के मूल में यही दृष्टिकोण रहा है। स्थिर देह की प्राप्ति ही देहसिद्धि है। कुछ लोगों ने इसके अन्तिम चरम लक्ष्य को भूलकर भौतिक सम्पन्नता प्रदान करने वाले स्वर्ण-निर्माण को ही इसके विकास का कारण मान लिया। इस धारणा का स्पष्ट शब्दों में खण्डन करते हुए रसेश्वरदर्शनकार श्री सायण-माधवाचार्य ने कहा है—'रसशास्त्र का विकास धातुवाद के लिए नहीं हुआ है, अपितु शरीर को स्थिर करके मुक्ति प्राप्त करना ही इसका परम प्रयोजन है'[२]।

शरीर में प्राण, मन और शुक्र ये तीन वस्तुएँ अत्यन्त ही चंचल हैं। प्राण और मन को वश में करने का सर्वोत्तम साधन प्राणायाम है। हठयोग में इसका बड़ा महत्त्व है। योगदर्शन में मन और प्राण को वश में करने के लिए यम-नियम आदि साधन बतलाये गये हैं।

शुक्र का नाम बिन्दु है; इसे वज्र भी कहते हैं। इसकी अधोगति को कालाग्नि तथा उर्ध्वगति को कालाग्निरुद्र कहा गया है। यौगिक क्रियाओं में बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है, जिनमें एक वज्रोली भी है। ऐसी मान्यता है कि बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने से ही मनुष्य अजर-अमर हो सकता है। यही अमरत्व हठयोग की एक साधना है। इसी का एक रूप है—स्त्री के रज को आकर्षित करके बिन्दु के साथ मिलाकर उसको ऊर्ध्वगामी बनाना। इसी को 'वज्रोली मुद्रा' कहते हैं। स्त्री एवं पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् अपूर्ण हैं, परस्पर मिथुन होने पर ही वे पूर्ण होते हैं। पुरुष सौम्य अर्थात् सोमतत्त्व का और स्त्री अग्नितत्त्व की प्रतिनिधि है। क्योंकि यह सृष्टि अग्निसोमात्मक सृष्टि है, इसलिए जबतक दोनों तत्त्वों का परस्पर मिथुनी भाव नहीं होता, तब तक पूर्ण विकास या नई वस्तु नहीं बनती। इस मिथुनी भाव में

---

१. 'इति धनशरीरभोगान् मत्वा सदैव यतनीयम्। मुक्तिस्तस्य, ज्ञानात्, तच्चाभ्यास च स्थिरे देहे'॥ (रसहृदयतन्त्र, रसेश्वरदर्शन)

२. 'न च रसशास्त्रं केवलं धातुवादार्थमेवेति मन्तव्यम्, किन्तु देहवेधद्वारा मुक्तेरेव परमप्रयोजनत्वात्'। (रसेश्वरदर्शन)

Scanned with CamScanner

शुक्र को ऊर्ध्वगामी करना ही वज्रोलिका मुद्रा का उद्देश्य है। क्योंकि शुक्र ही शरीर का परम तेज है। शुक्र तथा स्त्री के आग्नेय तत्त्व को शरीर में रखना ही कापालिकों का लक्ष्य होता था। इसी से स्त्री को पास में रखकर वे एकान्त में सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। वे अपना आचार-विचार एवं कार्यकलाप ऐसा रखते थे कि लोग उनसे पृथक् रहें, उनके प्रति आकर्षित न हों जिससे उनका सिद्धि-क्रम निर्विघ्न सम्पन्न हो।

बाद में इसी साधना का भौतिक रूप में विकास हुआ। पारा शिव का वीर्य है और अभ्रक तथा गंधक पार्वती का रज है।[1] मुक्ति को दिव्य तनु बनाकर ही प्राप्त करना चाहिए। शरीर छूट जाने के बाद मोक्ष मिला तो क्या हुआ? पिण्ड छूटने के बाद तो गदहे भी मुक्त हो जाते हैं।[2] अतः जो मनुष्य इसी जीवन में दिव्य तनु प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मुक्त हैं और समस्त मन्त्र-समूह उनके दास हो जाते हैं। रसेश्वर-सिद्धान्त में राजा सोमेश्वर, गोविन्दभगवत्पाद, गोविन्दनायक, चर्पटी, कपिल, कापाली, व्याडि, कन्दलायन तथा अन्य ऐतिहासिक पुरुष जीवन्मुक्त माने जाते हैं।

रसेश्वर-मत का हठयोग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिव ने देवी पार्वती से एक बार कहा था कि कर्मयोग से पिण्ड धारण किया जा सकता है। कर्मयोग दो प्रकार का है—१. रसमूलक और २. वायु या प्राणमूलक। रस की यह विशेषता है कि वह मूर्च्छित होने पर रोगों को दूर करता है; मृत् होने पर जीवन देता है और बद्ध होने पर आकाश में उड़ने योग्य बना देता है।[3] रस पारद का ही नाम है, क्योंकि यह साक्षात् शिव के शरीर का रस है।

रससिद्धि या रसचिकित्सा के प्रवर्तक ये सिद्ध ही हैं। ये लोग कई सौ वर्ष पहले पारदादि घटित औषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग करते थे। पारद से चतुर्वर्ग फल प्राप्त होता था—इस प्रकार का एक दार्शनिक विचार 'रसेश्वर-दर्शन' के रूप में उत्पन्न हुआ। इस दर्शन के उपदेष्टा आदिनाथ थे। आदिनाथ, चन्द्रसेन, नित्यानन्द, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, माण्डव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।

१. 'अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवी दुःखदारिद्र्यनाशनम्'॥
दैव्या रजो भवेद् गन्धो···'। (र० र० स०)

२. 'पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षः निरर्थकः।
पिण्डे तु पतिते देवि! गर्दभोऽपि विमुच्यते'॥ (रसार्णव)

३. 'कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मतः॥
मूर्च्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्याद् रसो वायुश्च भैरवि'॥ (रसार्णव १।१८-१९)

अनेक नाथ-पंथियों के लिखे रस-ग्रन्थ आज भी प्रचलित हैं। गोरक्षनाथ को भी रसायन विद्या का आविष्कारक कहा जाता है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ गोरक्ष-संहिता उत्कृष्ट माना जाता है।

रसशास्त्र के आचार्य एवं सिद्ध

प्राचीन भारतीय विद्याओं का आधार दर्शन है। दर्शन मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग दिखलाता है। यह शरीर पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति का साधन है। रोग एवं वृद्धावस्था मुक्त शरीर से ही साधना सम्भव है। जरा एवं व्याधि पर नियंत्रण ही स्थिर देह की प्राप्ति है। स्थिर देह से सत्-चित्-आनन्द का दीर्घकाल तक चिन्तन; चिन्तन से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति सम्भव है। ईश्वर-प्राप्ति के अनेक मार्ग शास्त्रविहित हैं। रसशास्त्र भी जीवन्मुक्ति के लक्ष्य को ध्यान में रखकर विकसित हुआ। यह आदिदेव शिव द्वारा उपदिष्ट शास्त्र है। पारद शिव का वीर्य है, ऐसा शास्त्र-वचन है। शिव की कृपा के बिना रसशास्त्र की कोई भी प्रक्रिया सफल नहीं होती[1]। इस शास्त्र को अनेक सिद्धों और योगियों ने विकास की दिशा प्रदान की है। इन सिद्धों का विवेचन निम्नरूपेण किया जा सकता है—

सिद्ध—योगबल से विविध सिद्धियों को प्राप्त करने वाले योगी पुरुष सिद्ध कहलाते हैं। इनके ३ भेद पाये जाते हैं—(१) महासिद्ध, (२) रससिद्ध तथा (३) नाथसिद्ध।

(१) **महासिद्ध**—हठयोग की प्रक्रिया द्वारा शरीर को दृढ़ करके आत्मचिन्तन द्वारा मोक्ष-लाभ करने वाले योगी महासिद्ध कहलाते हैं। हठयोगप्रदीपिका में इनकी संख्या ३१ है। इनमें २१ महासिद्ध हैं जो हठयोग की प्रक्रिया के साथ-साथ रस-तन्त्र का भी ज्ञान रखते थे। रसरत्नाकर, रसरत्नसमुच्चय तथा आनन्दकन्द में इनकी गणना रससिद्धों में मिलती है। इन महासिद्धों में हठयोगियों के साथ-साथ नाथ-सम्प्रदाय के अनेक सिद्ध हैं। इनकी सूची निम्नवत् है—

१. आदिनाथ	९. विलेशय	१७. करनेरी
२. मत्स्येन्द्रनाथ	१०. मंथानभैरव	१८. पादपूज्य
३. सावरण	११. सिद्धबुद्ध	१९. नित्यनाथ
४. भैरव	१२. कंथड़ी	२०. निरंजन
५. चौरंगी	१३. कोदंडक	२१. कपाली
६. मीननाथ	१४. सुरानन्द	२२. बिन्दुनाथ
७. गोरखनाथ	१५. सिद्धपाद	२३. काकचण्डीश्वर
८. विरूपाक्ष	१६. चर्पटी	२४. अल्लाभ

१. 'विना शम्भुप्रसादेन नैव सिद्धयन्ति कदाचन।' (र० र० स०)

Scanned with CamScanner

२५. प्रभुदेव २८. भालुकी ३१. कपालिक[1]।
२६. घोड़ाचोली २९. नरदेव
२७. टिंटिणी ३०. खंड

इनमें से आदिनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, चौरंगी एवं कंथड़ी का उल्लेख आनन्दकन्द में भी आया है। ये नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध हैं, जिनकी गणना महासिद्धों में हुई है।

(२) रससिद्ध—रसेश्वर-मत के अनुयायी जीवन्मुक्त शैवयोगी रससिद्ध कहलाते हैं। इन्हें निम्न ४ वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. देवसिद्ध—महेश, महेश्वर, शंकर, शिव, उमा, नन्दी, भैरव, विनायक, कीर्तिकेय, वीरभद्र, बृहस्पति, चन्द्रमा, ब्रह्मा तथा विष्णु आदि।

२. दैत्यसिद्ध—शुक्राचार्य, बलि, लंकेश और बाणासुर।

३. मुनिसिद्ध—अगस्त्य, कपिल, वालखिल्य, भालुकी, माण्डव्य, व्याडि तथा दत्तात्रेय आदि।

४. मानवसिद्ध—नागार्जुन, भैरवानन्द, भास्कर, गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, रत्नकोष, सुरानन्द, कापालिक एवं काकचण्डीश्वर आदि। रसरत्नसमुच्चय एवं रसरत्नाकर में २७ सिद्ध कहे गये हैं।

इस प्रकार रससिद्ध के चारो भेदों में कुल ८४ रससिद्धों का उल्लेख मिलता है[2]। १६वीं शताब्दी में वाराणसी के दशाश्वमेध घाट पर स्थित कवीन्द्रनाथ लाइब्रेरी में ४१ सिद्धों द्वारा लिखित रस-ग्रन्थ उपलब्ध थे, किन्तु मुगल-शासक औरंगजेब द्वारा उन्हें नष्ट कर दिया गया, ऐसा बतलाया जाता है। जो रसशास्त्र के लिए बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण रहा।

---

१. 'श्रीआदिनाथ-मत्स्येन्द्र-शाबरानन्द-भैरवाः ।
चौरङ्गी-मीन-गोरक्षः विरूपाक्षः विलेशयाः ॥
मन्थानभैरवो योगी सिद्धबुद्धश्च कन्थडिः ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥
करनेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।
कपाली विन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिणिः ।
भालुकि नरदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥
इत्यादयो महासिद्धः हठयोगप्रवर्त्तकाः' ॥ (हठयोगप्रदीपिका)

२. 'चतुरशीति सिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्'।

बड़ौदा की कवीन्द्राचार्य लाइब्रेरी से प्राप्त सूची में ४२ रससिद्धों के नाम मिलते हैं। उन सिद्धों द्वारा रचित तन्त्र तथा कुछ अन्य निम्न हैं—

सिद्ध		रस-ग्रन्थ
१. आदिम	:	आदिम-सिद्धान्त
२. चन्द्रसेन	:	चन्द्रसेन-सिद्धान्त
३. लंकेश	:	लंकेश-सिद्धान्त
४. विशारद	:	विशारद-सिद्धान्त
५. कापाली	:	कापाली-सिद्धान्त
६. मत्तमाण्डव्य	:	मत्तमाण्डव्य-सिद्धान्त
७. भास्कर	:	भास्कर-सिद्धान्त
८. सूरसेन	:	सूरसेन-सिद्धान्त
९. रत्नकोष	:	रत्नकोष-सिद्धान्त
१०. शम्भु	:	शम्भु-सिद्धान्त
११. नरवाहन	:	नरवाहन-सिद्धान्त
१२. इन्द्र	:	इन्द्र-सिद्धान्त
१३. गोमुख	:	गोमुख-सिद्धान्त
१४. बलि	:	बलि-सिद्धान्त
१५. व्याडि	:	व्याडि-सिद्धान्त
१६. कपिल	:	कपिल-सिद्धान्त
१७. नागार्जुन	:	नार्जुगान-सिद्धान्त
१८. सुरानन्द	:	सुरानन्द-सिद्धान्त
१९. नागबोधि	:	नागबोधि-सिद्धान्त
२०. यशोधन	:	यशोधन-सिद्धान्त
२१. खण्ड	:	खण्ड-सिद्धान्त
२२. कापालिक	:	कापालिक-सिद्धान्त
२३. ब्रह्मा	:	ब्रह्म-सिद्धान्त
२४. गोविन्द	:	गोविन्द-सिद्धान्त
२५. लम्पक	:	लम्पक-सिद्धान्त
२६. हरि	:	हरीश्वर-सिद्धान्त
२७. चर्पट	:	चर्पट-सिद्धान्त
२८. तात्त्विक	:	तात्त्विक-सिद्धान्त
२९. बाणासुर	:	बाणासुर-सिद्धान्त
३०. मुनिश्रेष्ठ	:	मुनिश्रेष्ठ-सिद्धान्त
३१. रसांकुश	:	रसांकुश-सिद्धान्त
३२. रसेन्द्रतिलक	:	रसेन्द्रतिलक-सिद्धान्त

Scanned with CamScanner

सिद्ध		रस-ग्रन्थ
३३. भालुकी	:	भालुकी-सिद्धान्त
३४. भैरव	:	भैरव-सिद्धान्त
३५. नन्दी	:	नन्दी-सिद्धान्त
३६. स्वच्छन्दभैरव	:	स्वच्छन्दभैरव-सिद्धान्त
३७. मन्थानभैरव	:	मन्थानभैरव-सिद्धान्त
३८. काकचण्डीश्वर	:	काकचण्डीश्वर-सिद्धान्त
३९. नागबुद्धि	:	नागबुद्धि-सिद्धान्त
४०. महादेव	:	महादेव-सिद्धान्त
४१. वशिष्ठ	:	वशिष्ठ-सिद्धान्त
४२. कंकालयोगी	:	कंकालयोगी-सिद्धान्त
४३. ऋषिशृङ्ग	:	ऋषिशृङ्ग-सिद्धान्त
४४. मैकिल	:	मैकिल-सिद्धान्त
४५. रेवण	:	रेवण-सिद्धान्त, वेणकल्प, रसराज शिरोमणि, किंकिणक, भेलतन्त्र

श्रीगोविन्द रचित रसहृदयतन्त्र, पूज्यपाद कृत कल्याणकारक या कल्याणक तथा वैद्यामृत कंकालयोगी कृत रसकंकालीतन्त्र तथा शिव का रससागर एवं रसरत्न-प्रदीप।

मुनि-रससिद्धों में—अगस्त्य का सम्प्रदाय दक्षिण में काफी पनपा और सम्प्रति सिद्ध सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इनमें निम्न रससिद्ध हुए—१. शिव, २. पार्वती, ३. नन्दी, ४. अश्विनी, ५. विश्विनी, ६. धन्वन्तरि, ७. अगस्त्य, ८. पुलस्त्य, ९. तथ्यर तथा १० याहुमुनि।

उपरोक्त नामावलि में देव-रससिद्ध, मुनि-रससिद्ध व मानव-रससिद्ध सभी सम्मिलित हैं। इनका स्थान श्रीशैल का पर्वतीय प्रदेश विशेषरूप से माना जाता है। इनके भी आदिप्रवर्तक शिव और उमा ही माने जाते हैं।

(३) नाथसिद्ध तथा अन्य सिद्धों के तन्त्र—

१. गोरक्षनाथ	:	गोरक्षसंहिता
२. उड्डीश	:	उड्डीशतन्त्र
३. नित्यनाथ	:	रसरत्नाकर एवं कामरत्न
४. शालिनाथ	:	रसमंजरी
५. चिद्घनानन्द		सत्कर्मसंग्रह
६. ढुण्ढुकनाथ	:	रसेन्द्रचिन्तामणि

रसशास्त्र का विकासक्रम

धातुओं से परिचय

रसशास्त्र का विवेच्य विषय है—धातु एवं खनिज द्रव्य। भारतीयों को स्वर्ण, लोह, ताम्र आदि धातुओं का परिचय वैदिक काल से था। प्रागैतिहासिक भारत में धातुयुग पाषाणयुग के बाद आता है। पाषाणयुग के बाद दक्षिण भारत में लोह-युग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव माना जाता है। ताम्रयुग में ताम्र का प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ। ऋग्वेद में ताम्र के साथ हिरण्य (सुवर्ण) और कांस्य के उपयोग का वर्णन मिलता है।[1] ऋग्वेद में लोह-अयस् में ताम्र की एक-रूपता मानी जाती है। वहाँ 'अयस्' शब्द ताम्र का वाचक है। बाद में 'लोहितायस्' और 'कृष्णायस्' शब्दों से क्रमशः ताम्र और लौह का ग्रहण किया जाने लगा। यजुर्वेद में हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीस और त्रपु का उल्लेख मिलता है।[2] अथर्ववेद में रजत, लोहितायस्, श्याम अयस्[3] तथा सीस[4] का उल्लेख है। कृत्रिम स्वर्ण का विवेचन महाभारत में भी मिलता है।[5]

सिन्धुघाटी की सभ्यता में लोगों को चाँदी, सोना, ताँबा, राँगा, सीसा—इन धातुओं का ज्ञान था, किन्तु लोहा अज्ञात था। लोहा का ज्ञान बाद में हुआ। उस काल में मिश्रधातु काँस्य जो ताम्र और वंग के संयोग से बनती थी, इसका व्यवहार प्रचुर मात्रा में होता था। वहाँ के सोने में विशेष प्रकार की चाँदी की मिलावट होती थी जो दक्षिण भारत की खानों से प्राप्त किया गया होगा।

मोहिंजोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई में अनेक प्रकार की धातुओं के साथ-साथ वैदूर्य हरिताश्म, नीलम, अकीक, लाजवर्त, हरताल, शिलाजीत, गैरिक, शङ्ख, वराटिका आदि द्रव्य भी प्राप्त हुए हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में खनिजों तथा धातुओं का विशद वर्णन मिलता है। इसमें जिन मूल द्रव्यों से सोना-चाँदी आदि गलाकर निकाले जाते थे उनके लिए धातु शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा—जिससे स्वर्ण निकलता है उसे स्वर्ण धातु; इसी प्रकार जिससे चाँदी निकलती है उसे रूप्यधातु कहा गया है। इसी प्रकार ताम्रधातु, सीसक धातु, लोह धातुएँ भी थीं। वास्तव में ये शब्द उन-उन लौहों के खनिज को सूचित करता है। आकराध्यक्ष का कर्तव्य था कि वह शुल्वशास्त्र (जिसमें ताँबा-सोना आदि बनाने की विधि कही हो), धातुशास्त्र (धातु निकालने का ज्ञान), रसपाक,

---

१. ऋग्वेद १।५६।१, १।१२२।२।

२. 'अश्मा च मे·····हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्'। (यजु० १८।१३)

३. अथर्ववेद ११।३।७-८।

४. अथर्ववेद १।१३।२-४।

५. 'कृताकृतस्य मुखस्य कनकास्यानिवर्चसः'। (महाभारत शा० २२०।५२)

Scanned with CamScanner

मणिराग (मणियों के रंग) आदि का भली प्रकार ज्ञान करे। इसके साथ किट्ट, मूषा, अंगार, भस्म आदि की परीक्षा से पुरानी खान का पता लगाये। भूमि, पत्थर, धातु के वर्ण, गौरव एवं गंध से रस की परीक्षा करनी चाहिए। राज्य की आय के स्रोतों में धातुओं की खान का भी वर्णन है (२।४।६)। कहाँ पर कौन-सी खान है, कौन-सी धातु कहाँ मिलेगी, इसकी पहचान विस्तार से वर्णित है (२।१२।२-६)। जिस धातु (खनिज) में भारीपन ज्यादा हो, उसमें से धातु (लोह) अधिक निकलती है; यथा--'सर्वधातूनां गौरवबृद्धौ सत्त्ववृद्धिः'। निकली हुई धातुओं के शोधन की पूर्ण विधि का वर्णन मिलता है। शोधन-कार्य के लिए तीक्ष्ण मूत्र, तीक्ष्ण क्षार, अमलतास, बरगद, गो-पित्त, महिष, खर, ऊँट के मूत्र-पुरीष आदि का उपयोग बतलाया है। शुद्ध धातु की पहचानें भी बतलायी गयी हैं। स्वर्ण का व्यापार जिस बाजार में होता है उसका नाम विशिखा कहा है। स्वर्ण-प्राप्ति की ३ विधियाँ बतलायी गयी हैं; यथा—जातरूप (स्वयं शुद्ध स्वर्ण रूप में प्राप्त), रसविद्ध (पारे के द्वारा निर्मित) तथा आकरोद्गत (खान से मूल धातु के रूप में प्राप्त)। लोहे के भेद; यथा—कालायस, ताम्रवृत्त, कांस्य, सीस, त्रपु, वैकृन्तक और आरकूट बतलाये हैं (२।१७।३५।१५)। पारद और हिंगुल का ज्ञान भी इस काल में था। हिंगुल का उपयोग स्वर्ण आदि के निर्माण-कार्य में होता था (२।१४।४०)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में रत्नों की भी पहचान का प्रसंग आया है। इस ग्रन्थ में मोती की परीक्षा, मोती कहाँ से आते हैं, कहाँ पर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि बातों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शंख, शुक्ति और प्रकीर्ण (गजमुक्ता, सांप की मणि आदि) ये तीन मोती-प्राप्ति के स्रोत कहे गये हैं। मणियों का भी उल्लेख इसी प्रसंग में किया गया है। मनुस्मृति में मणियाँ, सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोह, कांस्य, पीतल, त्रपु और सीस से बने पात्रों का उल्लेख मिलता है (मनु० ५।१११-११४)।

गुप्तकाल

इस काल में लौह धातु पूर्ण उन्नति पर थी। इसका साक्षी दिल्ली में कुतुबमीनार के पास बनी लोहे की लाट है। ऐसा कहा जाता है कि इस स्तम्भ का निर्माण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने करवाया था। यह ढलुवाँ लोहे का बना है तथा इसकी लम्बाई २४ फुट के लगभग है। भूमि से यह लगभग २२ फुट बाहर है। इसके उपरी सिरे पर कलात्मक रचना है तथा चौथी शताब्दी का संस्कृत लेख खुदा है। इसके लोहे का विश्लेषण हैडफिल्ड ने किया था। उसके विचार में यह उत्तम प्रकार का ढला हुआ है, जो सम्भवतः कोयले के मेल से बनाया गया है ('एट्रिटाइज ऑन केमिस्ट्री'–१ मैटल्स, पृष्ठ ११६२-६३)।

बृहत्त्रयी में धातु

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आठवीं शताब्दी तक के प्रमाणों से स्पष्ट है कि हमारे देश में धातु का पर्याप्त ज्ञान था। पारे से स्वर्ण-निर्माण की विद्या भी ज्ञात

थी। सम्भवतः प्रथम या द्वितीय शताब्दी का नागार्जुन इस विद्या में पारंगत रहा हो। परन्तु चिकित्सा में या शरीर को अजर-अमर करने के लिए पारद-सिद्धि विषयक ज्ञान उस समय तक विकसित नहीं हो पाया था—यह चरक तथा सुश्रुत आदि ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। इन दोनों ग्रन्थों में पारद का उल्लेख मात्र एक-एक बार ही आया है।[1] धातुओं का भी जो उपयोग देखा जाता है, वह चूर्ण रूप में अयस्कृति बनाकर किया गया है। आँखों के अंजन में प्रायः सभी धातु; यथा—मुक्ता, प्रवाल, वैदूर्य, स्फटिक, तुत्थ, कासीस का उपयोग सुश्रुत में अधिक स्पष्ट है। यह उल्लेख ११वीं शताब्दी में होने वाले धातु-प्रयोग से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार चरक में लोहे, तुत्थ, कासीस, मण्डूर का उपयोग मिलता है, परन्तु प्रयोग की प्रक्रिया सर्वथा भिन्न है। वृन्द से आरम्भ कर चक्रदत्त तक धातुओं के प्रयोग का यही स्वरूप मिलता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आठवीं-नवीं शताब्दी तक चिकित्सा में धातुओं का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता था। पारे का उपयोग भले ही स्वर्ण-निर्माण के लिए किया जाता रहा होगा, किन्तु देहवाद के लिए इसका उपयोग नवीं-दशवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ था।

चरकसंहिता

इसमें द्रव्यों का वर्गीकरण करते हुए औद्भिद्, जांगम और पार्थिव—इस प्रकार के भेद किये गये हैं। पार्थिव द्रव्यों में धातुओं का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर छः धातुएँ बतलायी गयी है; यथा—सुवर्ण, समला, पाँच, लौह, बालू एवं चूना। 'मनः शिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने' (च० सू० १।७१) ये छः धातु सुवर्ण, ताम्र, रजत, त्रपु, सीसक तथा लोह हैं। मल शब्द से शिलाजतु का ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त सिकता, सुधा (चूना), मनःशिला, हरताल, मणियाँ, लवण, गैरिक, अंजन आदि भी पार्थिव वर्ग में माने गये हैं। चरक में धातुओं का प्रयोग बहुत सीमित रूप में है। इनका प्रयोग उस समय वर्तमान प्रयोग से बिल्कुल भिन्न रूप में होता था; यथा—

त्रिफला के रस में (या क्वाथ में), गोमूत्र में, गोदुग्ध में, लवण के पानी में, इंगुदी के क्षार में और किंशुक क्षार में तीक्ष्ण लोहे के पत्र को अग्नि में लाल करके क्रमशः निर्वापित करे। लोहे के पत्र चार अंगुल लम्बे और तिल के बराबर पतले होने चाहिए। उपर्युक्त द्रव्यों में निर्वापित करने पर जब अंजन के समान बारीक हो जाये, तब उसको आँवले के रस और मधु में लेह की भाँति मिलाकर घी से भावित घड़े में रखकर एक वर्ष तक यवराशि में रख छोड़ें। एक वर्ष के बीच में प्रति मास

१. (क) 'सर्वव्याधिविनाशनमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम्'। (च० चि० ७।७१)

(ख) 'रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदञ्च काकोल्यादिक्षीरपिष्टञ्च वर्गः'। (सु० चि० २५।३९)

नायक चिकित्सा

भली प्रकार आलोड़न करते रहना चाहिए। तत्पश्चात् इसका प्रयोग घी और मधु के साथ करना चाहिए। यह सभी प्रकार के लौह की प्रयोग-विधि है।[1]

इसी प्रकार एक दूसरे योग में त्रपु, सीस, ताम्र, रूप, कृष्णलोह और सुवर्ण—इनको वच, मधु, घृत, विडंग, पिप्पली, त्रिफला और लवण के साथ एक वर्ष तक रसायन फल हेतु प्रयोग करना बतलाया गया है।[2] यहाँ भी इनका सूक्ष्म चूर्ण कर प्रयोग करने का निर्देश है। यह चूर्ण अग्नि के माध्यम से ही किया जाता था, किन्तु यह प्रक्रिया रसशास्त्र की प्रक्रिया से भिन्न थी।

चरक में धातुओं के सूक्ष्म चूर्ण को रजस् शब्द से सूचित किया गया है; यथा—'नवायो रजसो भागः' (च० चि० १६।७०); भस्म के नाम से नहीं। मण्डूर का भी अंजन के सदृश सूक्ष्मचूर्ण का उल्लेख है; यथा—'मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जन-सन्निभम्' (च० चि० १६।७४)। ताम्र का भी सूक्ष्मचूर्ण बतलाया है; यथा—'दद्यात्ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्' (च० चि० २३।२३९)। इसी तरह स्वर्ण का भी सूक्ष्मचूर्ण बतलाया है; यथा—'शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत्' (च० चि० २३।२३९)।

धातुओं के साथ स्वर्णमाक्षिक ('ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक्' च० चि० १६।७८); रजतमाक्षिक ('तथा रूप्यं मलस्य च' च० चि० १६।८१) तथा प्रवालचूर्ण ('प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे' च० चि० २६।५६) का भी उपयोग बतलाया गया है।

स्वर्णादि लोह तथा मणियों के शोधन की ओर भी आचार्य ने पहल की है। इन्होंने तैल, चेल, कच आदि से शोधन करने का निर्देश किया है। यथा—

'यथा हि कनकादीनां मलिनां विविधात्मनाम्।
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः' ॥ (च० सू० ५।१८)

हिक्का, श्वास, कास के शमन के लिए मुक्तादिचूर्ण के प्रसिद्ध योग में—मुक्ता, प्रवाल, वैदूर्य, शंख, स्फटिक, अजन, शीशा-काच, शुद्ध गन्धक, मदार, सूक्ष्मएला, सैंधव और सौवर्चल नमक, ताम्र और लौह, चाँदी, सौगन्ध्य (माणिक्य-भेद), सीसक, जातिफल, सन के बीज, अपामार्ग तण्डुल—इन सभी को १ कर्ष मात्रा में मधु और घी के साथ सेवन करने से हिक्का, श्वास तथा कास नष्ट होता है।[3]

१. च० चि० १।३।१५-२०।
२. च० चि० १।३।४६-४७।
३. 'मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम् ।
ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिकसीसकम्।
जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा।
हिक्का श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति' ॥
(च० चि० १७।१२५-१२७)

१. 'वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम्' ॥
(च० चि० ४।७९)

२. 'हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च।
मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥
प्रक्षिप्य शोडषीं मात्रां विहायायासमैथुनम्।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्'। (च० चि० १।४।२२-२४)

इसके अतिरिक्त रक्तपित्त-चिकित्सा में अनेक प्रकार के रत्नों एवं धातुओं; यथा—वैदूर्य, मुक्ता, मणि, गैरिक, मृत्तिका, शंख, स्वर्ण, आमलक, मधूदक, उदक एवं इक्षुरस के सेवन से रक्तपित्त नष्ट होता है।[1]

रसायन-प्रकरण में हेम, ताम्र, प्रवाल, अयस्, स्फटिक, मुक्ता, वैदूर्य, शंख तथा रजत के चूर्ण का आभ्यन्तर प्रयोग बतलाया है।[2]

चरक-चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय के तृतीय पाद में शिलाजतु का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। विषों को निष्प्रभाव करने के लिए मणियों के धारण का निर्देश करते हुए कहा गया है—

'वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका।
कर्केतनः सर्पमणिर्वैदूर्यं गजमौक्तिकम् ॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः'। (च० चि० २३।२५२)

वस्तिनेत्र के निर्माण के लिए—सुवर्ण, रौप्य, त्रपु, ताम्र, रीति, कांस्य का निर्देश किया है; यथा—

'सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः। (च० सि० ३।७)

पुंसवन-संस्कार के लिए चरक में सुवर्ण एवं रजत धातु की पुरुषाकृति का निर्माण कर उसे अग्नि में प्रतप्त कर गोदुग्ध में सेचन कर पान करने का विधान बतलाया गया है; यथा—

'कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकाननिवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिवेदनवशेषतः पुष्येण। (च० शा० ८।१९)

मण्डलकुष्ठ की चिकित्सा के लिए त्रपु, सीस एवं लौह चूर्ण का आभ्यन्तर प्रयोग बतलाया है। यथा—

'त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत्फलगुचित्रकौ वृहती'। (च० चि० ७।८५)

१. 'वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम्' ॥
(च० चि० ४।७९)

२. 'हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च।
मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥
प्रक्षिप्य शोडषीं मात्रां विहायायासमैथुनम्।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्'। (च० चि० १।४।२२-२४)

Scanned with CamScanner

कुष्ठहर द्रव्यों के रूप में मनःशिला, हरताल और कासीसादि का प्रयोग निम्न सन्दर्भ में देखा जाता है; यथा—

'मनःशिलाले गृहधूम एला कासीसलोध्रार्जुनमुस्तसर्जाः' । (च० सू० ३।५)

पारद का उपयोग कुष्ठरोग में बतलाया गया है। यथा—

'श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा ।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्' ॥ (च० चि० ७।७१)

चरकसंहिता के उक्त श्लोक की टीका में चक्रपाणि मौन हैं। इससे प्रतीत होता है कि चक्रपाणि के समय तक इस पारद के प्रयोग के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण नहीं था। रसशास्त्र की प्रक्रिया उन्नत नहीं थी। ऐसा सम्भव है कि रसशास्त्र के प्रौढ़काल में किसी ने इसका प्रक्षेप चरक में किया हो। यहाँ 'रस' शब्द से पारद को मान लेना इसलिए भी कठिन है, क्योंकि चरक के पूर्ववर्ती श्लोक में रस का प्रयोग स्वरस के लिए हुआ है। निगृहीत रस से निचोड़ा गया रस का ग्रहण भी उपयुक्त है। यदि रस से पारद अर्थ किया जाय और निगृहीत रस से बद्ध या मृत मान लिया जाय तो इस प्रकार की विकसित प्रक्रिया की सम्भावना उस काल में कठिन थी। पारद शब्द का प्रयोग चरक में नहीं देखा जाता है। इस प्रकार चरक में स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, नाग, वंग, कांस्य, पित्तल और मण्डूरादि धातुओं, शिलाजतु, हरताल, मनःशिला, तुत्थ, स्वर्णमाक्षिक. रौप्यमाक्षिक, गंधक, अञ्जन, रसाञ्जन, पुष्पाञ्जन, स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, स्वर्णगैरिक, गैरिक, स्फटिक आदि खनिज द्रव्यों तथा माणिक्य, मुक्ता, पुष्पराग, प्रवाल, हीरक, वैदूर्य, सूर्यकान्त, सर्पमणि, स्फटिक, शंखशुक्ति आदि रत्नों-मणियों का उपयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चरकसंहिता के समय धातु और खनिजों की जानकारी थी और इनका उपयोग भी चिकित्सा में होता था। परन्तु रसशास्त्रोक्त प्रक्रियाओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। शोधन के एक सन्दर्भ से किञ्चित् आंशिक समर्थन प्राथमिक प्रक्रिया को मिलता है, किन्तु इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं होता। इसका काल १२०० वर्ष ई० पूर्व का माना जाता है।

सुश्रुतसंहिता

सुश्रुत का काल चरक के बाद का माना जाता है (ई० सन् १ हजार वर्ष पूर्व)। इसमें चरक की अपेक्षा धातुओं का प्रयोग अधिक स्थानों पर तथा कुछ नवीन रूप में देखा जाता है। धातुओं के अतिरिक्त खनिजों एवं रत्नों के उपयोग के भी अनेक सन्दर्भ इसमें देखे जाते हैं। यथा—अंजन का अन्तःप्रयोग सुश्रुत-उत्तर० (४४।२१) में हुआ है। मण्डूर को जलाने के लिए विभीतक की लकड़ी का उपयोग सुश्रुत-उत्तर० (४४।३८) में वर्णित है। इसमें सुवर्ण आदि धातु तथा मुक्ता, मणि, मनःशिला, मृत्तिका आदि वस्तुओं को पार्थिव माना है। सुवर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, त्रपु और सीसा इनके शल्य पित्त की उष्मा से शरीर में लीन हो जाते हैं (सु० सू०

२६।२०)। तीक्ष्णलोह और काललोह भेद से लौह दो प्रकार का कहा गया है। यन्त्र-शस्त्र के निर्माण में लोहे का ही उपयोग बतलाया है। इसके लिए 'सुलोहानि' शब्द का प्रयोग किया गया है (सु० सू० ८।८)। यहाँ सुलोह से न टूटने वाला तथा धार न गिरने वाला, ऐसा तात्पर्य है।

द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में धातुओं के अन्तःप्रयोग को सूचित किया है। यथा—

'त्रपुसीमताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलांश्चेति' । (सु० सू० ३८।६३)

ये सभी द्रव्य कृमि, पिपासा, विष, हृद्रोग, पाण्डु, मेह को नष्ट करने वाला है, ऐसा निर्देश है। स्वर्ण, रजत, त्रपु, ताम्र, लोह, सीस के गुण निघंटु की दृष्टि से कहे गये हैं। (सु० सू० ४६)

अयस्कृति—सुश्रुत में अयस्कृति की विधि चरक से अधिक स्पष्ट है। तीक्ष्ण लौह के पतले पत्र पर सैंधव और सौवर्चल का लेप कर कण्डों की अग्नि में तप्त करना, पश्चात् इसे त्रिफला और शालसारादि गण के क्वाथ में बुझाना—ऐसा १६ बार करना; फिर खदिराङ्गार पर तप्त करना तथा ठंढा हो जाने पर कूट कर सूक्ष्म चूर्ण बना लेना; तत्पश्चात् महीन वस्त्र से छानकर यथाशक्ति घी और मधु से सेवन करना। इसे १०० पल तक सेवन करने का विधान बतलाया है। (सु० चि० १०।११)

सुश्रुत ने सिंधु देश में उत्पन्न स्रोतोञ्जन को उत्तम बतलाया है। (सु० चि० २४।१८)। अंजन का उपयोग आँखों में आँजने के अतिरिक्त रक्तस्तम्भक द्रव्य के रूप में तथा व्रणों की चिकित्सा में भी बतलाया है। (सु० सू० ३८।४२)। रक्तपित्त की चिकित्सा के लिए भी अंजन का प्रयोग प्रशस्त है। (सु० उ० ४५।३१-३३)

सुवर्ण का उपयोग रसायन, मेधाशक्ति और आयुर्वर्धन के लिए तथा शिशु के जन्म लेने पर उसे स्वर्ण चटाने का उल्लेख किया है (सु० शा० १०।६८)। सुवर्ण का उपयोग सुकृत् चूर्ण के रूप में वर्णित है एवं घृत-मधु के साथ इसके उपयोग का उल्लेख अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है।

पारद के बाह्य उपयोग का स्पष्ट उल्लेख सुश्रुत में निम्न प्रकार से मिलता है—

'रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः' । (सु० चि० २५।३९)

फेनाश्म (सोमल) का उपयोग सुश्रुत में सर्वप्रथम देखा जाता है। यथा—

'फेनाश्मं हरितालं च द्वे धातुविषे' । (सु० क० २।५)

अक्षिरोगों में—वैदूर्य, स्फटिक, प्रवाल, मुक्ता, शंख, चाँदी, स्वर्ण का सूक्ष्म चूर्ण शर्करा और मधु के साथ शुक्ति रोग को नष्ट करने के लिए (सु० उ० १०।१५); लोह सहित सभी धातुओं का चूर्ण, सभी लवण, रत्न, दन्त, शृंग को अवसादनगण (सु० उ० १२।२४); शंख, समुद्रफेन, मुक्ताशुक्ति, स्फटिक, कुरुविन्द, प्रवाल, अश्मन्तक, वैदूर्य, पुलक, मोती, लोह तथा ताम्र चूर्ण को अंजन के साथ पीसकर अंजन बनाने का निर्देश तथा इसे मेषशृंग में रखने का उल्लेख किया है। यह अंजन अर्श, पीड़िका, सिराजाल को नष्ट करता है (सु० उ० १५।२५-२७)। सुवर्ण की खान से उत्पन्न तुत्थ को रसांजन के साथ मिलाकर अंजन करना चाहिए (सु० उ०१७।३९)।

→पारद का अन्तः प्रयोग
सिद्ध भैषज्य मणिमाला

Scanned with CamScanner

स्वर्णमाक्षिक ('धातु नदीजं जतु शैलजं वा'—सु० उ० ४४।३५), मण्डूर (सु० उ० ४४।३४) का उपयोग लिखा है।

इस प्रकार सुश्रुत में—स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह (मण्डूर), नाग, वंग, कांस्य, पित्तल, ताम्रचूर्ण, कांस्यमल आदि धातुओं; माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, वैदूर्य, मणि, स्फटिक, शंख, शुक्ति एवं वराटिका आदि रत्नों तथा हरताल, मनःशिला, शिलाजतु, माक्षिक, तुत्थ, कासीस, फिटकिरी, अंजन, टंकण, रसांजन, गंधक आदि खनिजों का उल्लेख मिलता है।

अष्टाङ्गसंग्रह एवं अष्टाङ्गहृदय

(३री-४थी शताब्दी)

वृद्धवाग्भट ने सुश्रुत की भाँति धातुओं के रस, वीर्य, विपाक का वर्णन किया है (अ० सं० सू० १२।२८)। यहाँ भी धातुओं का उपयोग चरक एवं सुश्रुत की तरह किया गया है। इसमें कृष्ण लोह और तीक्ष्ण लोह पृथक् कहे गये है। धातुओं के साथ पद्मराग, महानील, पुष्पराग, मुक्ता, विद्रुम आदि के गुण-धर्म बतलाये गये हैं। शंख, समुद्रफेन, तुत्थ, गेरू, मैनसिल, हरताल, अंजन, रसाञ्जन, शिलाजतु—इन सबका उल्लेख एक साथ किया गया है। अयस्कृति तथा अन्य प्रक्रियाओं में थोड़ा भेद देखा जाता है। धातुओं की अयस्कृति बनाने की विधि निम्न प्रकार दी गयी है—

त्रिवृत्, श्यामा, अग्निमन्थ, सप्तला, केबुक, शंखिनी, तिल्वक, त्रिफला, पलाश और सीसम—इनका रस या क्वाथ लेकर पलाश की द्रोणी में डालकर लोहे के पतले पत्रों को खदिर के कोयलों में लालकर इस रस को २१ बार बुझायें। फिर इसको लोह धातु की थाली में रखकर कण्डों की आग पर पकायें। जब यह गाढ़ा हो जाय, तब इसमें पिप्पली चूर्ण एक भाग तथा मधु और घृत के दो-दो भाग मिला दें। जब पक जाय तब इस लोह को सुरक्षित रख लें। यह अयस्कृति दुःसाध्य कुष्ठ और प्रमेह रोग को भी नष्ट करती है।

नेत्ररोगों में वैदूर्य, स्फटिक, शंख, मुक्ता एवं विद्रुम के साथ चाँदी, लोह, त्रपु, ताम्र, सीसा, हरताल, मैनसिल, कुक्कुटाण्डत्वक्, समुद्रफेन, रसाञ्जन, सैंधव लवण—इनको अजा-दुग्ध में पीसकर वर्ती बनाने का उल्लेख किया है (अ० सं० उ० १४)। सोना, चाँदी, लोह इनके चूर्ण के साथ त्रिफला मिलाकर घृत और मधु से खाने का उल्लेख है (अ० सं० उ० २६)। स्वर्णमाक्षिक, त्रिफला, लोह इनको मधु और पुराने घृत के साथ नेत्ररोग में उपयोगी कहा है (अ० सं० उ० २६)।

रसायन के प्रकरण में सुवर्ण का उपयोग विस्तार से बतलाया गया है (अ० सं० उ० ४९)। यहाँ सुवर्ण का ही नहीं अपितु लौहों का उपयोग मधु, तवाक्षीर, पिप्पली, एवं सैंधव लवण के साथ करने को कहा है। चार अंगुल लम्बा एवं तिल के समान मोटे लोहे के पत्र को अग्नि में प्रतप्त कर आँवले के रस में २१ बार बुझाकर इनको ढाक की थाली में रखकर ऊपर से आँवले का रस डालकर १ वर्ष तक भस्मराशि में रखने का विधान है। इसे बीच-बीच में प्रतिमास दण्ड से चलाने तथा सूख जाने पर

बार-बार आँवले का रस डालने का निर्देश है। इस प्रकार १ वर्ष में यह द्रवरूप हो जाता है तत्पश्चात् इसका उपयोग करना चाहिए। आयुष्य के लिए सुवर्ण को शंखपुष्पी के साथ, बुद्धि के लिए वचा के साथ, लक्ष्मी के लिए कमलगट्टे की गिरी के साथ तथा वृष्य हेतु विदारी के साथ खाने का निर्देश किया गया है।

संग्रहकार ने सुवर्णमाक्षिक को रसायन कहा है। इसका उत्पत्ति-स्थान तापी, किरात, चीन और यवन प्रदेश बतलाया गया है। तापी से उत्पन्न होने के कारण ही इसे ताप्य भी कहते हैं। सुवर्णमाक्षिक और रजतमाक्षिक का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है—'जिसमें मधुरता हो और स्वर्ण की आभा वाला हो वह सुवर्णमाक्षिक तथा जिसमें अम्लता हो तथा चाँदी की तरह चमक वाला हो वह रजतमाक्षिक है'; यथा—'मधुरः काञ्चनाभासः साम्लो रजतसन्निभः'।

अष्टाङ्गहृदय में अक्षिरोगों में पारद का अंजन लगाने का विधान बतलाया है। पारद एवं सीसा दोनों समान भाग तथा दोनों के बराबर अंजन और थोड़ा-सा कर्पूर मिलाकर निर्मित अंजन करने से तिमिर का नाश होता है।

'रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथाञ्जनम्।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम्' ॥

—अ० हृ० उ० १३।३६

अक्षिरोगों में ही ताम्र का उपयोग (अ० हृ० उ० १६।३४-३५) और ताम्र, चाँदी, लौह तथा स्वर्ण का उपयोग (अ० हृ० उ० १३।२०) बतलाया गया है।

विष-नाश के लिए ताम्र रज से हृदय शुद्ध होने पर स्वर्ण का सेवन बतलाया है। इसमें सुवर्णमाक्षिक और सुवर्ण का चूर्ण शर्करा और मधु के साथ सेवन करना भी बतलाया है (अ० हृ० उ० ३५।५५-५६)।

संहिताओं में प्रथम बार मूषा अग्नि-संयोग द्वारा धातुओं के भस्म-निर्माण की एक विधि का निर्देश अष्टांगसंग्रह में देखने को मिलता है—'मूषान्तर्धमतिचूर्णिताम्' (अ० सं० उ० १६।१३-१४)। यहाँ दो शरावों या मूषा के बीच औषध को धमन करने के बाद चूर्णरूप में प्रयोग करना बतलाया है। लोहपाक के लिए स्थाली-पाक एवं भानुपाक का विधान किया गया है, इसमें भानुपाक की विधि संग्रहकार ने पहली बार कही है (अ० सं० उ० २८।३२, ५३)।

इस प्रकार संग्रह एवं हृदय में अयस्कृति, अयोरज, अयोमल (मण्डूर), स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, नाग, वंग, कांस्य, पित्तल, कृष्णलोह, तीक्ष्णलोह, पुष्प (पुष्पाञ्जन) आदि धातुओं, अञ्जन, अद्रिजतु, हरताल, कांक्षी, कासीस, गन्धक, गन्धपाषाण, गैरिक, स्वर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक, तुत्थ, पुष्पकासीस, पारद, मनःशिला, रसेन्द्र, शिलाजतु, नौवीराञ्जन, स्रोतोञ्जन आदि खनिजों तथा माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, मरकत, वज्र, वैदूर्य, सूर्यमणि, स्फटिक, सर्पमणि, गजमुक्ता, शंख, शुक्ति, वराटिका तथा समुद्रफेन आदि रत्नों का उपयोग देखने को मिलता है।

Scanned with CamScanner

संग्रह और हृदय में पारद का अन्तः उपयोग देखने को नहीं मिलता। गंधक का उपयोग भी बाह्य रूप में ही किया जाता था। धातु, उपधातु तथा पारद का ज्ञान था किन्तु रसशास्त्रीय प्रक्रियाओं-कल्पों का विकास नहीं हो पाया था, तथा अलग से इनके द्वारा चिकित्सा का विकास भी नहीं हो पाया था। कुछ विद्वान् इस काल को लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी का मानते हैं।

सातवीं शताब्दी—इस समय की जानकारी बाणभट्ट की रचनाओं से मिलती है। बाणभट्ट ने अपने साथियों का परिचय देते हुए कहा है—

'जाङ्गुलिको मयूरकः, भिषक्पुत्रो मन्दारकः, मन्त्रसाधकः करालः, असुरविवर-व्यसनी लोहिताक्षः, धातुवादविद् विहङ्गमः'। (हर्षचरित : प्रथम उच्छ्वास)

जाङ्गुलिक (विषवैद्य या गारुड़ी), मयूरक, भिषक्पुत्र मन्दारक, मन्त्र-साधक कराल, पाताल में प्रवेश की विद्या जानने वाला लोहिताक्ष तथा धातुवाद (कीमियागरी) को जानने वाला विहङ्गम—ये बाणभट्ट के साथी थे।

इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि उस समय धातुवाद चिकित्सा से पृथक् था। धातुवाद कौटिल्य अर्थशास्त्र में तो मिलता है, परन्तु रस-चिकित्सा जो आज प्रचलित है, उसका उल्लेख उसमें नहीं है। धातुवाद (धातुपरिवर्तन) एक पृथक् विज्ञान था तथा भारत में इसका विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ। इसी से बाणभट्ट ने भिषक्पुत्र मन्दारक और धातुवादविद् विहङ्गम का पृथक् उल्लेख किया है। संहिताओं में चिकित्सा हेतु धातुओं का प्रयोग अवश्य है किन्तु सीमित एवं अन्य प्रक्रिया से है। पारद का अन्तःप्रयोग नहीं के बराबर है। अतः यह कहा जा सकता है कि ७वीं शताब्दी तक रसशास्त्र का विकास नहीं हो पाया था। बाण ने कादम्बरी में जरद्-द्रविड़ (द्रविड़ साधु) को कच्चा पारा खाने से कालज्वर होने तथा पारा से सोना बनाने और श्रीपर्वत का उल्लेख किया है। कादम्बरी का जरद्द्रविड़ भी धातुवादी था।

तान्त्रिक परम्परा का आदिस्रोत अथर्ववेद है। रसशास्त्र के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। तन्त्रों में बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म सम्बन्धी दोनों परम्पराएँ मिलती हैं। दोनों ही तन्त्र एक समान बढ़ रहे थे। ब्राह्मण-तन्त्र शिव और पार्वती को तथा बौद्ध-तन्त्र तथागत या अवलोकितेश्वर को लक्ष्य करके बनाये गये थे। कुछ तन्त्र दोनों से सम्बन्धित थे। तान्त्रिक परम्परा को विकसित करने में बौद्धों के महायान सम्प्रदाय का विशेष योगदान रहा है। गुप्तकालीन वसुबन्धु के भ्राता असंग (चौथी शताब्दी) को बौद्धतन्त्र का जनक बताया जाता है। यह योगाचार का प्रवर्तक था। इन्द्रभूति के समय (७०० से ७५० ई०) से वज्रयान का विकास हुआ। वस्तुतः अथर्ववेदीय परम्पराओं एवं बौद्धपरम्पराओं के संयोग से मध्यकालीन तन्त्र का विकास हुआ, जिसे हम साधारणतः तन्त्र के नाम से जानते हैं। अष्टांगसंग्रह में शिव, शक्ति आदि हिन्दू देवी-देवता तथा अवलोकितेश्वर, तारा आदि बौद्ध देवी-देवताओं का संयोग देखने को मिलता है। वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ बौद्ध चारणियों का भी

विधान है; तथा ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी के अन्त तक तन्त्र और रसशास्त्र का सम्बन्ध दृढ़ हो चुका था, जिसका आभास बाणभट्ट की रचना से मिलता है। अष्टांगसंग्रह में रस शब्द का उल्लेख पारद के अर्थ में आया है। पारद और गंधक का भी अनेक बार उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त हिंगुल, मनःशिला, हरताल, अभ्रक, रत्न-उपरत्न, धातु-उपधातुओं का उल्लेख उत्तरगुप्तकालीन ग्रन्थों में हुआ है। बाणभट्ट के धातुवादविद् विहंगम तथा कादम्बरी का धातुवादी जरद्द्रविड़ की चर्चा की जा चुकी है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में धातु, खनिज एवं रत्नों के विवरण के अतिरिक्त उसमें धातु-शोधन और धातु-मार्दवकर का प्रयोग भी वर्णित है[1]। गुप्तकालीन विष्णुधर्मोत्तर पुराण[2] में अभ्रक द्रुति का वर्णन है।

मार्कण्डेय पुराण[3] में औषध के साथ 'रस' का प्रयोग चिकित्सार्थ हुआ है; यथा—'ततस्तयोः स तत्त्वज्ञो रोगघ्नैरोषधैः रसैः। चकार नीरुजे देहे'। शंकराचार्य ने मूषा में द्रुत ताम्र से प्रतिमा-निर्माण का उल्लेख किया है।[4] इससे स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी तक धातुवाद और रसायनवाद जोर पकड़ चुका था। नवीं शताब्दी में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में 'रसाधिकारी नन्दिकेश्वरः' कहा है तथा कवियों का एक भेद कविराज (रससिद्ध) बतलाया है। उनके ये वचन स्पष्टतः रसशास्त्र से प्रभावित हैं। इसके बाद तो आयुर्वेदीय तथा आयुर्वेदेतर वाङ्मय में रसशास्त्र के प्रभूत सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं।

पारद का उपयोग धातुवाद और देहवाद दोनों में हुआ है। धातुवाद पहले प्रारम्भ हुआ और देहवाद बाद में। निकृष्ट कोटि की धातु का अपने सम्पर्क से सुवर्ण में परिणत करने वाला पारद शरीर को भी उत्तम कोटि का बनाने वाला समझा गया। बाद में तान्त्रिक और फिर दार्शनिक रूप देकर उसे मोक्षदायक कहा गया। इसी पृष्ठभूमि में रसेश्वरदर्शन की स्थापना हुई, जिसका वर्णन सर्वप्रथम माधवाचार्यकृत सर्वदर्शनसंग्रह (१४वीं शताब्दी) में मिलता है। इसके अतिरिक्त कौतुक, इन्द्रजाल आदि अनेक चमत्कारों का प्रदर्शन पारद के माध्यम से होने लगा। इस प्रकार तान्त्रिक प्रक्रियाओं में पारद का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया।

अमरकोश (१००० ई०) में पारद के चपल, रस और सूत पर्याय मिलते हैं। महेश्वर के विश्वकोश (११८८ ई०) में हरबीज पर्याय भी जोड़ा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि तन्त्रों में पारद-गन्धक का उल्लेख ११वीं-१२वी शताब्दी में होने लगा था। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५८७ ई०) में लोह एवं पारद का उपयोग वृष्य तथा वाजीकरण के लिए हुआ है।

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१२।७।
२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।४०।२९।
३. मार्कण्डेय पुराण ६५।६४।
४. ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१२। तथा तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य २।२-१।

Scanned with CamScanner

रसतन्त्र का विकास आठवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और ११वीं-१२वीं शताब्दी में अपनी पूर्णता को पहुँच गया था। इसके बाद रसतन्त्र या रसचिकित्सा केवल रोग-निवृत्ति तक ही रह गयी। गोपालकृष्ण भट्ट कृत रसेन्द्रसारसंग्रह एवं शाङ्गधरसंहिता जो कि १३वीं-१४वीं शताब्दी में बने हैं, इनका क्षेत्र रोग-निवृत्ति तक ही है। 'अल्प-मात्रा में प्रयोग किये जाने, अरुचि आदि न उत्पन्न करने तथा शीघ्र आरोग्य देने के कारण अन्य औषधियों की अपेक्षा रसों का अधिक महत्त्व है।' इससे स्पष्ट है कि इस समय पारद का उपयोग रोग-निवृत्ति तक ही सीमित हो गया था। पारद की लोहसिद्धि सम्बन्धी प्रक्रिया समाप्त हो गई थी। रोग-निवृत्ति तक पारद के जितने संस्कार उपयोगी थे उनका ही प्रचार रह गया। अन्य संस्कार लोहवेध, देहवेध के लिए उपयोगी थे। सतरहवीं शताब्दी में तुलसीदास जी ने राजयक्ष्मा रोग में मृगांकरस का उपयोग बतलाया है (कवितावली, सुन्दरकाण्ड २५)। इससे स्पष्ट है कि उस समय क्षय रोग में मृगांक आदि रसों का प्रचार सामान्य हो गया था।

व्याडि

व्याडि का नाम भी रससिद्धों में गिना जाता है। व्याडि व्याकरण का प्रकाण्ड पण्डित था तथा दाक्षि और दाक्षायण दो नामों से प्रसिद्ध था तथा राजा विक्रमादित्य का दरबारी था। रससिद्ध व्याडि और व्याकरण का ज्ञाता व्याडि में काल-सम्बन्धी कुछ मतभेद हैं। कुछ विद्वान् दोनों व्याडि को एक ही मानते हैं। जिसका समय ९वीं शताब्दी का है। श्री विधुशेखर भट्टाचार्य ने इनके दो ग्रन्थों 'रससिद्धिशास्त्र' तथा 'धातुवादशास्त्र' का विवरण दिया है। इनमें से रससिद्धिशास्त्र का तिब्बती अनुवाद भारतीय विद्वान् श्री नरेन्द्रभद्र ने किया था। अल्बेरूनी के यात्रा-वृत्तान्त से व्याडि के सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। अपने यात्रा-वृतान्त में उसने व्याडि की रससिद्धि-क्रिया का विस्तृत विवेचन किया है।

अल्बेरूनी के अनुसार उज्जैन के राजा विक्रमादित्य (विक्रम सम्वत् के अधिष्ठाता) के राज्य में व्याडि नाम का आचार्य रहता था। उसने रस-रसायन सिद्धि के निमित्त अपनी सारी सम्पति नष्ट कर दी थी, फिर भी उसे सफलता नहीं मिल सकी थी। असफलता से शोकाकुल उद्विग्न मन होकर वह अपने भेषजसंस्कार व्यवस्था-पत्र को लेकर छिप्रा के तट पर बैठ गया और उसके पन्ने फाड़-फाड़ कर नदी में प्रवाहित करने लगा। नीचे की ओर आगे नगर की एक प्रमुख वेश्या नदी के किनारे बैठी थी, उसने लगातार बहुत से पन्नों को बहते हुए देखकर सबको एकत्र कर लिया और व्याडि के पास आकर उसके शोकाकुल होने का कारण पूछा। व्याडि ने बतलाया कि इस ग्रन्थ से मेरा सर्वनाश हो गया है। मैं अपना प्रचुर धन इन क्रियाओं के पीछे खर्च कर कंगाल बन गया हूँ। मैं चाहता हूँ कि भावी पीढ़ी इसके पीछे अपना धन व्यय न करे, अतः इसे मैं नष्ट कर देना चाहता हूँ। वेश्या ने उसे ढाढस बन्धाते हुए कहा कि ऋषि-प्रणीत यह ग्रन्थ झूठा नहीं हो सकता; निश्चय ही तुम्हारी प्रक्रियाओं में कहीं

कोई भिन्नता है। जिस कार्य के लिए तुमने जीवन का एक बड़ा अंश लगाया है उसे धनाभाव के कारण मत छोड़ो। मेरे पास प्रचुर धन है और तुम अपने कार्य को आगे बढ़ाने के लिए इसका उपयोग करो। इस प्रकार व्याडि ने पुनः अपना कार्य प्रारम्भ किया।

व्याडि की पुस्तक पहेली के रूप में लिखी गयी थी जिससे व्यवस्था भूल हो रही थी। उसमें 'रक्तामल' लिखा था जिसका अर्थ उसने लाल आमलक लगाया था, जिससे उसे सफलता नहीं मिल रही थी। सिद्धतैल निर्माण करते समय अग्नि की लपट से उसका ललाट जल गया था, जिस पर उसने तैल चुपड़ लिया था। एक दिन बाद व्याडि अपनी झोपड़ी में बैठा था और बाहर तैल सिद्ध हो रहा था। तैलपाक सिद्धि की गन्ध पाकर व्याडि शीघ्रतावश खड़ा हुआ कि उसकी झोपड़ी का एक नुकीला बाँस उसके जले हुए ललाट पर आ लगा और वहाँ से रक्तस्राव होने लगा। व्याडि ने जल्दी से झुककर तैल को चलाया और उसी समय उसके ललाट से स्रवित रक्त की अनेक बूँदें उस तैल में जा गिरी, जिसका ज्ञान व्याडि को नहीं हो सका। तैल को नर-रक्त की आवश्यकता थी और तैल तय्यार हो चुका था। व्याडि अपनी पत्नी की सहायता से सिद्ध तैलपात्र को अग्नि से उतार कर तैल छान कर पात्र में भरा और शेष सिद्ध तैल को दोनों ने अपने शरीर पर चुपड़ लिया। तैल लगाने मात्र से व्याडि दम्पति आकाश में उड़ने लगे। नगर के सभी लोग इस दृश्य को देखने के लिए एकत्र हो गये। महाराजा विक्रमादित्य ने भी अपने प्रासाद के बाहर आकर चौक में इस दृश्य को देखा, तभी व्याडि ने राजा से कहा कि हे राजा तुम अपना मुख खोलो मैं थूकूंगा। राजा को इस बात से घृणा हुई और उसने अपना मुँह नहीं खोला। व्याडि का मुख थूक से भर चुका था, अतः उसने राजद्वार पर थूक दिया। थूकते ही वह स्थान सोने में बदल गया। सम्भवतः व्याडि राजा के मुँह में थूककर उस राजा को अजर-अमर बना देना चाहता हो, किन्तु विधान को यह कार्य स्वीकृत नहीं था। व्याडि और उसकी पत्नी जहाँ चाहते उड़कर चले जाते थे। उन्होंने इस विद्या पर प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है। लोग कहते हैं कि वे दम्पति अभी तक जीवित हैं।

अल्बेरूनी ने रसायन और रसविद्या के चमत्कार की और भी अनेक कहानी दी है।

भारतीय रसशास्त्र को कई लोग अरबी चिकित्सा से प्रभावित मानते हैं। किन्तु श्री पी० सी० राय ने इस बात का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि रसशास्त्र किसी बाह्य शक्ति से नहीं अपितु अपनी आन्तरिक शक्ति से विकसित हुआ है। तथापि कुछ अंशों में अरबी चिकित्सा के प्रभाव को स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा। मुसलमानों के आगमन से उनकी राजकीय चिकित्सा पद्धति से जैसे हिन्दू चिकित्सा प्रभावित हुई वैसे ही रसशास्त्र भी प्रभावित हुआ। अहिफेन का व्यापक प्रभाव सर्वविदित है। रत्नों का चूर्ण रूप में प्रयोग प्राचीन काल से हो रहा था किन्तु गुलाबजल से घोंटकर उनकी पिष्टी बनाने की परम्परा सम्भवतः यूनानी चिकित्सा

Scanned with CamScanner

की देन कही जा सकती है तथा कुश्ता (भस्म) बनाने की प्रक्रिया हकीमों ने वैद्यों से सीखी। विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के पारस्परिक विनिमय के अतिरिक्त आयुर्वेद की प्राचीन वनस्पति-प्रधान तथा मध्यकालीन रस-प्रधान पद्धतियों में भी परस्पर आदान-प्रदान हुआ। चिकित्सा के ग्रन्थों में रसौषधियों का समावेश हुआ तथा रस-प्रक्रियाओं में अनेक वनस्पतियों का उपयोग किया गया। कुषाण-गुप्तकाल में चीन से भी सम्पर्क बढ़ा।

आठवीं शताब्दी में नालन्दा विश्वविद्यालय से अनेक विद्वान् तिब्बत गये जो तान्त्रिकों और सिद्धों का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। नेपाल और भूटान में भी इनका केन्द्र था। १२वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी के आक्रमण से नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय ध्वस्त हो गया तथा तत्कालीन विद्वान् और वैज्ञानिक वहाँ से भागकर कुछ नेपाल, भूटान और तिब्बत चले गये तथा कुछ ने दक्षिण भारत में शरण ली। दक्षिण भारत के राजाओं में सिंघण का नाम सर्वोपरि है, जिसने आयुर्वेद, रसशास्त्र और तन्त्र आदि विद्याओं को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। दक्षिण भारत के सिद्धों के संरक्षण में रसशास्त्र विकसित होता रहा। दक्षिण के सिद्धों की संख्या १८ कही जाती है, जिसके प्रवर्तक अगस्त्य ऋषि हैं। सिद्धों का काल १०वीं शती और उसके बाद का माना जाता है।

१५वीं शताब्दी में यूरोपवासियों के आगमन से जैसे सम्पूर्ण आयुर्वेद प्रभावित हुआ वैसे ही रसशास्त्र में भी फिरंग रोग और उसकी चिकित्सा का विधान किया गया। आयुर्वेदप्रकाश (१७वीं शताब्दी), सिद्धभैषज्यमणिमाला (१९वीं शताब्दी) तथा रसतरंगिणी (२०वीं शताब्दी) में इसका क्रमिक विकास देखने को मिलता है, जिसमें अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया। श्री पी० सी० राय खनिजाम्ल का प्रवेश १६वीं शती में मानकर इसे इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना मानते हैं किन्तु शंखद्रावक का वर्णन वंगसेन में भी है। इस प्रकार मूलभूत प्रवृत्तियों के आधार पर रसशास्त्र के विकास को ५वीं से ८वीं शताब्दी तक प्रारम्भिक काल; ९वीं से १२वीं शताब्दी तक मध्यकाल; १३वीं से १५वीं शताब्दी तक प्रौढ़काल तथा १६वीं से वर्तमान काल को आधुनिक काल कह सकते हैं।

धातु खनिजों का इतिवृत्त एवं यातायात

ताम्र सबसे प्राचीन धातु है। प्राक् हड़प्पा युग में ताम्र के अस्त्र एवं उपकरण उपलब्ध हुए हैं। शवों के साथ ताम्र और कांसे के पात्र रखे मिलते हैं। छोटा नागपुर, राजस्थान तथा नेपाल से ताम्र की उपलब्धि होती थी। हड़प्पा युग में बर्त्तन बनाने में अभ्रक, बालू और चूने का उपयोग होता था। हड़प्पा की नागरिक सभ्यता कांस्य युग की है, क्योंकि इसमें ताम्र और कांस्य का प्रयोग अस्त्र बनाने के लिए किया जाता था। प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मोहिंजोदड़ों और हड़प्पा में ताम्र, रजत और सोना का पर्याप्त मात्रा में उपयोग हुआ था। सीस और वंग का प्रयोग भी था किन्तु

वंग मुख्यतः ताम्र से मिश्रित होकर कांस्य के रूप में व्यवहृत होता था। धातुक्रिया से सम्बन्धित मूषा आदि के चिह्न मोहिंजोदड़ों के उत्खनन में मिला है। वंग सम्भवतः बाहर से प्रायः फारस से आता था। ताम्र का स्रोत राजपूताना और बलूचिस्तान की खानें थीं; कुछ मात्रा में अफगानिस्तान और फारस से भी आता होगा। स्वर्ण मैसूर और मद्रास की खानों से प्राप्त होता था तथा रजत उपर्युक्त स्थानों से या वर्मा से मिलता था। रजत अफगानिस्तान और फारस से भी प्राप्त होता था। फारस से सोना, वंग और सीस भी आते रहे होंगे।

सिन्धुघाटी-सभ्यता में राजावर्त, पेरोजक, स्फटिक, मुद्गा, दुग्धपाषाण, अकीक, शिलाजतु, संगेयशब, हिंगुल, सफेद सुरमा, सौवीराञ्जन आदि पाये गये हैं। इनका उपयोग आभूषण, प्रसाधन और औषध में होता था। शिलाजतु सम्भवतः बलूचिस्तान से आता था। पेरोजक और राजावर्त फारस या अफगानिस्तान से, अकीक और स्फटिक काठियावाड़ से तथा कुछ द्रव्य राजस्थान से भी उपलब्ध होते थे।

ऋग्वेद में स्वर्ण, रजत, ताम्र और कांस्य का प्रयोग तथा आगे चलकर लौह का प्रयोग होने पर अयस् (ताम्र) लोहितायस् और कृष्णायस् में विभक्त हो गया। लोहितायस् से ताम्र और कृष्णायस् से लौह का ग्रहण किया जाने लगा। यजुर्वेद में अयस्, हिरण्य, लोह, श्याम, सीस और त्रपु का उल्लेख है। अथर्ववेद के काल तक धातुओं के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो चुका था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में सुवर्ण, रजत, ताम्र, सीस, वंग एवं लौह की खानों का विस्तृत वर्णन है। प्रफुल्लचन्द्र राय काच से शीशा मानते हैं और कहते हैं कि कौटिल्य के काल में शीशा बनाने की विधि ज्ञात थी, किन्तु निश्चयात्मक रूप से इसे मानना कठिन है। काच एक क्षुद्र पाषाण-विशेष (शेषाः काचमणयः) भी हो सकता है। पारद का भी उल्लेख है तथा अनेक प्रकार के रत्न भी हैं। इससे तत्कालीन धातुवाद की विकसित स्थिति का ज्ञान होता है[1]। रजत, वंग तथा पारद जो भारत में नहीं होते, का वर्णन होने से स्पष्ट है कि इनका आयात पार्श्ववर्ती देशों से होता था। सम्भवतः हिंगुल चीन से, वंग मलाया और फारस से तथा रजत अफगानिस्तान और फारस से आता था[2]।

बौद्ध-साहित्य से भी इन द्रव्यों के यातायात पर प्रकाश पड़ता है। सिंहल से रत्न आते थे अतः इसे रत्नद्वीप कहते थे। इनमें नीलम, ज्योतिरस, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, माणिक्य, वैडूर्य तथा हीरक प्रमुख हैं। महाभारत के अनुसार दक्षिण सागर के द्वीपों से रत्न, मुक्ता, सुवर्ण, रजत, हीरक, और प्रवाल आते थे। इनमें सुवर्ण, रजत वर्मा और मध्य एशिया से, मोती और रत्न सिंहल से तथा प्रवाल भूमध्यसागर से आता था। हीरक सम्भवतः बोर्नियो से आता था। पूर्वी भारत में असम से और

१. आकराध्यक्ष और लोहाध्यक्ष इन कार्यों की देखभाल करते थे।
कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ११-१२

2. P. C Ray: History of Chemistry. ch. i-viii

Scanned with CamScanner

वर्मा से यशद आता था। तिब्बती-वर्मी किरातगण सीमान्त प्रदेश से सुवर्ण एवं रत्न लाते थे[1]।

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय रत्नों का व्यापार खूब चलता था। अनेक रत्न-उपरत्न विभिन्न प्रदेशों और विदेशों से आते थे। मोती, सिंहल, पाण्ड्य, पाश (ईरान ?) कुल और चूर्ण (मुरुचिपट्टन के पास) तथा बर्बर के समुद्र तट से आते थे। उपर्युक्त देशों की तालिका से पता चलता है कि मोती मनार की खाड़ी, फारस की खाड़ी और सोमाली देश के समुद्र तट से आते थे। मुरुचि के उल्लेख से पता चलता है कि मुरुचि का बन्दरगाह भी मोती के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। कीमती रत्न मूल (बलूचिस्तान में मूल दर्रा) और सिंहल से आते थे। माणिक्य सम्भवतः अफगानिस्तान, सिंहल और वर्मा से आता था। बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मालावार से, नीलम और जमुनियाँ लंका से तथा हीरे बरार, मध्यप्रदेश, गोलकुंडा और कलिंग से आते थे। अलसन्दक नामक मूंगा सिकन्दरिया से आता था।

कुषाण के काल में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध रोम-साम्राज्य से सुदृढ़ हुआ। भारत से वहाँ चीनी वर्तन, चीनी रेशमी कपड़े, हाथी-दाँत, कीमती रत्न, मसाले और सूती कपड़े जाते थे और वहाँ से सोना यहाँ आता था[2]। अनेक रत्नों तथा हीरा, अकीक, स्फटिक, जमुनियाँ, वैडूर्य, नीलम, माणिक्य, पेरोजा की रोम में बहुत मांग थी[3]। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताम्र जाता था। सिन्धुप्रदेश के बार्बरिकोन बन्दरगाह में पर्याप्त मात्रा में पुखराज, शीशे एवं चाँदी-सोने के बर्तन आते थे और पेरोजा तथा लाजवर्द बाहर भेजे जाते थे[4]। भृगुकच्छ (भड़ोच) का बन्दरगाह प्रसिद्ध था। वहाँ विदेशों से ताँबा, रांगा और शीशा (इटली और अरब), मूंगा, पुखराज, संखिया, सुरमा और चाँदी के कीमती बर्तन आते थे। अकीक, लोहितांक हाथीदाँत आदि पदार्थ बाहर जाते थे। पैठन और तेर से लोहितांक भड़ोंच पहुँचता था। दक्षिण भारत के बन्दरगाहों में भी इन पदार्थों का व्यापार होता था। कोयम्बटूर में वैडूर्य की प्रसिद्ध खानें थी। पाण्ड्यों के हाथ में मोती का, चोलों के हाथ में वैडूर्य और मलमल का तथा चेरों के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था। संबलपुर में भी हीरे मिलते थे। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में मदुरा के बाजार बहुमूल्य रत्नों के लिए प्रसिद्ध थे।

प्राचीन काल में सर्वोत्तम अकीक रतनपुर से आता था। माक्षिक, जहरमोहरा, ज्योतिरस, खंभात और सिंहल की लहसुनियाँ, भारत और सिंहल का पीला और सफेद स्फटिक, सिंहल, कश्मीर और वर्मा का नीलम; वर्मा, सिंहल और श्याम के

१. मोतीचन्द्र : सार्थवाह पृ० ६७-६८।
२. वही, पृष्ठ ८७।
३. वही, पृ० ११२।
४. वही, पृ० ११५।

माणिक्य; बदख्शां का लाल और लाजवर्द; कोयम्बटूर का वैदूर्य; सिंहल, बंगाल और वर्मा का वैक्रान्त भारत से रोम को जाता था। भारत में स्पेन से शीशा, साइप्रस से तांबा, लुसिटामियाँ और मलेशिया से रांगा, किरमान और पूर्वी अरब से अजन तथा फारस और किर्मानी से मैनशिल और संखिया आते थे[1]।

जैन-साहित्य के आधार पर गुप्तयुग में भारत का ईरान से व्यापारिक सम्बन्ध पर्याप्त बढ़ गया था। भारत से वहाँ रत्न, शंख, अगर और चन्दन जाते थे तथा ईरान से यहाँ मञ्जीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूंगा आते थे[2]।

मध्यकाल में अरबी व्यापारियों का प्रवेश हुआ। हिन्दमहासागर में चीनी, अरबी तथा भारतीय व्यापारियों का घनिष्ठ सम्पर्क था। तांकिग में सोना, चाँदी, लोहा, हिंगुल, कौड़ी, सीप, नमक का व्यापार होता था। अनाम में सीसा और रांगा का व्यापार होता था। खनिज द्रव्यों का व्यापार विशेषकर बोर्नियो, जावा, सिंहल और चोल मंडल से होता था[3]।

इब्नबतूता (१४वीं शताब्दी) तिब्बत के ऊपर कराकिल पहाड़ों में सोने की खानों का उल्लेख करता है[4]।

मार्कोपोलो (१३वीं शताब्दी) ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि फारस के पूर्वी छोर पर किरमान की पहाड़ियों में पिरोजा, लोहा और एण्टीमनी होता है। आर्मस के बन्दरगाह पर भारत के सभी भागों से व्यापारी आते हैं जो बहुमूल्य रत्न, मसाले, औषधियाँ, मोती, हाथीदाँत लाते हैं। कोबियान में यशद, लौह, एण्टीमनी, अञ्जन तथा पालिशदार लोहे के आइने होते थे। सपर्गन के पास थैकन में सैन्धव लवण की पहाड़ियाँ थीं, जहाँ से विश्व भर में सर्वोत्तम नमक प्राप्त होता था। बलाशान में उत्तम माणिक्य, पुखराज, नीलम आदि रत्न मिलते थे। मालाबार में मोतियों का व्यापार था, मुर्फिली में हीरे थे[5]।

अभ्रक का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता। न्यायदर्शन (२ री शताब्दी) में सर्वप्रथम काच और स्फटिक के साथ अभ्रक का उल्लेख हुआ है। उसके बाद रसशास्त्र के विकास के साथ रसकर्म में इसकी उपयोगिता के कारण इसका महत्त्व बढ़ा। इसे पार्वतीबीज और महारस कहा गया।

यद्यपि खर्परसत्त्व के रूप में यशद का ज्ञान था किन्तु यशद को धातुओं में स्थान बहुत बाद में मिला। भावप्रकाश में यशद की गणना सप्त धातुओं में की गई है। आयुर्वेदप्रकाश में भी इसका उल्लेख है। 'यशद' शब्द सम्भवतः फारसी 'जस्त' का

१. गोपीचन्द्र : सार्थवाह, पृष्ठ ११७-१२९।
२. वही, पृष्ठ १७३।
३. वही, पृष्ठ २०९-२११।
४. यात्रा-विवरण पृ० ७६३।
५. यात्रा-विवरण, पृष्ठ ३७-५६ तथा २८२-२९५।

Scanned with CamScanner

संस्कृत रूपान्तर है। यह १४वीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। शार्ङ्गधर के टीकाकार आढमल्ल ने इसका प्रयोग किया है। रसकामधेनु में भी यशद है जो खर्पर का पर्याय माना गया है। काल-निर्णय की दृष्टि से यशद शब्द महत्त्वपूर्ण है। जिस ग्रन्थ में यह मिले उसे १४वीं शती के पूर्व का नहीं माना जा सकता।

शोरक का प्रवेश मध्यकाल में हुआ जिसका सूर्यक्षार, सौरक्षार तथा कर्पूर शिलाजतु आदि नाम दिया गया। रसेन्द्रचूड़ामणि में इसका वर्णन है। आइना-ए-अकबरी में पानी ठंढा करने के लिए इसका उल्लेख है। तोप-बन्दूकों में विस्फोटक के रूप में इसका उपयोग होता था।

रसशास्त्र के ग्रन्थ, ग्रन्थ-कर्त्ता एवं उनका काल

प्रारम्भिक काल

नागार्जुन—यह काल ५वीं से ७वीं शताब्दी का है। 'नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके'—वृन्द द्वारा कथित यह नागार्जुन सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्ता गुप्तकालीन है। रस विद्या के साथ भी इनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है। सम्भव है इन्होंने भी रसशास्त्र पर कुछ लिखा हो। किन्तु इस मान्यता के पीछे मतभेद हैं।

कुब्जिकातन्त्र—नेपाल के पुस्तकालय की छानबीन से यह ग्रन्थ श्रीहरिप्रसाद शास्त्री को मिला। इस तन्त्र की पाण्डुलिपि गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ था। इनका समय ६०० ई० माना जाता है। इसमें एक स्थान पर शिव स्वयं पारद के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि गंधक से ६ बार मारित होने पर इसमें गुण-वृद्धि हो जाती है[1]। पारद की महायता से ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है।

7-8 **रसरत्नाकर या रसेन्द्रमंगल**—यह दोनों ग्रन्थ नागार्जुन रचित रसशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। डॉ० पी० सी० राय इसे ७-८ वीं शताब्दी का मानते हैं। रसरत्नाकर तथा रसेन्द्रमंगल दोनों ग्रन्थों को श्री पी० सी० राय तथा श्री जीवराम कालीदास ने एक ही माना है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ—एक डॉ० पी० सी० राय और दूसरी स्वर्गीय श्री तनसुख राम म० त्रिपाठी के पास उपलब्ध थी। श्री राय संगृहीत प्रति के अन्त में 'नागार्जुन विरचित रसरत्नाकर' तथा श्री त्रिपाठी के पास उपलब्ध प्रति के अन्त में 'नागार्जुन विरचित रसेन्द्रमंगल' लिखा है। श्री जीवराम कालीदास ने गोंडल से १९२४ में रसेन्द्रमंगल को प्रकाशित किया था। श्री राय ने भी अपने पास उपलब्ध अंश को प्रकाशित कराया था। दोनों के मिलान से दोनों ग्रन्थ एक ही प्रतीत होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आठ अध्याय होने का उल्लेख है किन्तु प्राप्त पुस्तक में चार ही अध्याय हैं। ग्रन्थ खण्डित एवं

१. 'मदवीर्यः पारद यद्वं पतितः स्फुरितं मणिः।
मद्वीर्येण प्रसूतास्ते तावाय्यी सूनकेवहि।
तिष्ठन्ति संस्कृताः सन्ताः भस्मा षड् विप्रजारणम्' ॥
—हिन्दू केमेस्ट्री भाग २ से

अव्यवस्थित है। उपलब्ध अंश में पारद के अठारह संस्कार, लोहवेध, रस, उपरस और लोह का शोधन, सभी लोहों का मारण, अभ्रक-माक्षिक आदि का सत्त्वपातन तथा अभ्रक दुति का वर्णन उपलब्ध होता है। मन्थानभैरव तथा रोगनाशक दशमूल क्वाथ का उल्लेख भी मिलता है, जिससे इस ग्रन्थ के ११वीं शताब्दी के होने का भ्रम पैदा होता है। रसरत्नाकर तन्त्र-ग्रन्थों में मुख्य है तथा इसमें रसायन योगों का समावेश है। यह ग्रन्थ महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसमें कई स्थानों पर 'प्रणिपत्य सर्वबुद्धान्' शब्द आया है।

रसरत्नाकर में रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, माण्डव्य, वटयक्षिणी, शालिवाहन तथा रत्नघोष के संवाद के रूप में किया गया है। इस ग्रन्थ के द्वितीय अधिकार के अन्त में—'इति नागार्जुनविरचित-रसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातनाभ्रकादिद्रुति-द्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीयः' ऐसा उल्लेख है।

रसरत्नाकर की शोधन-विधियाँ—

राजावर्त-शोधन—

'किमत्र चित्रं यदि राजवर्तकं शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम्।
सितं सुवर्णं तरुणार्कसन्निभं करोति गुञ्जाशतमेक गुञ्जया' ॥

गंधक-शोधन—

'किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम्' ॥

दरद-शोधन—

'किमत्र चित्रं दरदः सुभापितः पयेन मेध्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
सितं सुवर्णं बहुधर्मभावितं करोति साक्षाद् वरकुंकुमप्रभम्' ॥

माक्षिक से ताम्र-प्राप्ति—

'किमत्र चित्रं कदली रसेन सुभावित सूरणकन्दसस्थम्।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुद्धमेति' ॥

माक्षिकसत्त्वपातन—

'क्षौद्रं गन्धर्वतैलं सघृतमभिनवं गोरसं मूत्रकञ्च
भूयो वातारितैलं कदलीरसयुतं भावितं कान्तितप्तम्।
मूषाकृत्वाग्निवर्णमरुणकरनिभां प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम्
सत्त्वं नागेन्द्रतुल्यं पतति च सहसा सूर्यवैश्वानराभम्' ॥
कदलीरसशतभावितं घृतमधुवैरण्डतैलपरिपक्वम्।
ताप्यं मुञ्चति सत्त्वं रसकञ्चैव त्रिसङ्घाते' ॥

इस ग्रन्थ में रसक से यशद-निर्माण, दरद से पारद-निष्कासन आदि भी बतलाया गया है। धातुओं का मारण अन्य धातुओं की सहायता से निम्न प्रकार बतलाया है—

Scanned with CamScanner

'तालेन वङ्गं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम् ।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात्' ॥

पारे का नाम रस है; पारे से एमलगम (सरस) बनाने की विधि नागार्जुन के नाम से ही है, यथा—

'जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पञ्चलवणानि कटुत्रयं च ।
शिग्रूदकं सुरभिसूरणकन्द एभिः सम्मर्दितो रसनुपश्च रतेष्टलोहान्' ॥ (३।१)

पारे को नीम्बू के रस, नवसार, अम्ल, क्षार, लवणपंचक, त्रिकटु, शिग्रु के रस और सूरण के साथ मर्दन करने पर धातुओं का बन्ध होता है।

पारद और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने की विधि भी दी गई है—

'रसं हेमसमं मर्द्यं पीठिका गिरिगन्धकम् ।
द्विपदी रजनी रम्भां मर्दयेत् टङ्कणान्विताम् ।
नष्टपिष्टं च मुष्कं च अन्धमूषां निधापयेत् ।
तुषाल्लघुपुटं दत्त्वा यावद् भस्मत्वमागतः ।
भक्षणात् साधकेन्द्रस्तु दिव्य देहमवाप्नुयात्' ॥ (३।३०-३२)

इसमें नागार्जुन-विरचित कक्षपुट का खण्ड भी है। इसकी प्रति पृथक् उपलब्ध हैं। यह प्रति बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है। इस प्रति में १०६ पृष्ठ हैं, जिसमें बीस पटल हैं। इसमें अग्निस्तम्भन, गत्यादिस्तम्भन, सेनास्तम्भन, अशनिस्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, मारण, विद्वेषण, इन्द्रजाल-विधान आदि विषय हैं।

नागार्जुन विरचित एक अन्य ग्रन्थ आश्चर्ययोगमाला है। इसके ऊपर जैन-श्वेताम्बरसाधु गुणाकर की टीका है (१२३९ ई०)[1]। इसका उल्लेख पीटर्स की तीसरी रिपोर्ट में है। इस ग्रन्थ में भी कक्षपुट से मिलते हुए वशीकरण, विद्वेषण, उच्चाटन, चित्रकरण, मनुष्यान्तर्धान, कुतूहल, अग्निस्तम्भन, जलस्तम्भन, उन्मादकरण, रोगशातन, विषप्रयोग-विधान, भूतनाशन आदि विषय हैं। 'योगशतक' भी इन्हीं की रचना हो सकती है। इसे चक्रपाणि ने उद्धृत किया है। 'लौहशास्त्र' के रचयिता नागार्जुन का उल्लेख रसेन्द्रचिन्तामणिकार ने किया है। यथा—

'नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लौहशास्त्रमतिगहनम् ।
तस्यानुस्मृतये वयमेतत् विशदाक्षरैर्ब्रूमः' ॥ (रसे० चि० ८)

काकचण्डीश्वरतन्त्र भी नागार्जुन द्वारा लिखित है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं।

इस प्रकार मतभिन्नताओं के बावजूद रसेन्द्रमंगल, रसरत्नाकर, कक्षपुट, आश्चर्य योगमाला, योगशतक, लौहशास्त्र तथा काकचण्डीश्वर ग्रन्थ नागार्जुन रचित माने जाते हैं।

---

१. दरभंगा संस्कृत विश्व० वि० तथा मिथिला शोध-संस्थान, दरभंगा में इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध है।

नन्दीतन्त्र—काव्यमीमांसा में 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः' कहकर रससिद्ध नन्दी को उद्धृत किया है। कवीन्द्राचार्य सूची के अनुसार आचार्य नन्दी ने नन्दीतन्त्र की रचना की थी। इनका काल ८वीं शताब्दी माना जाता है।

रससिद्धिशास्त्र एवं धातुवादशास्त्र—इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता व्याडि माने जाते हैं। विभुशेखर भट्टाचार्य ने तिब्बती तंजूर में व्याडि के इन दो रस-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से रससिद्धि शास्त्र का तिब्बती भाषा में अनुवाद भारतीय विद्वान् नरेन्द्रभद्र ने किया था। व्याडि का काल ९वीं शताब्दी का माना जाता है।

रसहृदयतन्त्र—तन्त्र नाम से कहा जाने वाला वास्तविक यही प्रथम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण और व्यवस्थित है। चन्द्रवंशी हैहयवंश में किरातदेश का राजा मदन रसविद्या में पारंगत था। राजा मदन के राजवैद्य रसाचार्य भिक्षुगोविन्द इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं। भिक्षुगोविन्द मंगलविष्णु के नाती तथा सुमनो विष्णु के पुत्र थे। भूटान और असम का प्रदेश (किरात देश) तान्त्रिक विद्याओं के लिए विख्यात रहा है। इनका भी यही क्षेत्र रहा है। अन्य मान्यता के अनुसार गोविन्द से शंकराचार्य के गुरु गोविन्दभगवत्पाद का ग्रहण किया जाता है। इस कथन के पीछे यह तर्क है कि रसहृदयतन्त्र के प्रकरण का अवबोध नाम दिया गया है। प्रकरणों की समाप्ति में ग्रन्थकर्ता को परमहंस परिव्राजकाचार्य गोविन्दभगवत्पाद कहा है। आद्य शंकराचार्य ने अपने को गोविन्दभवत्पाद का शिष्य कहा है। किसी तन्त्र का कर्त्ता वेदान्ताचार्य का गुरु हो, यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। नागार्जुन से पूर्व रसशास्त्र अधिक विकसित नहीं था और न शंकर-परम्परा का इस क्षेत्र से कोई सम्बन्ध ही रहा है। रसरत्नसमुच्चय में वर्णित २७ रसाचार्यों में गोविन्द का नाम आया है तथा रसहृदय के कर्ता सम्भवतः यही गोविन्द हैं।

काल की दृष्टि से रसहृदयतन्त्र का काल १०वीं शताब्दी माना जाता है। यदि गोविन्दभगवत्पाद को इस ग्रन्थ का कर्त्ता मान लिया जाय तो इस ग्रन्थ का रचना काल ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं ८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिए। ग्रन्थकार द्वारा अपने परिचय में कहे हैहयहुल की स्थिति १०वीं शताब्दी में थी। रसहृदयतन्त्र का समय यदि ८वीं शती मानें तो १०वीं शती में होने वाले वृन्द के सिद्धयोगसंग्रह तथा ११वीं शती के चक्रपाणिदत्त द्वारा लिखित चक्रदत्त में रसविद्या का उल्लेख होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं है। इस विचार के आधार पर रसेन्द्रमंगल एवं रसरत्नाकर भी ११वीं शती के हैं तथा रसहृदयतन्त्र भी ११वीं शती का ही होना चाहिए।

रसहृदयतन्त्र में १९ अवबोध हैं। प्रथम अवबोध में रस की प्रशंसा की गयी है। रसशास्त्र के दार्शनिक पक्ष पर सशक्त विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि मनुष्य को धन-शरीरादि अनित्य जानकर मुक्ति के लिए यत्न करना चाहिए। मुक्ति ज्ञान से मिलती है, ज्ञान अभ्यास से होता है और अभ्यास तभी सम्भव है जब कि शरीर स्थिर हो। शरीर को स्थिर एवं अजर-अमर अकेला रसराज ही कर सकता है। लेखक

Scanned with CamScanner

को वैयक्तिक मुक्ति से संतोष नहीं है। महायान के विचार की तरह इनका मानना है कि अकेले बुद्ध बोधिसत्त्व होने की अपेक्षा दूसरों को, जगत् को बुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए—इस विचार में विश्वमंगल की भावना है। ग्रन्थकर्त्ता की भावना उन्नत है; इन्होंने भौतिक उपलब्धियों—वशीकरण, शुक्र-स्तम्भन, वाजीकरण आदि योगों पर ध्यान न देकर तान्त्रिक वाममार्ग से भिन्न दक्षिणमार्ग योगवाद पर जोर दिया है। इसी योगवाद को आधार मान कर सर्वदर्शनसंग्रह में रसेश्वर दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। बनारस से प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अन्त में 'तथागतः श्रेयसे भूयात्' वाक्य है। इससे डा० राय ग्रन्थकार को बौद्ध मानते हैं, परन्तु इसी ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है कि 'वेदाध्ययन से और यज्ञ से अत्यन्त श्रेय मिलता है'—ऐसा लिखने वाला बौद्ध नहीं हो सकता।

दूसरे अवबोध में पारद के अठारह संस्कारों के नाम देकर स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन और दीपन—इन आठ संस्कारों की विधि दी है। तीसरे अवबोध में अभ्रक ग्रास की प्रक्रिया है। चौथे में अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्त्वपातन का विधान है। इसी प्रकार पाँचवें में गर्भद्रुति का विधान, छठे में जारण-विधान, सातवें में विड्-विधान, आठवें में रसरंजन, नवें में बीज-विधान, दसवें में वैक्रान्तादि से सत्त्वपातन, ग्यारहवें में बीज-निर्वाहण, बारहवें में द्वन्द्वाधिकार, तेरहवें में संकरबीज विधान, चौदहवें में संकरबीज-जारण, पन्द्रहवें में बाह्यद्रुति, सोलहवें में सारण, सतरहवें में क्रामण, अठारहवें में वेध-विधान और अन्तिम उन्नीसवें अवबोध में शरीर शुद्ध करके रसायन रूप से सेवन करने वाले योग दिये हैं। अन्त में कुछ खेचर गुटिका जैसे योगों के लिए आश्चर्यपूर्ण फलश्रुति कही है। रसहृदयतन्त्र का विषय पारद तक ही सीमित है। पारद के विषय में इससे व्यवस्थित ज्ञान मिलता है। एक प्रकार से निश्चय ही रसेश्वरदर्शन इसी एक ग्रन्थ के ऊपर निर्भर है। सम्प्रति यह ग्रन्थ श्रीकृष्णगोपाल धर्मार्थ ट्रस्ट, कालेड़ा, अजमेर द्वारा प्रकाशित होकर उपलब्ध है।

रसार्णव—यह रसशास्त्र का एक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता एवं समय के बारे में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि इस ग्रन्थ का समय १२वीं शताब्दी माना जाता है। लेखक के बारे में लोगों की ऐसी धारणा है कि कोई कापालिक योगी इसका कर्त्ता है। कई विद्वान् भैरवानन्द योगी को इसका कर्त्ता मानते हैं। यह ग्रन्थ पार्वती-परमेश्वर संवादात्मक है। इसकी भाषा जटिल है। धातुवाद एवं देहवाद सम्बन्धी इसके विचार स्पष्ट हैं। ग्रन्थ अपने में पूर्ण है। इसके अध्यायों को पटल के नाम से कहा गया है। चौथे पटल में रसकर्म के उपयोगी एवं उपरस, लोह में काम आनेवाली काँजी, विड्, धमन, लोहयन्त्र, खल्व, कोष्ठिका, वंकनाल, गोमय, ठोस इन्धन, मिट्टी के यन्त्र, मूसल, ऊखल, सँडसी, मृत्पात्र, लोहपात्र, तराजू-बाट, कैंची, कसौटी, दंशनाल, लोहनाल, मूषा, स्नेह, अम्ल, विष, उपविष आदि सम्भार लेकर कार्य प्रारम्भ करने को कहा गया है।

अनेक प्रकार की मूषा का वर्णन तथा ज्वाला परीक्षा में विभिन्न धातुओं को आग पर रखने पर विभिन्न वर्ण की ज्वाला निकलती है; इसका वर्णन सुन्दर ढंग से किया है, यथा—

'आवर्त्तमाने कनके पीता तारे सिता प्रभा।
शुल्बे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि !॥
वङ्गे ज्वाला कपोताभा नागे मलिनधूमका।
शैले तु धूसरा देवि ! आयसे कपिलप्रभा॥
अयस्कान्ते धूम्रवर्णा सम्यके लोहिता भवेत्।
वज्रे नानाविधा ज्वाला खसत्वे पाण्डुरप्रभा'॥
न विस्फुलिङ्गो न च बुद्बुदश्च यदा न रेखापटलं न शब्दः।
मूषागतं रससमं स्थिरञ्च तदा विशुद्धं प्रवदन्ति लोहम्'॥

—रसार्णव ४।४९-५२

सत्त्वपातन का उल्लेख इसमें किया है तथा सत्त्वपातन से अभिप्राय शुद्ध धातु प्राप्त करना है।

अष्टादश पटल में पारद-भक्षण के पश्चात् शरीर में क्रामण की विशिष्ट विधि दी गई है। यथा—

'देहे क्रामति सूतेन्द्रो नात्र कार्या विचारणा।
अवश्यं क्रमते सूतः स्त्रीयागे क्रामणं परम्॥
ब्रह्मचर्येण वा योगी सदा सेवेत सूतकम्।
समाधिः कारणं तच्च क्रमणं परमं मतम्'॥

—रसार्णव १८।११५-११६

इसका एक संस्करण डा० पी० सी० राय द्वारा सम्पादित होकर बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता द्वारा १९१० में प्रकाशित हुआ। दूसरा संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज द्वारा १९७८ में हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। इसकी रसचन्द्रिका नामक हिन्दी व्याख्या डा० इन्द्रदेव त्रिपाठी ने की है।

गोरक्षसंहिता—गोरक्षसंहिता के लेखक गोरक्षनाथ हैं। विद्वानों की मान्यता के अनुसार इनका काल १२वीं शताब्दी है। गोरक्षनाथ की गणना ८४ सिद्धों में हुई है। गोरक्षसंहिता १ लाख श्लोकों में लिखी गई थी, जिसका वर्णन नवम पटल के अन्त में इस प्रकार किया गया है—'इत्याद्ये स्वच्छन्दशक्यावतारे शतसाहस्र्यां गोरक्ष-संहितायां भूतिप्रकरणे शिवसूत्रं रसायनविधिर्नाम नवमः पटलः समाप्तः'।

यह ग्रन्थ दो भागों में पूर्ण है—१. कादि प्रकरण तथा २. भूति प्रकरण। कादि प्रकरण में मन्त्र-तन्त्र तथा यन्त्र से सम्बन्धित विषय तथा भूति प्रकरण में रस-रसायन का वर्णन किया गया है। इनके द्वारा खेचरी गुटिका और बुभुक्षित पारद तथा स्वर्ण-

Scanned with CamScanner

निर्माणार्थ गुटिका कल्पतरु सदृश थे। गोरक्षसंहिता सिंहण नृपति को समर्पित है। इस सम्बन्ध का कथन नवम पटल के १३५वें श्लोक में इस प्रकार मिलता है— 'सिंहभूपहितार्थाय नायोयं प्रकटीकृतः'। राजा सिंहण का समय १२वीं शती का उत्तरार्ध और १३वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है। अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी १२वीं शती प्रमाणित होता है। पारद के सभी संस्कारों का विधिवत् वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। बीच में यह ग्रन्थ दुर्लभ था। १९७७ ई० में सरस्वती भवन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि० वि०, वाराणसी द्वारा प्रकाशित किया गया, जो उपलब्ध है।

रसेन्द्रचूड़ामणि—इस ग्रन्थ का काल १२वीं शताब्दी का है। इसके रचयिता सोमदेव हैं। रसरत्नसमुच्चय का पूर्व भाग इसी ग्रन्थ पर आधारित है। सोमदेव गोविन्दभगवत्पाद के बाद और रसरत्न के कर्त्ता से पहले हुए हैं। इसमें मन्थान-भैरव, नन्दी, भालुकी, भास्कर, श्रीकण्ठ तथा गोविन्दभगवत्पाद के मत को नामोल्लेख सहित उद्धृत किया है। सोमदेव करवाल (भैरवपुर) के अधिपति तथा महावीर के वंशज थे, जैसा कि द्वितीय अध्याय की अवतारणा से ज्ञात होता है। १६वें अध्याय की पुष्पिका में इन्हें नारायणसूनु कहा गया है।

यह ग्रन्थ १६ अध्यायों में पूर्ण है। इसमें रसपूजन, रसशाला-निर्माण के प्रकार, रसशाला-संग्राहण, परिभाषा, मूषा-पुट-यन्त्र, दिव्यौषधि, रसौषधि, ओषधिगण, महा-रस, उपरस, साधारण रस, रत्न, धातु इनके रसायनयोग तथा पारद के अठारह संस्कार पूर्ण रूप में कहे हैं। यह ग्रन्थ यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा लाहौर से संवत् १९८४ (१९३३ ई०) में प्रकाशित कराया गया है।

रसप्रकाशसुधाकर—इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री यशोधर भट्ट हैं। यशोधर भट्ट सौराष्ट्र (जूनागढ़) के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण और पद्मनाभ के पुत्र थे। इनका काल १३वीं शताब्दी का है। रसरत्नसमुच्चय ने इसे बहुधा उद्धृत किया है। रसाचार्यों की गणना में यशोधन ही सम्भवतः यशोधर हैं। इन्होंने सोमदेव को उद्धृत किया है (९।११)। औषधियों के प्रकरण में शोढलनिघण्टु का अनुसरण किया है। रसरत्नसमुच्चय से पूर्व के ग्रन्थ में यह बहुत सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। इसमें पारद के अठारह संस्कार, रसबन्ध, रसभस्म-विधि, रसकर्पूर की विधि, स्वर्णादि धातु, महारस, उपरस, रत्न आदि का लक्षण, गुण, शोधन, मारण तथा एक सौ रसों का प्रयोग, यन्त्र-मूषा-पुटों का विवरण, वाजीकरण प्रयोग आदि रसशास्त्र के सभी विषय हैं। शुक्र-स्तम्भन के क्रम में अहिफेन, अकरकरा, मस्तकी आदि द्रव्यों का प्रयोग किया है। स्वर्ण, रौप्य, मौक्तिक, प्रवाल आदि अनेक द्रव्यों का कृत्रिम निर्माण भी बताया है। कीमियागिरी की बातें जिसे यह कौतुक कहता है, इसमें है। ग्रन्थकार ने कहा है कि मैंने थोड़ा अनुभव किया है और शेष अधिक भाग सुना हुआ है। यह ग्रन्थ रसशास्त्र की प्रामाणिकता का आधारस्तम्भ है तथा अपने में पूर्ण है जो १३ अध्यायों में पूर्ण किया गया है। यह गोण्डल से यादव जी द्वारा प्रकाशित किया गया है; अधुना विभिन्न ग्रन्थालयों में उपलब्ध है।

काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्र—रसरत्नसमुच्चय के २७ सिद्धों में काकचण्डीश्वर की गणना की गई है। अतः यह ग्रन्थ रसरत्नसमुच्चय से पहले का है।

रसरत्नसमुच्चय—ग्रन्थ के रचयिता ने अपने पिता का नाम सिंहगुप्त कहा है। स्वयं ग्रन्थकर्त्ता का नाम वाग्भटाचार्य केवल पुष्पिका भाग में मिलता है। पिता एवं पुत्र की नाम समानता के कारण अष्टांगहृदय एवं रसरत्नसमुच्य का कर्त्ता एक होने का भ्रम पैदा करता है। ग्रन्थ की विषय-सामग्री एवं काल के लम्बे अन्तराल के कारण यह सिद्ध कर पाना कठिन है। ग्रन्थकर्त्ता में पार्थक्य प्रकट करने के लिए इन्हें रसवाग्भट के नाम से कहा जाता है। इनका काल १३वीं शती का है।

ग्रन्थ दो खण्डों एवं ३० अध्यायों में पूर्ण किया गया है। प्रथम खण्ड में १ से ११ अध्याय हैं। आगे का अंश निदान-चिकित्साविषयक है; इसमें रसोत्पत्ति, महारसों का शोधन आदि विषय, उपरस, साधारण रस आदि का शोधन—ये रसशास्त्र सम्बन्धी विषय हैं। १२ से ३० अध्यायों में निदान-चिकित्साविषयक ज्वर आदि रोगों पर रसौषधि प्रधान योगों का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में आदिम, चन्द्रसेन, लंकेश, भास्कर, व्याडि, नागार्जुन, यशोधन (र), गोविन्द आदि २७ रससिद्धों तथा भैरवनन्दी, मन्थानभैरव, काकचण्डीश्वर आदि ग्रन्थकर्त्ताओं की गणना की गई है। इनके अतिरिक्त भालुकी, रसेन्द्रतिलक, वासुदेव आदि के तन्त्रों के नाम लिये गये हैं, जिनसे ग्रन्थ की रचना में सहायता ली गई है। रसशाला का विशद एवं सुन्दर वर्णन किया है। रसमण्डप, रसलिंग, स्थापना एवं पूजा, अघोरमंत्र, रसांकुशीविद्या का भी इस प्रसंग में उल्लेख किया गया है। विषोपविष का विधिवत् विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। ग्रन्थकार स्वयं यह स्वीकरते हैं कि रसार्णव, रसप्रकाशसुधाकर, रसेन्द्र-चूड़ामणि आदि ग्रन्थों को देखकर इस ग्रन्थ को लिखा गया है। यह ग्रन्थ रसशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है।

रसरत्नाकर—यह ग्रन्थ पार्वती-पुत्र नित्यनाथ द्वारा १३वीं शताब्दी में लिखा गया है। रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादिखण्ड, रसायनखण्ड और मन्त्रखण्ड इस प्रकार यह ५ खण्डों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में पारद की सभी क्रियाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। पारद-संस्कार में उपयोगी सभी द्रव्यों का विवेचन किया गया है। वादिखण्ड में पारद के सभी संस्कारों का विधिवत् वर्णन किया गया है। यह खण्ड २० अध्यायों का है। इसमें माणिक्य, इन्द्रनील, मरकत, गोमेद, पुष्पराग, मुक्ता, प्रवाल, हिंगुल, सिन्दूर, सैंधव, हिंगु, वंग, घृत, कर्पूर, कस्तूरी, तथा कुंकुम आदि द्रव्यों का कृत्रिम निर्माण तथा धातुवेध की अनेक विधियाँ बतलाई गयी है।

इसका प्रथम प्रकाशन श्री जीवानन्द विद्यासागर ने १९७८ ई० में कलकत्ता से, तथा श्रीयादवजी द्वारा रसायनखण्ड का प्रकाशन १९१३ ई० में निर्णयसागर प्रेस बम्बई से तथा वादिखण्ड का प्रकाशन जीवराम कालीदास द्वारा १९४० में गोंडल से किया गया था। इस ग्रन्थ में भी अहिफेन का प्रयोग देखा जाता है। कुछ विद्वान् इसका काल १५वीं शती का भी मानते हैं।

Scanned with CamScanner

कंकालीय रसाध्याय—इस ग्रन्थ पर मेरुतुंग ने १३८६ में टीका लिखी है। अतः यह ग्रन्थ इससे पूर्व (१३वीं शती) का होना चाहिए। इसके लेखक कंकाल योगी हैं। इस ग्रन्थ में पारद के १८ संस्कार, अभ्रक, माक्षिक, खर्पर, मनःशिला आदि का सत्त्वपातन; गंधक एवं हरताल का शोधन एवं द्रुति का वर्णन किया गया है। इसमें पारद के पाँच दोषों में दर्प और मत्त दोष पढ़ा गया है। पारद-संस्कार में पाटसारणादि नाम-भिन्नता देखी जाती है। यह ग्रन्थ इस समय दुर्लभ-सा है।

रसरहस्य एवं रसेश्वरसिद्धान्त—ये दोनों ग्रन्थ माधवकृत सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत हैं अतः उनके पूर्व के हैं। इनके लेखक अज्ञात हैं। इनमें पारद द्वारा मोक्ष एवं शरीर को स्थिर करने की बात कही गयी है।

रसकल्प—इस ग्रन्थ में गोविन्द एवं स्वच्छन्दभैरव आदि का उल्लेख आया है। ग्रन्थ का काल १३वीं शती है। इस छोटे से ग्रन्थ में धातुओं का शोधन-मारण ही दिया गया है। लेखक ने पुस्तक की प्रक्रिया को स्वानुभूत बताया है।

आनन्दकन्द—यह ग्रन्थ १९५२ ई० में प्रकाश में आया। तीन मूल प्रतियों के सहयोग से इसका प्रकाशन हुआ है—एक मूलप्रति तन्जौर पुस्तकालय से सुन्दर अक्षरों में ताड़पत्र पर लिखित, दूसरी प्रति मैसूर राष्ट्रीय प्राच्य ग्रन्थ संग्रहालय से तेलगु भाषा में तथा तीसरी अखिल भारतीय आयुर्वेद महामण्डल पत्रिका में प्रकाशित प्रति। इसका एक प्रकार से प्रतिसंस्कार कर श्री वा० वा० नटराज शास्त्री ने प्रकाशित कराया है। इस ग्रन्थ के लेखक और काल के सम्बन्ध में मतभेद है। ग्रन्थ में विषयों के विस्तार से यह १३वीं शती के बाद का प्रतीत होता है। इसके अनेक श्लोक रस-रत्नसमुच्चय से मिलते हैं। ग्रन्थ दो भागों में पूर्ण किया गया है। पहला अंश अमृती-करणविश्रान्ति तथा दूसरा क्रियाकरणविश्रान्ति है। अध्यायों का नाम उल्लास है। पहला भाग २६ उल्लास तथा दूसरा भाग १० उल्लास में पूर्ण होता है। इसकी वर्णन-शैली अन्य ग्रन्थों से भिन्न प्रकार की है। इसमें सर्वप्रथम पारदोपत्ति, पारद-पर्याय तथा उनकी निरुक्तियाँ, गतियाँ, दोष, अवस्था, दोषों का स्वरूप, कूप से पारद-निष्कासन विधि, रसशाला, शिवलिंग का स्थापन एवं पूजन, पारदस्तोत्र, पारदपूजाफल आदि विषयों का विस्तार से वर्णन है। ग्रन्थ में एक-एक क्रिया के लिए अनेक विधियाँ दी गयी हैं; यथा—पारद भस्म की ३९ विधियों का संकलन किया गया है। यह ग्रन्थ अपने में पूर्ण प्रामाणिक कहा जायेगा। कुछ विद्वान् 'मन्थानभैरव' को इस ग्रन्थ का कर्ता मानते हैं। अधुना यह ग्रन्थ मूल रूप में मद्रास से प्रकाशित होकर उपलब्ध है।

रसराजलक्ष्मी—इसका काल १४वीं शती का माना जाता है। लेखक विष्णुदेव हैं। इन्होंने रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, दामोदर, वासुदेव, भगवद् गोविन्द-पाद आदि को उद्धृत किया है। विष्णुदेव राजा बुक्क के राजवैद्य थे। बुक्क का समय १३५४-१३७१ ईसवी है।

रससार—इस ग्रन्थ का काल १४वीं शती का है। यह गोविन्दाचार्य द्वारा लिखा गया है। गोविन्दाचार्य कापालिक परम्परा में दीक्षित थे, ऐसा उनके द्वारा

लिखित 'कापालिक आचार्यों की प्रशंसा' से ज्ञात होता है। इसमें पारद के अठारह संस्कारों का वर्णन कर पारद के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। अहिफेन का वर्णन भी इसमें मिलता है। लेकिन अफीम क्या है, इसके बारे में लेखक मौन है। इसे समुद्र में तैरती विषैली मछली से प्राप्त होना बतलाया है।

रसपद्धति—यह ग्रन्थ महाराष्ट्रीय बिन्दु रचित है। बिन्दु का समय कुछ विद्वान् १३वीं शती का मानते हैं। रसकामधेनु और आयुर्वेदप्रकाश में इसे उद्धृत किया गया है अतः इससे पूर्व का है तथा रसरत्नाकर, रसराजलक्ष्मी और रसरत्न-समुच्चय के बाद का है। अतः कई विद्वान् इसका काल १५वीं शती का मानते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'शार्दूल विक्रीडित' इस एक ही छन्द में पूरा किया गया है। १९२५ में यादवजी द्वारा निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित किया गया था।

शार्ङ्गधरसंहिता—यह १४वीं शती का ग्रन्थ आचार्य शार्ङ्गधर मिश्र द्वारा लिखा गया है। यह भैषज्यकल्पना का मुख्य ग्रन्थ है। इसमें रसशास्त्रीय द्रव्यों का शोधनमारण आदि बतलाया गया है।

रसचिन्तामणि—यह ग्रन्थ अनन्तदेवसूरी द्वारा १५वीं शती में लिखा गया है। ग्रन्थ कुल ११ स्तबक में पूर्ण किया गया है। प्रथम स्तबक में पारदभस्म-निर्माण की २० विधियाँ दी गयी हैं। तथा पाचवें और छठे स्तबक में पारदसंस्कार, बुभुक्षितीकरण, धातुओं का भस्मीकरण तथा स्वर्ण-रौप्य निर्माण की ११ विधियाँ बतलाई गयी हैं। शेष स्तबकों में रसयोगों का विस्तार से वर्णन किया गया है। १९६७ में इसका प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से हुआ था।

रसरत्नप्रदीप—इसके रचयिता रत्नपालसुत रामराज है। इनका काल १५वीं शताब्दी का माना गया है।

रससंकेतकलिका—यह ग्रन्थ नैगम कायस्थ चामुण्ड द्वारा लिखा गया है। ५ उल्लासों में यह पूर्ण है। यागिनीपुर में १५३१ ई० में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

रसनक्षत्रमालिका—इसका काल १५वीं शती का है तथा इसके लेखक मालवा के राजवैद्य मथनसिंह हैं।

धातुरत्नमाला—इसके लेखक गुर्जरदेशीय देवदत्त हैं। इनका समय १६वीं शती का है। इसमें यशद को खर्पर का पर्याय कहा है। इसमें धातु, रत्न आदि की मारण-विधि दी गई है। स्वर्ण, रजत, ताम्र, सीसक, त्रपु और लोह इन ६ धातुओं का उल्लेख किया गया है।

रसेन्द्रचिन्तामणि—यह कालनाथ के शिष्य ढुण्ढुकनाथ की रचना है। इनका काल १६वीं शती का है। लेखक के सम्बन्ध में कुछ प्रतियों में गुहकुलसम्भव रामचन्द्र का भी नाम है। प्रकाशित पुस्तकों में भी यह भेद मिलता है। (कलकत्ता से जीवानन्द विद्यासागर द्वारा १८७७ में प्रकाशित)। सं० १९९१ में वैद्य मणिशर्मा ने भी अपनी संस्कृत टीका के साथ इसे रामगढ़ (जयपुर) से प्रकाशित कराया। डा० राय इसकी रचना १३वीं-१४वीं शती का मानते हैं। इसमें रसार्णव, नागार्जुन,

Scanned with CamScanner

गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्ध लक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रम भट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है। लेखक ने ग्रन्थ की विधियों को स्वानुभूत बतलाया है। ज्वरादि रोगों की रसचिकित्सा भी दी गई है। ग्रन्थ ९ अध्यायों में पूर्ण है।

रसमञ्जरी—यह शालिनाथ द्वारा लिखा गया १५वीं शती का ग्रन्थ माना जाता है। वैसे तो यह संग्रहग्रन्थ है तथापि कुछ मौलिक विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें अनेक रसौषधियों का वर्णन मिलता है। ग्रन्थ लघुकाय है तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सं० १९७८ में हिन्दी टीका सहित प्रकाशित कराया गया था जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

लोहसर्वस्व—इसके कर्त्ता आचार्य सुरेश्वर हैं। इसका काल १५वीं शती का माना गया है। रसकामधेनु तथा आयुर्वेदप्रकाशकार ने इसको उद्धृत किया है। यादव जी द्वारा १९२५ ई० में इसका संशोधन एवं प्रकाशन कराया गया था। इन्होंने लोह के आठ भेद बतलाए हैं, जिनमें ४ भेदों का वर्णन किया है।

रसेन्द्रसारसंग्रह—यह ग्रन्थ १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में श्रीगोपालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखा गया था। रसद्रव्यों से चिकित्सा का विस्तारपूर्वक वर्णन इसमें देखा जाता है। रसद्रव्यों का वर्गीकरण तथा संक्षेप में द्रव्यों का शोधन-मारण भी बतलाया गया है। रसमञ्जरी और चन्द्रिका का इसमें उल्लेख हैं। इस पर वैद्य घनानन्द पन्त (दिल्ली) तथा रामप्रसाद वैद्य (बम्बई) की टीकाएँ हैं। इस ग्रन्थ में दिये गये रसकर्पूर के पाठ को रसप्रकाशसुधाकर और भावप्रकाश से मिलाने पर यह ग्रन्थ रसप्रकाशसुधाकर के बाद तथा भावप्रकाश से पूर्व का प्रतीत होता है। इस आधार पर कुछ लोग इसे १३वीं शती का भी मानते हैं।

रसेन्द्रकल्पद्रुम—यह ग्रन्थ १६वीं शती का है। इसके लेखक श्री नीलकण्ठ के आत्मज श्री रामकृष्ण भट्ट हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में रसार्णव, रसमंगल, रसरत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय से विषयों का संग्रह किया है। मुख्यतः धातुओं-खनिजों का उल्लेख किया गया है।

रसप्रदीप—इसका काल १६वीं शताब्दी तथा रचनाकार श्री प्राणनाथ हैं। फिरंग रोग और उसकी चिकित्सा तथा चोपचीनी का उल्लेख इसमें किया गया है। चीनी व्यापारियों द्वारा १५३५ ई० में चोपचीनी को गोआ लाया गया था। इसमें शंख द्रावक बनाने की विधि दी गयी है।

रसकौमुदी—इस ग्रन्थ का निर्माण १६वीं शती में किया गया है। रचनाकार चन्द्रशेखर मुनीश्वर के वंशज सर्वज्ञ चन्द्रसुत ज्ञानचन्द्र शर्मा हैं। ग्रन्थ का विषय ४ अधिकारों में पूर्ण है। इसमें नवनाथसिद्धों और नवदुर्गा की पूजा का विधान बताया गया है (२।५०)। पारद की उत्पत्ति, दोष एवं संस्कारों का वर्णन भी प्रथम और द्वितीय अधिकार में किया गया है। गंधक तथा अभ्रकादि द्रव्यों का शोधन-मारण आदि तीसरे अधिकार में वर्णित हैं। चतुर्थ अधिकार में कुछ विशिष्ट योगों का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ का संशोधन जीवानन्द के पुत्र सदानन्द शर्मा ने १९२३ में किया

था तथा मोतीलाल बनारसी दास ने प्रकाशित किया था। यह सम्प्रति चौखम्बा द्वारा प्रकाशित एवं उपलब्ध है। इसी नाम का ग्रन्थ माधव, शक्तिवल्लभ तथा गोल्हदेव द्वारा विरचित भी है।

भावप्रकाश—इसका काल १६वीं शती तथा रचनाकार श्री भावमिश्र सर्वविदित हैं। यह निघण्टु एवं चिकित्सा के रूप में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त ग्रन्थ है। यह दो भागों में उपलब्ध होता है। पूर्वखण्ड में दिनचर्या तथा रात्रिचर्या और औद्भिद, खनिज तथा जान्तव द्रव्यों का वर्णन, गुणधर्म, उपयोग विधि आदि का सुन्दर एवं सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है।

वसवराजीय—यह ग्रन्थ १५वीं एवं १६वीं शती के मध्य का है। ग्रन्थकर्ता कर्णाटक के लिंगायत मत के संस्थापक एवं प्रचारक वसवराज हैं, जो वैद्य एवं कवि दोनों रूप में प्रसिद्ध थे। ग्रन्थ का अध्याय उपकरण के नाम से कथित है। इन्होंने सतयुग में चरक, त्रेता में रसार्णव, द्वापर में सिद्धविद्या और कलयुग में वसव को प्रधान बतलाया है। यथा—

'कृते तु चरकः प्रोक्तस्त्रेतायां तु रसार्णवः।
द्वापरे सिद्धविद्या तु कलौ वसवकः स्मृतः' ॥

इसमें रसकर्पूर का प्रयोग है। चरक, माधव, भैरवकल्प, वाग्भट, रसार्णव, भेषजकल्प, काशीखण्ड, कर्मविपाक और रेवणकल्प आदि ग्रन्थों के आधार पर इसे लिखा गया है। नित्यनाथ के भी कुछ योग वर्णित हैं। इन्होंने हेमादि को भी उद्धृत किया है। इसमें रसौषधियाँ अधिक वर्णित हैं। श्रीगोवर्धनशर्मा छांगाणी ने १९३० में नागपुर से इसका प्रकाशन कराया था।

रसकामधेनु—यह ग्रन्थ १६वीं शती में शाकद्वीपीय विप्र बलभद्रमिश्र के पौत्र हरिरामिश्र के पुत्र श्री चूड़ामणिमिश्र द्वारा लिखा गया है। इस ग्रन्थ में चार पाद हैं; यथा—उपकरणपाद, धातुसंग्रहपाद, रसकर्मपाद और चिकित्सापाद। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी रसग्रन्थों के मौलिक विचारों का संकलन इस ग्रन्थ में किया है। गोरक्षसंहिता, पुरन्दररहस्य, शैवालभक्ष्य, कक्षपुट, रसेन्द्रमंगल आदि ग्रन्थों को उद्धृत किया है। १९२५ ई० में बम्बई से श्रीयादवजी ने इसका प्रकाशन कराया था।

धातुक्रिया—यह ग्रन्थ रुद्रयामल तन्त्र के अन्तर्गत मिलता है। इसका काल भी १६वीं शती का है। इस ग्रन्थ में फिरंग देश तथा दाहजल का उल्लेख किया गया है। ताम्र और खर्पर के योग से पित्तल और वंग तथा ताम्र के योग से कांस्य बनाने की बात लिखी है। खर्पर शब्द जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थ शिव-पार्वती संवाद के रूप में है। इसमें एक स्थान पर शिव पार्वती से कहते हैं कि मनुष्य कलियुग में स्वर्ण के लिए व्याकुल रहेंगे। वे पारद और गन्धक के सहयोग से नकली सोना बनाने लगेंगे। सुवर्णसाधिनी विद्या जानकर लोग प्राकृतिक स्वर्ण को पूछेंगे नहीं।

निम्नांकित ग्रन्थ टोडरानन्द (आयुर्वेद सौख्य) में उद्धृत है, अतः ये १६वीं शती

Scanned with CamScanner

में उपलब्ध थे—रसचिन्तामणि, रसदर्पण, रसरत्नप्रदीप, रसरत्नावलि, रसरहस्य, रसराजहंस, रससिन्धु, रसार्णव, रसालंकार तथा रसावतार।

बृहद्योगतरंगिणी एवं योगतरंगिणी—यह ग्रन्थ काशीवासी तैलंग ब्राह्मण आचार्य त्रिमल्लभट्ट द्वारा १७वीं शताब्दी में लिखा गया था।

बृहद्योगतरंगिणी—ग्रन्थ में १४८ तरंग हैं। इसमें आयुर्वेद के आठो अंगों का वर्णन है। इसके ४१ से ४३ तरंग में रसद्रव्यों का शोधन-मारण, भेद, गुणधर्म आदि वर्णित है। १९१४ ई० में आनन्दाश्रम प्रकाशन, पूना द्वारा प्रकाशित किया गया था।

योगतरंगिणी—इसमें ८० तरंग हैं। यह योगों का भण्डार सदृश है। इसे चिकित्सा-प्रधान ग्रन्थ कहेंगे। १७वाँ तरंग (अध्याय) रसविषयक है। इसमें पारद के दोष, गुण, शोधन, मारण, मूर्च्छना, बन्धन आदि का वर्णन किया गया है। इन्होंने भावमिश्र और लोलिम्बराज को उद्धृत किया है तथा योगरत्नाकरकार ने भी इन्हें उद्धृत किया है। अतः यह ग्रन्थ दोनों के बीच के समय का है। यह ग्रन्थ गोण्डाल से १९५६ ई० में प्रकाशित किया गया था।

आयुर्वेदप्रकाश—यह १७वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। इसके लेखक सौराष्ट्र निवासी माधव उपाध्याय हैं। इन्होंने भावप्रकाश को उद्धृत किया है। यह रसशास्त्र का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विस्तारपूर्वक पारद का विवेचत किया गया है। अन्य रसाचार्यों के मत स्पष्टरूप से उद्धृत किये गये हैं। ग्रन्थ में ५ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पारदविषयक सर्वात्मनाविचार, स्वर्णादि निर्माण तथा लौह-परिवर्तन की विधियाँ दी हैं। दूसरे अध्याय में रसद्रव्यों का वर्गीकरण एवं विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार का कथन है कि गुरुचरणों में बैठकर जिन-जिन क्रियाओं को सम्पन्न किया हैं उन्हीं का वर्णन इसमें समाविष्ट है।

योगरत्नाकर—यह १८वीं शती का ग्रन्थ है। इसके कर्त्ता अज्ञात हैं। काष्ठौषधियों के साथ रसयोगों का भी इसमें अच्छा संकलन है। लगभग सभी रसद्रव्यों का शोधन-मारण एवं गुण-दोषों का वर्णन है।

भैषज्यरत्नावली—१९वीं शती के अन्त में आचार्य गोविन्ददास सेन ने इस ग्रन्थ की रचना की। यह एक संग्रह ग्रन्थ है। चिकित्सा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सफल और अच्छे योगों का संग्रह किया गया है। लगभग सभी प्रकार की आयुर्वेदीय कल्पनाए इसमें वर्णित हैं।

बृहद्रसराज सुन्दर—इसका रचना काल १९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा रचयिता मथुरा निवासी पं० दत्तराम चौबे हैं। इस ग्रन्थ की रचना पूर्ववर्ती रस ग्रन्थों के आधार पर की गई है। ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर लेखक के मौलिक विचार भी देखे जाते हैं।

रसतरंगिणी—इस ग्रन्थ की रचना २०वीं शताब्दी के आरम्भिक काल में हुई है। लेखक कविराज सदानन्द शर्मा हैं। इस आधुतिकतम ग्रन्थ में अनेक नवीन योगों; यथा—रजतनत्रित, मुग्धरस, सोरकद्राव, लवणद्राव, गन्धकद्राव आदि को

सुसंस्कृत कर ग्रहण किया गया है। ऑक्सीजन, स्वर्णमण्डल, रजतमण्डल का भी विशेषताओं सहित वर्णन किया है। यह ग्रन्थ रसशास्त्र का एक पूर्ण ग्रन्थ है। रस द्रव्यों के सुव्यवस्थित वर्णन-पर्याय से आमयिक प्रयोग-पर्यन्त का वर्णन इसमें किया गया है। वर्तमान में यह सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक अध्ययन के लिए सबसे अधिक एवं प्रचलित रसग्रन्थ है। इनके पिता जीवानन्द शर्मा तथा माता सरस्वती थी। यह ग्रन्थ उनके गुरु नरेन्द्रनाथ मित्र द्वारा लाहौर से प्रकाशित है। सदानन्द ने रसकौमुदी की व्याख्या तथा पारदयोगशास्त्र आदि अनेक रसग्रन्थों का सम्पादन भी किया है।

रसजलनिधि—इस ग्रन्थ की रचना कलकत्ता निवासी पं० भूदेवमुखर्जी ने १९२६ से १९३८ के बीच की है। यह ग्रन्थ अंग्रेजी अनुवाद सहित ५ खण्डों में लिखा गया है। इसमें अपने पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों के विचारों को संगृहीत किया गया है।

हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री—कलकत्ता निवासी सर पी० सी० राय महोदय ने इस ग्रन्थ की रचना १९०४ ई० में की। यह ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में २ भागों में लिखा गया है। ग्रन्थ में यत्र-तत्र संस्कृत श्लोकों को उद्धृत किया गया है। इन्होंने कई रसग्रन्थों का संशोधन भी किया है जिनमें रसार्णव, रसेन्द्रमंगल आदि मुख्य हैं। यह ग्रन्थ रसशास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

रसायनसार—यह ग्रन्थ १९१४ ई० में लिखा गया है। लेखक पण्डित श्यामसुन्दराचार्य वैश्य हैं। ये काशी के राममिश्र शास्त्री तथा पं० अर्जुनमिश्र के शिष्य थे। ये रसशास्त्र के अनेक प्रयोगों के कर्त्ता थे। पारद को बुभुक्षित और स्वर्ण-बीज निर्माण के लिए इन्होंने काफी प्रयास किया था। इन्होंने ६ वर्षों के परिश्रम से तथा प्रभूत व्यय करके जो अनुभव प्राप्त किया उसी के आधार पर रस द्रव्यों के भस्मीकरण आदि की सरल विधियों का निर्देश अपने इस ग्रन्थ में किया है। रसयोगों द्वारा चिकित्सा करने का उल्लेख तथा सर्वार्थकरी श्राष्ट्रो का निर्देश भी किया है।

रसयोगसागर—इसकी रचना १९२७ में की गई है। इसके लेखक बिहार के आरा निवासी पं० हरिप्रपन्न शर्मा है। इनका कार्यक्षेत्र बम्बई था निर्णयसागर प्रेस बम्बई से ही इस ग्रन्थ को दो भागों में स्वयं प्रकाशित कराया था। इस ग्रन्थ की भूमिका इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। रसयोगों का इतना बृहद् संकलन अन्यत्र नहीं मिलता। आकारादिक्रम से पाठभेद सहित योगों का प्रस्तुतिकरण इस ग्रन्थ की विशेषता है।

रसोद्धारतन्त्र—श्री चरणतीर्थ महाराज जीवराम कालिदास जी व्यास इसके रचयिता हैं। इन्होंने गोंडल की प्रसिद्ध रसशाला की स्थापना की थी। रसशास्त्र के गहन अनुभवी के रूप में १२६ वर्ष की अवस्था से भी अधिक समय तक जीवित रहकर सहयोग करते रहे। रसरत्नसमुच्चय की टीका के साथ रसहृदयतन्त्र, रसप्रकाशसुधाकर, रसेन्द्रमंगल, कक्षपुट, रसरत्नाकर, योगतरंगिणी, सुवर्णतन्त्र, रसोद्धारतन्त्र, अनङ्गरङ्ग, सौन्दर्यलहरी, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल आदि कई प्रमुख ग्रन्थों का संशोधन एवं प्रकाशन करवाया है। इनके पास हस्तलिखित एवं

Scanned with CamScanner

प्रकाशित ग्रन्थों का बहुत बड़ा संग्रह था जो इन्होंने श्री जुवानसिह लाइब्रेरी, गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी को हस्तान्तरित कर दिया।

भारतीय रसशास्त्र—इस ग्रन्थ की रचना १९३५ ई० में मराठी भाषा में वैद्य श्री वामन गणेश देसाई ने किया था। इसकी भूमिका श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी ने तथा प्रकाशन श्रीयादवजी ने किया था। २०वीं शती का यह भी एक प्रतिष्ठा प्राप्त ग्रन्थ माना जाता है।

रसराजमहोदधि—यह ग्रन्थ १९२३ ई० में लिखा गया है। लेखक भगत भगवानदास जी हैं। इसका प्रकाशन खेमराज कृष्णदास द्वारा किया गया था। ग्रन्थ रसौषधियों का वृहत् भण्डार है। ग्रन्थ की भाषा ब्रजभाषा है।

रसेन्द्रपुराण—रचनाकाल १९१६ ई० तथा लेखक पं० श्री रामप्रसाद शर्मा हैं। इनका कार्यक्षेत्र पटियाला रहा है। यह भी एक संग्रहग्रन्थ है जिसमें पारद एवं अन्य रसद्रव्यों का शोधन, मारण, यन्त्र, मूषा, पुट आदि तथा परिभाषाओं का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है।

आयुर्वेदीय खनिजविज्ञान—यह ग्रन्थ रसायनाचार्य कविराज प्रतापसिंह (का० हि० वि० वि०) द्वारा १९३१ ई० में रचा गया है। इसका प्रकाशन प्रकाश आयुर्वेदीय औषधालय कानपुर द्वारा हुआ है। इसकी भूमिका गणनाथसेन जी ने लिखी है। कविराज जी रसशास्त्र के माने हुए विद्वान् शिक्षक थे। रसग्रन्थ के अतिरिक्त प्रसूतिचर्या, जच्चा, विषविज्ञान, आरोग्यसूत्रावली, प्रतापकाण्ठाभरण आदि आपकी रचनाएँ हैं। आपने राजस्थान सरकार में निदेशक तथा केन्द्रीय सरकार में देशीचिकित्सा के सलाहकार पद को भी सुशोभित किया है।

रसेन्द्रसम्भव—इसके लेखक पं० विश्वनाथ द्विवेदी नामक विद्वान् हैं। इसमें रसशास्त्र के सभी द्रव्यों का शोधन, मारण, गुणधर्म श्लोक एवं टीका सहित लिखा गया है। कुछ मारण की नूतन विधियों को छोड़कर शेष भाग संग्रह ग्रन्थ के रूप में ही है। लेखक के बारे में और विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती। यह २०वीं शती में कब लिखा गया यह भी ज्ञात नहीं है।

भस्मविज्ञान—१९५० ई० में पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी अमृतसर के संचालक स्वामी हरिशरणानन्द जी ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसका प्रकाशन दो खण्डों में १९५४ में हुआ। इन्होंने ग्रन्थ के उपोद्घात में रसशास्त्र के इतिहास एवं सिद्धों पर विस्तार से लिखा है। इतिहास-विवेचन का आधार राहुल सांकृत्यायन की रचना है। ग्रन्थ में भस्म-निर्माण एवं उपयोग का विस्तृत विवेचन दिया गयाहै। इन्होंने पारद की अनेक क्रियाओं पर भी अपने अनुभव दिये हैं। भस्मविज्ञान के अतिरिक्त कूपीपक्व-रस निर्माण विज्ञान तथा आसवारिष्ट विज्ञान भी आपकी मुख्य रचना है।

रसामृत—आचार्य यादवजी त्रिकमजी द्वारा १९५१ में यह लघु किन्तु उपयोगी ग्रन्थ लिखा गया। श्री यादवजी का आयुर्वेद के क्षेत्र में अमूल्य योगदान रहा है। आपने रसशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का संशोधन एवं प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस द्वारा

करवाया है; जिनमें रसकामधेनु, रसपद्धति, रसेन्द्रचूड़ामणि, रसरत्नसमुच्चय, आयुर्वेदप्रकाश, रससार, रससंकेतकलिका, रसप्रकाशसुधाकर, रसेन्द्रमंगल आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। रस-ग्रन्थों के अतिरिक्त लघुत्रयी एवं वृहत्रयी का भी संशोधन कर प्रकाशित करवाया है। आपका द्रव्यगुणविज्ञान एवं सिद्धयोगसंग्रह भी आयुर्वेद के क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय है। रसामृत का प्रकाशन मोतीलाल बनारसी दास द्वारा किया गया है। इसमें नौ अध्यायों में सभी रसद्रव्यों का पर्याय, प्रक्रिया, उपयोग आदि का अनुभव एवं शास्त्रीय आधार पर वर्णन कर अन्त में ९ परिशिष्ट दिये हैं। अन्तिम परिशिष्ट में चरक एवं सुश्रुत वर्णित खनिज द्रव्यों की सूची दी गई है।

भारतीय रसशास्त्र—यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में वैद्य वापालाल ग० शाह द्वारा १९५० में लिखा गया है। सभी रसद्रव्यों का शोधन-मारण और गुणधर्म आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। लेखक का निघण्टु आदर्श नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

रसेन्द्रसम्प्रदाय—राजकीय आयुर्वेद कालेज पटना में अनेक वर्षों तक सेवारत, रसशास्त्र के कर्माभ्यास में निपुण पं० हजारीलाल सुकुल जी की यह रचना उन्हीं के द्वारा १९५५ ई० में प्रकाशित हुई। इन्होंने रसत्नसमुच्चय पर दीपिकाख्य टीका लिखी है जो विद्वानों द्वारा प्रसंशित रहा है।

रसायनसुधानिधि—यह ग्रन्थ १९२६ में शारसरामशास्त्री द्वारा रचित एवं प्रकाशित है। इस ग्रन्थ में ११ अध्याय हैं। इसमें नैसर्गिक, आचार, वानस्पतिक एवं पारदीय रसायनों का वर्णन है।

रसचिकित्सा—इसका रचनाकाल १९५६ ई० है। इसके लेखक डॉ० श्री प्रभाकर चट्टोपाध्याय हैं। इस ग्रन्थ में रसशास्त्रीय योगों द्वारा समस्त रागों की चिकित्सा बताई गई है। इसका प्रकाशन चौखम्बा द्वारा हुआ है।

शुल्वशास्त्र—श्री हरिशंकर शर्मा जी द्वारा स्नातकोत्तर महानिबन्ध के रूप में लिखा गया तथा गुजरात आयुर्वेद युनिवर्सिटी द्वारा १९६१ में प्रकाशित यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ताम्र विषयक सभी साहित्य को प्रकट करता है। इसके निर्देशक वासुदेव भाई मूलशंकर जी द्विवेदी रहे हैं।

रसतत्त्वविवेचन—यह ग्रन्थ कालेड़ा (अजमेर) द्वारा प्रकाशित है। रसशास्त्र के क्षेत्र में कालेड़ा-बोगड़ा स्थित कृष्णगोपाल आयुर्वेद भवन का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। इसने लुप्त रसग्रन्थों का संशोधन एवं प्रकाशन कर रसशास्त्र को आगे बढ़ाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों में—रसहृदयतन्त्र, रसोपनिषत्, रसतत्त्वविवेचन, रत्नधातुविज्ञान, रसतन्त्रसार, रसशास्त्रप्रवेशिका आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

पारदविज्ञानीयम्—रचनाकाल १९६९ ई०। लेखक श्री वासुदेवभाई मूलशंकर जी द्विवेदी, भूतपूर्व रसशास्त्राध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्रशिक्षण एवं अनुसंधान केन्द्र, जामनगर है। आप वर्तमान समय के गूढ़रसमर्मज्ञ, सतत् कर्मशील, अनुभवी प्रत्यक्ष-कर्माभ्यास द्वारा शास्त्रकथन को सिद्ध करके बताने वाले धष्ट रससिद्ध हैं। कई बार

Scanned with CamScanner

के प्रयोगों के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इस ग्रन्थ में पारद के अष्ट संस्कार का विशद विवेचन क्रियात्मक आधार पर किया है। इसके अतिरिक्त पारद का मुख्यकल्पों सहित सांगोपांग वर्णन किया है। इस उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीशर्मा आयुर्वेद मन्दिर, दतिया द्वारा किया गया है।

अभिनव रसशास्त्र—यह ग्रन्थ श्री सोमदेव शर्मा सारस्वत द्वारा रचित है। १९७० में प्रकाशित किये गये इस ग्रन्थ में सभी रसद्रव्यों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त लेखक के द्वारा रचित एवं प्रकाशित ग्रन्थों में—रस-चिकित्साशास्त्र, रससिद्धिविमर्श, रसेश्वरदर्शन, रसकामधेनु, रससंकेतकलिका तथा आयुर्वेदप्रकाश आदि मुख्य हैं।

प्राचीन भारत में रसायन का विकास—इसके लेखक डॉ० सत्यप्रकाश हैं। उत्तर-प्रदेश शासन के सूचना विभाग ने 'हिन्दी समिति' द्वारा इसका प्रकाशन १९६० ई० में किया है। लेखक आधुनिक रसायनशास्त्र के विद्वान् हैं। इस ग्रन्थ में रसायनशास्त्र के इतिहास पर विस्तार से लिखा गया है। वैदिक युग से ही रसरसायन का उपयोग बतलाते हुए ब्राह्मणग्रन्थकाल, संहिताकाल, गुप्तकाल, बौद्धकाल, सिन्धुघाटीसभ्यता, मोहिंजोदड़ो एवं हड़प्पा के काल के रस-रसायन पर सप्रमाण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

रसशास्त्र—इसके लेखक श्री अत्रिदेव विद्यालङ्कार हैं। इसका प्रकाशन १९६१ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से हुआ है। ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक रसशास्त्र का इतिहास तथा रसौषधि द्वारा चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

रत्नधातुविज्ञान—इसके लेखक श्री बद्रीनारायण शास्त्री हैं। यह ग्रन्थ १९६४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रथम रत्नोपरत्नों का तथा बाद में सभी रस द्रव्यों का वर्णन किया है। इसमें जहरमोहरा, कहरवा, अकीक, याकूत, यूरेनियम, टिटेनियम, क्रोमि-यम, वाक्साइड, क्रायोलाइट, केल्साइट, वर्मीक्यूलाइट आदि खनिज द्रव्यों का परि-चय प्रस्तुत किया है।

रसेन्द्रविज्ञान—लेखक श्री रामादर्शसिंह। रचना एवं प्रकाशन १९६५ ई० में। इसमें पारद के आठ संस्कार तथा सभी द्रव्यों का शोधन-मारण, गुण-धर्म एवं प्रधान योगों का वर्णन किया गया है।

रसमित्र—लेखक श्री त्र्यम्बकनाथ शर्मा। रचना एवं प्रकाशन १९६५ ई०। इसमें सभी रसद्रव्यों का शास्त्रीय आधार पर श्लोकबद्ध वर्णन कर उसका हिन्दी एवं अंग्रजी व्याख्यान भी दिया गया है।

रत्नविज्ञान—लेखक आचार्य श्री राधाकृष्ण पराशर। इसका प्रकाशन १९७२ ई० में चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी द्वारा हुआ है। इसमें रत्नों का वर्णन विस्तार पूर्वक प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों मतों से किया गया है। रत्नों का शोधन, मारण, गुणधर्म एवं उपयोग तथा कुछ प्रमुख योगों का संग्रह भी किया गया है।

आयुर्वेदीय रसशास्त्र—लेखक रसवैद्य श्री हरिशंकर शर्मा जी (भू० पू०

प्राध्यापक अखण्डानन्द आयुर्वेद महावि० अहमदाबाद)। ग्रन्थ में रसशास्त्र के सभी पक्षों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। विषय-प्रस्तुति का क्रम अन्य ग्रन्थों से थोड़ा भिन्न है। रसशास्त्र के पूर्वपक्ष, द्रव्य-वर्गीकरण, परिभाषा, यन्त्रोपकरण आदि का वर्णन कर शोधन, मारण, सत्त्वपातन एवं गुण-उपयोग को अलग-अलग—शोधन के प्रकरण में क्रमशः सभी द्रव्यों का शोधन, मारण के प्रकरण में क्रमशः सभी का मारण तथा सत्त्वपातत एवं गुण-उपयोग के प्रकरण में क्रमशः सभी सत्त्वपातन योग्य द्रव्यों का सत्त्वपातन एवं गुणउपयोग का वर्णन किया है। ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखा गया है है तथा प्रादेशिक स्तर पर विद्यार्थी वर्ग में अत्यन्त लोकप्रिय है। ग्रन्थकार ने भैषज्य कल्पना विषय पर आयुर्वेदीय भैषज्यकल्पना नामक ग्रन्थ भी लिखा है।

सचित्र रसशास्त्र—लेखक बंसरीलाल साहनी। यह ग्रन्थ मधुर प्रकाशन दिल्ली द्वारा १९७५ ई० में प्रकाशित किया गया है। रसशास्त्र के सभी विषय को मात्र हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया है। श्लोक आदि का उपयोग नहीं किया है। इसमें यन्त्रोप-करणों का सचित्र वर्णन किया गया है।

भारतीय रसशास्त्र—लेखक आचार्य विश्वनाथ द्विवेदी। इस ग्रन्थ का प्रकाशन शर्मा आयुर्वेद मन्दिर दतिया, मध्यप्रदेश, से १९७८ ई० में हुआ है। लेखक आयुर्वेद क्षेत्र के जाने-माने शीर्षस्थ विद्वान् हैं। अपनी ओजस्वी लेखनी द्वारा इस ग्रन्थ में रस-शास्त्र के सभी पक्षों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। रसशास्त्र के ऐतिहासिक पक्ष को विवेचन के साथ प्रस्तुत किया है। कल्पनिर्माण को अपने अनुभव के आधार पर एक विशिष्ट शैली द्वारा प्रस्तुत किया है। लेखक ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त भावप्रकाश की टीका, नेत्ररोगविज्ञान, वैद्यसहचर, सचित्र क्रियात्मक औषधि परिचय विज्ञान, प्रत्यक्ष औषधि-निर्माण, औषधि विज्ञानशास्त्र, नैदानिक परीक्षण-पद्धति, आरोग्य-शास्त्र आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद साहित्य को समृद्ध किया है।

रसदर्पण—लेखक श्री भजनदास स्वामी। स्वामी प्रकाशन पटियाला द्वारा १९७८ में प्रकाशित यह ग्रन्थ वर्तमान समय के केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर उसी क्रम से लिखा गया है। रसशास्त्र के सभी विषयों को नातिसंक्षेप नातिविस्तार की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

आयुर्वेदीय रसशास्त्र—लेखक श्री सिद्धिनन्दन मिश्र। प्रकाशन—चौखम्बा ओरियण्टालिया द्वारा १९८१ में प्रकाशित। यह ग्रन्थ भी वर्तमान पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर उसी क्रम से लिखा लिया गया है। विषय का प्रस्तुतीकरण स्तुत्य है। लेखक ने रसशास्त्र के प्रत्येक अंशों पर नवीनतम उपलब्धियों को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ अपने में पूर्ण है।

जिन रसग्रन्थों का परिचय यहाँ प्रस्तुत किया गया है इनके अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ इस साहित्य में देखे जा सकते हैं। जो ग्रन्थ आज विशेष परिचय में हैं तथा जिनका भूतकाल में प्रकाशन प्रचलन था, किन्तु कालक्रम से वर्तमान में अनुपलब्ध हैं

Scanned with CamScanner

विभिन्न ग्रन्थों की सहायता से यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थों के उद्धरण उल्लेख-परिचय से रसवाङ्मय की विशालता का ज्ञान होता है।

रसग्रन्थों के परिचय से यह स्पष्ट होता है कि रसरत्नसमुच्चय के बाद रसशास्त्र के क्षेत्र में शोध की प्रवृत्ति कम होती गई। बाद के ग्रन्थों में मौलिक विचारों की कमी देखी जाती है। अधिकांश ग्रन्थ कुछ नूतन विचारों एवं विषय विस्तार के अलावा संग्रहग्रन्थ होकर रह गये हैं।

प्रस्तुत ऐतिहासिक विवेचन में आयुर्वेद का वृहत इतिहास (अत्रिदेव विद्यालंकार) एवं आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास (आचार्य प्रियव्रत शर्मा) से सहयोग लिया गया है।

द्वितीय अध्याय

रसशाला वर्णन

प्राचीन काल में रसशास्त्र का अध्ययन तथा प्रयोग का अभ्यास रसशाला में ही होता था। शास्त्र और प्रक्रिया ये दो रसशास्त्र के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। गुरु के सान्निध्य में शास्त्र का अध्ययन तथा दक्ष गुरु के निर्देशन में प्रत्यक्ष कर्मों का अभ्यास कर शिष्य रसकर्म में निपुण होते थे। इस प्रकार रसशाला ज्ञान एवं अभ्यास का केन्द्र होता था। भूतकाल में रसशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था, किन्तु आज यह क्षेत्र सिमटकर मात्र औषध-निर्माण तक ही सीमित होकर रह गया है। रस-ग्रन्थों में जिस सर्वसाधन-सम्पन्न रसशाला का वर्णन किया गया है, वह पारद को सिद्धकर देह-लोह वेध योग्य बनाने के उद्देश्य से था।

रसशास्त्र के यथाक्रम सप्रयोग अध्ययन के लिए योग्य गुरु, शिष्य, भृत्य एवं सर्वसाधन-सम्पन्न प्रयोगशाला का होना आवश्यक है तथा ये ही चार रसशाला के मुख्य घटक हैं। कुछ अन्य भी सहायक भाव हैं, जिनका वर्णन रसग्रन्थों में देखा जाता है। उन सभी का यहाँ यथाक्रम वर्णन किया जा रहा है।

योग्य गुरु के लक्षण

रसशास्त्र का ज्ञान देने वाला आचार्य ज्ञानी, दक्ष (कर्मकुशल), उत्तम आचारण, वाला, गुणवान्, पवित्र, धर्मज्ञ, सत्यव्रती, रसशास्त्र में निपुण, वेद-पुराण के तत्त्व को जानने वाला, निर्मल हृदय, शिवभक्त, देवीभक्त, सर्वदा शान्तचित्त रहने वाला, रसमण्डप को जानने वाला, मन्त्रसिद्ध, महावीर, देवताओं की पूजा तथा यज्ञ आदि कर्मों में तत्पर रहने वाला, रसदीक्षा-विधान को जानने वाला, मन्त्र, औषध एवं महारसों को जानने वाला, रागसंस्था, बीजनिर्माण, द्वन्दमेलापन, विडनिर्माण, रंजन, सारणतैल, जारण एवं क्रामण की क्रियाओं का जानने वाला, वर्णोत्कर्ष, धातुओं में मृदुता उत्पन्न करना, बाल-वृद्ध जारणा का ज्ञाता, खेचरी एवं भूचरी आदि सिद्धि को जो अच्छी तरह जानता हो, वह योग्य गुरु हो सकता है। साथ ही विज्ञान, विचार एवं अनुभव द्वारा नूतन रसशास्त्र की रचना करने में प्रवीण श्रेष्ठ गुरु कहलाता हैं। रसविद्या के आचार्य में उपरोक्त सभी लक्षण होना चाहिए[1]।

---

१. (क) आचार्यो ज्ञानवान् दक्षः शीलवान् गुणवान् शुचिः।
धर्मज्ञस्सत्यसन्धश्च रसशास्त्रविशारदः॥
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो निर्मलश्शिववत्सलः।
देवीभक्तस्मदाशान्तो रसमण्डपकोविदः॥

Scanned with CamScanner

योग्य शिष्य के लक्षण

रसशास्त्र के जिज्ञासु शिष्य को गुरुभक्त, सदाचारी, सत्यव्रती, दृढ़प्रतिज्ञ, आलस्य रहित, स्वधर्म को जानने वाला, सदैव गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, ढोंग और ईर्ष्या न करने वाला, अपने कुल के विशिष्ट आचार को जानने वाला, अत्यन्त लगनशील, शक्तिशाली, स्वभाव से शान्त तथा मन्त्र की आराधना (साधना) में तत्पर रहने वाला होना चाहिए। इन सभी लक्षणों से युक्त शिष्य रससिद्धि साधन के लिए योग्य माना जाता है[1]।

अयोग्य शिष्य के लक्षण

नास्तिक विचार वाला, दुराचारी, लोभी तथा जिसने विना किसी योग्य गुरु के विद्या ग्रहण की हो, अथवा जिसने किसी योग्य गुरु से चोरी, कपट, दुष्टता अथवा किसी

मन्त्रसिद्धो महावीरो देवतायागतत्परः ।
रसदीक्षाविधानज्ञो मन्त्रौषधमहारसान् ॥
रागसंख्या बीजकल्पं द्वन्दमेलापनं बिडम् ।
रञ्जनं सारणा तैलं दलानि क्रामणानि च ॥
वर्णोत्कर्षं मृदुत्वं च जारणं वालवृद्धयोः ।
खेचरीं भूचरीं चैव यो वेत्ति स गुरुर्भवेत् ॥ (आनन्दकन्द, अमृ० २)

(ख) आचार्यो ज्ञानवान् दक्षोरसशास्त्रविशारदः ।
मन्त्रसिद्धो महावीरो निश्चलः शिववत्सलः ॥
देवीभक्तः सदा धीरो देवतायागतत्परः ।
सर्वाम्नायविशेषज्ञः कुशलो रसकर्मणि ।
एवं लक्षणसंयुक्तो रसविद्यागुरुर्भवेत् ॥ (रसरत्नसमु० ६।३-४)

(ग) सदाचारः सुचरितः समदर्शी सदाशयः ।
सत्यवादी सिद्धमन्त्रः सर्वदा शङ्करप्रियः ॥
धीरो वीरः स्थिरप्रज्ञो रसकर्मविचक्षणः ।
रसतन्त्रस्वतन्त्रो यः स आचार्यः प्रशस्यते ॥
(रसतरंगिणी प्र० त० ३३-३४)

१. (क) गुरुभक्ताः सदाचाराः सत्यवन्तो दृढव्रताः ।
निरालस्याः स्वधर्मज्ञाः सदाज्ञापरिपालकाः ॥
दम्भमात्सर्यनिर्मुक्ताः कुलाचारेषु दीक्षिताः ।
अत्यन्तसाधकाः शान्ताः मन्त्राऽऽराधनतत्पराः ॥
इत्येवं लक्षणैर्युक्ताः शिष्याः स्युः सूतसिद्धये ॥
(र० र० स० ६।५-६)

(ख) द्रष्टव्य आनन्द कन्द, अमृ० २ ।

अन्य प्रकार से रसविद्या ग्रहण की हो, ऐसे शिष्य को मणि, मन्त्र अथवा औषधियों में कभी भी सिद्धि नहीं मिलती। यदि अज्ञानवश वह कुछ करता है तो अपना धन ही नष्ट करता है। ऐसे व्यक्ति को इस लोक में तो सुख नहीं ही मिलता है, परलोक में भी वह सुखी नहीं होता[1]।

अतः भक्ति के बल से गुरु जब सन्तुष्ट होते हैं तब शिष्य गुरु से आत्मसिद्धि हेतु रसविद्या को ग्रहण करे। हाथ जोड़कर गुरु के चरणों में नतमस्तक होकर गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करे, गुरु जब प्रसन्न हो जाये तब अपनी इच्छा प्रकट कर उनसे रसविद्या को प्राप्त करे[2]।

भृत्य (अनुचर) के लक्षण

रसकर्म के सहायक भृत्य आदि मेहनती, शिष्यों से भी बढ़कर गुणी, कुलीन और स्वामिभक्त होने चाहिए।

रसशाला

एक सम्पूर्ण रसशाला जहाँ शिक्षण, अभिनव प्रयोग एवं औषध-निर्माण आदि कार्य सुव्यस्थित ढंग से सम्पन्न हो सकते हैं, ऐसे आदर्श रसशाला हेतु निम्न ४ बातें विचारणीय हैं। यथा—१. स्थान, २. भवन, ३. कार्य-विभाजन तथा ४. अधिकारी एवं कर्मचारी।

(१) **स्थान या योग्य स्थल** (Site)—रसशाला हेतु स्थान के चयन में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१. भय या आतंक से रहित देश।
२. नगर के पूर्व दिशा में स्थित।
३. धर्मप्राण देश (धर्म राज्य) जहाँ उमा-महेश के मंदिर हों, और उनकी पूजा की जाती हो।
४. सुन्दर उपवन के निकट जहाँ प्रचुर जल की सुविधा (कूपयुक्त) हो।
५. जहाँ प्रचुर औषधियाँ उपलब्ध हों।
६. समृद्ध नगर के पास।
७. मनोरम स्थल।

---

१. नास्तिका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतोऽपरात् ।
विद्यां गृहीतुमिच्छन्ति चौर्यच्छद्मखलोत्सवात् ॥
न तेषां सिद्धयते किञ्चिन्मणिमन्त्रौषधादिकम् ।
कुर्वन्ति यदि मोहेन नाशयन्ति स्वकं धनम् ।
इह लोके सुखं नास्ति परलोके तथैव च ॥ (रसरत्नसमु० ६।८)

२. तस्याद्भक्तिबलादेव सन्तुष्यति यदा गुरुः ।
तदा शिष्येण सा ग्राह्या रसविद्याऽऽत्मसिद्धये ।
हस्तमस्तकयोगेन वरं लब्ध्वा सुसाधयेत् ॥ (रसरत्नसमु० ६।१०)

Scanned with CamScanner

(२) भवन (Building)—

१. प्राकार युक्त (ऊँची चहारदीवारी से युक्त)।

२. चार द्वार से युक्त, जिसमें मजबूत किवाड़ लगा हो।

३. सम्यक् वातायन (खिड़कियों) से युक्त।

४. जहाँ की दीवार-दिव्यचित्रों से चित्रित (रससिद्ध, उमा-महेश, यन्त्रोपकरण आदि के चित्रों से चित्रित)।

५. उपवन (फुलवारी-बगीचा) युक्त[1]।

(३) कार्य-विभाजन (Working division)—

१. पूर्व दिशा में रसभैरव की स्थापना।

२. आग्नेय कोण में अग्निकर्म।

३. दक्षिण दिशा में पाषाण कर्म (कूटने-पीसने का कार्य)।

४. नैर्ऋत्य कोण में शस्त्रकर्म (छीलने-काटने आदि का कार्य)।

५. पश्चिम दिशा में क्षालनादि कर्म (धोने-प्रच्छालन आदि में सुविधा)।

६. वायुकोण में शोषण (सुखाने का कार्य)।

७. उत्तर दिशा में वेधकर्म (धातुवेध आदि)।

८. ईशान कोण में सिद्ध वस्तु (तैयार उत्पाद) स्थापन।

(४-अ) अधिकारी (Supervising staff)—

१. रससञ्चितक वैद्य (रसवैद्य Pharmacist)।

२. निघण्टुज्ञ (वनस्पतिशास्त्र का ज्ञाता Pharmecognosist and Pharmacologist)—

३. वार्तिक (धातु एवं खनिज का ज्ञाता Chemist and menerologist)

४. सर्वदेशज भाषाविद (बहुभाषाविद् Linguist)

५. निधिसाधक (लेखपाल एवं भण्डार-संरक्षक—Accountent cum store keeper)

(४-ब) कर्मचारी (Workers)।

१. भेषजाहरण कर्त्ता (औषधसंग्रहकर्त्ता Drug collector)।

२. रसकर्म सहायक (Pharmecy assistants)।

३. बलिसाधक (रक्षक Security guard)

४. परिचारक (Attendents)।

---

१. आतङ्करहित देशे धर्मराज्ये मनोरमे।
उमामहेश्वरोपेते समृद्धे नगरे शुभे॥
कर्त्तव्यं साधनं तत्र रसराज्यस्य धीमता।
अत्यन्तोपवने रम्ये चतुर्द्वारोपशोभिते॥
तत्र शाला प्रकर्त्तव्या सुविस्तीर्णा मनोरमा।
सम्यग्वातायनोपेता दिव्यचित्रैर्विचित्रिता॥ (रसरत्नसमु० ६।११-१३)

१. रसशाला का निर्माण कहाँ करें

जहाँ पर सभी प्रकार की औषधियाँ मिलती हों और जिसमें विपुल जल वाला सुन्दर कूप हो तथा जो शहर अथवा ग्राम के बाहर उत्तर दिशा, पूर्व अथवा ईशान कोण में हो अर्थात् इन तीनों में से किसी भी एक शुभ दिशा में हो, ऐसे रमणीय स्थान में और सब प्रकार के उपकरणों से सुसज्जित, चहारदीवारी अथवा परकोटा से युक्त और जिसमें किसी भी प्रकार की बाधा की आशंका न हो इस प्रकार के स्थान पर रसशाला का निर्माण करना चाहिए[1]।

रसशाला के कर्मविभाग

रसशाला की पूर्व दिशा वाले भाग में रसभैरव की स्थापना करें; आग्नेय कोण में सब प्रकार के अग्निकर्मों का प्रबन्ध रहे; दक्षिण दिशा में पाषाण कर्म अर्थात् कूटने-पीसने तथा घोंटने का प्रबन्ध रहे; नैर्ऋत्य कोण में शस्त्रकर्म अर्थात् सोनार-लुहार आदि कारीगरों के कर्मों का प्रबन्ध रहे, पश्चिम विभाग में सभी प्रकार के क्षालन कर्म (धोना-सफाई करना आदि) का प्रबन्ध रहे; वायव्य कोण में शोषण कर्म अर्थात् वस्तुओं को सुखाना आदि कर्म का प्रबन्ध रहे; उत्तर विभाग में वेधकर्म, अर्थात् पारद का वह संस्कार जिससे उसमें स्पर्श मात्र से ही हल्की धातुओं से स्वर्ण बनाने का सामर्थ्य आ जाता है, का प्रबन्ध रहे और ईशान कोण में समस्त सिद्ध औषधियों का तथा रस-साधन में उपयुक्त पदार्थों का संग्रह हो[2]।

रसशाला में संग्रह योग्य उपकरण

सत्त्वपातन की भट्ठी, आसवारिष्ट के क्वाथ-निर्माण के लिए भट्ठी, पाताल कोष्ठी, छोटे-बड़े चूल्हे (स्थिर भूकोष्ठी तथा चलत्कोष्ठी), छोटे-बड़े आकार की पानी रखने की अनेक टंकी (हौज), दो भाथी, मिट्टी एवं लोहे की बनी हुई दो नलियाँ, स्वर्ण, लोह, काँस्य, ताम्र, पत्थर अथवा चमड़े से निर्मित कुंडियाँ (पतीलियाँ) तथा अनेक प्रकार के उपकरण (खुरचन, सँडसी, चिमटी आदि) और अनेक प्रकार के

---

१. 'रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते।
सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते॥
यक्षस्त्र्यश्रसहस्राक्षदिग्विभागे सुशोभने।
नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम्'॥ (र० र० स० ७।१-२)

२. 'शालायाः पूर्वदिग्भागे स्थापयेद्रसभैरवम्।
वह्निकर्माणि चाग्नेये याम्ये पाषाणकर्म च॥
नैर्ऋत्ये शस्त्रकर्माणि वारुणे क्षालनादिकम्।
शोषणं वायुकोणे च वेधकर्मोत्तरे तथा॥
स्थापनं सिद्धवस्तूनां प्रकुर्यादीशकोणके।
पदार्थसंग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः'॥ (र० र० स० ७।३-५)

Scanned with CamScanner

पदार्थ, इन सबका संग्रह। उसी प्रकार ओखली आदि कूटने के यन्त्र; चक्की, खरल, पीसने के लिए सिल, द्रोणाकार खरल, वर्तुल (गोल) खरल, लौह खरल, ताम्र खरल और मुसल-बट्टे आदि, चलनियाँ, वस्त्र (गमछे या तौलिया); छोटी-बड़ी शलाकाएँ और गोल आकार की कुण्डलियाँ (घड़ा को रखने का स्टैण्ड)—इन सबका संग्रह करें। मूषा-निर्माण योग्य मृत्तिका, तुष (भूसा), रूई, अरण्य उपले सामान्य उपले तथा खनिज, प्राणिज और वानस्पतिक, इन तीनों प्रकार के औषधीय द्रव्य—इनका भी संग्रह करें। इसी तरह कोयले, गोबर, बालू अथवा संगमर्मर, काँच, लोहा, मिट्टी आदि की बनाई हुई शीशी एवं प्याले, सूर्प (सूप) आदि बाँस से बने पात्र एवं टोकरियाँ, छोटे सीप एवं छोटे शंख इत्यादि पदार्थ, छुरप्र (खुरपी, छुरी आदि) तथा पाकसिद्धि करने योग्य छोटे-मोटे पात्र, शाक आदि छोटे-मोटे वानस्पतिक पदार्थों को काटने वाली पालिक (बड़ी छुरी) तथा कर्णिका (कूँची) नामक शस्त्र तथा अन्य जो कुछ रसशाला के लिए आवश्यक और उपयुक्त समझा जाय, उन सभी वस्तुओं का भी संग्रह करना चाहिए[1]।

रसकर्म हेतु योग्य वैद्य

रसशाला में निम्न गुणों से युक्त वैद्यों की नियुक्ति करनी चाहिए—

१. रससञ्चिन्तक वैद्य—रसशास्त्र का जिसने भलीभाँति अध्ययन किया हो।

२. निघण्टुज्ञ—निघण्टुशास्त्र अर्थात् वनस्पतियों के नाम, रूप, भेद, गुण, दोष एवं प्रयोग को जानने वाला।

३. वार्तिक—खनिज, लौह, रत्न आदि को अच्छी प्रकार पहचानने तथा उनके गुण उपयोग को जानने वाला।

४. सर्वदेशज भाषाज्ञ—अपने देश के आस-पास के राज्य एवं देश की भाषाओं को अच्छी प्रकार जानने वाला।

इसके साथ-साथ धर्मनिष्ठ, सत्यवादी, विद्वान्, शिव एवं विष्णु का पूजक, दयालु एवं पद्महस्त वैद्य श्रेष्ठ माना जाता है[2]।

रसकर्म हेतु योग्य परिचारक

रसकर्म में सहयोगी परिचारक में निम्न गुण होने चाहिए; यथा—उद्यमी, शुद्ध आचार-विचार वाला, साहसी तथा बलवान् परिचारक रसकर्म हेतु योग्य होता है[3]।

१. 'सत्त्वपातनकोष्ठीञ्च सुराकोष्ठीं सुशोभनम्।
.... शाकछेदन शस्त्रकाः' ॥ —र० र० स० ७।५-२१

२. 'रससञ्चितका वैद्या निघण्टुज्ञाश्च वार्तिकाः।
सर्वदेशजभाषाज्ञाः सङ्ग्राह्यास्तेऽपि साधकैः ॥
धर्मिष्ठः सत्यवाग्विद्वान् शिवकेशवपूजकः।
सदयः पद्महस्तश्च संयोज्यो रसवैद्यके' ॥ (र० र० स० ७।२४, २७)

३. 'सोद्यमाः शुचयः शूरा बलिष्ठाः परिचारकाः'। (र० र० स० ७।२६)

निधिसाधक—भूत-पिशाच आदि को दूर करने के मन्त्रों को जानने वाले पुरुषों को सिद्ध औषधियों के संग्रह को सुरक्षित रखने के काम में नियुक्त करना चाहिए[1]।

बलिसाधक—जो बलवान् और सत्यवादी हो, जिनके नेत्र लाल रंग के तथा शरीर कृष्णवर्ण का हो और जो प्राणीमात्र तथा भूत-पिशाच आदि को भयभीत कराने की विद्या को जानते हों, ऐसे पुरुष को बलिकर्म (सुरक्षा) के लिए नियुक्त करना चाहिए[2]।

रसायनकर्म सहायक—जो पुरुष लोभरहित, सत्यवादी, देवताओं तथा ब्राह्मणों की पूजा करने वाले, संयमी और पथ्यकर आहार-विहार का सेवन करने वाले होते हैं उनकी नियुक्ति रसायनकर्म को करने और कराने के लिए नियुक्त करना चाहिए[3]।

धातुकर्म सहायक—जो पुरुष धनवान्, उदारचित्त, सम्पन्न और गुरु के कथनानुसार चलने वाले होते हैं उन्हें धातुओं का शोधन और मारण तथा धातु-परिवर्तन (वेध) के कर्मों में नियुक्त करना चाहिए[4]।

भेषज-आहरणकर्ता

जो प्रत्येक औषधि के भिन्न-भिन्न भाषाओं के नामों को तथा पर्याय नामों को भी जानते हैं, जो शुद्ध आचार एवं विचार वाले हैं, जो छल-कपट कदापि नहीं करते हैं, और जो अनेक शास्त्रों तथा भाषाओं को भी जानते हैं, ऐसे लोगों को औषधियों को लाने तथा मँगवाने के कर्म में नियुक्त करना चाहिए[5]।

शुद्ध आचार और विचारों को रखने वाले, सत्यवादी, आस्तिक, अपने मन को वश में रखने वाले तथा संदेह रहित व्यक्ति को ही रसकर्म में सिद्धि मिलती है[6]।

रस एवं रसायन

रस—रसशास्त्र में रसशब्द का अर्थ पारद है। निरुक्ति के प्रकरण में रसशब्द की व्याख्या की गई है। वहाँ पारद को धातुओं के भक्षण करने या धातुओं को अपने में आत्मसात् करने वाला बतलाया गया है। धातुएँ पारद से मिलकर तरलरूप या रस

१. 'भूतनिग्रहमन्त्रज्ञास्ते योज्या निधिसाधने'। (र० र० स० ७।३०)

२. 'बलिष्ठाः सत्यवन्तश्च रक्ताक्षाः कृष्णविग्रहाः।
भूतत्रासनविद्याश्च ते योज्या बलिसाधने' ॥ (र० र० स० ७।३१)

३. 'निर्लोभाः सत्यवक्तारो देवब्राह्मणपूजकाः।
यमिनः पत्थ्यभोक्तारो योजनीया रसायने' ॥ (र० र० स० ७।३२)

४. 'धनवन्तो वदान्याश्च सर्वोपस्करसंयुताः।
गुरुवाक्यरताः नित्यं धातुवादेषु ते शुभाः' ॥ (र० र० स० ७।३३)

५. 'तत्तदौषधनामज्ञाः शुचयो वञ्चनोज्झिताः।
नानाविषयभाषाज्ञास्ते मता भेषजाहृतौ' ॥ (र० र० स० ७।३४)

६. 'शुचीनां सत्यवाक्यानामास्तिकानां मनस्विनाम्।
सन्देहोज्झितचित्तानां रसः सिद्धयति सर्वदा' ॥ (र० र० स० ७।३५)

Scanned with CamScanner

रूप हो जाते हैं, इसलिए भी इसे रस कहा गया है। रसशास्त्र की मारण प्रक्रिया द्वारा लोह आदि द्रव्य भी रस में घुल-मिल जाने वाले तथा एकरूप हो जाने वाले बन जाते हैं[1]। अतः पारद के अतिरिक्त जो द्रव्य (लोह-धातु आदि) पारद के सहयोग से अथवा मारण आदि प्रक्रिया से परिवर्तित होकर रसरूप अथवा शरीरधातु रस में विलीन या एकरूप होने वाले हो जाते हैं उन्हें भी रस कहते हैं। पारद, खनिज, प्राणिज अथवा विष द्रव्यों के संयोग से निर्मित होने वाले विभिन्न औषध भी रस कहलाते हैं। इस प्रकार रसशास्त्र में वर्णित समस्त द्रव्य को रस कहा जा सकता है।

रसायन—जरा (वृद्धावस्था) एवं व्याधि को नष्ट करने में जो औषध समर्थ है उसे रसायन कहते हैं[2]। शरीर में प्रशस्त रस-रक्तादि धातुओं का निर्माण, धातुओं का जीर्णोद्धार, धातुओं की शिथिलता को नष्ट करने वाला, नूतन धातुओं का निर्माण, धातुओं का पोषण तथा धातुशैथिल्यजनित रोगों को नष्ट करने में जो औषध समर्थ हो उसे रसायन कहते है। इससे शरीर में ओज, तेज, कान्ति, वर्ण, उत्तम स्वर, तरुण वय (नवयौवन) आदि प्राप्त होता है। इन समग्र गुणों से युक्त अथवा शरीर में इस प्रकार का गुण उत्पन्न करने वाला द्रव्य रसायन कहलाता है।

रसशास्त्र में तीनों स्रोतों—औद्भिद, जांगम एवं खनिज से प्राप्त द्रव्य उपयोग में लाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश द्रव्य रसायनगुण-सम्पन्न होते हैं।

रस को हम द्रव्यरूप कह सकते हैं, तथा रसायन उसके गुण हैं। रसद्रव्यों से निर्मित समस्त कल्पों में रसायन गुण निहित होता है। रसद्रव्य संस्कारित (शोधित, मारित, मूर्च्छित अथवा द्रुत) होने पर रसायन गुणों को प्रदान करने वाला हो जाता है।

---

१. 'रसति भक्षति सर्वां लोहान्, (या) रसनात् सर्वधातूनां रसमित्यविधीयते'।
२. 'यज्जराव्याधिविध्वंशी भेषजं तद् रसायनम्'।

तृतीय अध्याय

परिभाषा प्रकरण

परिभाषा लक्षण—संक्षिप्त और सांकेतिक शब्दों द्वारा शास्त्र के जिन गुप्त, अप्रकट अथवा किंचित् प्रकट तथा संदिग्ध भाव या अर्थ का स्पष्ट और निश्चित अर्थ जिससे प्राप्त हो, उसे परिभाषा कहते हैं[1]। गूढ़, गम्भीर, सांकेतिक शब्दों का स्पष्टीकरण परिभाषा-ज्ञान से ही होता है।

परिभाषा-ज्ञान की आवश्यकता—रस-साधक को प्रक्रियाओं को आरम्भ करने से पूर्व रसशास्त्र की परिभाषाओं को अपने गुरुजनों से जान लेना चाहिए। इससे रसशास्त्र के अर्थज्ञान में कहीं कोई कठिनाई नहीं होती[2]।

धन्वन्तरि भाग—सिद्ध किये हुए रस, तैल और घृत इनका आधा भाग, अवलेह का आठवाँ भाग, सभी प्रकार के धातुओं की भस्म और काष्ठौषधियों के चूर्ण तथा गोली, गुटिकाएँ, मोदक और पाक आदि का सातवाँ भाग, रोगी के लिए रोगी के ही खर्चे से तय्यार औषधियों का जो भाग आरोग्य और सुख की प्राप्ति के लिए धन्वन्तरि के नाम से वैद्य को दिया जाता है, उसको धन्वन्तरि भाग कहते हैं[3]।

रुद्र भाग—व्यापारी लोगों से जो औषधियाँ वैद्यों अथवा उसके रोगियों के द्वारा खरीद ली जाती थी, उनके मूल्य का ग्यारहवाँ भाग वैद्य लोग व्यापारी से वसूल करते थे। वैद्य को मिलने वाले औषधियों के मूल्य के इस ग्यारहवें भाग को रुद्र भाग कहते हैं[4]।

विश्वासघाती वैद्य—जो चिकित्सक व्यापारी से लोभवश अधिक रुद्रभाग वसूल कर रोगी को खराब औषधियाँ दिलवा देता है वह विश्वासघाती वैद्य कहलाता है[5]।

---

१. 'निगूढानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थप्रदीपिका ।
सुनिश्चितार्था विबुधैः परिभाषा निगद्यते' ॥ (र० त० २।२)
२. 'परिभाषाध्यायमादौ योऽधीते रससाधकः ।
रसतन्त्रार्थविज्ञाने न स मुह्यति कुत्रचित्' ॥ (र० त० २।१)
३. 'अर्धं सिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेहस्य भागोऽष्टमः
संसिद्धाखिललोहचूर्णवटकादीनां तथा सप्तमः ।
यो दीयते भिषग्वराय गदिभिर्निर्दिश्य धन्वन्तरि
सर्वाऽऽरोग्य सुखाप्तये निगदितो भागः स धन्वन्तरेः' ॥ (र० र० स० ८।२)
४. 'भैषज्यक्रीणितद्रव्यभागोऽप्येकादशो हि यः ।
वणिग्भ्यो गृह्यते वैद्यै रुद्रभागः स उच्यते' ॥ (र० र० स० ८।३)
५. 'प्रगृह्याऽधिकरुद्रांशं योऽसमीचीनमौषधम् ।
दापयेल्लुब्धधीर्वैद्यः स स्याद्विश्वासघातकः' ॥ (र० र० स० ८।४)

Scanned with CamScanner

रूप हो जाते हैं, इसलिए भी इसे रस कहा गया है। रसशास्त्र की मारण प्रक्रिया द्वारा लोह आदि द्रव्य भी रस में घुल-मिल जाने वाले तथा एकरूप हो जाने वाले बन जाते हैं[१]। अतः पारद के अतिरिक्त जो द्रव्य (लोह-धातु आदि) पारद के सहयोग से अथवा मारण आदि प्रक्रिया से परिवर्तित होकर रसरूप अथवा शरीरधातु रस में विलीन या एकरूप होने वाले हो जाते हैं उन्हें भी रस कहते हैं। पारद, खनिज, प्राणिज अथवा विष द्रव्यों के संयोग से निर्मित होने वाले विभिन्न औषध भी रस कहलाते हैं। इस प्रकार रसशास्त्र में वर्णित समस्त द्रव्य को रस कहा जा सकता है।

रसायन—जरा (वृद्धावस्था) एवं व्याधि को नष्ट करने में जो औषध समर्थ है उसे रसायन कहते हैं[२]। शरीर में प्रशस्त रस-रक्तादि धातुओं का निर्माण, धातुओं का जीर्णोद्धार, धातुओं की शिथिलता को नष्ट करने वाला, नूतन धातुओं का निर्माण, धातुओं का पोषण तथा धातुशैथिल्यजनित रोगों को नष्ट करने में जो औषध समर्थ हो उसे रसायन कहते है। इससे शरीर में ओज, तेज, कान्ति, वर्ण, उत्तम स्वर, तरुण वय (नवयौवन) आदि प्राप्त होता है। इन समग्र गुणों से युक्त अथवा शरीर में इस प्रकार का गुण उत्पन्न करने वाला द्रव्य रसायन कहलाता है।

रसशास्त्र में तीनों स्रोतों—औद्भिद, जांगम एवं खनिज से प्राप्त द्रव्य उपयोग में लाये जाते हैं। इनमें से अधिकांश द्रव्य रसायनगुण-सम्पन्न होते हैं।

रस को हम द्रव्यरूप कह सकते हैं, तथा रसायन उसके गुण हैं। रसद्रव्यों से निर्मित समस्त कल्पों में रसायन गुण निहित होता है। रसद्रव्य संस्कारित (शोधित, मारित, मूर्च्छित अथवा द्रुत) होने पर रसायन गुणों को प्रदान करने वाला हो जाता है।

---

१. 'रसति भक्षति सर्वां लोहान्, (या) रसनात् सर्वधातूनां रसमित्यविधीयते'।
२. 'यज्जराव्याधिविध्वंशी भेषजं तद् रसायनम्'।

तृतीय अध्याय

परिभाषा प्रकरण

परिभाषा लक्षण—संक्षिप्त और सांकेतिक शब्दों द्वारा शास्त्र के जिन गुप्त, अप्रकट अथवा किंचित् प्रकट तथा संदिग्ध भाव या अर्थ का स्पष्ट और निश्चित अर्थ जिससे प्राप्त हो, उसे परिभाषा कहते हैं[१]। गूढ़, गम्भीर, सांकेतिक शब्दों का स्पष्टीकरण परिभाषा-ज्ञान से ही होता है।

परिभाषा-ज्ञान की आवश्यकता—रस-साधक को प्रक्रियाओं को आरम्भ करने से पूर्व रसशास्त्र की परिभाषाओं को अपने गुरुजनों से जान लेना चाहिए। इससे रसशास्त्र के अर्थज्ञान में कहीं कोई कठिनाई नहीं होती[२]।

धन्वन्तरि भाग—सिद्ध किये हुए रस, तैल और घृत इनका आधा भाग, अवलेह का आठवाँ भाग, सभी प्रकार के धातुओं की भस्म और काष्ठौषधियों के चूर्ण तथा गोली, गुटिकाएँ, मोदक और पाक आदि का सातवाँ भाग, रोगी के लिए रोगी के ही खर्चे से तय्यार औषधियों का जो भाग आरोग्य और सुख की प्राप्ति के लिए धन्वन्तरि के नाम से वैद्य को दिया जाता है, उसको धन्वन्तरि भाग कहते हैं[३]।

रुद्र भाग—व्यापारी लोगों से जो औषधियाँ वैद्यों अथवा उसके रोगियों के द्वारा खरीद ली जाती थी, उनके मूल्य का ग्यारहवाँ भाग वैद्य लोग व्यापारी से वसूल करते थे। वैद्य को मिलने वाले औषधियों के मूल्य के इस ग्यारहवें भाग को रुद्र भाग कहते हैं[४]।

विश्वासघाती वैद्य—जो चिकित्सक व्यापारी से लोभवश अधिक रुद्रभाग वसूल कर रोगी को खराब औषधियाँ दिलवा देता है वह विश्वासघाती वैद्य कहलाता है[५]।

---

१. 'निगूढानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थप्रदीपिका ।
सुनिश्चितार्था विबुधैः परिभाषा निगद्यते' ॥ (र० त० २।२)
२. 'परिभाषाध्यायमादौ योऽधीते रससाधकः ।
रसतन्त्रार्थविज्ञाने न स मुह्यति कुत्रचित्' ॥ (र० त० २।१)
३. 'अर्धं सिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेहस्य भागोऽष्टमः
संसिद्धाखिललोहचूर्णवटकादीनां तथा सप्तमः ।
यो दीयते भिषग्वराय गदिभिर्निर्दिश्य धन्वन्तरि
सर्वाऽऽरोग्य सुखाप्तये निगदितो भागः स धन्वन्तरेः' ॥ (र० र० स० ८।२)
४. 'भैषज्यक्रीणितद्रव्यभागोऽप्येकादशो हि यः ।
वणिग्भ्यो गृह्यते वैद्यै रुद्रभागः स उच्यते' ॥ (र० र० स० ८।३)
५. 'प्रगृह्याऽधिकरुद्रांशं योऽसमीचीनमौषधम् ।
दापयेल्लुब्धधीर्वैद्यः स स्याद्विश्वासघातकः' ॥ (र० र० स० ८।४)

Scanned with CamScanner

लवणपञ्चक—१. सैंधव लवण (Rock salt), २. सामुद्र लवण (Sea salt), ३. विड् लवण (Ammonium chloride), ४. सौवर्चल लवण (Black salt), ५. रोमक लवण (Lack salt)—इन पाँच नमक को एकत्र कर लवणपञ्चक अथवा पञ्च लवण कहते हैं[1]। इनमें चुल्लिका लवण (नवसादर) को गिन लेने से षड्लवण कहलाता है।

लवणत्रिक—सैंधव लवण, रुचक (सौवर्चल) लवण तथा विड् लवण को एकत्र लवणत्रिक या लवणत्रय नाम से कहा जाता है[2]।

सैन्धव की प्रधानता—यद्यपि औषधि प्रयोग हेतु पाँचों लवण उपयोगी हैं, तथापि इनमें सैन्धव श्रेष्ठ माना जाता है। जहाँ केवल लवण शब्द कहा गया हो वहाँ लवण से सैन्धव का ग्रहण करना चाहिए[3]।

मधुत्रय या मधुरत्रिक—घी, गुड़ और शहद इन तीनों द्रव्यों को एकत्र मधुरत्रिक, त्रिमधुर या मधुरत्रय शब्द से ग्रहण किया जाता है[4]।

अम्लवर्ग—जम्बीरी नींबू, नींबू (कागजी नींबू), अम्लवेतस, ईमली, नारंगी, दाडिम (अनार), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक), बिजौरा नींबू, चांगेरी (तिनपतिया), चनकाम्ल (चनेका अम्ल), खट्टा बेर, करौंदा और चुक्रिका (चूका)—इन सबको सामान्य रूप से अम्ल वर्ग के अन्तर्गत गिना जाता है। मर्दन एवं भावना आदि के लिए इन द्रव्यों का रस लिया जाता है[5]।

पञ्चामृत—गाय का दूध, घृत, दही, शहद और शर्करा को एकत्र पञ्चामृत कहा जाता है। इसके द्वारा रसों के अनेक प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं[6]।

---

१. 'सैन्धवञ्चाथ सामुद्रं विडं सौवर्चलं तथा।
रोमकञ्चेति विज्ञेयं बुधैर्लवणपञ्चकम्' ॥ (र० त० २।३)

२. 'सिन्धुजं रुचकं वाक्यमेतत् त्रिलवणं स्मृतम्।
प्रकीर्तितञ्च लवणत्रिकं वा लवणत्रयम्' ॥ (र० त० २।४)

३. 'तत्रापि सैन्धवं मुख्यं विद्वद्भिः परिकीर्तितम्।
उक्ते लवणसामान्ये सैन्धवं विनियोजयेत्' ॥ (र० त० २।५)

४. 'आज्यं गुडो माक्षिकञ्च विज्ञेयं मधुरत्रिकम्।
मतं त्रिमधुरञ्चापि तथैव मधुरत्रयम्' ॥ (र० त० २।२०)

५. 'जम्बीरं निम्बुकञ्चैव त्वम्लवेतसमम्लिका।
नारङ्गं दाडिमञ्चैव वृक्षाम्लं बीजपूरकम् ॥
चाङ्गेरी चणकाम्लञ्च कर्कन्धुः करमर्दकः।
चुक्रिका चेति सामान्यादम्लवर्गः प्रकीर्तितः' ॥ (र० त० २।१३-१४)

६. 'गव्यक्षीरं दधिघृतं माक्षिकञ्चाथ शर्करा।
पञ्चामृतं समाख्यातं रसकर्म प्रसाधकम्' ॥ (र० त० २।२१)

पञ्चगव्य—गाय के दूध, दही, घृत, गोमूत्र और गोबर के रस को एकत्र समान भाग में मिलाने पर पञ्चगव्य कहते हैं[1]।

क्षीरत्रय—अर्कदुग्ध, बड़ का दूध (वटदुग्ध) तथा थूहर का दूध (स्नुहीक्षीर) तीनों को एकत्र लेने पर क्षीरत्रय कहलाता है[2]।

द्रावकगण—गुञ्जा (रत्ती), शहद, गुड़, घृत, सुहागा और गुग्गुलु को प्राचीन आचार्यों ने धातुद्रावकगण कहा है[3]।

कज्जली—पारद को गंधक आदि उपरस द्रव्यों के साथ अथवा किसी धातु के साथ बिना द्रव योग के अच्छी तरह मर्दन कर चिकना (श्लक्ष्ण) तथा कज्जल (काजल) के समान काला कर लिया जाय तो उसे कज्जली कहते हैं। इस कज्जली को कज्जल और कज्जलिका भी कहा जाता है। पारद और गंधक की कज्जली विशेष रूप से अनेक प्रकार के रसों के बनाने तथा धातुओं के मारण में काम आती है[4]।

कज्जली का उपयोग योग-निर्माण में बड़ा ही व्यापक है। भिन्न-भिन्न योगों में पारद एवं गंधक का अनुपात भी भिन्न-भिन्न देखा जाता है।

रसपंक—पारद को गंधक आदि उपरस अथवा धातु के साथ किसी द्रव के माध्यम से अच्छी प्रकार मर्दन करके श्लक्ष्ण पंक के समान (कीचड़ सदृश) बना लेना रसपंक कहलाता है[5]।

रसपिष्टि—पारद में गंधक मिलाकर दूध आदि द्रव के साथ अच्छी प्रकार मर्दन कर पीठी के समान बना लेना रसपिष्टिका या पारदपिष्टि कहलाता है[6]।

---

१. 'गव्यं क्षीरं दधि घृतं गोमूत्रं गोमयं तथा।
एकत्र योजितं तुल्यं पञ्चगव्यमिहोच्यते' ॥ (र० त० २।२२)

२. 'रविक्षीरं वटक्षीरं स्नुहीक्षीरं तथैव च।
क्षीरत्रयमिति ख्यातं मारणादौ प्रशस्यते' ॥ (र० त० २।२३)

३. 'गुञ्जा मधु गुडः सर्पिः सौभाग्यं गुग्गुलुस्तथा।
पूर्वाचार्यैः कीर्तितोऽयं धातूनां द्रावको गणः' ॥ (र० त० २।३५)

४. 'निर्द्रवैर्धातुभिश्चाथ गन्धाद्यैः पेषितः पारदः श्लक्ष्णतां प्रापितः।
कज्जलाभो यदा जायतेऽसौ तदा नामतः कोविदैः कज्जलीत्युच्यते' ॥
'कज्जली कज्जलञ्चैव मता कज्जलिका च सा।
रससम्पादनादौ च विशेषात् सा विधीयते' ॥ (र० त० २।२७-२८)

५. 'सद्रवैर्गन्धकाद्यैश्च धातुभिः पेषितो रसः।
सुश्लक्ष्णः पङ्कसङ्काशो रसपङ्क इति स्मृतः' ॥ (र० त० २।२९)

६. 'सूतं विमर्द्य गन्धेन दुग्धाद्यैस्तु द्रवैस्तथा।
पेषणात् पिष्टतां नीता मता पिष्टी च पिष्टिका' ॥ (र० त० २।३०)

Scanned with CamScanner

भावना—किसी धातु आदि औषधि चूर्ण को जल, क्वाथ या स्वरस आदि द्रव पदार्थ से पीसकर सुखा लेने को भावन या भावना कहते हैं[१]।

भावना के लिए द्रव का प्रमाण—चूर्ण रूप औषधि द्रव्य में उतना द्रव डाला जाय जिससे चूर्ण आर्द्र (गीला, कल्क सदृश) हो जाय[२]। यदि किसी औषधि के क्वाथ की भावना देनी हो तो चूर्ण रूप औषधि के समान भाग क्वाथ की औषधि लेकर उसका यवकुट कर उसमें आठ गुना जल डालकर पाक करना तथा अष्टमांश (आठवाँ भाग) शेष रहने पर क्वाथ ग्रहण करना तथा उस सम्पूर्ण क्वाथ को चूर्ण में डालकर भावना दें[३]।

सुभावित एवं दुर्भावित के लक्षण—जिस चूर्ण का पेषण किया जा रहा है, भावना पूर्ण होने पर उस भावित चूर्ण की गोली बन जाय, अँगुलियों से दबाने पर चिपटा हो जाय तथा स्पर्श में मृदु हो, उसे सुभावित जानना चाहिए। इसके विपरीत भावित द्रव्य की गोली ठीक न बने, दबाने पर किनारे दीर्ण हो जाते हों तथा स्पर्श में खर हो तो उसे दुर्भावित अथवा भावना ठीक ढंग से नहीं हुई है, ऐसा जानना चाहिए[४]।

आवाप—किसी पिघलने वाली वंग आदि धातु को पिघलाकर उसमें किसी अन्य द्रव्य के डालने को आवाप अथवा प्रतिवाप कहा जाता है[५]।

निर्वाप—किसी लोहा, ताम्बा, चाँदी आदि धातु को अग्नि में तपाकर जल अथवा तक्र, दुग्ध, क्वाथ आदि में डालने या बुझाने को निर्वाप, निषेक अथवा स्नपन शब्द से सूचित किया जाता है[६]।

शोधन—किसी भी द्रव्य के मल को दूर करने के लिए बताई गई औषधियों के

१. 'यच्चूर्णितस्य धात्वादेर्द्रवैः सम्पेष्य शोषणम्।
भावनं तन्मतं विज्ञैर्भावना च निगद्यते'॥ (र० त० २।४९)
२. 'द्रवेण यावता द्रव्यं चूर्णितं त्वार्द्रतां व्रजेत्।
तावानेव द्रवो देयो भिषग्भिर्भावनाविधौ'॥ (र० त० २।५०)
३. 'भाव्यद्रव्यमितः क्वाथ्यो जलमष्टगुणं ततः।
वस्वंशशोषितः क्वाथो देयः क्वाथेन भावने'॥ (र० त० २।५१)
४. 'पेष्यमाणश्च यद्द्रव्यं चिपटीभूय चूर्णताम्।
याति मार्दवयुक्तं तत् सुभावितमुदाहृतम्॥
यत् पिष्टं सहसा दीर्णं खरस्पर्शन्नं कोमलम्।
तद्दुर्भावितमित्युक्तं भावनावेदिभिर्जनैः'॥
५. 'द्रव्यान्तरविनिक्षेपो द्रुते वङ्गादिके तु यः।
क्रियते स प्रतीवाप आवापश्च निगद्यते'॥ (र० त० २।३९)
६. 'धात्वादेर्वह्नितप्तस्य जलादौ यन्निषेचनम्।
स निर्वापः स्मृतश्चापि निषेकः स्नपनश्च तत्'॥ (र० त० २।४०)

साथ मिलाकर मर्दन, क्षालन, निर्वाप आदि कर्म करने को शोधन कहा जाता है[१]। द्रव्य के दोष-निवारण की प्रक्रिया को शोधन कहते हैं[२]।

मारण—लोह-धातु आदि द्रव्यों को वनस्पतियों के स्वरसादि से मर्दन कर अग्नि संयोग द्वारा भस्म करने की क्रिया मारण कहलाती है[३]।

मृतलोह—किसी भी धातु की भस्म को तर्जनी और अंगुष्ठ के बीच मलने से यदि वह भस्म अंगुली की रेखाओं में प्रविष्ट हो जाय, बाहर न निकलती हो तो ऐसे भस्म को मृतलोह कहते हैं[४]।

पञ्चमृत्तिका—ईंट का चूर्ण, घर की राख (लकड़ी आदि जलाने से प्राप्त), वल्मीक (दीमक) मिट्टी, गेरू (गैरिक) और नमक—इन पाँच द्रव्यों को एकत्र पञ्चमृत्तिका कहते हैं[५]।

१. 'उद्दिष्टैरौषधैः सार्द्धं क्रियते पेषणादिकम्।
मलविच्छित्तये यत्तु शोधनं तदिहोच्यते'॥ (र० त० २।५२)
२. 'तदेव शोधनं कर्म द्रव्यदोषनिवारणम्'॥
३. 'शोधितान् लोहधात्वादीं विमर्द्य स्वरसादिभिः।
अग्निसंयोगतो भस्मीकरणं मारणं स्मृतम्'॥
४. 'तर्जन्यङ्गुष्ठसंघृष्टं विशेद्रेखान्तरं तु यत्।
निविष्टश्च वह्निर्नेति मृतलोहं तदुच्यते'॥ (र० त० २।५४)
५. 'इष्टिका चूर्णकं भस्म तथा वल्मीकमृत्तिका।
गैरिकं लवणञ्चेति कीर्तिताः पञ्चमृत्तिकाः'॥ (र० त० २।१९)

Scanned with CamScanner

चतुर्थ अध्याय

यन्त्रोपकरण प्रकरण

यन्त्र शब्द की निरुक्ति

स्वेदन आदि कर्मों को करने के लिए तथा पारद को नियन्त्रित करने के लिए रससिद्धों द्वारा यत्नपूर्वक जिन-जिन साधनों का उपयोग किया जाता है, उसे यन्त्र कहते हैं[1]।

जिस साधन के द्वारा पारद नियन्त्रित होता है, उसे 'यन्त्र' कहते हैं[2]।

पारद, उपरस, धातु आदि के शोधन-मारण की क्रियाओं में सफलता के लिए, अथवा रसादि द्रव्यों को गिरने, उड़ने, जलने आदि से बचाने के लिए जो उपाय तथा उपकरण काम में लाया जाता है, उसे यन्त्र कहते हैं[3]।

'यन्त्र्यते, नियम्यते, बध्यते, रक्ष्यते वा पारदादिरनेनोपायेन तद्यद् यन्त्रम्।'

अर्थात् पारदादि द्रव्यों को जिन उपायों द्वारा यन्त्रित, नियमित, बद्ध तथा रक्षा की जाती है, उसे यन्त्र कहते हैं।

पारद का संस्कार तथा अन्य रसद्रव्यों का शोधन-मारण आदि विविध प्रकार की प्रक्रियाएँ यन्त्र-उपकरणों पर आधारित होती हैं। इन प्रक्रियाओं में अनेक प्रकार के यन्त्रों का उपयोग किया जाता है। कुछ महत्त्वपूर्ण यन्त्रों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनका सम्यक् ज्ञान होने पर प्रयोगकर्त्ता स्वयं यन्त्रोपकरणों का आवश्यकतानुसार निर्माण भी कर सकते हैं।

दोला यन्त्र[4]

एक मिट्टी की हाण्डी (भाण्ड) लेकर उसके गले में आमने-सामने दोनों ओर छिद्र कर दें। उस छिद्र में एक मजबूत पतली लकड़ी अथवा लोहे की शलाका दोनों ओर प्रविष्ट करा दें। हाण्डी का आधा भाग द्रव से भर दें, तत्पश्चात् लकड़ी अथवा

१. 'स्वेदादिकर्मनिर्मातुं वार्तिकेन्द्रैः प्रयत्नतः।
यन्त्र्यते पारदो यस्मात्तस्माद्यन्त्रमिति स्मृतम्' ॥ (र० र० स० ९।२)

२. 'रसो नियन्त्र्यते येन यन्त्रं तदिति उच्यते'। (आ० क० २६।१)

३. 'रसोपरसलोहाद्यः मारणाद्यर्थसिद्धये।
यन्त्र्यन्तेऽनेन यस्मात्तु तस्माद् यन्त्रं प्रकीर्तितम्' ॥ (र० त० ४।१)

४. 'द्रव द्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धोदकस्य च।
मुखस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोट्टलीम्।
बध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम्' ॥ (र० र० स० ९।३-४)

शलाका के बीचोबीच कपड़े में बँधी हुई पारद अथवा स्वेद्य द्रव्य की पोटली को एक सूत्र के माध्यम से बाँधकर द्रव द्रव्य में डूबता हुआ लटका दें। अब हाण्डी को मन्द आँच वाले चूल्हे पर रखकर मन्द-मन्द अग्नि पर निर्धारित समय तक पकायें। इस प्रकार के यन्त्र को दोलायन्त्र कहते हैं।



चित्र सं० १ : दोला यन्त्र

इस यन्त्र के द्वारा विविध प्रकार के रस-द्रव्यों का स्वेदन द्रव के उबलने जितनी निर्धारित अग्नि पर होता रहता है। द्रव्य की कपड़े से बन्धी हुई पोट्टली पेण्डुलम की तरह लटकती रहे, जो तल का स्पर्श न करे, इस बात का ध्यान रखा जाता है। द्रव के रूप में वानस्पतिक स्वरस, क्वाथ, क्षारीय जल, अम्ल द्रव, दुग्ध आदि का उपयोग किया जाता है।

डमरू यन्त्र

एक हाण्डी के ऊपर दूसरी हाण्डी को औंधाकर रखें, जिससे दोनों का मुख एक-दूसरे से मिल जाय फिर उसी अवस्था में मजबूत कपड़मिट्टी से सन्धिबन्धन कर लेने से डमरू यन्त्र बन जाता है। डमरू जैसी आकृति बन जाने से यह डमरू यन्त्र[1] कहलाता है। यह डमरू यन्त्र रस-भस्मों के निर्माण में उपयोगी है। यह पारद एवं संखिया

१. 'यन्त्रस्थाल्युपरि स्थालीं न्युब्जां दत्त्वा निरुन्धयेत्।
यन्त्रं डमरुकाख्यं तद्रसभस्मकृते हितम्' ॥ (र० र० स० ९।५७)

Scanned with CamScanner

(सोमल आदि) द्रव्यों को उर्ध्वपातित करने में भी उपयोगी है। इसमें नीचे वाला पात्र जो अग्नि के सम्पर्क में रहता है, उसमें वनस्पतियों से मर्दित पारद रखा जाता है।

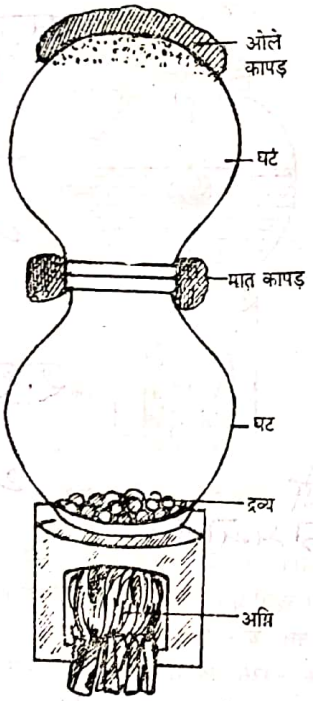

चित्र सं० २ : डमरू यन्त्र

स्थाली यन्त्र

किसी हाण्डी में औषधियों से मर्दित ताम्र आदि धातुओं के गोले को रखकर, हाण्डी के मुँख को शराव से ढँककर ठीक प्रकार से हाण्डी एवं शराव का संधि-बन्धन कर उस हाण्डी को चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे से अग्नि दें। इस यन्त्र को स्थाली यन्त्र[1] कहते हैं।

१. 'स्थाल्यां ताम्रादि निक्षिप्य मल्लेनाऽऽस्यं निरुध्य च।
पच्यते स्थालिका धस्तात्स्थाली यन्त्रमिदं स्मृतम्' ॥ (र० र० स० ९।६६)



चित्र सं० ३ : स्थाली यन्त्र

पालिका यन्त्र

लोहे का एक गोल प्याला (सीधी डण्डी के बजाय उपर उठी डण्डी वाला) लेवें जिसमें एक खड़ा दण्ड लगा हो, जिसके ऊपर का भाग पीछे की ओर अंकुश की तरह मुड़ा हुआ हो। इसका आकार तैल निकालने वाली पैली की तरह होता है। इसे पालिका यन्त्र[1] कहते है। इसका उपयोग गंधक-जारण के लिए किया जाता है।

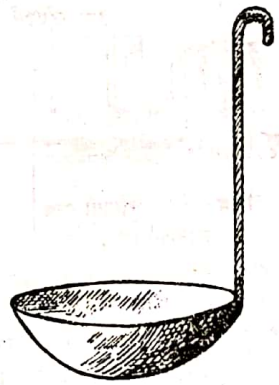

चित्र सं० ४ : पालिका यन्त्र

स्वेदनी यन्त्र

एक मजबूत हाण्डी में कुछ खाली रखते हुए जल भर दें। अब उस हाण्डी के मुख पर एक स्वच्छ एवं मजबूत वस्त्र बाँध दें। वस्त्र के उपर स्वेद्य द्रव्य को रखकर एक शराव को जो द्रव्य को अच्छी प्रकार ढँक सके रख दें। हाण्डी को चूल्हे पर चढ़ाकर अग्नि दें। इस यन्त्र को स्वेदनी यन्त्र[2] कहते हैं। इसके द्वारा द्रव्य का स्वेदन किया जाता है। इससे शुष्क एवं कठिन द्रव्य मृदु हो जाता है। द्रव्य का मल भाग वाष्प से बने जल में घुलकर टपककर नीचे पात्र में चला जाता है तथा द्रव्य शुद्ध हो जाता हैं।

१. 'चषकं वर्तुलं लोहं विनताग्रोर्ध्वदण्डकम्।
एतद्धि पालिकायन्त्रं बलिजारणहेतवे' ॥ (र० र० स० ९।५०)
२. 'साम्बुस्थाली मुखाबद्धे वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते' ॥ (र० र० स० ९।५)

Scanned with CamScanner

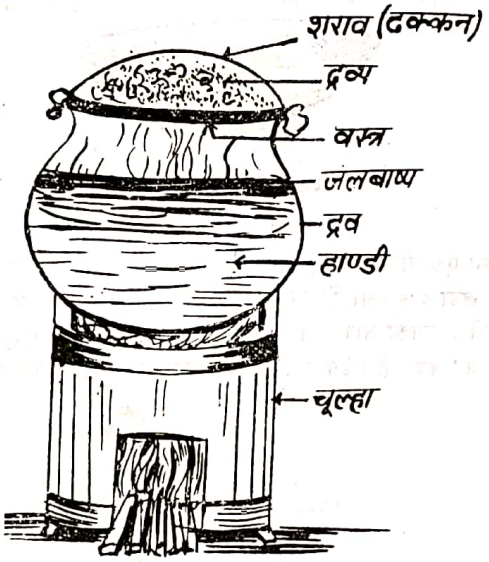

चित्र सं० ५ : स्वेदनी यन्त्र

बालुका यन्त्र[1]

एक सँकरे मुख वाली आतसी शीशी (२० औंस की बीयर बोतल) लेकर उस पर १ अंगुल मोटी ७ बार कपड़मिट्टी कर मुखा लें। उस शीशी में ३ भाग पारद युक्त औषधि द्रव्य (कज्जली) से भर दें। एक बड़ी नाद (बाल्टीनुमा) लेकर उसके तल भाग को २ अंगुल ऊपर तक बालुका से भर दें और उसके ऊपर शीशी को रखें तथा उस बोतल के कण्ठ तक (मुख से दो अंगुल नीचे तक) बालुका भर दें। नाद के ठीक बीचोबीच बोतल रहे, इसका ध्यान रखें। बालुका भरते समय बोतल का मुख कार्क (मुद्रा) से ढँक देना चाहिए अन्यथा अन्दर बालुका प्रविष्ट होने की सम्भावना

१. 'सरसा गूढवक्त्रां मृद्वस्त्राङ्गुलघनावृताम्।
शोषितां काचकलशीं त्रिषु भागेषु पूरयेत्॥
भाण्डे वितस्ति गम्भीरे बालुकासु प्रतिष्ठिताम्।
तद्भाण्डं पूरयेत्त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत्॥
भाण्डवक्त्रं मणिकया सन्धि लिम्पेन्मृदा पचेत्।
चुल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्तिनः॥
एतद्धि बालुकायन्त्रं तद्यन्त्रं लवणाश्रयम्॥
पञ्चाढक बालुकापूर्णं भाण्डे निक्षिप्य यत्नतः।
पच्येत रसगोलाद्यं बालुकायन्त्रमीरितम्' ॥ (र० र० स० ९।३३-३६)

रहेगी। अब इस बालुका यन्त्र को चूल्हे पर चढ़ाकर क्रमशः मृदु, मध्य एवं तीव्र अग्नि से पाक करें। बालुका के ऊपरी सतह पर तृण (तिनका) डालने पर जलने लगे तब तक पाक करना चाहिए। इसी यन्त्र में यदि बालुका के स्थान पर लवण भरा जाय तो यह लवण यन्त्र तथा भस्म भरने पर इसे भस्म यन्त्र के नाम से सूचित किया जाता है। इस यन्त्र में ५ आढक (लगभग १५ कि०) बालुका डालनी चाहिए। इस यन्त्र के द्वारा गंधकजारण, कूपीपक्व रस-निर्माण, पारद के गोलक का पाक किया जाता है।

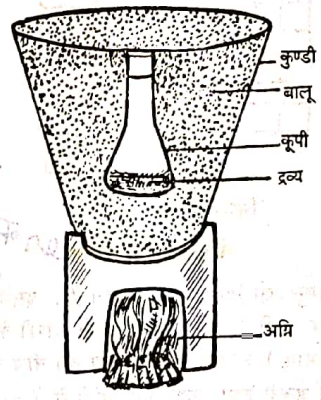

चित्र सं० ६ : बालुका यन्त्र

पुटयन्त्र

शराव सम्पुट में बन्द औषधि मिश्रित रस को अग्निमान को जानने वाला निश्चित संख्या में गोबर निर्मित उपलों में रखकर पाक करे अथवा चूल्हे पर चढ़ाकर दो प्रहर तक अग्नि दे। इस यन्त्र को पुट यन्त्र कहते हैं[1]।

मारण योग्य द्रव्य को भस्म करने के लिए अग्नि देने की क्रिया को पुट कहते हैं। एतदर्थ द्रव्य की सुरक्षा एवं सम्यक् पाक की दृष्टि से दो समान आकार के मृत्तिका शराव में रखकर सन्धि-बन्धन कर द्रव्यानुसार उपलों की एक निश्चित संख्या द्वारा अग्नि देते हैं। इस प्रक्रिया हेतु शराव-सम्पुट एवं अग्नि हेतु ईंधन का प्रमाण, कुल मिलाकर पुट यन्त्र की संज्ञा से सूचित किया जाता है।

एक मिट्टी के पात्र (शराव) में जिसे अग्नि देना हो या पाक करना हो वह द्रव्य लेकर एक दूसरे मृत्तिका मात्र से ढँककर पात्र का कपड़े एवं मिट्टी के माध्यम से दृढ़ सन्धि-बन्धन कर लें तथा गोमय (गोबर) के उपलों से चारों ओर से अग्नि दें

१. 'शरावसम्पुटान्तःस्थं करीषेष्वग्निमानवित्।
पचेच्चुल्यां द्वियामं वा रसं तत्पुटयन्त्रकम्' ॥ (र० र० स० ९।४२)

Scanned with CamScanner

या साधारण रूप से इसे चूल्हे पर रखकर दो घंटे तक अग्नि दें। इसे पुटयन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग लोहादि धातुओं के मारण के लिए किया जाता है।

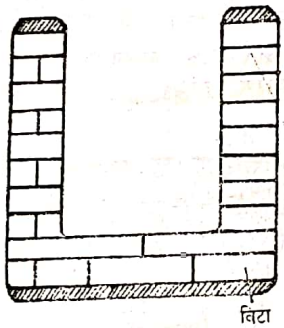

चित्र सं० ७ : पुट यन्त्र

विद्याधर यन्त्र

दो हाण्डियों के सम्पुट को विद्याधर यन्त्र कहते हैं। इसमें एक हाण्डी के ऊपर दूसरी हाण्डी इस प्रकार रखी जाती है कि नीचे की हाण्डी के मुख पर ऊपर वाली हाण्डी का पेंदा (तल भाग) अच्छी तरह बैठ जाय तब नीचे की हण्डी का मुख ढँक दे। दोनों की संधि को अच्छी प्रकार कपड़े एवं मिट्टी से (कपड़मिट्टी कर) मजबूत सन्धि-बन्धन कर दें। नीचे की हाण्डी का अधिकांश भाग चूल्हे में समा जाय, ऐसा एक चार मुँख वाला बनाकर उस पर रख देते हैं। इन चारों मुख से लकड़ी द्वारा अग्नि दी जाती है। चार मुख का उद्देश्य तीव्र अग्नि प्रदान करना है। इस यन्त्र के निचले पात्र में द्रव्य रखा जाता है[1] तथा उपर के पात्र में जल। इस यन्त्र में चूल्हे की प्रमुख विशेषता होती है जिससे इसे कुछ विद्वान् कोष्ठी यन्त्र भी कहते हैं तथा कुछ इसे पातना यन्त्र भी कहते हैं। विशेष रूप से गंधक-जारण के लिए इस यन्त्र का उपयोग किया जाता है। हिंगुल से पारद निष्काशन के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है।[2]

१. 'यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं स्थाली द्वितय सम्पुटात्।
चुल्लीं चतुर्मुखीं कृत्वा यन्त्रभाण्डं निवेशयेत्॥
तदौषधं विनिक्षिप्य निरुध्याभाण्डकाननम्।
यन्त्रं विद्याधरं नाम तन्त्रज्ञैः परिकीर्तितम्'॥ (र० र० स० ९।२४-२५)

२. 'स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वादयेदधः॥
एतद्विद्याधरं यन्त्रं हिङ्गुलाकृष्टिहेतवे'॥ (र० र० स० ९।५६-५७)



चित्र सं० ८ : विद्याधर यन्त्र

घटयन्त्र

चार प्रस्थ क्षमता वाला तथा ४ अंगुलि परिणाह चौड़ा मुख वाला पात्र घटयन्त्र कहलाता है। इसे आप्यायन यन्त्र भी कहते हैं[1]।



चित्र सं० ९ : घट यन्त्र

१. 'चतुष्प्रस्थजलाधारश्चतुरङ्गुलिकाऽऽननः ।
घटयन्त्रमिदं प्रोक्तं तदाप्यायनकं स्मृतम्'॥ (र० र० स० ३।५१)

Scanned with CamScanner

पातना यन्त्र

इस यन्त्र के निर्माण के लिए छोटी-बड़ी दो हाण्डी अपेक्षित होती है। बड़ी हाण्डी ऊपर की ओर इस प्रकार रखें जिससे नीचे वाली छोटी हाण्डी का मुख ऊपर वाली हाण्डी के मुख में प्रविष्ट हो जाये। ऊपर वाली हाण्डी का पृष्ठ तल १६ अंगुल विस्तार वाला होना चाहिए। इस पृष्ठ तल पर ८ अंगुल चौड़ा, १० अंगुल लम्बा तथा ४ अंगुल ऊँचा एक आलबाल (जलाधार) बना होना चाहिए। ऊपर और नीचे के दोनों पात्र के सन्धि-भाग को भैंस के दूध में चूना, मण्डूर और फाणित (गुड़ का द्रव भाग) को घोंट कर निर्मित लेप से दृढ़ सन्धिबन्धन कर सुखा लेना चाहिए। अब आलबाल वाला पात्र ऊपर की ओर रखकर नीचे वाले पात्र को चूल्हे पर चढ़ा दें तथा उपर के आलबाल में पानी भर दें। इस यन्त्र के निचले पात्र में उर्ध्वपातन योग्य द्रव्य रखा होता है। ऊपर से शीतलता के लिए आलबाल (जलाधार) में जल भरा होता है। अब इस यन्त्र को क्रमशः मृदु, मध्य एवं तीव्र अग्नि देकर उर्ध्व-पातन करना चाहिए। ऊपर जलाधार में डाला गया जल गर्म होने पर जल बदला भी जा सकता है। व्यवहार में जलाधार की जगह गीले कम्बल के टुकड़े को रखा जा सकता है, जिसे शीतल जल से भिगा कर बदलते रहना चाहिए[1]।

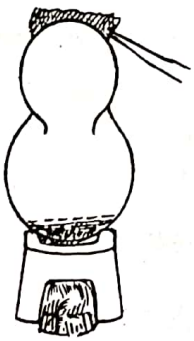

चित्र सं० १० : ऊर्ध्वपातन यन्त्र

इस यन्त्र का उपयोग हिंगुल से पारद के निष्कासन के लिए किया जाता है।

१. 'अष्टाङ्गुलपरीणाहमानाहेन दशाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः॥
अधो भाण्डे मुखं तस्य भाण्डस्योपरिवर्तिनः।
षोडशाङ्गुलविस्तीर्णपृष्ठस्यास्ये प्रवेशयेत्॥
पार्श्वयोर्महिषीक्षीरचूर्णमण्डूरफाणितैः
लिप्त्वा विशोषयेत्सन्धिजलाधारं जलं क्षिपेत्॥
तुल्यामारोपयेद् यत्नात् पातनायन्त्रमुच्यते'॥ (र० र० स० ९।६-८)

१६ अँगुल पृष्ठ विस्तार वाला पात्र १ किलो पारद के लिए उपयुक्त है। १ किलो पारद या हिंगुल के लिए लगातार मृदु, मध्य एवं तीव्र क्रम से ५ घंटे की अग्नि पर्याप्त है। अग्नि देने के बाद स्वांगशीत हो जाने पर सावधानीपूर्वक सन्धि खोलकर ऊपर वाले पात्र के आभ्यन्तर तल भाग को वस्त्र से धीरे-धीरे घिस कर पारद को एकत्र कर लेना चाहिए।

अधःपातन यन्त्र

मिट्टी की दो हाण्डी लें। ऊपर की हाण्डी के आभ्यन्तर तल भाग में पारद हिंगुल आदि द्रव्यों, जिसका अधःपातन करना हो, को औषधियों के साथ पीस कर लेप कर दें। नीचे के पात्र में जल भरकर दोनों के मुख का अच्छी प्रकार से सन्धि-बन्धन कर लें। अब जल वाले पात्र को भूमि के अन्दर गाड़ दें तथा ऊपर के पात्र को अच्छी तरह उपलों से ढँककर अग्नि प्रज्वलित करें तथा स्वांगशीत होने पर नीचे के जल वाले पात्र से पारद प्राप्त कर लें। इसे अधःपातन यन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग पारद के अधःपातन के लिए किया जाता है[1]।

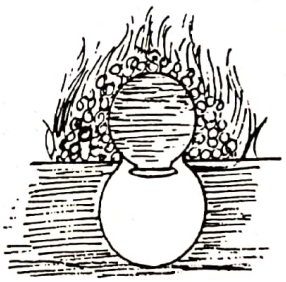

चित्र सं० ११ : अधःपातन यन्त्र

तिर्यक् पातन

इसके लिए दो मिट्टी की छोटी-बड़ी हाण्डी लेते हैं। बड़ी हाण्डी लम्बी ऊँची होनी चाहिए। उसके कण्ठ-प्रदेश में छिद्रकर एक नली लगा दें तथा नली का दूसरा सिरा दूसरी छोटी हाण्डी के मध्य भाग (पेट) में छिद्र कर उसमें प्रविष्ट कर दोनों प्रविष्टियों के सन्धि-स्थल को मिट्टी के लेप से दृढ़ कर लें। बड़ी हाण्डी में पारद एवं छोटी हाण्डी में शीतल जल पहले से भर लें। अब पारद वाली हाण्डी को अग्नि (चूल्हे) पर चढ़ाकर पहले मृदु फिर तीव्र अग्नि देकर पारद का तिर्यक् पातन करते हैं। इसे

१. 'अथोर्ध्वभाजने लिप्तस्थापितस्य जले सुधीः।
दीप्तैर्वनोपलैः कुर्यादधःपातं प्रयत्नतः'॥ (र० र० स० ८।९)

Scanned with CamScanner

तिर्यक् पातन यन्त्र कहते हैं तथा इसका उपयोग संस्कारों के क्रम में पारद के तिर्यक् पातन के लिए करते है[1]।

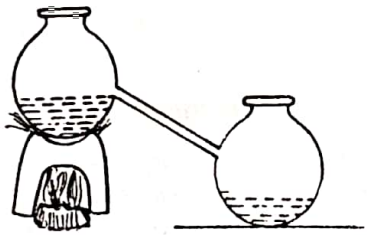

चित्र सं० १२ : तिर्यक्पातन यन्त्र

भूधर यन्त्र

एक पारद युक्त बन्द मूषा को जमीन की गर्त में बिछी बालुका पर रखें तथा शेष भाग को बालुका से पूरी तरह ढँक दें। अब बालुका के ऊपरी सतह पर अरण्योपल (उपलों) को जला दें। इस यन्त्र को भूधर यन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग गंधक के अन्तर्धूम जारण के लिए किया जाता हैं[2]।

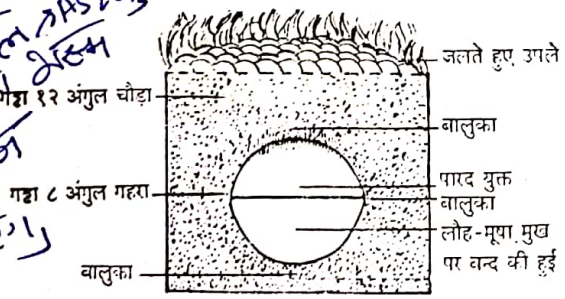

चित्र सं० १३ : भूधर यन्त्र

१. 'क्षिपेद्रसं घटे दीर्घे नताधोनालसंयुते।
तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु॥
तत्र रुद्ध्वा मृदा सम्यग्वदने घटयोरथ।
अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम्॥
इतरस्मिन्घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादु शीतलम्।
तिर्यक्पातनमेतद्धि वार्तिकैरभिधीयते'॥ (र० र० स० ९।१०-१२)

२. 'बालुकागूढमर्वाङ्गां गर्ते मूषां रसान्विताम्।
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्'॥

पाताल यन्त्र

एक मिट्टी की हाण्डी को एक छिद्र युक्त मिट्टी के शराव से ढँक कर सन्धि-बन्धन कर दें। उस शराव के ऊपर से एक औंधा पात्र रखकर सन्धि-बन्धन कर दें। अब जमीन में एक हाथ गहरा गढ़ा खोद कर औंधा रखा गया पात्र नीचे आ जाय, इस प्रकार उलटकर गढ़े में डाल दें। मिट्टी वाली हाँडी का पेंदे वाला भाग ऊपर की ओर होना चाहिए। नीचे गढ़े वाले पात्र एवं हाण्डी के कण्ठ भाग के पास के रिक्त स्थान को मिट्टी से ढँक दें। अब मिट्टी की हाण्डी के ऊपर चारों ओर उपलों को अच्छी तरह सजाकर अग्नि प्रज्वलित कर दें। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक यन्त्र को बाहर निकाल कर नीचे वाले पात्र को पृथक् कर उसमें एकत्रित तैल आदि द्रव्य को ग्रहण कर लें। इस यन्त्र में हाण्डी के अन्दर पहले से द्रव्य भर लिया जाता हैं। इसे पाताल

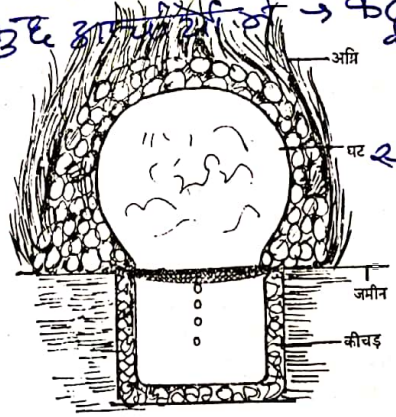

चित्र सं० १४ : पाताल यन्त्र

यन्त्र कहते हैं। इसका उपयोग गंधक तैल, विश्वामित्र कपाल स्नेह तथा भल्लातक तैल आदि प्राप्त करने के लिए किया जाता है[1]।

१. 'भूमौ हस्तमितं निम्नं विदध्याद् गर्तमुत्तमम्।
तस्मिन् पातं निधायाथ तद्रूपं पात्रमन्यकम्॥
आददीत ततस्तस्मिन्नौषधानि निधापयेत्।
आस्यमस्य शरावेण छिद्रगर्भेण रोधयेत्॥
पात्रमेतत्तु गर्तस्थे पात्रे यत्नेन विन्यसेत्।
विदध्यादनयोर्यत्नात् सुदृढं सन्धिबन्धनम्॥

Scanned with CamScanner

खल्व यन्त्र

प्रकार—१. द्रोण्याकार (अर्धचन्द्राकार), २. वर्तुल एवं ३. तप्त ।

उपादान—अश्म, काष्ठ एवं लौह ।

खरल के निर्माण के लिए नीला या श्यामवर्ण का स्निग्ध, दृढ़ एवं भारी पत्थर का चयन करना चाहिए जो १६ अंगुल ऊँचा, ९ अंगुल चौड़ा तथा २४ अंगुल लम्बा हो । इसके लिए १२ अंगुल लम्बी मूसल (मर्दक) होनी चाहिए । २० अंगुल लम्बा तथा १० अंगुल ऊँचा खरल रसकर्म के लिए श्रेष्ठ बतलाया गया है[1] ।

पारद आदि द्रव्यों का सुखपूर्वक अच्छा मर्दन हो सके, इसके लिए तीन प्रकार का खरल बतलाया गया हैं । यथा—अर्धचन्द्राकार खरल, वर्तुल खरल तथा तप्त खरल । इनमें प्रथम दो पाषाण-निर्मित होते हैं । ये उत्सेध (उबड़-खाबड़ या खुरदरा-पन) रहित तथा अत्यन्त चिकने होने चाहिए—तथा अच्छी मुसलियों से युक्त होना चाहिए[2] ।

(१) **अर्धचन्द्रकार खरल**—इसकी ऊँचाई १० अंगुल, लम्बाई १६ अंगुल, चौड़ाई १० अंगुल तथा गहराई ७ अंगुल, पलि की मोटाई २ अंगुल, चिकनी तथा आकृति में अर्धचन्द्राकार होनी चाहिए । इसकी मुसली १२ अंगुल लम्बी और बाह्य परिधि भी १२ अंगुल होनी चाहिए । ऐसा खरल श्रेष्ठ होता है[3] ।

मृदा सम्पूर्य गर्तन्तु वह्निं दद्यात् प्रयोगवित् ।
स्वांगशीतं ततो ज्ञात्वा रसतन्त्रविचक्षणः ॥
उपरिस्थन्तु वै पात्रं शनैः समवतारयेत् ।
अधःपात्रगतं तैलं गृह्णीयात्तु विधानतः ॥
एतद् दुर्धैः समाख्यातं यन्त्रं पातालसंज्ञकम् ।
आहर्तुं गन्धकादीनां तैलमेतत्प्रयुज्यते' ॥ (र० त० ४।४७-५२)

१. खल्लयोग्या शिला नीला श्यामा स्निग्धा दृढा गुरुः ।
षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा ॥
चतुर्विशाङ्गुला दीर्घा घर्षणी द्वादशाङ्गुला ।
विंशत्यङ्गुलदीर्घो वा स्यादुत्सेधे दशाङ्गुला ॥
खल्लप्रमाणं तज्ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसकर्मणि' । —र० र० स० ९।७८-८०

२. 'खल्लयन्त्रं त्रिधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने ।
निरुद्गारौ सुमसृणौ कार्यौ पुत्रिकया युतौ' ॥ —र० र० स० ९।८१-८२

३. 'उत्सेधे स दशाङ्गुलः खलु कलातुल्याङ्गुलायामवान् ।
विस्तारेण दशाङ्गुलो मुनिमितैर्निम्नस्तथैवाङ्गुलैः ।
पाल्यां द्वयङ्गुलविस्तरश्च मसृणोऽसावार्द्धचन्द्रोपमो ।
घर्षो द्वादशकाङ्गुलश्च तदयं खल्लो मतः सिद्धये' ॥ —र० र० स० ९।८३



चित्र सं० १५ (क) : अर्धचन्द्राकार खल्व

इसके अतिरिक्त भी द्रव्य की मात्रा के अनुसार सुविधा के लिए खरल छोटा-बड़ा लिया जा सकता है । उपरोक्त खरल को ५ पल पारद के लिए उपयुक्त माना जाता है ।

(२) **वर्तुल खल्व (गोलाकार खरल)**—अत्यन्त चिकने १२ अंगुल विस्तार वाले पत्थर से निर्मित ४ अंगुल गहरा तथा जिसका तल भाग अत्यन्त चिकना बनाया गया हो तथा जिसकी मूसली का अधः भाग चिपटा तथा शिखर भाग आसानी से पकड़ा जा सके, इस प्रकार का बना हुआ खल्व वर्तुल खल्व कहलाता है । यह मर्दन में अत्यन्त सुखप्रद होता है[1] ।



चित्र सं० १५ (ख) : वर्तुल खल्व

(३) **तप्त खल्व**—लोहे का बना ९ अंगुल आभ्यन्तर परिणाह वाला तथा ६ अंगुल गहरा तथा जिसका मर्दक ८ अंगुल का हो, ऐसा वर्तुल खल्व तप्त खरल कहलाता हैं[2] ।

---

१. 'द्वादशाङ्गुलविस्तारः खल्लोऽतिमसृणोपलः ।
चतुरङ्गुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणीकृतः ।
मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात्सुग्राहश्च शिखोपरि ।
अयं तु वर्तुलः खल्लो मर्दनेऽतिसुखप्रदः' ॥ (र० र० स० ९।८५-८६)

२. 'लौहो नवाङ्गुलः खल्लो निम्नत्वे च षडङ्गुलः ।
मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्लाभिधोऽप्ययम्' ॥ (र० र० स० ९।८७)

Scanned with CamScanner

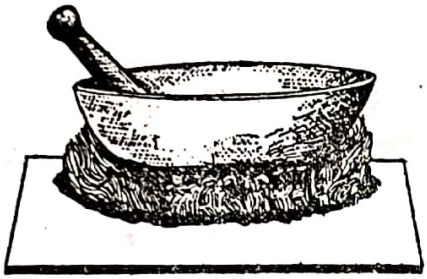

चित्र सं० १५ (ग) : तप्त खल्व

वस्तुतः यह एक वर्तुल खरल है, जो लौह निर्मित होता है। इस खरल का उद्देश्य अग्नि देते हुए पारद का मर्दन करना होता है। अग्नि देने की सुविधा की दृष्टि से जिसे चूल्हे पर रखा जा सके और मर्दन में सुविधा हो, इस उद्देश्य से वर्तुल आकार का खरल अधिक उपयुक्त होता है। कान्त लौह से निर्मित तप्तखल्व अधिक फलदायी होता है।[1]

तप्त खरल के लिए खरल के पेंदे के आकार का चूल्हा बनाना चाहिए, जिसके पार्श्व में भस्त्रिका (धमनयन्त्र) की नली लगी हो और आवश्यकतानुसार धमन किया जा सके। क्षार-अम्ल से मर्दित पिष्टि को इस खरल में रखकर धमन करते हुए मर्दन करने पर शीघ्र ही द्रवित हो जाता है। [तप्तखरल में मूर्च्छन-संस्कार किया जाता है।]

तुलायन्त्र

तुलायन्त्र के लिए दो वृन्ताक (बैंगन) के आकार की मूषा लेकर इन दोनों के कण्ठ भाग में छिद्र कर एक-एक बित्ता लम्बी मिट्टी की नली से जोड़कर सन्धि-बन्धन कर दें। एक मूषा में गन्धक चूर्ण तथा दूसरे में पारद रखकर ऊपर से ढक्कन से बन्द कर सन्धि-बन्धन कर लें। इसे तुलायन्त्र कहते हैं, क्योंकि आकृति से यह तुला जैसा प्रतीत होता है। अब इसे बालुका यन्त्र में रखकर बालुका से भरकर अग्नि दें।[2] इसका उपयोग गन्धकजारण के लिए किया जाता है।

१. 'कृतः कान्तायसा मोऽयं भवेत्कोटिगुणो रसः' (र० र० स० ९।८७)

२. 'वृन्ताकाकारभूषे द्वे तयोः कण्ठाद्धः खलु।
प्रादेशमात्रां नलिकां मृदालिप्तां सुसन्धिकाम् ॥
तत्रैकस्यां क्षिपेत्सूतमन्यस्यां गन्धचूर्णकम्।
निरुद्ध मूषयोर्वक्त्रं बालुकायन्त्रके क्षिपेत् ॥
अधोऽग्निं ज्वालयेदेतत् तुलायन्त्रमुदाहृतम्'। (र० चू० ५।६४-६६)

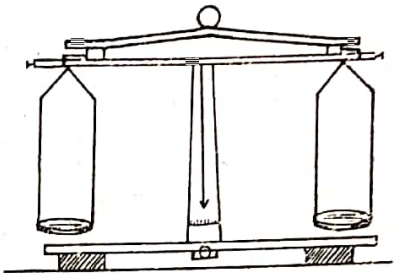

चित्र सं० १६ : तुला यन्त्र

उलूखलयन्त्र

इसे कुट्टनक खल्व या इमामदस्ता भी कहते हैं। यह सोलह अंगुल ऊँचा, दस अंगुल विस्तृत व्यास वाला, १३ अंगुल गहरा, आभ्यन्तर भाग चिकना तथा मजबूत लोहे से निर्मित होना चाहिए। इसकी मूसली भी लोहे की २० अंगुल लम्बी, सुन्दर चिकनी और स्थूल होनी चाहिए। यह कठिन द्रव्यों, यथा—माक्षिक, काष्ठ, प्रवालादि को कूटने एवं चूर्ण करने के काम में उपयोगी है।[1]

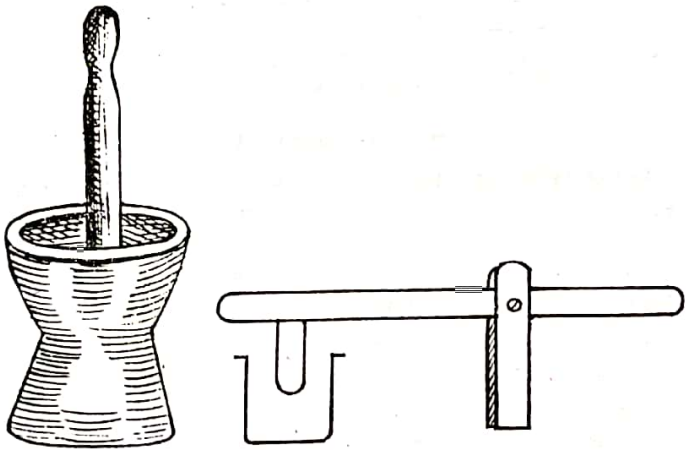

चित्र सं० १७ : उलूखल यन्त्र

१. 'दशाङ्गुलस्तु विस्तारे तुल्सेधे षोडशाङ्गुलम्।
त्रयोदशाङ्गुलं चैव निम्नत्वेन च सन्दृढम् ॥

Scanned with CamScanner

कच्छपयन्त्र

एक छोटी-सी नाँद लें। यह नाँद जमीन में प्रविष्ट हो सके इतना गढ़ा कर उसमें नाँद को बिठा दें। अब उस नाँद मे पानी भर दें। इस जलयुक्त नाँद पर एक दूसरी बड़ी नाँद रखें, जिसका सम्पूर्ण तल भाग जल को स्पर्श करता हो। अब इस नाँद में एक मूषा, जिसमें विड् समेत पारद हो, को अच्छी तरह ढँक ले ऐसी एक कटोरी से मूषा को ढक दे तथा कटोरी एवं नाँद के सन्धि भाग को सात बार कपड़मिट्टी कर सुखा दें। अब उस कटोरी (जो मूषा को ढँकी हुई है) के ऊपर खदिर अथवा बेर के कोयलों को रखकर अग्नि प्रज्वलित करें। इस यन्त्र को कच्छप यन्त्र कहते हैं।

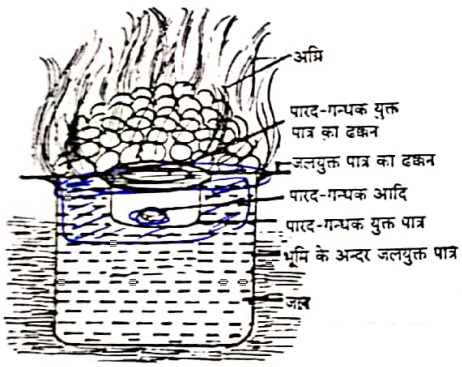

चित्र सं० १८ : कच्छप यन्त्र

इसमें स्वेदित एवं मर्दित पारद का विड् के साथ जारण होता है। स्वांगशीत होने पर इसमें से पारद को पृथक् कर लें। यह पारद पूर्ण अग्निबल-सम्पन्न होता है तथा अपने गर्भ में धातुओं एवं सत्त्वों को शीघ्र द्रवित करने में समर्थ होता है। पारद द्वारा ग्रस्त धातुओं को गर्भद्रुति हेतु भी इस यन्त्र का उपयोग किया जाता है। अग्नि-बल से पारद के गर्भ में स्थित सभी सत्त्व द्रवित होकर पारद में जीर्ण हो जाता है।[1]

अयसा निर्मितश्चैव मध्येऽतिमदृणीकृतम्।
विंशत्यङ्गुलदीर्घश्च लोहदण्डः सुशोभनः॥
उलूखलाभिधं यन्त्रं बुधैरेतत्प्रकीर्तितम्।
ताप्यादीनां कुट्टनार्थं यन्त्रमेतत् प्रयुज्यते॥
लघूनि चाथ दीर्घाणि युक्त्या यन्त्राणि कारयेत्।
द्रव्यमानानुकूल्येन विधानज्ञो भिषग्वरः'॥ (र० त० ४।५८-६१)

१. 'जलपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम्।
तदुपरि विड्मध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ट्याम्॥

इस यन्त्र का उपयोग पारद में विडों का जारण, गन्धकजारण तथा सत्त्वों को द्रुत एवं जीर्ण करने के लिए किया जाता है।

उपरोक्त यन्त्रों के अतिरिक्त भी रसग्रन्थों में अनेक यन्त्र वर्णित हैं। तथापि पारद-संस्कार में उपयोगी एवं अन्य उपयोगी पारद की प्रक्रिया, द्रव्य का शोधन, मारण, सत्त्वपातन आदि की दृष्टि से जितने यन्त्रों का यहाँ वर्णन किया गया है वह पर्याप्त है तथा पाठ्यक्रम-संगत है। पूर्व में ही कहा गया है कि प्रयोगकर्त्ता सुविधानुसार नये यन्त्रों का निर्माण एवं उपयोग कर सकते हैं एवं स्वबुद्धि से नये यन्त्रों के निर्माण हेतु यहाँ वर्णित यन्त्रोपकरण का ज्ञान उनके लिए मार्गदर्शक होगा।

यन्त्रों का विकासक्रम

रसशास्त्र प्रक्रियाओं का शास्त्र है और इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया यन्त्रों पर आधारित है; यथा—पारद-संस्कार से लेकर शोधन, मारण, सत्त्वपातन, द्रुति आदि तक। अतः यह निश्चित है कि यन्त्रों का विकास रसशास्त्र के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। यद्यपि रसशास्त्र का विकास अति प्राचीन काल में ही हो चुका था, तथापि वर्त्तमान में उपलब्ध प्राचीन साहित्यों के आधार पर यह काल छठी शताब्दी के बाद माना जाता है और यह काल सिद्ध नागार्जुन का काल है। वर्तमान में रसशास्त्र के सम्पूर्ण व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में जो मौलिक साहित्य उपलब्ध हैं, वे हैं—रसहृदयतन्त्र एवं रसार्णव। इतिहासवेत्ताओं में इन दोनों ग्रन्थों के काल के सम्बन्ध में काफी मतभेद हैं। उन मतभेदों के बावजूद भी इस समय के उपलब्ध साहित्यों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्राचीन, स्वतन्त्र एवं सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ हैं।

रसहृदयतन्त्र—इसके लेखक भगवद्गोविन्दपादाचार्य हैं। जिनका सम्बन्ध जगद्गुरु शंकराचार्य के साथ स्थापित किया जाता है। तदनुसार इसका काल ८वीं शताब्दी का है। इस ग्रन्थ का मुख्य विवेच्य विषय पारद और उसके संस्कार हैं। संस्कारों के क्रम से सम्बन्धित सम्पूर्ण सहयोगी द्रव्यों एवं प्रक्रियाओं का विस्तार इसमें वर्णित है। यन्त्रों का वर्णन किसी एक अवबोध (अध्याय) में एकत्र न कर उपयुक्त स्थलों पर उल्लिखित है। इनमें—दोलायन्त्र, पातनायन्त्र, खल्व एवं तप्तखल्व यन्त्र, कच्छपयन्त्र, बालुकायन्त्र, जारणायन्त्र, विद्याधरयन्त्र, धूपयन्त्र, हण्डिका, हंसपाकयन्त्र दीपिकायन्त्र, पुट, मूषा एवं सारणा आदि यन्त्रों का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है।

लघुलोहकटोरिकया कृतषण्मृत्सन्धिलेपयाऽऽच्छाद्य।
पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारैः खदिरकोलभवैः॥
स्वेदनतो मर्दनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि'॥
(र० र० स० ९।१३-१५)

Scanned with CamScanner

रसार्णवतन्त्र—इसका काल १०वीं शताब्दी का माना जाता है। इसके लेखक कौन थे; यह निश्चय नहीं हो पाया है। पार्वती-परमेश्वर-संवादात्मक इस ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता भैरव के नाम के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि यही इसके रचयिता हैं। यह धातुवाद विषयक एक विशिष्ट एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। रसार्णव के चतुर्थ पटल में यन्त्र, मूषा एवं अग्नि का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थलों पर संस्कार आदि के क्रम में यन्त्रों का उल्लेख देखा जा सकता है। इसमें मुख्यरूप से दोलायन्त्र, जारणायन्त्र, सोमानलयन्त्र, गर्भयन्त्र, हंसपाकयन्त्र, कोष्ठ्कयन्त्र, खल्वयन्त्र, कच्छपयन्त्र, बालुकायन्त्र, भूधरयन्त्र, विद्याधरयन्त्र, ऊर्ध्वपातनयन्त्र, पद्मयन्त्र, दीपयन्त्र, भ्रामरयन्त्र, चक्रयन्त्र तथा कुछ गुप्त यन्त्रों का वर्णन किया गया है। यन्त्र के लिए कहा गया है—यन्त्र एक परम रहस्य (मर्म) है। महाबलशाली औषधियों के बिना ही केवल यन्त्र क्षणभर में पारद का बन्धन कर देता है[1]।

रसेन्द्रचूड़ामणि—यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी में सोमदेव द्वारा लिखा गया है। इसके ५वें अध्याय में यन्त्रों का वर्णन किया गया है। इसमें वर्णित यन्त्र हैं—दोलायन्त्र, खल्व एवं तप्तखल्वयन्त्र, बलभीयन्त्र, उर्ध्वपातनयन्त्र, अधःपातनयन्त्र, तीर्यक्पातन यन्त्र, कच्छपयन्त्र, अन्तरालिकयन्त्र, तापिकायन्त्र, प्रतिगर्भयन्त्र, गर्भयन्त्र, पालिकायन्त्र इष्टिकायन्त्र, विद्याधरयन्त्र, डमरूयन्त्र, नाभियन्त्र, ग्रस्तयन्त्र, तुलायन्त्र, स्थालीयन्त्र, कोष्ठिकायन्त्र, बालुका-लवणयन्त्र, धूपयन्त्र, कुण्डकयन्त्र, डेकीयन्त्र, सोमानलयन्त्र, तथा नालिकायन्त्र।

रसरत्नसमुच्चय—कालक्रम से यह रसेन्द्रचूड़ामणि के बाद का ग्रन्थ है। ग्रन्थ के ९वें अध्याय में यन्त्रों का व्यवस्थित वर्णन किया गया है। इनके द्वारा वर्णित यन्त्र हैं—दोलायन्त्र, स्वेदनीयन्त्र, पातनायन्त्र, अधःपातनयन्त्र, तिर्यक्पातनयन्त्र, कच्छपयन्त्र, दीपिकायन्त्र, डेकीयन्त्र, जारणायन्त्र, विद्याधरयन्त्र, सोमानलयन्त्र, गर्भयन्त्र, हंसपाकयन्त्र, बालुकायन्त्र, लवणयन्त्र नालिकायन्त्र, भूधरयन्त्र, पुटयन्त्र, कोष्ठीयन्त्र, बलभीयन्त्र, पालिकायन्त्र, घटयन्त्र, इष्टिकायन्त्र, हिंगुलाकृष्टि विद्याधरयन्त्र, डमरूयन्त्र, नाभियन्त्र, ग्रस्तयन्त्र, स्थालीयन्त्र, धूपयन्त्र, कंदुकयन्त्र एवं खल्वयन्त्र (अर्धचन्द्राकार, वर्तुल एवं तप्तखल्व)।

आनन्दकन्द—यह १५वीं शताब्दी का ग्रन्थ है, जो तन्जौर से सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ था। इसमें यन्त्रों की संख्या ४१ के लगभग है। ये यन्त्र इस प्रकार हैं—खल्वयन्त्र, तप्तखल्वयन्त्र, बलभीयन्त्र, ऊर्ध्वपातन-अधःपातन-तीर्यक्पातन यन्त्र, कच्छपयन्त्र, अन्तरालिकायन्त्र, तापिकायन्त्र, गर्भपालिकायन्त्र, घटीयन्त्र, इष्टिकायन्त्र, विद्याधरयन्त्र, डमरूयन्त्र, नाभियन्त्र, ग्रस्तयन्त्र, तुलायन्त्र, स्थालीयन्त्र, कोष्ठिकायन्त्र, बालुकायन्त्र, लवणयन्त्र, धूपयन्त्र, कन्दुकयन्त्र, ढेकीयन्त्र, सोमानलयन्त्र, नालिकायन्त्र,

१. 'यन्त्रमेकं परं मर्म यत्रौषध्यो महाबलम्।
औषधिरहितश्चायं हठाद् यन्त्रेण बध्यते'॥ (रसार्णव० ४।२०-२१)

दीपिकायन्त्र, दोलायन्त्र, कोष्ठीयन्त्र, गर्भयन्त्र, हंसपाकयन्त्र, मूषायन्त्र, स्तनयन्त्र, नागमायूरयन्त्र, चक्रयन्त्र, खेचरयन्त्र, कापालिकयन्त्र, भूधरयन्त्र, पटुयन्त्र एवं पातालयन्त्र।

इस प्रकार परवर्ती आचार्यों ने भी न्यूनाधिक रूप में यन्त्रों का वर्णन किया है। उनमें अधिकांश यन्त्र पूर्वाचार्यों द्वारा कथित हैं। श्रीनिरंजन गुप्त की पारदसंहिता में सर्वाधिक यन्त्रों का संग्रह देखा जा सकता है। इन्होंने ४५ यन्त्रों का वर्णन प्रस्तुत किया है, जिनमें प्राचीन और कुछ अर्वाचीन दोनों प्रकार के यन्त्र हैं; यथा—खल्वयन्त्र, वर्तुलयन्त्र, तप्तखल्व, दोला, स्वेदन, कन्दुक, विद्याधर, डमरू, बलभी, ऊर्ध्वपातन, अधपातन, तीर्यग्पातन, पालिका, इष्टिका, कच्छप, दीपिका, सोमानल, नाभि, तुला, जारणा, कूपिका, कवची, वालुका, लवण, नलिका, पुट, भूधर, गर्भ, ग्रस्त, चक्र, वडवानल, धूप, हंसपाक, कोष्ठी, अंगारकोष्ठी, पातालकोष्ठी, वङ्कनालकोष्ठी, पाताल, नाडिका, ऊर्ध्वनालिका, तेजो, वारुणी, वक, घट, स्थाली एवं मूषा आदि प्राचीन यन्त्र तथा नूतन यन्त्रों में—ककूरम, खारिका, वली, गजकूप, चौकी, नाग, मदन, कनकसुन्दरी, विगर्भी, नारी, चूता, सागर, झंझरी, सारंग, गर्तवारी, गजकुम्भ, चाकी एवं नलनी यन्त्र हैं।

वर्तमान समय का सर्वाधिक लोकप्रिय रस-ग्रन्थ रसतरंगिणी में किंचित् परिवर्तन के साथ निम्न यन्त्रों का वर्णन किया है; यथा—दोलायन्त्र, उर्ध्वपातनयन्त्र, अधःपातनयन्त्र, तीर्यक्पातनयन्त्र, भस्मयन्त्र, कच्छपयन्त्र, भूधरयन्त्र, मृदंगयन्त्र, स्थालीयन्त्र, बालुकायन्त्र, लवणयन्त्र, पुटयन्त्र, वाष्पस्वेदनयन्त्र, दविकायन्त्र, पालिकायन्त्र, डमरूयन्त्र, नाड़िकायन्त्र, पातालयन्त्र, खल्वयन्त्र, (वर्तुल एवं द्वाणी) तथा उलूखलयन्त्र।

वर्तमान में रसशास्त्र के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनको देखने से यह स्पष्ट होता है कि रसशास्त्र के विकास के साथ ही साथ यन्त्रों का भी विकास होता गया। बल्कि यदि यह कहा जाय की यन्त्रों के विकास के साथ-साथ ही रसशास्त्र का भी विकास हुआ तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि यह शास्त्र प्रक्रियाओं पर आधारित है और इसकी प्रक्रियाएँ यन्त्रापेक्षी हैं। अनेक रसाचार्यों द्वारा अपनी शिष्य-परम्परा के क्रम में विविध प्रक्रियाओं का आविष्कार, अध्ययन एवं अध्यापन होता है एवं उसी क्रम में अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार यन्त्रों का निर्माण भी करते गये। जिन्होंने जितनी प्रक्रियाएँ कीं, उन्हें उतने ही यन्त्रों की आवश्यकता प्रतीत हुई और सुविधानुसार यन्त्रों की कल्पना-रचना करते गये। बाद के अध्येता संग्रहकार अपने ग्रन्थों में गुरुकुल-परम्परा में प्रचलित विभिन्न प्रक्रियाओं एवं उपयोगी यन्त्रों का भी अपने ग्रन्थों में संग्रह करते चले गये, जिसका रूप इन संग्रह-ग्रन्थों में यन्त्रों की अधिक संख्या से स्पष्ट होता है। वस्तुतः औषधीय प्रक्रियाओं के अलावा रसशास्त्र की मौलिक प्रक्रियाओं का इनमें अभाव-सा प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

मूषा (Crucible)

रसशास्त्र की प्रक्रियाओं में विभिन्न प्रकार की (मृदु, मध्य, तीव्र) अग्नि का बड़ा ही महत्त्व है। अग्नि में पक्व होकर ही द्रव्य में अपेक्षित स्वरूप एवं गुणों की प्राप्ति होती है। द्रव्य को सीधा अग्नि में न रखकर किसी पात्र-विशेष में रखकर फिर अग्नि प्रदान करना, जिससे द्रव्य में किसी अन्य अपद्रव्यों का मिश्रण न हो, साथ ही पात्र अग्नि को सहन करने योग्य हो अर्थात् तीव्र से तीव्र अग्नि में भी वह विकृत न हो, ऐसे पात्रविशेष को मूषा के नाम से कहा गया है।

मूषा की निरुक्ति—जो अवांछित दोषों को दूर करती हो अथवा नष्ट कर देती हो, उस यन्त्रविशेष को मूषा कहते हैं[1]

मूषा के पर्याय—मूषा, क्रौंचिका, कुमुदी, करहाटिका, पाचनी एवं वह्निमित्रा मूषा के ये सभी नाम हैं।[2] इन पर्यायों में—मूषा—दोषहारकता को, कुमुदी—आकृति को, क्रौंचिका एवं करहाटिका—उपादान द्रव्य (मिट्टी) के प्राप्ति-स्थान को, पाचनी—अग्निकर्म को तथा वह्निमित्रा—अग्निसहत्व को सूचित करता है।

मूषा के उपादन द्रव्य—मूषा-निर्माण हेतु उपादान द्रव्य मृत्तिका और लौह ये दो पदार्थ मुख्य हैं[3]।

मूषा हेतु उपयोगी मिट्टी—पीली, सफेद अथवा लाल वर्ण की पिण्डरूप (ढेला-सदृश) बालुकारहित तथा तीव्र अग्नि (धमन से उत्पन्न) को सहन करने वाली मिट्टी मूषा निर्माण के लिए उत्तम होती है। इसके अभाव में वल्मीक (दीमक) अथवा कुम्भार की मिट्टी का उपयोग करना चाहिए[4]।

सामान्य मूषा—सामान्य मूषा के निर्माण के लिए जला हुआ तुष (भूसी), शण के रेशे, लकड़ी के कोयले का चूर्ण एवं घोड़े की लीद—इन सभी को समान भाग में लेकर उतनी ही मात्रा में मिट्टी मिलाकर इमामदस्ते में लौहदण्ड से कूटकर बारीक बना लें। इससे मूषा-निर्माण योग्य मिश्रण तैयार हो जाता है।[5] इसमें अपेक्षित जल डालकर मूषा का निर्माण करना चाहिए।

१. 'मुष्णाति दोषान्मूषेयान् सा मूषेति निगद्यते'। (र० र० स० १०।२)
२. 'मूषा हि क्रौञ्चिका प्रोक्ता कुमुदी करहाटिका।
पाचनी वह्निमित्रा च रसवादिभिरीर्यते'॥ (र० र० स० १०।१)
३. 'उपादानं भवेत्तस्य मृत्तिका लोहमेव च'। (र० र० स० १०।३)
४. 'मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा।
चिराध्मानसहा सा हि मूषार्थमतिशस्यते।
तदभावे च वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते'॥ (र० र० स० १०।६)
५. 'या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा हयलद्दिना च।
लोहेन दण्डेन च कुट्टिता या साधारणा स्यात्खलु मूषिकार्थे'॥
(र० र० स० १०।७)

इसी प्रकार खड़िया-मिट्टी, जला हुआ तुष, बिना बुका हुआ कोयला, शण के तन्तु, खपरे का चूर्ण, घोड़े की लीद, लोहकिट्ट और काली मिट्टी—ये सभी मूषा निर्माण के लिए उपयोगी होते हैं।[1]

वज्रमूषा—वज्रमूषा-निर्माण हेतु ३ भाग मिट्टी, २ भाग शणतन्तु; २ भाग घोड़े की लीद, १ भाग दग्धतुष, १ भाग खड़िया तथा ½ भाग लौह किट्ट—इन्हें लेकर सबको कूटकर बारीक चूर्ण कर लें। इसमें कोयला एवं खपरे का भी चूर्ण सम्मिलित १ भाग मिलाया जा सकता है। इन सभी द्रव्यों से निर्मित मूषा वज्रमूषा कहलाती है।[2] इस मूषा का उपयोग सत्त्वपातन के लिए किया जाता है।

पक्वमूषा—कुम्भार द्वारा निर्मित छोटे भाण्ड के स्वरूप का मजबूत एवं पकाया हुआ मूषा पक्वमूषा कहलाता है। इस मूषा का उपयोग पोट्टली रस पकाने के लिए किया जाता है।[3]

गोस्तनी मूषा—गाय के स्तन के समान लम्बगोल मूषा जिसके ढक्कन के ऊपर की रचना चोटी से समान हो (संदंश से पकड़ने आदि की सुविधा हेतु) ऐसी आकृति वाली मूषा गोस्तनी मूषा कहलाती है। इसका उपयोग सत्त्वों को द्रवित करने तथा शुद्ध करने के लिए किया जाता है।[4]

वृन्ताकमूषा—वृन्ताक (बैंगन) की आकृति की मूषा बना कर इसमें १२ अंगुल की नली लगायें, जिसका ऊर्ध्वभाग धत्तूर पुष्प के सदृश हो और यह भाग मूषा के मुख के साथ दृढ़ रूप से जुड़ा हुआ हो जिसकी परिधि ८ अंगुल की हो तथा नली दोनों ओर से खुली हो। खर्पर सदृश द्रव्यों के सत्त्वपातन हेतु इसका प्रयोग किया जाता है।[5]

मल्लमूषा—दो दृढ़ मृत्तिका शराव को आमने-सामने से जोड़कर जब सम्पुट की आकृति बनाते हैं तो इसे मल्लमूषा कहते हैं (वस्तुतः यह दो शरावों से निर्मित सम्पुट

१. 'श्वेताश्मानस्तुषा दग्धाः शिखित्राः शणखर्परे।
लद्दिः किट्टं कृष्णमृत्स्ना संयोज्या मूषिकामृदि'॥ (र० र० स० १०।८)
२. 'मृदस्त्रिभागाः शणलद्दिभागौ भागश्च निर्दग्धतुषोपलादेः।
किट्टार्धभागं परिखण्डय वज्रमूषां विदध्यात् खलु सत्त्वपाते'॥
(र० र० स० १०।९)
३. 'कुलालभाण्डरूपा या दृढा च परिपाचिता।
पक्वमूषेति सा प्रोक्ता पोट्टल्यादिविपाचने'॥ (र० र० स० १०।२७)
४. 'मूषा या गोस्तनाकारा शिखायुक्तपिधानका।
सत्त्वानां द्रावणे शुद्धौ मूषा सा गोस्तनी भवेत्'॥ (र० र० स० १०।२५)
५. 'वृन्ताकाकारमूषायां नालं द्वादशकाङ्गुलम्।
धत्तूरपुष्पवच्चोर्ध्वं सुदृढं श्लिष्टपुष्पवत्॥
अष्टाङ्गुलञ्च सच्छिद्रं सा स्याद् वृन्ताकमूषिका।
अनया खर्परादीनां मृदूनां सत्त्वमाहरेत्'॥ (र० र० स० १०।२३-२४)

Scanned with CamScanner

है)। शास्त्रकार ने इसका उपयोग पर्पटी आदि रसों के स्वेदन हेतु उपयोगी बतलाया है।[1]

गोलमूषा—मिट्टी की गोलाकार मूषा जिसमें मुख नहीं होता, जिसके मध्य पुट-पाक हेतु योग्य द्रव्य रखा होता है, गोलमूषा कहलाती है। यह अपने अन्दर द्रव्य स्थित द्रव भाग को बाहर आने से रोक कर रखता है[2]। वस्तुतः इस गोलमूषा में द्रव्य भर कर छिद्र को ढक्कन से बन्द कर देने पर यह बिना मुख का प्रतीत होता है, अतः इसे निर्वक्त्र कहा गया है।

महामूषा—जिस मूषा का तल भाग संकीर्ण (कूर्पर-केहुनी सदृश) तथा ऊपर का भाग क्रमशः विस्तृत हो, और देखने में बड़े वृन्ताक (बैंगन) जैसा स्थूल हो, उसे महामूषा कहते हैं। यह लोह द्रावण अभ्रकसत्त्वनिष्कासन, सत्त्वद्रावण एवं सत्त्व को पुट देने के लिए उपयोगी माना जाता है[3]।

वज्रद्रावणी मूषा—चिकनी मिट्टी का पंक, भूनाग उत्सर्जित मिट्टी से धोकर प्राप्त कण, शणतन्तु, दग्धतुष—सभी समान भाग में लेकर उसमें उतनी ही मात्रा में मूषोपयोगी मिट्टी मिला महिषी के दुग्ध से मर्दित मिट्टी से निर्मित मूषा को वज्रद्रावणी मूषा कहते हैं। इसमें वज्र को भी द्रवित किया जा सकता है।[4] इसी वज्रद्रावणी मूषा में खटमल के रक्त का लेप कर सुखा कर पुनः इस पर सुगन्धबाला, नागरमोथा एवं आकाशवेल के स्वरस या क्वाथ का लेप करने से यह देर तक (४ पल तक) तीव्र अग्नि को सहन करने में समर्थ होता है[5]।

योगमूषा—कोयले एवं तुष की राख, मिट्टी, वल्मीक मिट्टी तथा उपयुक्त विड्—सभी समान भाग में लेकर एकत्र कूट-पीसकर मूषा का निर्माण कर उस मूषा के

---

१. 'निर्दिष्टा मल्लमूषा या मल्लद्वितयसम्पुटात्।
पर्पट्यादिरसादीनां स्वेदनाय प्रकीर्तिता' ॥ (र० र० स० १०।२६)

२. 'निर्वक्त्रगोलकाकारा पुटनद्रव्यगर्भिणी।
गोलमूषेति सा प्रोक्ता सत्त्वरं द्रव्यरोधिनी' ॥ (र० र० स० १०।२७)

३. 'तले या कूर्पराकारा क्रमादुपरि विस्तृता।
स्थूलवृन्ताकवत्स्थूला महामूषेत्यसौ स्मृता।
सा चायोऽभ्रकसत्त्वादेः पुटाय द्रावणाय च' ॥ (र० र० स० १०।२९)

४. 'गारभूनागधौताभ्यां शणैर्दग्धतुषैरपि।
समैः समा च मूषा मृन्महिषीदुग्धमर्दिता।
तया विरचिता मूषा वज्रद्रावणकोचिता'॥

५. तया विरचिता मूषा लिप्ता मत्कुणशोणितैः। (र० र० स० १०।१२-१३)
वालाब्दध्वनिमूलैश्च वज्रद्रावणकौञ्चिका।
सहतेऽग्नि चतुर्यामं द्रवेणापूरिता सती'॥ (र० र० स० १०।२०-२१)

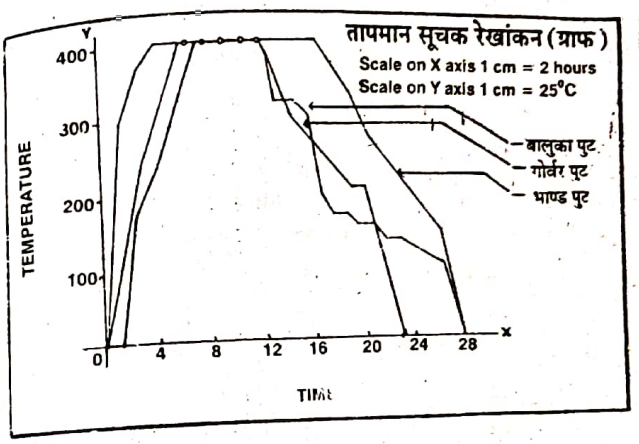

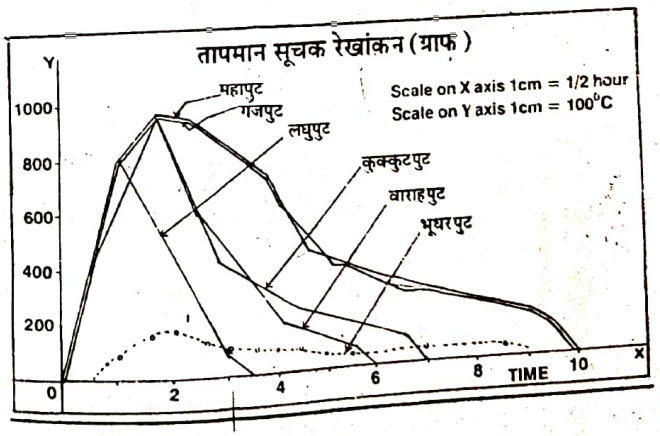

Scanned with CamScanner

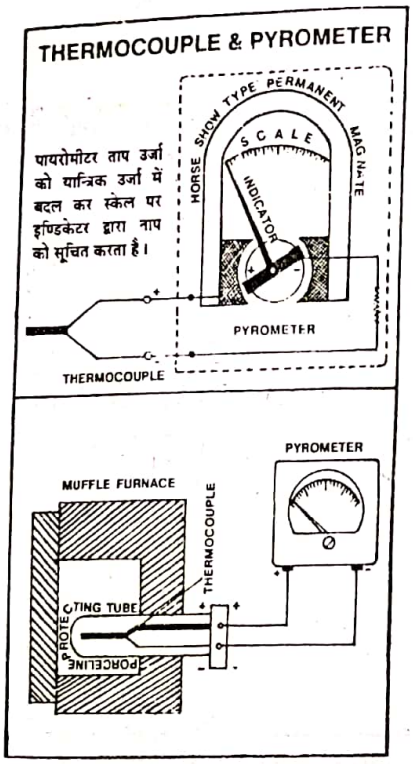

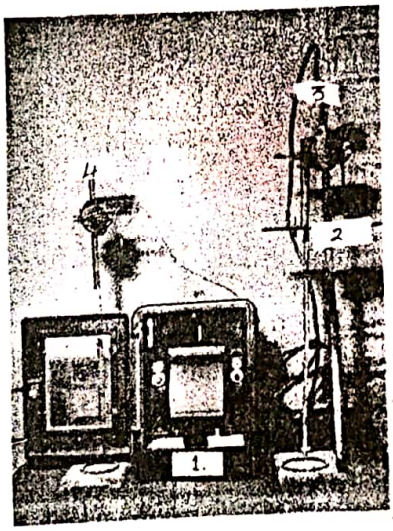

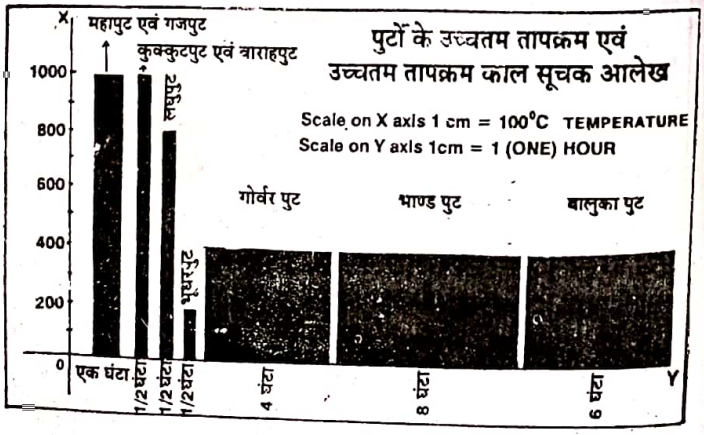

Scanned with CamScanner

अन्दर-बाहर विड् का लेप कर दें। इसे योगमूषा कहते हैं। इस मूषा में सिद्ध किया गया पारद विशेष गुणकारी होता है[1]।

गार मूषा—६ भाग कीचड़, एक भाग लोहकिट्ट (मण्डूर), १ भाग कोयला, १ भाग शणतन्तु तथा १ भाग काली मिट्टी—इन सबको दूध से मर्दनकर बनाई गई मूषा गारमूषा कहलाती है। यह मूषा २ प्रहर (६ घंटे) तक की तीव्र अग्नि को सहन करने में समर्थ होती है और द्रवित नहीं होती[2]।

वरमूषा—१ भाग वस्त्र, १ भाग तुष, १ भाग कोयला, ४ भाग मूषोपयोगी मिट्टी एवं ४ भाग कीचड़—इन सबको अच्छी तरह मर्दनकर बनाई गई मूषा वरमूषा कहलाती हैं। यह मूषा ३ घंटे की अग्नि सहन कहने में समर्थ होती है[3]।

वर्णमूषा—पाषाणरहित रक्तवर्ग के द्रव्य के स्वरस अथवा क्वाथ से भावित मूषोपयोगी मिट्टी द्वारा निर्मित मूषा को फिटकिरी एवं कासीस का लेप कर देने पर वर्णमूषा कहलाती है। इसका उपयोग द्रव्यों में वर्णोत्कर्ष के लिए किया जाता है। यदि रक्तवर्ग की जगह श्वेतवर्ग के द्रव्यों से मिट्टी को भावित कर मूषा का निर्माण किया जाय तो वह रूप्य मूषा कहलाती है[4]।

विड्मूषा—मूषोपयोगी मिट्टी से मूषा का निर्माण कर उसके अन्दर-बाहर, जिस धातु के लिए जो विड् उपयोगी हो उसका लेप कर सुखाकर उपयोग करना चाहिए। इसे विड्मूषा कहा जाता है। यह देहलोहकर योग तैयार करने के लिए उपयोगी है[5]।

मण्डूकमूषा—मण्डूक (मेढक) के आकार की मूषा जिसकी लम्बाई, चौड़ाई

---

१. 'दग्धाङ्गारतुषोपेता मृत्स्ना वल्मीकमृत्तिका।
तत्तद्विडसमायुक्ता तत्तद्विडविलेपिता॥
तया या विहिता मूषा योगमूषेति कथ्यते।
अनया साधितः सूतो जायते गुणवत्तरः'॥ (र० र० स० १०।१०-११)

२. 'दुग्धे षड्गुणगाराढ्या किट्टाङ्गारशणान्विता।
कृष्णमृद्भिः कृता मूषा गारमूषेत्युदाहृता॥
यामयुग्मपरिध्मानान्नासौ द्रवति वह्निना'॥ (र० र० स० १०।१४)

३. 'वस्त्राङ्गारतुषास्तुल्यास्तच्चतुर्गुणमृत्तिका।
गारश्च मृत्तिकातुल्यः सर्वैरेतैर्विनिर्मिता॥
वरमूषेति निर्दिष्टा याममग्निं सहेत सा'॥ (र० र० स० १०।१५)

४. 'पाषाणरहितारक्ता रक्तवर्गानुभाविता।
मृत्तया साधिता मूषा क्षितिखेचरलेपिता।
वर्णमूषेति सा प्रोक्ता वर्णोत्कर्षे नियुज्यते॥
एवं हि श्वेतवर्गेण रूप्यमूषा प्रकीर्तिता'॥ (र० र० स० १०।१६-१७)

५. 'तत्तद्विडमृदोद्भूता तत्तद्विडविलेपिता।
देहलोहार्थयोगार्थं विडमूषेत्युदाहृता'॥ (र० र० स० १०।१८)

एवं गहराई प्रत्येक ६-६ अंगुल हो। इसे जमीन के अन्दर गाड़कर उपर से अग्नि दी जाती है। इसे मण्डूक मूषा कहते हैं[1]।

मुसल मूषा—आठ अंगुल की गोलाकार मूषा जिसका तल भाग चिपटा हो; इसे मुसलमूषा कहते हैं। इसे चक्रबद्ध पारद को सिद्ध करने के लिए उपयोगी बतलाया गया है[2]।

उपरोक्त मूषा के अतिरिक्त भी उपादान-भेद से अन्य अनेक मूषाओं का वर्णन विभिन्न रसग्रन्थों में उपलब्ध होता है। रसशास्त्र की प्रक्रियाओं में, जहाँ अग्नि-क्रिया करनी होती है, अधिकांश स्थलों में मूषा एक प्रमुख उपकरण के रूप में काम में लायी जाती है। धातुवाद की प्रक्रियाओं के लिए तो इसका और भी महत्त्व है। रसहृदयतन्त्र एवं रसार्णव आदि उपलब्ध प्राचीन रस-ग्रन्थों में भी इसके निर्माण एवं उपयोग का वर्णन किया गया है। विभिन्न मूषा के नामकरण से मूषा के उपादान द्रव्य, मूषा की आकृति एवं मूषा में सम्पन्न होने वाली क्रियाओं का ज्ञान होता है। मूषा की महत्ता निम्न कथन से सिद्ध होती है—मूषा की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि पुरुषार्थी पुरुष मूषा के मुख से निकली हुई एक कौड़ी को भी मूल्यवान् समझते हैं। किन्तु मानी व्यक्ति दुर्जन व्यक्ति को नमस्कार कर अथवा उनको झूठा सम्मान देकर प्राप्त लाखों की धनराशि को भी धिक्कार देते हैं[3]।

मूषा का आधुनिक स्वरूप

मूषा को प्रयोगशाला की भाषा में क्रूसिबल (Crucible) या घड़िया कहते हैं। वर्तमान समय में इसका निर्माण सिलिका, ग्रेफाइट, कान्ति मिट्टी या मिट्टी द्वारा किया जाता है। बड़े-बड़े उद्योगों में धातु पिघलाने के लिए कान्ति मिट्टी या ग्रेफाइट की बनी मूषा का उपयोग किया जाता है। जो अधिक से अधिक अग्नि सहन करने तथा कई बार के उपयोग में आता है। सुनार लोग जो इस्तेमाल करते हैं, वह विशेष रूप से विशेष प्रकार की मिट्टी द्वारा निर्मित होता है तथा सामान्य मिट्टी के दीये से थोड़ा ऊँचे किनारे वाला होता है। रसशास्त्र के प्रयोगों के लिए द्रव्य, उसकी मात्रा, या सुविधा के ख्याल से इनमें से उपयुक्त का चुनाव किया जा सकता है। तथापि बाजार में विशेषरूप से उपलब्ध कान्ति मिट्टी या ग्रेफाइट की मूषा जो नम्बर के आधार पर छोटी-बड़ी मिलती है, उसी का उपयोग किया जाता है। इस मूषा के

१. 'मण्डूकाकारमूषाया निम्नताऽऽयामविस्तरा।
षडङ्गुलप्रमाणेन मूषा मण्डूकसंज्ञिका॥
भूमौ निखन्य तां मूषां दद्यात् पुटमथोपरि'॥ (र० र० स० १०।२९)
२. 'मूषा या चिपिटा मूले वर्तुलाऽष्टाङ्गुलोच्छ्राया।
मूषा सा मूसलाख्या स्याच्चक्रबद्धरसे हिता'॥ (र० र० स० १०।३०)
३. 'मूषामुखविनिष्क्रान्ता वरमेकापि काकिणी।
दुर्जनप्रणिपातेन धिग्लक्षमपि मानिनाम्'॥ (र० र० स० १०।४)

उपादान (कान्ति मिट्टी, ग्रेफाइट) आदि से मूषा की आकृति देकर अग्नि में पका दिया जाता है।

सन्धि-बन्धन

सन्धिलेप के पर्याय—मूषा एवं उसके पिधानक के सन्धि लेप का बन्धन, सन्धि-लेपन, अन्ध्रण, रन्ध्रण, संश्लिष्ट एवं सन्धिबन्धन आदि पर्याय हैं[1]।

दो पात्रों के सन्धिस्थल को जोड़ना सन्धि-बन्धन कहलाता है। यह पात्र एवं सन्धि-बन्धन के उपादान द्रव्य एवं प्रक्रियाविशेष पर आधारित होता है। रसशास्त्र की प्रक्रियाओं में जहाँ अग्नि की क्रिया द्वारा द्रव्य को सिद्ध करना होता है, ऐसे अधिकांश स्थलों पर सन्धि-बन्धन की आवश्यकता पड़ती है। द्रव्य को अग्नि में उपचारित करने के लिए पात्रों का उपयोग किया जाता है। अधिकांश पात्र आकृति के भेद के बावजूद मिट्टी के होते हैं तथा कुछ धातु-निर्मित भी होते हैं। सन्धि-बन्धन का उद्देश्य पात्र की सुरक्षा, पात्र-स्थित द्रव्य की सुरक्षा एवं सम्यक् प्रक्रिया से है। द्रव्य को अग्नि प्रदान करने के लिए पात्र के रूप में मूषा, मृत्तिका शराव, मृत्तिका भाण्ड, कूपी आदि लिये जाते हैं तथा इसके साथ दूसरी मूषा, दूसरा मृत्तिका शराव एवं भाण्ड के ढक्कन के रूप में भाण्ड-मुख के आकार का मृत्तिका पिधानक (ढक्कन-शराव), कूपी मुद्रा आदि लिया जाता है।

सन्धिबन्धन के द्रव्य—दृढ़तापूर्वक जोड़ने के लिए मूषा के उपादान द्रव्यों में—मृत्तिका, लौहकिट्ट, तुष, खटिका, चूना, मुल्तानी मिट्टी, वह्निमृत्स्ना, वस्त्र, गोधूम पिष्ट एवं जल, महिषी-क्षीर आदि मुख्य हैं[2]। अलग-अलग प्रकरण में कुछ भिन्न द्रव्य यथा—वानस्पतिक क्षीर, लाक्षा आदि का उपयोग किया जाता है।

मदनमुद्रा

उदुम्बर (गूलर) एवं वटवृक्ष की क्षीर १-१ पल, लाक्षा १ पल एवं चुम्बक लौह चूर्ण ७ पल को एकत्र लेकर कुट्टनक खल्व में अतसी के तैल के साथ कूटते-कूटते मिश्रण को मोम की तरह चिकना एवं मृदु बना लें, तत्पश्चात् इसका उपयोग मूषा अथवा कूपी के सन्धिबन्धन के लिए करें। इस मोम सदृश मिश्रण को मदनमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा पारद के जारण एवं मारण के लिए उपयोगी है[3]।

१. 'मूषापिधानयोर्बन्धे बन्धनं सन्धिलेपनम्।
अन्ध्रणं रन्ध्रणं चैव संश्लिष्टं सन्धिबन्धनम्'॥ (र० र० समु० १०।५)
२. 'मूषादीनां तु यत्सन्धौ किट्टाद्यैः···'। (र० तरं० ३।५)
३. 'औदुम्बराख्यवटदुग्धपलं पलञ्च लाक्षापलमृषिपलं त्वथ चुम्बकस्य।
सङ्कुट्यमानमतसीफलतैलमिश्रं सूतस्य जारणविधौ मदनाख्यमुद्रा॥
(आनन्दकन्द पृ० ६९०)
(मदनमुद्रा—र० रा० सु०, यो० चि०, ध० ध० सं०)

Scanned with CamScanner

हठमुद्रा

चुम्बक लौह के चूर्ण में समान भाग सूकर का रक्त मिलाकर सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त (रात्रि भर) लगातार कुट्टनक खल्व में कूटते रहने पर चुम्बक का चूर्ण मोम के सदृश मृदु एवं चिकना लेप-सा बन जाता है। इस लेप को हठमुद्रा कहते हैं[1]। इस प्रकार की मुद्रा तीव्र अग्नि में भी यथावत् बनी रहती है, तथा पारद की हानि को रोकने के लिए इसका उपयोग किया जाता है।

चुल्हिका

चुल्हिका का सामान्य अर्थ चूल्हा है। छोड़ा-बड़ा, मिट्टी-ईंट अथवा लोहे से निर्मित लकड़ी, कोयला अथवा अन्य किसी भी इन्धन को जलाने के लिए जिस साधन का हम उपयोग करते हैं, उसे चुल्हा या चुल्हिका कहते हैं।

चुल्हिका के पर्याय—अंगारधानिका, हसन्ती, हसन्तिका, अंगारशकटी, हसनी और चुल्लिका—ये सभी चुल्हिका के पर्याय कहे गये हैं।

इसका उपयोग मुख्यरूप से मृदु द्रव्यों को पकाने तथा वंग आदि के पिघलाने लिए किया जाता है।

कोष्ठी

अभ्रक एवं माक्षिक आदि द्रव्यों से सत्त्व प्राप्त करने तथा निष्कासित (पातित) सत्त्वों को शुद्ध करने के लिए विशेष प्रकार की विभिन्न भट्ठियों का उपयोग किया जाता है। इन भट्ठियों को कोष्ठी संज्ञा से सूचित किया जाता है। ये विविध आकार-प्रकार के होते हैं तथा इनकी विशिष्ट रचना का उद्देश्य तीव्र केन्द्रित अग्नि प्राप्त करना होता है।

अंगारकोष्ठी—कठोर समतल भूमि पर १½ हाथ लम्बी, चौड़ी एवं ऊँची मिट्टी की एक चौकोर भट्ठी बनावें। इसके अन्दर का रिक्त भाग १-१ हाथ लम्बा, चौड़ा एवं गहरा हो तथा चौकोर हो। इसे मिट्टी से अन्दर-बाहर लेपकर सुन्दर बना लें। इसके किसी एक दीवार में जिधर से उपयुक्त हो एक ४ अंगुल गोल छिद्र बना लें, जिसमें धमन यन्त्र की नली को जोड़ा जा सके। इस कोष्ठी में लकड़ी या पत्थर के कोयले डालकर ऊपर से द्रव्ययुक्त मूषा या औषधि युक्त द्रव्य का गोला रखकर धमन करें। इसे अंगारकोष्ठी कहते हैं।[2]

१. चुम्बकं लौह चूर्णं च क्रोडरक्तेन संयुतम्।
तत्र सर्वं प्रदातव्यं घनघातेन ताडयेत्॥
सन्ध्यारम्भोदयो यावत् सूर्यबिम्बं न दृश्यते।
हठमुद्रेति विख्यातं सर्वसिद्धैर्नमस्कृता॥ (आनन्दकन्द, पृ० ६८९)

२. 'नृपहस्तमितोत्सेधे तदर्धायामविस्तृता।
मध्यतश्चतुरस्रा च मृदा च परिलेपिता॥

पातालकोष्ठी—दृढ़ एवं समतल भूमि में एक बित्ता गहरा तथा उतना ही चौड़ा गोल आकार का एक गढ्ढा बना लें। उस गड्ढे के बीच में ४ अंगुल गहरा एवं उतना ही गोल एक छोटा गढ्ढा बना कर अन्दर से बाहर की ओर भूमि की सतह पर निकलती हुई एक तीरछी नली जोड़ दें। ४ अंगुल गोल गढ्ढे जिसके नीचे तिरछी नली का कोष्ठी वाला सिरा खुलता है, उस छिद्र पर एक ५ छिद्रयुक्त मिट्टी का प्याला रख दें। तिरछी नली के बाहरी सिरे को धमन यन्त्र से जोड़ दें। अब कोष्ठी को कोयलों से भरकर ऊपर द्रव्ययुक्त मूषा रखकर अग्नि प्रज्वलित कर भस्त्रिका (धमन यन्त्र) से धमन करें। यह कोष्ठी जमीन में गर्त बनाकर तैयार की जाती है, अतः इसे पाताल कोष्ठी कहते हैं। इस कोष्ठी से मृदु द्रव्यों का सत्त्वपातन किया जा सकता है[1]।

गारकोष्ठी—भूमि के अन्दर १२ अंगुल गहरी तथा ऊपर ९ अंगुल उठी हुई उतनी ही चौड़ी मुख वाली कोष्ठी मिट्टी से तैयार करें। कोष्ठी के तल भाग से ४ अंगुल ऊपर कोष्ठी के आभ्यन्तर दीवार से सटा हुआ एक गोल वलय लगा दें। इस वलय के सहारे (वलय पर) एक छिद्र युक्त जाली रख दें। इस जाली के ऊपर कोयला रखकर वंकनाल की सहायता से धमन करते हैं। इसे गारकोष्ठी कहा जाता है। इसका उपयोग सोना-चाँदी में किसी अन्य धातु की मिलावट होने पर उसे दूर करने के लिए करते हैं[2]।

चतुरङ्गुलमानेन रन्ध्रेण परिशोभिता।
नालिकां समकोणाञ्च रन्ध्रेण तीर्यङ् निवेशयेत्॥
नालिकाया मुखे चैव भस्त्रावक्त्रं निवेशयेत्।
आपूर्य कोकिलैः कोष्ठीं द्रव्यमूषान्वितां धमेत्॥
अङ्गारकोष्ठिका ख्याता द्रव्यढालनसाधिका।
सत्त्वानां पातने चेयं विशेषाद्विनियुज्यते'॥ (र० त० ३।२५-२८)
साथ ही द्रष्टव्य—रसरत्नसमुच्चय १०।३३-३८

१. 'दृढभूमौ चरेद्गर्तं वितस्त्या सम्मितं शुभम्।
वर्तुलं चाथ तन्मध्ये गर्तमन्यं प्रकल्पयेत्॥
चतुरङ्गुलविस्तारनिम्नत्वेन समन्वितम्।
गर्ताधरणिपर्यन्तं तिर्यङ्नालसमन्वितम्॥
किञ्चित् समुन्नतं बाह्यं-गर्ताभिमुखनिम्नगम्।
मृच्चक्रीं पञ्चरन्ध्राढ्यां गर्भगर्तोदरे क्षिपेत्॥
आपूर्य कोकिलैः कोष्ठीं प्रधमेदेकभस्त्रया।
पातालकोष्ठिका ह्येषा मूढ़नां सत्त्वपातिनी॥
ध्मानसाध्यपदार्थानां सद्भिर्नाम परिकीर्तिता॥ (र० र० स० १०।३९-४२)

२. द्वादशाङ्गुलनिम्ना या प्रादेशप्रमिता तथा।
चतुरङ्गुलतश्चोर्ध्वं वलयेन समन्विता॥
भूरिच्छिद्रवतीं चक्रीं वलयोपरि निक्षिपेत्।

Scanned with CamScanner

सत्त्वपातन कोष्ठियां एवं उनका आधुनिक स्वरूप

सत्त्वपातन अथवा धातु-द्रावण या द्वन्द्व मेलापन के लिए द्रव्य के अनुसार तीव्र एवं तीव्रतर अग्नि की आवश्यकता होती है। इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कोष्ठियां सुविधानुसार निर्मित की जाती हैं। जिनमें आङ्गार, पाताल एवं गार कोष्ठियों का रस-ग्रन्थों मे वर्णित आकार-प्रकार एवं स्वरूप का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त भी सुविधानुसार कोष्ठियों की रचना की जा सकती हैं। इन कोष्ठियों की रचना दो प्रकार की होती हैं—१. कोष्ठी तथा २. भस्त्रिका कोष्ठी, जो ईंट, पत्थर, मिट्टी या धातु (लौह) से तैयार की जा सकती है। कोष्ठी की रचना में तल की ओर से धमन के लिए उपयुक्त मार्ग-व्यवस्था तथा ऊपर से कोयला, द्रव्य, मूषा आदि रखने के लिए खुला भाग। धमन मार्ग एवं इन्धन द्रव्य के स्थान के बीच एक जाली की व्यवस्था भी आवश्यक है। जिसपर इन्धन द्रव्य टिका रहे तथा सुगमतापूर्वक बिना किसी अवरोध के नीचे से धमन का कार्य सम्पन्न हो सके। इस प्रक्रिया में लगने वाले समय, अग्नि की मात्रा, द्रव्य की मात्रा आदि के आधार पर धमन यन्त्र एवं कोष्ठी के आकार-प्रकार का चयन एवं निर्माण किया जा सकता है।

धमन यन्त्र

प्राचीन काल से इस कार्य के लिए चमड़े से निर्मित भस्त्रिका (भाथी) का उपयोग होता आया है। वर्तमान में विद्युत् चालित ब्लोअर जो अलग-अलग आकार एवं शक्ति के अनुसार उपलब्ध होता है, उपयोगिता के आधार पर इसका चयन करना चाहिए।

अग्नि की मात्रा इन्धन के प्रकार, उसकी मात्रा तथा धमन पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में भी चुनाव प्रयोगकर्त्ता पर निर्भर करता है। कोष्ठी के निर्माण में वर्तमान समय में फायर ब्रीक्स का एवं फायर (वह्निमृत्स्ना) क्ले का उपयोग अधिक श्रेष्ठ होता है।

वंकनाल

एक अरत्नि (मध्यमा अंगुली से कुहनी-पर्यन्त) प्रमाण की मूषोपयोगी मिट्टी से लम्बी नली बनायें। एक अन्य ५ अंगुल लम्बी तथा नीचे की ओर मुड़ी हुई दूसरी नली इस प्रकार की बनायें जो लम्बी नली में प्रविष्ट हो सके। इन्हें जोड़ देना चाहिए। इसे वंकनाल कहा जाता है। यह कम मात्रा में सोना-चाँदी आदि पिघलाने अथवा उसकी मिलावट को पृथक् करने के लिए मुख से फूंककर अग्नि तीव्र करने के उपयोग में लिया जाता है[1]।

शिखित्रांस्तत्र निक्षिप्य प्रधमेद्वङ्कनालतः ॥
गारकोष्ठीयमाख्याता मृष्टलोहविनाशिनी' ॥ (र० र० स० १०।४३-४४)

१. मूषामृद्भिर्विधातव्यमरत्निप्रमितं दृढम्।
अधोमुखञ्च तद्वक्त्रे नालं पञ्चाङ्गुलं खलु ॥
वङ्कनालमिदं प्रोक्तं दृढध्यानाय कीर्तितम् ॥ (र० र० स० १०।४५)

पुट

रसशास्त्र में भस्मीय द्रव्यों को भस्म करने के लिए जो अग्नि द्वारा पाकक्रिया की जाती है, उसे पुट कहते हैं।

परिभाषा—रस, उपरस, साधारण रस, धातु, उपधातु, रत्न, उपरत्न आदि द्रव्यों के पाक में लगने वाली अग्नि के मान को सूचित कराने वाला माध्यम पुट कहलाता है। न्यून अथवा अधिक पाक (अग्नि) अभीष्ट नहीं है। अच्छी प्रकार पक्व औषधि ही हितकर होती है।[1]

जिन द्रव्यों का उपयोग भस्म के रूप में होता है, ऐसे द्रव्यों के शोधन एवं भावना के बाद चक्रिका बना एवं सुखाकर शराव-सम्पुट में बन्दकर अग्नि-संयोग कराया जाता है। रसशास्त्र की प्राचीन परम्परा में यह क्रिया एक निश्चित प्रमाण में गृहीत उपलों (अरण्योपल, छगण कण्डा, गोहरी, छाणा) एवं तुषों द्वारा किया जाता है। इससे द्रव्य पक्व होकर भस्म रूप को प्राप्त करता है। द्रव्य घनता, कठोरता अग्निसहत्व, संगठन एवं स्वभाव की दृष्टि से विविध प्रकार का होता है। अतः इसके पाक के लिए अग्नि की निश्चित मात्रा एवं काल की अपेक्षा होती है। अग्नि की मात्रा एवं काल के निर्धारण का मानदण्ड पुट है। इसके लिए विविध आकार-प्रकार के पुटों (महापुट, गजपुट, वराहपुट, कुक्कुटपुट, लावकपुट, कुम्भपुट, भूधरपुट आदि) की व्यवस्था की जाती है। यह पुट एक निश्चित मात्रा में एवं निश्चित समय के लिए अग्नि देता है। द्रव्य अपने-अपने संगठन एवं स्वभाव से इनमें से किसी भी पुट द्वारा १ बार या अधिक बार में पक्व होकर भस्म रूप को प्राप्त करता है। इसे पुट के नाम से सूचित किया जाता है।

पुट का परिणाम—पुट देने से लोहादि धातु भस्म होकर अपुनर्भव हो जाते हैं तथा उनके गुणों में वृद्धि हो जाती है। उनमें वारितरत्व (जल पर तैरने वाला) एवं रेखापूर्णत्व गुण आ जाते हैं। पुट के प्रभाव से कठोर भारी पत्थर भी लघु हो जाता है तथा शरीर में शीघ्रता से फैलने वाला एवं जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला बन जाता है। जारित पारद से भी ये पुट द्वारा भस्मीभूत लौह अधिक गुणवान् हो जाते हैं[2]।

पुटसंख्या—भस्मीकरण के लिए वर्णित द्रव्य विभिन्न प्रकार के (मृदु-कठिन एवं रासायनिक संगठन वाले) होते हैं। आचार्यों ने भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में भिन्न-

१. 'रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम्।
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपक्वं हितमौषधम्' ॥ (र० र० स० १०।४७)

२. 'लोहादेरपुनर्भावो गुणाधिक्यं ततोऽग्रता।
अनप्सु मज्जनं रेखापूर्णता पुटतो भवेत् ॥
पुटाद्ग्राह्णो लघुत्वञ्च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम्।
जारितादपि सूतेन्द्राल्लोहानामधिकों गुणः ॥
यथाश्मनि विशेद्वाह्नि .... निश्चितम्'। (र० र० स० १०।४८-५०)

Scanned with CamScanner

भिन्न पुटों की संख्या बतलायी है। १० से लेकर १०० पुट देना एक सामान्य नियम-सा है। अभ्रक के सन्दर्भ में रसायन-कर्म के लिए १०० से १००० पुट एवं वाजीकरण गुण के लिए १० से ५०० पुट देने का निर्देश मिलता है (र० सा० सं० १।३५)। सोमल को १ पुट में; शंख, शुक्ति कपर्द आदि को ३ पुटों में एवं स्वर्ण, ताम्र आदि को १ से ४० पुटों में भस्म किया जाता है। अतः पुटों की संख्या अपेक्षित द्रव्य एवं पाकविधि के अनुसार होती है।

पुटक्रम—भस्म योग्य शुद्ध द्रव्यों को भावना देकर टिकिया बना एवं सुखाकर शराव-सम्पुट में बन्दकर सम्पुट का सन्धि-बन्धन कर सुखाकर निर्दिष्ट पुट द्वारा पाक करें। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक शराव को खोलकर चक्रिका को निकालकर चूर्ण कर उपरोक्त प्रक्रिया का आवश्यकतानुसार (भस्म होने तक) पुनः-पुनः अनुसरण करना चाहिए। (र० त० २।३६)

सम्पुट—एक समान धातु या मिट्टी के दो पात्रों को आमने-सामने से (मुख की ओर से) किनारे से किनारे को मिलाकर रखना तथा इसकी सन्धि को कपड़मिट्टी से बन्धन कर देने पर सम्पुट कहलाता है।

शराव-सम्पुट, मूषा-सम्पुट, ताम्र-सम्पुट, कांस्य-सम्पुट, कान्त-सम्पुट, लौह-सम्पुट, अभ्रकपत्र-सम्पुट, सूत्र-सम्पुट, लवण-सम्पुट, सूरणकन्द-सम्पुट, स्थाली-सम्पुट आदि सम्पुट के विविध प्रकार हैं। भस्म-निर्माण के लिए इन्हीं का प्रयोग किया जाता है।

ताप ऊर्जा का मुख्य स्रोत अग्नि और सूर्य है। इस स्रोत के आधार पर पुट के तीन भेद देखे जाते हैं; यथा—१. चन्द्रपुट, २. सूर्यपुट तथा ३. अग्निपुट।

अपेक्षित अग्नि के आधार पर अग्निपुट के निम्न भेद किये गये हैं—

१. महापुट, २. गजपुट, ३. कुक्कुटपुट, ४. वाराहपुट, ५. लघुपुट (कपोतपुट) तथा ६. भूधरपुट।

पुट के लिए प्रयुक्त इन्धन एवं उपकरण के आधार पर अन्य भेदों में—

१. गोवरपुट (लावकपुट), २. भाण्डपुट (कुम्भपुट) तथा ३. बालुकापुट—ये प्रकार होते हैं।

(१) चन्द्रपुट—(रसतन्त्रसार, भाग १, पृष्ठ १९१, प्रवालभस्म–चन्द्रपुटी) चन्द्ररश्मि से प्राप्त होने वाली ताप ऊर्जा के लिए भस्मीय द्रव्य को चन्द्रमा के प्रकाश में रखा जाता है। इसे एक संस्कार-विशेष कहा जायेगा। इसे ही चन्द्रपुट कहते हैं।

(२) सूर्यपुट—(रौद्रपुट या भानुपाक)—भस्मीय द्रव्य की पाक भावना देकर इसे सूर्यरश्मि में रखकर किया जाता है। द्रव्य सूर्यताप से ऊर्जा प्राप्त कर पक्व हो जाता है। इसे ही रौद्रपुट अथवा भानुपाक कहते हैं। (रसतन्त्रसार, भाग २, पृष्ठ २१, प्रवाल भस्म सूर्यपुटी, र० र० स० ५।१३४, रसतरं०–३।३७, २०।२२–२४ तथा आ० प्र० ३।२५५)।

उपरोक्त चन्द्रपुट एवं सूर्यपुट ताप ऊर्जा के प्राकृतिक स्रोत हैं।

(३) अग्निपुट—यह ताप ऊर्जा प्राप्ति का कृत्रिम विधान है। ताप के अनुसार इसका वर्गीकरण किया गया है। अतितीव्र ताप के लिए महापुट, मध्यम ताप के लिए गजपुट, कुक्कुटपुट एवं वाराहपुट तथा मन्द या अतिमन्द ताप के लिए लघुपुट, भूधरपुट आदि।

महापुट—दो-दो हाथ (९१ सें० मी०) लम्बा, चौड़ा एवं गहरा चौकोर गढ्ढा जिसमें १'५०० उपले लेकर प्रथम १००० हजार उपले निम्न भाग में भर दें, उस पर सम्पुट को रखकर शेष ५०० उपले ऊपर से रखकर अग्नि जला दें। इसको महापुट कहा जाता है।

जमीन के अन्दर दो हाथ लम्बे, दो हाथ चौड़े तथा दो हाथ गहरे खोदे गये चौकोर गढ्ढे को महापुट कहा जाता है। इसमें उपलों की कुल संख्या १५०० ली जाती है। १००० उपले नीचे डाले जाते हैं फिर द्रव्ययुक्त मूषा या सम्पुट रखकर ऊपर से शेष ५०० उपले डालकर अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है। इसे महापुट कहते हैं।[1]

महापुट के सम्बन्ध में अन्य कोई मतभिन्नता नहीं देखी जाती है। किन्तु शार्ङ्गधर ने महापुट ३० उपलों द्वारा देना बताया है।[2] वस्तुतः महापुट के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों के मत से इसका मेल नहीं बैठता है। उपले छोटे-बड़े सम्भव हैं, किन्तु संख्या की इतनी बड़ी भिन्नता सम्भव नहीं है। दो हाथ लम्बा लगभग ९१ सें० मी० का माना जाता है।

उपयोग—महापुट की अग्नि द्वारा ताम्र, पारद, स्वर्ण, वज्र एवं त्रिवंग आदि द्रव्यों का भस्म बनाया जाता है।

गजपुट—सवा हाथ (सपादहस्त या राजहस्त=५७ सें० मी०) प्रमाण का लम्बा चौड़ा और गहरा चौकोर गढ्ढा जिसमें कण्ठपर्यन्त उपले भर ऊपर मूषा या शराव सम्पुट रखकर नीचे डाले गये उपलों के प्रमाण का आधा ऊपर से डालकर अग्नि प्रज्वलित करना चाहिए। इसे गजपुट कहते हैं।[3] महापुट के आयाम विस्तार में

---

१. 'निम्ने विस्तरतः कुण्डे द्विहस्ते चतुरस्रके।
वनोत्पल सहस्रेण पूरिते पुटनौषधम्॥
कौञ्च्या रुद्धं प्रयत्नेन पिष्टिकोपरि निक्षिपेत्।
वनोत्पलसहस्रार्द्ध क्रौञ्चिकोपरि विन्यसेत्॥
वह्निं प्रज्वालयेत्तत्र महापुटमिदं स्मृतम्'॥ (र० र० स० १०।५१-५२)

२. 'एवं नवपुटान् दद्याद् दशमं च महापुटम्।
त्रिंशद् वनोपलैर्देयं जायते हेमभस्मकम्'॥ (शा० सं० खं० ११।१९)

३. 'राजहस्तप्रमाणेन चतुरस्रञ्च निम्नकम्।
पूर्णञ्चोपलशाठीभिः कण्ठावध्यथ विन्यसेत्॥

उपलों की संख्या १५०० बतायी गयी है। उस हिसाब से गजपुट के आयाम विस्तार वाले गढ्ढे को भरने के लिए उसी आकार-प्रकार के १००० उपलों की संख्या पर्याप्त होती है। पुट देते समय ७५० उपले पहले अच्छी प्रकार गढ्ढे में भरकर उस पर मूषा अथवा सम्पुट रखकर बाकी के २५० उपले ऊपर से भर कर अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। इसे गजपुट कहा जाता है।

उपयोग—गजपुट की अग्नि द्वारा—अकीक, अभ्रक, कच्छपपृष्ठ, कपर्द, काँच, कांस्य, कुक्कुटाण्डत्वक्, गोदन्ती, गोमेद, जहरमोहरा, ताम्र, नाग, नीलम, तार्क्ष्य, पारद, पीतल, प्रवाल, माणिक्य, मण्डूर, मृदारशृंग, रजत, यशद, लौह, वंग, शंख, शम्बूक, शुक्ति, स्वर्ण, स्वर्णमाक्षिक, हरताल, वज्र एवं त्रिवंग आदि द्रव्यों का भस्म निर्माण किया जाता है।

अर्धगजपुट—रसग्रन्थों में इसका नामोल्लेख मात्र है। अर्धगजपुट कहने से गजपुट का आधा माना जायेगा। गजपुट का आयाम विस्तार ५७ × ५७ × ५७ घन सेण्टीमीटर माना गया है, तदनुसार अर्ध गजपुट = ५७ × ५७ × ५७ ÷ २ घ० सें० = ९२५९६·५ घ० सें० माना जायेगा। इसका घनमूल लगभग ४५·३ सें० मी० होगा। अतः ४५·३ सें० मी० लम्बा, चौड़ा एवं गहरा गढ्ढा अर्धगजपुट कहलायेगा। आचार्य यादव जी ने ताम्र एवं वंग के मारण के लिए 'अर्धेभाख्ये पुटे पचेत्' कहकर इस पुट को सूचित किया है।

उपयोग—अभ्रक, कासीस तथा वंग आदि का भस्म बनाने के लिए।

वाराह पुट—एक अरत्नि (कूर्पर अस्थि से कनिष्ठा अंगुली पर्यन्त, लगभग २२ अंगुल अर्थात् लगभग ४२ सें० मी०) लम्बा, चौड़ा तथा गहरा चौकोर गढ्ढा खोदकर १०० उपले नीचे, मध्य में सम्पुट तथा ५० उपले ऊपर से रखकर अग्नि दी जाती है। इसे वाराहपुट, वारणाख्यपुट या क्रोडपुट की संज्ञा से सूचित किया जाता है[1]।

उपयोग—इसके द्वारा अभ्रक, ताम्र, रजत, स्वर्णमाक्षिक वज्र आदि का भस्म बनाया जाता है।

कुक्कुटपुट—भूमि में दो वितस्ति (दो बिता या बालिस्त = ४६ सें० मी०) लम्बा, चौड़ा एवं गहरा गढ्ढा खोदकर अधःकण्ठपर्यन्त उपले भरकर सम्पुट रख कर नीचे से आधे उपले ऊपर भरकर अग्नि देने को कुक्कुटपुट कहा जाता है[2]।

कुक्कुटपुट के सम्बन्ध में कुछ मतभिन्नताएँ देखी जाती हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

विन्यसेत् कुमुदीं तत्र पुटनद्रव्यपूरिताम्।
पूर्णच्छगणतोऽर्धानि गिरिण्डानि विनिक्षिपेत्॥
एतद् गजपुटं प्रोक्तं महागुणविधायकम्'। (र० र० स० १०।५३-५४)

१. 'इत्थं चारत्निके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते'। (र० र० स० १०।५५)
२. 'पुटं भूमितले तत्तद्वितस्तिद्वितयोच्छ्रयम्।
तावच्चतलविस्तीर्णं तत्स्यात्कुक्कुटकं पुटम्'॥ (र० र० स० १०।५६)

१. एक हाथ लम्बा, चौड़ा और गहरा गढ्ढा जिसमें १० वनोपल द्वारा अग्नि देते हैं, कुक्कुटपुट कहलाता है[1]।

२. एक वितस्ति लम्बा, चौड़ा एवं गहरा गढ्ढा कुक्कुटपुट कहलाता है[2]।

३. सोलह अंगुल लम्बा, चौड़ा और गहरा गढ्ढा कुक्कुटपुट कहलाता है[3]।

४. छः अंगुल लम्बे, चौड़े और गहरे गढ्ढे में उपलों द्वारा दी जाने वाली अग्नि को कुक्कुटपुट कहते हैं[4]।

उपयोग—तुत्थ, तार्क्ष्य, पारद, मृदारशृंग, लौह, स्वर्ण तथा स्वर्णमाक्षिक आदि का भस्म बनाने के लिए।

कपोतपुट—भूमि में एक छोटा-सा गढ्ढा खोदकर आठ उपलों द्वारा औषधियुक्त पारद को भस्म करने के लिए सम्पुट में बन्दकर जो अग्नि दी जाती है, उसे कपोत-पुट कहते हैं[5]।

कपोतपुट को लघुपुट[6] (रजत मारण, स्वर्ण मारण, रसामृत), मृदुपुट[7] तथा स्वल्पपुट[8] भी कहा जाता है। इसका आयाम विस्तार एक बालिस्त लम्बा, चौड़ा एवं गहरा माना जाता है।

उपयोग—शिलाजतु, हरताल आदि के भस्म निर्माण हेतु।

गोमयपुट या गोवरपुट—जहाँ गाय बाँधी जाती है वहाँ गाय के खुर से खुदा हुआ शुष्क चूर्ण रूप का गोबर गोमय कहलाता है। पारद-साधन (भस्म-निर्माण) हेतु यह उत्तम होता है। गोबर या तुष (भूसी या अनाज का छिलका) द्वारा जो अग्नि दी जाती है उसे गोवरपुट कहते हैं। यह रसभस्मसिद्धि में उपयोगी होता है[9]।

१. 'हस्तप्रमाणखाते दशवनकरीष कृतौषधं पुटः कुक्कुटपुटः'।
२. 'वितस्तिमात्रके खाते कथितं कौक्कुटं पुटम्'।
३. 'षोडशाङ्गुलके खाते कस्यचित् कौक्कुटं पुटम्'।
४. 'अधः षडङ्गुलं खातं चतुर्दिक्षु च तादृशम्।
एतत् कुक्कुट नामानं पुटं विद्याद्भिषग्वरैः॥
(नरेन्द्रनाथ सेन कृत वैद्यकशब्दसिन्धु)

५. 'यत्पुटं दीयते भूमावष्टसङ्ख्यैर्वनोपलैः।
बद्ध्वा सूतार्कभस्मार्थं कपोतपुटमुच्यते'॥ (र० र० स० १०।५७)
६. स्वर्णमारण; द्रष्टव्य—रसामृत ३।१७
७. 'दशांशं टङ्कणं दत्त्वा पचेन्मृदुपुटे ततः।
पुटं दत्त्वा तथा क्षौद्रैर्देयं तुत्थविशुद्धये'॥ (शा० म० खं० ११।५९)
८. 'एवं स्वल्पपुटैरेव कनकं मृतिमाप्नुयात्।
निश्चन्द्रिकञ्च मसृणं स्वर्णभस्म भवेच्छुभम्'॥ (र० त० १५।५७)
९. 'गोष्ठान्तर्गोक्षुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम्।
गोवरं तत्समादिष्टं वरिष्ठं रससाधने॥

Scanned with CamScanner

गोमय अथवा तुष का प्रमाण दो माणिका (६४ तोला) लेना बताया गया है।[१] कुछ लोग इसे जमीन के ऊपर लगाने का निर्देश करते हैं। पुट देने के लिए बृहद् भाण्ड का निर्देश पात्र के रूप में मिलता है[२]।

उपयोग—पारदभस्म के निर्माणार्थ।

भाण्डपुट—एक बड़े भाण्ड में तुष भरकर उसके मध्य द्रव्ययुक्त मूषा स्थापित कर अग्नि देने को भाण्डपुट कहते हैं[३]। इसमें तुष को जलाया जाता है, जिससे द्रव्य का पाक होता है। इसे ही 'कुम्भपुट' अथवा 'मृद्भाण्डपुट' भी कहा जाता है।

उपयोग—हरताल, सोमल आदि का भस्म बनाने के लिए।

वालुकापुट—द्रव्ययुक्त मूषा को नीचे-ऊपर चारों ओर से प्रतप्त वालुका से आच्छादित कर जो पुट दिया जाता है, उसे वालुकापुट कहते हैं।[४]

इस पुट के लिए एक भाण्ड लिया जाता है जिसमें नीचे आधा भाग प्रतप्त वालुका से भरकर उसपर द्रव्ययुक्त मूषा रख दिया जाता है, पुनः ऊपर के शेष भाग को प्रतप्त वालुका से भरकर ढक दिया जाता है। वालुका के मध्य (गर्भ) में मूषा या सम्पुट होती है। पात्र को नीचे से अपेक्षित समय तक अग्नि दी जाती है। इसी भाण्ड में वालुका के स्थान पर लवण, भस्म, क्षार आदि रखने का भी विधान मिलता है।

उपयोग—इसके द्वारा हरताल एवं सोमल का मारण किया जाता है।

भूधरपुट—जमीन गर्त में द्रव्ययुक्त मूषा रखकर उसके चारों ओर दो अंगुल मिट्टी अथवा वालुका का स्तर बिछाकर ढक दें, पश्चात् ऊपर उपला बिछा कर अग्नि दें। इसे भूधरपुट कहते हैं[५]।

यहाँ उपलों का कोई मान नहीं बतलाया गया है, अतः द्रव्य के बलाबल का विचार कर उपलों की मात्रा का निश्चय करना चाहिए।

उपयोग—इसके द्वारा पारद एवं सोमल का पाक किया जाता है।

लावकपुट—१ पल शुष्क गोमय या तुष के ऊपर द्रव्ययुक्त मूषा या शरावसम्पुट

गोवंरैर्वा तुषैर्वापि पुटं यत्र प्रदीयते।
तद् गोवंरपुटं प्रोक्तं सिद्धये रसभस्मनः'॥ (र० र० स० १०।५८-५९)

१. 'तुषैर्वा गोमयैर्वापि रसभस्म प्रसाधनम्।
माणिकाद्वय मानेन गोवरं पुट मुच्यते'॥ (र० प्र० सु० १०।४८)

२. द्रष्टव्य—भावप्रकाश १।२

३. 'स्थूलभाण्डे तुषापूर्णे मध्ये मूषा समन्विते।
वह्निना विहिते पाके तद्भाण्डपुटमुच्यते'॥ (र० र० स० १०।६०)

४. 'अधस्तादुपरिष्टाच्च क्रौञ्चिकाच्छादयते खलु।
वालुकाभिः प्रतप्ताभिर्यत्र तद्वालुका पुटम्'॥ (र० र० स० १०।६१)

५. 'वह्निमित्रां क्षितौ सम्यक् निखन्याद्वयङ्गुलादधः।
उपरिष्टात्पुटं यत्र पुटं तद्भूधराह्वयम्'॥ (र० र० स० १०।६२)

(छोटा) रखकर अग्नि जलाकर जो पुट दिया जाता है, उसे लावकपुट कहते हैं। अत्यन्त मृदु द्रव्यों के पाक के लिए इस पुट का उपयोग किया जाता है[१]।

उपयोग—मृदु द्रव्यों के भस्म-निर्माणार्थ इसका उपयोग किया जाता है।

पुटहेतु अनुक्त स्थल पर कर्त्तव्य—जहाँ किसी पुट का निर्देश नहीं किया गया हो, ऐसे स्थल पर गृहीत द्रव्य के बलाबल का विचार कर पुट का निश्चय करना चाहिए। द्रव्य के बलाबल का तात्पर्य द्रव्य का संहनन, काठिन्य, मृदुत्व, अग्निसहत्व (Compounding/Dissociation/Reduction/Evaporation) तथा द्रव्य की मात्रा आदि से है[२]।

उपल के विभिन्न नाम—पिष्टक, छगण, क्षाण, उत्पल, उपल, गिरिण्ड, उपलसाठी, एवं वराटी—ये आठ पर्याय उपल के लिए व्यवहृत होते हैं।[३]

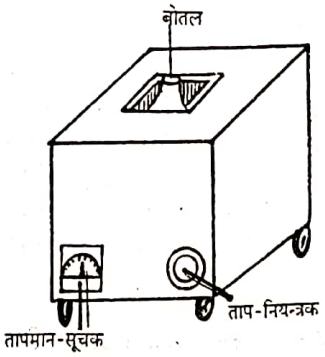

चित्र सं० १९ : कूपीपक्व विद्युत् भ्राष्ट्री
(Vertical Electric Furnace)

पुट का अग्निस्रोत मुख्य रूप से उपल ही है। जिसका प्राचीन काल से उपयोग होता चला आ रहा है। वर्तमान में इन्धन के रूप में यत्र-तत्र जहाँ सुविधा उपलब्ध है, विद्युत् भट्ठियों द्वारा विद्युत ऊर्जा का उपयोग पुट के लिए किया जा रहा है। यह उपयोग अग्नि के मान को जो अग्निमापक (Pyrometer) के माध्यम से

---

१. 'उर्ध्वं षोडशिकामात्रैस्तुषैर्वा गोवंरैः पुटम्।
यत्र तल्लावकाख्यं स्यात् सुमृदुद्रव्यसाधने'॥ (र० र० स० १०।६३)

२. 'अनुक्तपुटमाने तु साध्यद्रव्यबलाबलात्।
पुटं विज्ञाय दातव्यमूहापोहविचक्षणैः'॥ (र० र० स० १०।६४)

३. 'पिष्टकं छगणं छाणमुपलं चोपलं तथा।
गिरिण्डोपलसाठी च वराटी छगणाभिधः'॥ (र० र० स० १०।६५)

Scanned with CamScanner

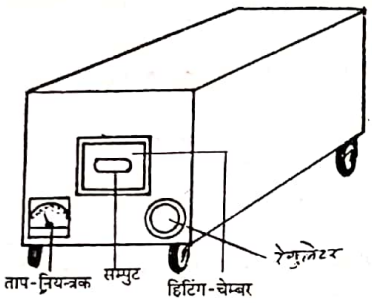

चित्र सं० २० : कूपीपक्व विद्युत् भ्राष्ट्री
(Horizontal Electric Furnace)

पूर्व निर्धारित कर लिया गया होता है, उसी आधार पर किया जाता है। पुट के क्रम में जो मुख्य विचारणीय विषय हैं, वह है पुट द्वारा प्राप्त होने वाली उच्चतम अग्नि तथा उसका काल (समय)। यहाँ जितने भी पुटों का वर्णन किया गया है, वे सभी लगभग अलग-अलग माप के हैं। इनमें इन्धन का प्रमाण भी अलग-अलग होता है। निश्चित प्रमाण में लिये गये इन्धन से उत्पन्न अग्नि तथा आरम्भ से भ्रांगशीत होने तक का काल भी भिन्न-भिन्न होता है। पुट में ताप की तीन अवस्था देखी जाती है—१. आरोही तापक्रम एवं समय, २. स्थिर उच्चतम ताप एवं समय तथा ३. अवरोही ताप एवं समय। उपरोक्त तीनों अवस्था पुट के आकार, इन्धन के प्रकार एवं प्रमाण पर निर्भर करती है। इनका निर्धारण (पायरोमीटर से) प्रथम उपलों द्वारा विभिन्न पुटों का कर लेने के बाद इसी क्रम से विद्युत् भट्ठी पर उस अग्नि को प्राप्त किया जाता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात अग्नि की मात्रा एवं समय है; अग्नि का स्रोत भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसे आगे बार डायग्राम एवं ग्राफ द्वारा प्रदर्शित किया जा रहा है।

पञ्चम अध्याय

पारद प्रकरण

(Mercury)

रसशास्त्र में रस शब्द पारद के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस सम्पूर्ण शास्त्र का मूल-द्रव्य पारद ही है। पारद को ही आधार बनाकर इस वृहद् शास्त्र की रचना हुई है। इस शास्त्र में इसकी प्रधानता के कारण ही इसे रसशास्त्र का नायक भी कहा जाता है।

सांकेतिक नाम—Hg.

विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity)—१३·५६। यह पानी से १३½ गुना भारी होता है।

हिमांक (Freezing point)— −३९° C ताप पर यह जम जाता है।

गलनांक (Melting temp.)— −३५°·८७° C।

परमाणु भार—२००·६।

परमाणु संख्या (Atomic number)—८०।

क्वथनांक (Boiling point)—३५७·२५° C।

परमाणु बन्धन क्षमता—२।

आपेक्षिक घनत्व—१२·५९।

रासायनिक गुणधर्म—पारद पर हाइड्रोक्लोरिक (लवणाम्ल) का कोई प्रभाव नहीं होता। तेज गन्धकाम्ल में यह विलेय किन्तु सजल गन्धकाम्ल (Dilute sulphuric acid) का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सजल सोरकाम्ल में पिघलता है, गर्म एवं तेज सोरकाम्ल (Hot & concentrated HNO_3) में शीघ्र घुलता है। यह अम्लराज (Aqua regia) में भी घुलता है। तैल, शर्करा, खटिका, वसा, गन्धक एवं उसके यौगिकों के साथ मर्दन करने पर सूक्ष्मकणों में विभक्त हो जाता है, जो पुनः आसानी से एकत्र नहीं हो पाता।

पारद के पर्याय—संस्कृत-साहित्य में प्रत्येक वस्तुओं के अनेक नाम देखे जाते हैं। ये नाम (पर्याय) उस वस्तु-विशेष की आकृति, गुण, उत्पत्ति-स्थान एवं उपयोग आदि में से किसी-न-किसी अर्थ से जुड़े होते हैं, तथा इन्हीं अर्थों को अभिव्यक्त करने के लिए यथास्थान उसके पर्याय नामों का उपयोग किया जाता है। पारद के भी अनेक नाम (६० से भी अधिक) देखे जाते हैं। आगे इन नामों को रूप, गुण, उत्पत्ति एवं उपयोगिता के आधार पर वर्गीकृत कर प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. **स्वरूपात्मक**—गलद रौप्य निभम् (Liquid silver या Quick silver), महावह्नि, महातेज, सुवर्ण।

Scanned with CamScanner

२. गत्यात्मक—खेचर, चपल, चल, धूर्तक।

३. देहवादात्मक—अमृत, जैव, देहद, परमामृत, पारत, पारद, मृत्युनाशन, रसायन, एवं रसायन श्रेष्ठ।

४. धातुवादात्मक—दिव्यरस, महारस, रस, रसेन्द्र, रसेश, रसोत्तम, रसधातु, रसराज, रसनाथ, रसलेह, सिद्धधातु, सूत, सूतक, सूतराट, एवं मिश्रक।

५. विशिष्ट गुणात्मक—अनन्त, अमर, कलिकान्तक, सूक्ष्म एवं सौभाग्य।

६. दार्शनिक-आध्यात्मिक—जीव, जैव, दिव्य, अचिन्त्य।

७. धार्मिक-देवात्मक—त्रिनेत्र, त्रिलोचन, देव, देहज, प्रभु, रुद्रज, लोकेश, वीजेन्द्र, बुध, रजस्वल, शान्त, शिव, शिववीर्य, स्कन्ध, हररेत, हरबीज, हरतेज, शिवाह्वय, शिवबीज आदि। इसके अतिरिक्त शिव के समस्त पर्याय पारद के लिए प्रयुक्त होते हैं।

पारद के मुख्य पर्यायों की निरुक्ति

रस—

(क) 'रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते'। (र० र० स० १)
अर्थात् सभी धातुओं को आत्मसात् कर लेने से रस कहलाता है।

(ख) 'जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः'। (र० र० समु० १)
अर्थात् वृद्धावस्था, रोग एवं मृत्यु को नष्ट करने के कारण रस कहलाता है।

(ग) 'मम देह रसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते'। (रसेश्वरदर्शन)
अर्थात् शिववीर्य होने से रस कहा जाता है।

रसेन्द्र—'रसोपरसराजत्वाद् रसेन्द्र इति कीर्तितः'। (र० र० स०)
अर्थात् रस, उपरस आदि में प्रधान होने से रसेन्द्र कहलाता है।

सूत—'देहलोहमयी सिद्धि सूते सूतस्ततः स्मृतः'। (र० र० स०)
अर्थात् देहसिद्धि एवं लोहसिद्धि को देने वाला होने से सूत कहलाता है।

पारद—'रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारदः'। (र० र० स०)
अर्थात् रोगरूपी पंक (कीचड़) समुद्र से पार करने वाला होने से पारद कहा जाता है।

मिश्रक—'सर्वधातुगतं तेजोमिश्रितं यत्र तिष्ठति।
तस्मात् स मिश्रकः प्रोक्तो नानारूपफलप्रदः'॥ (र० र० स० १।७९)
जिनमें सभी धातुओं का तेज मिश्रित हो, उसे मिश्रक कहते हैं तथा यह अनेक प्रकार का फल देने वाला होता है।

पारद की लयकारी क्षमता को दर्शाते हुए रसहृदयतन्त्र में कहा गया है—

'काष्ठौषध्यो नागे, नागं वङ्गेऽथ वङ्गमपि शुल्वं।
शुल्वं तारे तारं कनके, कनकं च लीयते सूते'॥ (१।१२)

जैसे सृष्टि के समस्त प्राणियों में निवास करने वाला आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है, ऐसे ही स्थावर सृष्टि के समस्त औद्भिद एवं पार्थिव द्रव्य पारद में लीन हो जाते हैं। उसका क्रम इस प्रकार है—काष्ठौषधियाँ नाग में, नाग वंग में, वंग शुल्व (ताम्र) में, शुल्व तार (रजत) में, तार स्वर्ण में तथा स्वर्ण पारद में लीन हो जाता है।

गलद्रूप्यनिभम्—

'हीरकद्युतिसङ्काशं प्रमाणाद् हीरकात् क्वचित्।
क्वचित् पर्पटिकाभासं गलद्रूप्यनिभं क्वचित्'॥ (रसकामधेनु ३।३६३)

यहाँ पारद को द्रव चाँदी के समान बतलाया गया है।

चपल—चञ्चल स्वभाव का होने तथा एक स्थान पर स्थिर नहीं रहने के कारण इसे चपल कहा जाता है।

हरबीज—रस-ग्रन्थों में पारद की उत्पत्ति की प्रक्रिया को अलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उत्पत्ति की प्रक्रिया को एक कथानक का रूप देते हुए शिव से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, तदनुसार यह शिव के वीर्य के रूप में है। अतः इसे हर (शिव) बीज (शुक्र) कहा गया है।

वस्तुतः शिव का अर्थ कल्याण करने वाला है और उसकी उत्कृष्टतम शक्ति ही वीर्य है। पारद भी कल्याणकारी है, अतः कल्याण करने में उत्कृष्टतम होने से इसे शिववीर्य या हरबीज की संज्ञा दी गई है।

पारदोत्पत्ति—प्राचीन रस-ग्रन्थों में पारद की उत्पत्ति की घटना को अलंकारिक एवं पौराणिक कथानक का रूप देते हुए प्रकृति में किसी भी खनिज आदि पदार्थ की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, इस उत्पत्ति क्रम की घटना को दर्शाया गया है। एक प्राकृतिक घटना जिसके वैज्ञानिक रहस्य को कथानक का रूप देकर प्रस्तुत करने का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

वैज्ञानिकों के मत से ज्वालामुखी के फटने से उसमें गर्म द्रवपदार्थ (लावा) निकलता है। इस द्रव्य पदार्थ के साथ भूगर्भ से पारद एवं अन्य खनिज भी बाहर निकलते हैं। यहाँ वास्तव में ज्वालामुखी पहाड़ के फटने की घटना का सम्बन्ध पारद की उत्पत्ति से है। ज्वालामुखी पहाड़ जब फटता है तो उसकी प्रक्रिया पूर्वापर निम्न क्रम से होती है—

(१) भूगर्भ में जड़ एवं चेतन द्रव्यों में संघर्ष होता है। संघर्ष से घर्षणजन्य ऊष्मा बढ़ती है और भूगर्भ स्थित आग्नेय पदार्थ ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होने लगते हैं, भूमि में कम्पन होने लगता है। यह घटना विशेषरूप से हिमवत् प्रदेश में होती है।

(२) भूकम्प एवं ज्वालामुखी के फटने से पृथ्वी अनेक स्थानों पर फट जाती है और उसमें से राख के वर्ण का धुँआ एवं गैस बाहर निकलती है और फिर अन्त में उसमें से ज्वाला निकलती है।

(३) ज्वालामुखी के फटने के स्थान पर ज्वाला के साथ-साथ उसमें से द्रव पदार्थ लावा रस के रूप में बाहर निकलता है और उस समय भूकम्प बन्द हो जाता है।

Scanned with CamScanner

(४) ज्वालामुखी से निकलने वाला द्रव्य लावा ढालुआ निम्न विस्तार वाले क्षेत्र में प्रवाहित होकर दूर तक फैलता है जिससे मार्ग में पड़ने वाले गड्ढों में द्रव भर जाता है। पहाड़ से निकलने वाली नदियों के माध्यम से लावारस मीलों तक बहता चला जाता है।

(५) जब आग्नेय और पाषाण पदार्थ क्रमशः ठण्डा होने लगता है तो उसमें से उड़नशील खनिज पदार्थ गर्मजल में मिलकर वाष्प रूप में ऊपर उठता है। पुनः ठंडा होकर जम जाता है। इसमें सबसे नीचे ग्रेनाइट आग्नेय पाषाण, इसके ऊपर की परत में एक ओर पारद, तुरमलीन, पुखराज, वंग, टंगस्टन आदि तथा दूसरी ओर वजनदार धातु ताम्र, सीसा, जस्ता, सुवर्ण, रजत, रौप्य माक्षिक आदि रहते हैं।

इस उपरोक्त घटना को रसरत्नसमुच्चयकार ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया है।

हिमालय पर्वत पर शिव एवं पार्वती जी प्रेम से एक दूसरे को हराने की इच्छा से तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने वाले सम्भोग में प्रवृत्त होते हैं। तब देवताओं ने तारकासुर का वध करने वाले पुत्र कार्त्तिकेय की शीघ्र प्राप्ति हेतु तथा शीघ्र मैथुन की समाप्ति के लिए अग्निदेवता को उनके पास भेज दिया। अग्निदेवता कपोत का रूप धारण कर हिमवत् कन्दरा में पहुँचे तथा शिव-पार्वती की रतिलीला को छुपकर देखने लगे। शिव को जब इसका आभास हुआ तब वे लज्जित होकर सम्भोग से विरत हो गये तथा उस समय जो चरम धातु स्खलित हुआ उसे शिव ने हाथ में लेकर अग्नि के मुख में फेंक दिया। फेंकी हुई वह चरम धातु गंगा में भी जा गिरी। गंगा उस वीर्य की ज्वाला को सहन न कर सकी और उसे बाहर फेंक दिया। इस प्रकार फेंके गये उस वीर्य के मल से सिद्धि देने वाली विभिन्न धातुओं की उत्पत्ति हुई। अग्नि के मुख से निकला हुआ वह रेत पृथ्वी पर पाँच कूपों को बनाते हुए सौ योजन तक फैल गया। उसी समय से उन पाँचों कूपों में पाया जानेवाला वह वीर्य (पारद) पाँच प्रकार का हो गया।[1]

१. 'शैलेऽस्मिञ्शिवयोः प्रीत्या परस्परजिगीषया।
सम्प्रवृत्ते च सम्भोगे त्रिलोकक्षोभकारिणी॥
विनिवारयितुं वह्निः सम्भोगं प्रेषितः सुरैः।
काङ्क्षमाणैस्तयोः पुत्रं तारकासुरनामकम्॥
कपोतरूपिणं प्राप्तं हिमवत् कन्दरेऽनलम्।
अपक्षिभावसङ्क्षुब्धं स्मरलीलाविलोकिनम्॥
तं दृष्ट्वा लज्जितः शम्भुर्विरतः सुरतात्तदा।
प्रच्युतश्चरमो धातुर्गृहीतः शूलपाणिना॥
प्रक्षिप्तो वदने वह्नेर्गङ्गायामपि सोऽपतत्।
वह्निः क्षिप्तस्तया सोऽपि परिदग्ध्यमानया॥
सञ्जातास्तन्मलाधानाद्धातवः सिद्धिहेतवः।
यावदग्निमुखाद्रेतो न्यपतद्भूरिसारतः॥

उपरोक्त कथानक को वास्तविक वैज्ञानिक घटना के रूप में निम्न प्रकार से समझा सकते हैं—

(१) प्रायः हिमप्रदेश में ज्वालामुखी प्रकट होता है। इससे पूर्व भूगर्भ में जड़ और चेतन शक्ति के मध्य संघर्ष होता है और पृथ्वी के अन्तराल से आग्नेय पदार्थ ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होने लगता है। इसी समय भूकम्प पैदा होता है।

यहाँ जड़ से पार्वती का, चेतन से शिव का और संघर्ष से दोनों के बीच सम्भोग का तात्पर्य है।

ज्वालामुखी विस्फोट के समय राख के वर्ण का धुंआ उठता है, जिसका कपोत से सामञ्जस्य बिठाया गया है और जब अग्नि की ज्वाला निकलती है तो उसे अग्निदेव, जो कपोत के रूप में उपस्थित होते हैं, के रूप में कहा गया है।

ज्वालामुखी के फटने पर ज्वाला के साथ उसमें से लावा रस निकलता है, उस समय भूकम्प बन्द हो जाता है—इस घटना को शम्भु द्वारा लज्जित होकर सम्भोग से विरत होने को सूचित किया गया है।

लावा रस निम्न विस्तार वाले भूभाग में फैलता है, बीच-बीच में गड्ढे भी आते हैं जिनमें द्रव भर जाता है। पहाड़ से नदियाँ भी निकली होती हैं, जिसके माध्यम से द्रव मीलों तक बहता चला जाता है। यहाँ गंगा से नदी का अर्थ लेना चाहिए दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं। इसे शास्त्रकारों ने शिव द्वारा स्खलित वीर्य को अग्नि के मुख में फेंकने तथा कुछ अंश गंगा में गिरने की घटना को समझाया है।

जब ज्वालामुखी के आग्नेय पाषाण क्रमशः शीतल होने लगते हैं तब उनके अन्दर के उड़नशील खनिज जल के साथ मिलकर वाष्प रूप में ऊपर आकर शीतल होकर जम जाते हैं। इस प्रकार से जो खनिज बाहर आकर इकट्ठा होता है, इसे शास्त्रकारों ने गंगा द्वारा जलन की पीड़ा न सह सकने तथा बाहर फेंक देने जिससे फेंके हुए उस वीर्य के मल भाग से देह सिद्धि देने वाले (पारदादि) भिन्न-भिन्न धातु की उत्पत्ति को सूचित किया गया है।

खनिजों के जमने का क्रम निम्न प्रकार से देखा जाता है—सबसे नीचे पातालिक आग्नेय पाषाण (Granite) उसके ऊपर एक तरफ द्रव पारद, तुरमलीन, पुखराज, वंग और टंगस्टन रहते हैं तथा दूसरी ओर भारी धातु ताम्र, नाग, यशद, सुवर्ण, रजत और रौप्यमाक्षिक आदि रहते हैं।

यह भी निश्चित है कि जहाँ पारद की खानें हैं वहाँ किसी-किसी स्थान पर नल के आकार के कूप भी मिलते हैं। इटली में ऐसे कूप मौजूद हैं। यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका में भी ऐसे स्थान है जिनकी तुलना, 'शतयोजननिम्नास्ते जाताः कूपास्तु पञ्च च' से की जा सकती है। पारद के कूप २४५० फीट तक गहरे होते हैं।

शतयोजननिम्नांस्तान्कृत्वा कूपांस्तु पञ्च च।
तदाप्रभृतिकूपस्थं तद्रेतः पञ्चधाऽभवत्'॥ (र० र० स० १।६०-६६)

Scanned with CamScanner

रसरत्नसमुच्चय आदि ग्रन्थों में वर्णित पारदोत्पत्ति क्रम वस्तुतः अलंकारिक और तान्त्रिक काल की भक्तिभावपूर्ण भाषा में है। किन्तु आज के प्रत्यक्षदर्शियों के आधार पर प्राचीन अवतरण पारदोत्पत्ति विषयक ज्ञान की समानता को प्रमाणित करता है।

पारद का संक्षिप्त इतिहास

भारतीयों को पारद का ज्ञान अत्यन्त प्राचीन काल से था। निश्चित रूप से तो यह कहना कठिन है कि वैदिक काल में लोगों को पारद का ज्ञान था अथवा नहीं, किन्तु अथर्ववेद की निम्न उक्ति पारद के ज्ञान का समर्थन करती है—

'ओ३म् पक्षी जायान्यः पतति स आविशति पुरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च' ॥ (अथर्ववेद ७।५०)

इस मन्त्र में कहा गया है कि बहुत विशाल पक्षी जो पतित होता है वह व्यक्ति में प्रवेश करता है। (वह स्वस्थ एवं रोगी दोनों की रसायन औषधि है।)

यहाँ 'पक्षी' शब्द से पारद एवं आत्मा दोनों का अर्थ लिया जाता है। ऐसा इसके अतिशीघ्र उड़नशील गुण के कारण है।

इसके अतिरिक्त निम्न ग्रन्थों में भी पारद का उल्लेख मिलता है—

१. श्री मधुसूदन विरचित 'इन्द्रविजय नाटक' में, सूतविमान का उल्लेख जो पारद से निर्मित एवं संचालित होता था, बतलाया गया है।[1]

२. याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रकीर्ण प्रकरण में रसविद्ध स्वर्ण का उल्लेख हैं। इसे 'कूटस्वर्णव्यवहारी' श्लोक पद से सूचित किया है।

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र के ३४ वें अध्याय में 'सुवर्णभेदकथन' में रसविद्धं शब्द पारद के वेध से निर्मित स्वर्ण के लिए कहा गया है। इस काल में रसशास्त्र का धातुवाद पक्ष काफी उन्नत अवस्था में था। कौटिल्य का काल ईसा से ३२५ वर्ष पूर्व का है।

४. चरकसंहिता में कुष्ठ चिकित्सा के अन्तर्गत कुष्ठ निवारण के लिए गंधक तथा माक्षिक के साथ-साथ पारद के उपयोग का भी आभास मिलता है।[2]
लेप हेतु पारद का प्रयोग च० चि० २५।११६ में बतलाया गया है।[3]

१. अथ सूतविमानं तु त्रिपक्षं पारदाभ्रकैः।
आस्थानयन्त्रभागाभ्यां द्विविभक्तं मनोजवम्॥ (इन्द्रविजय नाटक १)

२. 'श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद् वा।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्'॥ (च० चि० ७।७१)

३. 'कालीयकनताम्रास्थिहेमकान्तारसौतमैः।
लेपः सगोमयरसैः सवर्णीकरणः परः'॥ (च० चि० २५।११६)

५. सुश्रुतसंहिता (चि० अ० २५) में भी पारद का लेपनार्थ प्रयोग देखा जाता है।[1]

६. अष्टांगहृदय में दो स्थानों पर पारद का प्रयोग (उ० तं० ३९।१६१ तथा अध्याय ३२ में) देखा जाता है।[2]

पारद के खनिज

पारद एक तत्त्व है। भूगर्भ से तत्त्व या पदार्थ जिस रूप में पाया जाता है, वह उस तत्त्व का खनिज कहलाता है। भूगर्भ से पारद दो रूपों में प्राप्त होता है— १. मुक्तरूप में तथा २. यौगिक के रूप में। पारद के यौगिक खनिजों की संख्या अल्प है, तथा इसकी रासायनिक संरचना सरल प्रकार की है। मुक्त पारद एवं खनिज यौगिकों में पारद की प्रचुरता एवं महत्त्व के अनुसार इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुक्त स्वरूप (सहज) (Native mercury)—इस अवस्था में पारद स्वतन्त्र, मुक्त रूप में प्राप्त होता है। मुख्य रूप से यह हिंगुल आदि यौगिकों से पृथक् हुआ होता है। पारद सूक्ष्म कण के रूप में पृथक होकर भूगर्भ के खोखले गर्तों में एकत्रित हो जाता है। इसे स्वयंभू पारद, सहज पारद या गलद्रौप्यनिभम् के नाम से कहा गया है।

यौगिक स्वरूप—प्रकृति में पारद, गंधक, क्लोरीन आदि तत्त्वों के साथ मिला हुआ यौगिक के रूप में पाया जाता है। यौगिक के रूप में पारद के पाये जाने वाले खनिज निम्न हैं—

१. **हिंगुल (Cinnabar-Hgs)**—यह पारद एवं गंधक का यौगिक है तथा पारद का मुख्य खनिज है। इसी से पारद निकाला जाता है। यह डायमार्फस है।

(i) **हंसपाद हिंगुल (जपाकुसुमसंकाशः)**—जपापुष्प के सदृश लालवर्ण का हिंगुल ही वास्तविक हंसपाद हिंगुल है। इसके क्रिस्टल्स Rhombohedral होते हैं। इसे कसौटी पर घिसने पर प्रखर लाल रंग की रेखा उत्पन्न होती है।

(ii) **दरद हिंगुल (यकृदाकार हिंगुल) (Hepatic cinnabar)**—हिंगुल के

१. 'हेमाङ्गत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम्।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः॥ (सु० चि० २५।३९)

२. 'शिलाजतुक्षौद्रविडङ्गसर्पिलोहाभयापारदताप्यपक्षः।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशाङ्कः'॥ (अ० हृ० उ० ३९।१६१)

'पत्रं पाण्डु वटस्य चन्दनयुगं कालीयकं पारदम्।
पतङ्गं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा केसरम्'॥ (अ० हृ० उ० ३२।३१)

Scanned with CamScanner

साथ जब शिलाजतु के अंश मिले रहते हैं तब उसका वर्ण गहरा होता है। इसे Hepatic cinnabar या दरद हिंगुल कहते हैं।

(iii) **चर्मार हिंगुल** (Meta cinnabar)—चर्मार हिंगुल कृष्ण जाति का होता है। रसकामधेनु में कहा गया है 'चर्मारः कृष्णरूपः स्यात्'। कसौटी पर घिसने पर यह काले रंग की लकीर खींचती है।

(iv) **प्रवालाभ हिंगुल** (Coral ore)—कोरेलिन अर्द्ज अर्थात मूँगे की सी मृत्तिका। 'श्वेतरेखः प्रवालाभो हंसपादः स इरितः' (रसरत्नसमुच्चय)। इसमें लगभग २% हिंगुल, ५% शिलाजत्वांश तथा ५६% स्फुरक (Phosphate of lime) रहता है। इस प्रकार का खनिज इटली में पाया जाता है।

(v) **दैत्येन्द्र रक्त** (Estahlerz steel ore)—पारद के खनिज में यह सबसे समृद्ध माना जाता है। इसमें ७५% तक पारद का अंश होता है। कविराज प्रतापसिंह ने इसे दैत्येन्द्ररक्त कहा हैं।

(vi) **गिरिसिन्दूर** (Brick ore : Ziegelerz)—यह लाल रंग का चमकदार वालू के समान चूर्ण रूप में होता है। इसमें लगभग ६८% तक पारद का अंश होता है। इसे 'Red oxide of mercury' कहा जाता है।

२. **केलोमेल** ($Hg_2 Cl_2$)—यह पारद और क्लोरिन तत्त्व का यौगिक है।

३. **सिल्वर अमल्गम**—यह चाँदी और पारद का मिश्रण है।

४. **फाल्ह ओअर**—यह वस्तुतः ताम्र का खनिज है, किन्तु इसमें पारद भी रहता हैं।

५. **लिविंगस्टोनाइट** ($2 Sb_2 S_3 . Hgs$)—यह एण्टीमनी, पारद एवं गन्धक का यौगिक है।

६. **वार्सेनाइट**—यह लिविंगस्टोनाइट का ही एक भेद है।

७. **ग्वाडल काजराइट**—यह मुख्य रूप से पारद एवं गन्धक का खनिज है, किन्तु इसमें कुछ अंशों में यशद भी पाया जाता है।

८. **टेलिंग्वाइट**।

९. **ऐगलेस्टोनाइट**।

१०. **क्लैनाइट**।

११. **मोजेसाइट**।

उक्त चारों (८ से ११ तक के) पारद क्लोरीन और ऑक्सीजन के यौगिक हैं। ये खनिज दानेदार होते हैं तथा इनका वर्ण गंधक के समान होता है।

१२. **मौंड्रोयडाइट** (HgO) यह पारद और ऑक्सीजन का यौगिक है।

इनके अतिरिक्त भी पारद के अनेक खनिज हैं, जिनसे अल्पांश में पारद उपलब्ध होता है। किन्तु आयुर्वेदिक दृष्टि से वे अधिक महत्त्व के नहीं हैं।

पारद एवं उनके खनिजों का प्राप्ति-स्थान

पारद की अधिकांश खानें ज्वालामुखी पर्वत के पास ही मिलती हैं। किन्तु सभी खाने ज्वालामुखी के पास ही हों, यह आवश्यक नहीं है।

स्पेन—स्पेन में आल्माडन की खान में १६०० फीट की गहराई से पारद निकाला जाता है। यहाँ की खानें सबसे पुरानी हैं तथा विश्व के एक तृतीयांश भाग पारद की माँग को पूरा करती हैं। यहाँ की विशेषता यह है कि जितनी ही गहराई तक खोदते चले जायें खनिज में पारद की मात्रा उतनी ही बढ़ती जाती है। यहाँ से प्राप्त होने वाला खनिज मुख्यरूप से हिंगुल हैं, जिसमें पारद की मात्रा ७५ से ८५% तक रहती है।

ब्रिटिशबोर्नियो—यहाँ पारद, हिंगुल, कैलोमेल और नेटिव पारद पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।

अफ्रीका—दक्षिणी अफ्रीका के कुछ भागों में गार पत्थर के खण्डों से पारद प्राप्त किया जाता है। इन पत्थरों में हिंगुल २ या ३ प्रतिशत मात्रा होता है।

उत्तरी अमेरिका—कैनेडा के ब्रिटिश कोलम्बिया प्रान्त में हिंगुल प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यहाँ के खनिज में पारद लगभग १ प्रतिशत होता है।

युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका—यहाँ के पश्चिम प्रान्तों में पारद के खनिज मिलते हैं। यहाँ कैलिफोर्निया तथा टेक्सास की खानें प्रसिद्ध हैं। यहाँ के खनिज में पारद की मात्रा ½ प्रतिशत होती है।

कैलिफोर्निया—यहाँ से प्रतिवर्ष १ हजार मीट्रिक टन से अधिक पारद निकाला जाता है। यहाँ के ४०० मील लम्बे तथा ७५ मील चौड़े भूभाग में पारद का खनिज मिलता है। यहाँ की न्यू अल्माडेन प्रभृति १०–१२ खाने हैं। यहाँ हिंगुल के साथ-साथ गंधक और माक्षिक आदि अनेक पदार्थ भी मिलते हैं। न्यू-इड्रिया, टेक्सास आदि स्थान पारद-प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध हैं।

दक्षिण अमेरिका—ब्राजील, चिली, कोलम्बिया, डच ग्वायना, इक्वेडोर, पेरू आदि देशों में पारद के अच्छे खनिज पाये जाते हैं। पेरू देश की सांताबर्बारा की खान से १५६६ ई० से पारद निकाला जाता रहा है। कई स्थानों पर खुदाई का काम १४ फीट की गहराई तक किया गया है। यहाँ खानों के पास कई जगहों पर उष्ण जल के स्रोत भी पाये जाते हैं।

एशिया—एशिया माइनर प्रान्त में कोनिया शहर के पास हिंगुल की खान से ३ हजार वर्ष पूर्व से ही हिंगुल प्राप्त किया जाता रहा है तथा इसका उपयोग रंग कार्य के लिए होता रहा है। इस खनिज में पारद की मात्रा २ प्रतिशत के करीब होती है।

चीन—चीन के युवानशान चांग की खान क्वाइशो (Kweichow) प्रान्त में है। यहाँ से चमकीला रक्त और अपारदर्शक रक्त दो प्रकार का हिंगुल प्राप्त होता है।

Scanned with CamScanner

यह खनिज भी रंग कार्य के लिए ही उपयोग में लाया जाता रहा है। इस खनिज में पारद की मात्रा लगभग ३% के करीब होती है।

इटली— इटली के इड्रिया प्रान्त में १४०० ई० में पारद का पता चला था। तब से आज तक लगातार वहाँ से १० लाख टन से भी अधिक पारद निकाला जा चुका है। वहाँ से प्राप्त होने वाले पारद के खनिज भूगर्भ में विभिन्न जातियों के पत्थरों के बीच बिखरे पाये जाते हैं। ये मुख्यरूप से चार प्रकार के होते हैं—

१. स्टील ओर (Steel ore)—दैत्येन्द्र रक्त प्रकार।
२. लीवर ओर (Lever ore)—दरद हिंगुल (Hepatic cinnabar)।
३. कोरेलाइन ओर (Coralline ore)—प्रवालाभ।
४. ब्रिक ओर (Brick ore)—गिरिसिन्दूर।

इड्रिया की खानों में पारद की औसत मात्रा १ प्रतिशत से अधिक नहीं होती। अनुमानतः यहाँ से १२वीं शताब्दी से पारद निकाला जाता रहा है। मोण्टेआमिआता नामक स्थान में १५० वर्ग मील के क्षेत्र में पारद के खनिज पाये जाते हैं। इस स्थान से पारद का वार्षिक उत्पादन १ हजार मीट्रिक टन से भी अधिक है। सम्पूर्ण इटली में पारद के खनिज इतस्ततः पाये जाते हैं।

पारद के दोष

पारद में प्रथम तीन दोषों की कल्पना की गई है—

१. नैसर्गिक दोष।
२. यौगिक दोष।
३. औपाधिक दोष।

१. **नैसर्गिक दोष**—पारद एक खनिज स्रोतों से प्राप्त होने वाला द्रव्य है। यह सहज-स्वतन्त्र-मुक्त एवं मिश्रित यौगिक स्वरूप में प्राप्त होता है। भूगर्भ से प्राप्त होने तथा स्वगर्भ में अन्य धातुओं को लीन कर लेने के विशिष्ट स्वाभाविक गुणों के कारण भूगर्भ स्थित धातुओं को यह अपने में मिला लेता है। इसे ही नैसर्गिक दोष कहा जाता है।

पारद में ताम्र, नाग, वंग, रजत आदि के सम्पर्क में आने तथा पारद के द्रवधातु होने से शीघ्र घुलनशीलत्व गुण के कारण पारद में निसर्गतः (प्रकृतितः) नैसर्गिक दोष आ जाते हैं।

२. **यौगिक दोष**—(क) पारद में पारद से अल्पमूल्य वाला द्रव्य नाग, वंग एवं यशद जो आसानी से पारद में मिल जाता है ऐसे धातुओं को व्यापारी लोग पारद में मिला कर अधिक धन-प्राप्ति हेतु बेचते हैं, इसे यौगिक अथवा व्यापारिक दोष कहते हैं। पारद का आयात विदेशों से होता रहा है। इस व्यापार के क्रम में इस प्रकार की मिलावट की जाती थी। अतः इसे व्यापारिक दोष भी कहते हैं।

(ख) धातुवादार्थ पारद में नाग, वंग आदि मिलाया जाता है। प्रयोग में सफलता

न मिलने पर धातुवादियों द्वारा इसे या तो बेच दिया जाता था या फिर नाग-वंग से मुक्तकर औषधि निर्माण के लिए प्रयुक्त किया जाता था। जब तक यह दोषयुक्त पारद शोधन अथवा संस्कार द्वारा नाग-वंग मुक्त नहीं हो जाता, इसे दोषयुक्त मानते हैं। इसे भी यौगिक दोष की संज्ञा देते हैं। यह प्रायः बाहर से मिलाया गया होता है।

३. **औपाधिक दोष या कञ्चुक दोष**—दोषों के कारण पारद पर एक प्रकार का आवरण-सा प्रतीत होता है। यह आवरण पारद की ऊपरी सतह को आवृत किये रहता है। इस आवरण को ही औपाधिक या कंचुक दोष कहते हैं। खनिज में से निकाले गये पारद में नाग एवं वंग मिले रहते हैं। यह भूगर्भ से प्राप्त पारद के खनिज में यदि नाग-वंग उपस्थित हो तब ऐसा होता है।

साहित्य में सर्प पर स्थित कञ्चुकी से समानता देकर सर्प के ऊपर स्थित आवरण कहने से कञ्चुकी शब्द आवरण मात्र में रूढ़ हो गया है। इसी आवारणार्थ को लेकर पारद पर विजातीय द्रव्यों (नाग-वंगादि) के आवरण को औपोधिक या कञ्चुक की संज्ञा दी गई है।

पारद का विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity) १३·५९, 0° C पर है। यह विशिष्ट गुरुत्व पारद में मिश्रित धातुओं से अधिक होने के कारण पारद के ऊपरी सतह पर तैरता रहता है। उसी धातु का कुछ भाग ऑक्सीकृत (Oxidation) होकर आवरण की प्रतीति कराता है।[1] यह आवरण भिन्न-भिन्न खानों से निकलने वाले भिन्न-भिन्न धातुओं के मिश्रण से अनेक प्रकार का होता है। धात्वन्तर मिश्रण से यह क्रिया सम्पन्न होकर विभिन्न कंचुकियों की निष्पत्ति होती है। भिन्न-भिन्न धातुओं से मिलने पर पारद मिश्रक या कंचुक रूप, रंग, गुण, धर्म में पार्थक्य होता है।

उपरोक्त नैसर्गिक, यौगिक एवं औपाधिक दोषों का भेदपूर्वक वर्णन विभिन्न रसाचार्यों ने अलग-अलग ढंग से किया है। भेदपूर्वक महत्त्वपूर्ण दोषों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

रसरत्नसमुच्चयकार ने पारद में दोषों की कुल संख्या १२ मानी है। यथा—
नैसर्गिक दोष तीन प्रकार के— १. विष, २. वह्नि, ३. मल[2]।
यौगिक दोष दो प्रकार के—१. नाग एवं २. वंग[3]।
औपाधिक दोष सात प्रकार के—१. पर्पटी, २. पाटनी, ३. भेदी, ४. द्रावी, ५. मलकरी, ६. अंधकारी तथा ७. ध्वांक्षी[4]।

१. 'धातवो रससंश्लिष्टा यदा विष्णुपदामृतम्।
गृह्णन्ति हि तदा तेषां कश्चिद् भागोऽवशीर्यते॥ (र० त० ५।११)
२. 'विषं वह्निर्मलश्चेति दोषाः नैसर्गिकास्त्रयः'। (र० र० स० ११।१७)
३. 'यौगिकौ नागवङ्गौ द्वौ'। (र० र० स० ११।१८)
४. 'औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्तिताः सप्तकञ्चुकाः।
भूमिजा गिरिजा वार्जा द्वे च द्वे नागवङ्गजे॥

Scanned with CamScanner

पारद में औपाधिक दोषों के कारण ही सात प्रकार के कंचुक उत्पन्न होते है। इन सात कंचुक अथवा औपाधिक दोषों का कारण मूलरूप के पारद में निम्न स्रोतों से मिला दोष होता है। इसे ही—१. भूमिज, २. गिरिज, ३. वारिज, ४-५. नागज, ६-७. वंगज कहते हैं। तालिका के रूप में इसे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

पारद के दोष

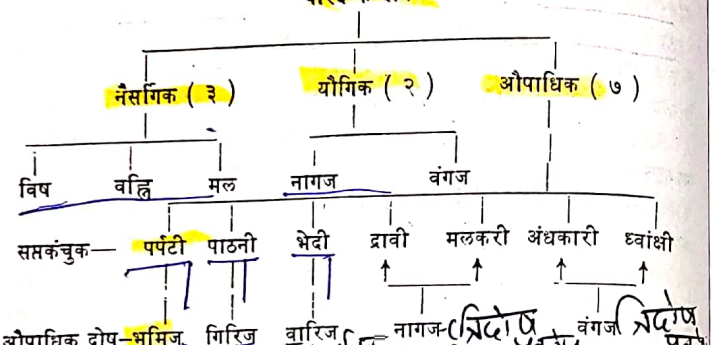

आयुर्वेदप्रकाशकार ने इन १२ दोषों को स्वीकार किया है। इसके साथ ही अलग से आठ महादोष कहकर निम्नरूप में गिनाये हैं—१. नाग, २. वंग, ३. मल, ४. वह्नि, ५. चापल्य, ६. विष, ७. गिरि, तथा ८. असह्याग्नि।

ये आठ दोष पारद में प्रकृति से ही रहते हैं।

विविध रसग्रन्थोक्त पारद के नैसर्गिक दोष एवं उनके कर्म

ग्रन्थ-नाम	दोष-नाम	कर्म
१. रसहृदयतन्त्र, रसरत्नाकर, रसरत्नसमुच्चय	विष	मरण
	वह्नि	संताप
	मल	मूर्च्छा
२. रसार्णव	विष	विषद
	वह्नि	कुष्ठ
	मल	महोदर
३. रसपद्धति	विष	मृत्यु
	वह्नि	संताप

पर्पटी पाटनी भेदी द्रावी मलकरी तथा।
अन्धकारी तथा ध्वाङ्क्षी विज्ञेयाः सप्त कञ्चुकाः' ॥
(र० र० स० ११।१९-२१)

१. 'नागो वङ्गो मलो वह्नि चापल्यं च विषं गिरिः।
असह्याग्निर्महादोषा निसर्गात् पारदे स्थिताः' ॥ (आ० प्र० अ० १।१६)

ग्रन्थ-नाम	दोष-नाम	कर्म
	मल	वान्ति
	चांचल्य	चपलता
४. रसेन्द्रमंगल, रससंकेतकलिका	विष	मृत्यु
	वह्नि	संताप
	मल	मूर्च्छा
	चांचल्य	वीर्यनाश
	गौरव	जाड्य, मूर्च्छा
५. रसप्रकाशसुधाकर, रसेन्द्रचूड़ामणि	विष	मृत्यु
	वह्नि	संताप
	मल	मूर्च्छा
	मद	उन्मत्तता
	दर्प (शैलदोष)	स्फोट
६. आयुर्वेदप्रकाश, रसमंजरी, रसेन्द्रसारसंग्रह, रसतरंगिणी	विष	मृत्यु
	वह्नि	संताप
	मल	वह्निरुजा
	चापल्य	बीजनाश
	गिरि	स्फोट
	नाग	व्रण
	वंग	कुष्ठ
	असह्याग्नि	मोह
७. आनन्दकन्द	पार्थिव	कुष्ठ
	आप्य	दोषवर्धन
	आग्नेय	दाह
	नाभस	बाधिर्य
	अनिल	शूल
	गजचर्म	गजचर्म
	पुण्डरीक	दद्रु
	असह्याग्नि	मोह
	विसर्प	विसर्प
	हारिद्र	पाण्डु
	रक्तचर्म	नेत्रपाटल
	नारंग	औदुम्बरकुष्ठ
	रक्तबिन्दुक	मसूरिका

Scanned with CamScanner

ग्रन्थ-नाम	दोष-नाम	कर्म
८. रसकौमुदी	मण्डूक	चर्मकील
	मल	मूर्च्छा
	उड्डीनत्व	शूल
	कौटिल्य	कपालरुक्
	अनावर्त	भ्रमोद्वेग
	संकर	दोषसंचय
	षंढत्व	असंतान
	बलिकारित्व	दाहकुष्ठ
	समलत्व	वातिमूर्च्छादि
	गुरुत्व	जाड्य, मूर्च्छा
	सविष	गात्रक्षय
९. रसकामधेनु	वह्नि	ताप
	विष	घर्म
	मल	मूर्च्छा
	भूदोष	तेजोनाश
	दर्प	अंगस्फोट
	मद	उन्मत्तता

दोष-विवेचन

(१) **विषदोष**—प्रकृति में विविध प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं। इनमें गुण और दोष स्वभावतः होता है। नाग, ताम्र, अंजन (Antimony), शंखिया (Arsenic) आदि द्रव्यों में विषाक्त गुण प्रकृतितः पाये जाते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि ये साक्षात् प्रकृतितः विष हैं। संस्कार आदि से शुद्ध संस्कृत होने पर तथा युक्तियुक्त प्रयोग से ये औषधीय गुणों से युक्त होकर अमृत सदृश फल देने वाले हो जाते हैं अन्यथा भूगर्भ में जैसे अंजन, सोमल एवं ऐसे अन्य यौगिक जो स्वभाव से विष हैं, वैसे ही पारद भी एक विष है तथा भूगर्भ से इसकी प्राप्ति होती है। भूगर्भ में उपरोक्त सोमल आदि विषैले द्रव्यों के सम्पर्क में आकर पारद और भी विषदोषयुक्त हो जाता है। ऐसे विषदोषयुक्त पारद के सेवन से मृत्यु होती है। स्वभावतः पारद में विषदोष होने की बात लगभग सभी ग्रन्थकार स्वीकार करते हैं।

(२) **मलदोष**—पारद में मलदोष भी नैसर्गिक रूप से होता है। इसका कारण भूगर्भ में स्थित पारदेतर धातुओं का मिश्रित होना है। इसके कारण पारद का वर्ण मलिन होता है। ऐसे पारद के सेवन से मूर्च्छा, भ्रम आदि उत्पन्न होते हैं।

(३) **वह्निदोष**—पारद का यह प्राकृतिक दोष भूगर्भ में पारद के सम्पर्क में

आने वाले ऐसे पाषाण एवं खनिज—जो तीक्ष्ण, उष्ण एवं आग्नेय गुणों से युक्त होते हैं—के कारण होता है। भूगर्भ में से पारद वाष्प के रूप में उड़कर शीतल होने से पूर्व ही विभिन्न ऐसे पदार्थों से मिलकर वह्निदोषयुक्त हो जाता है। ऐसे वह्निदोषयुक्त पारद के सेवन से दाह, संताप आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

(४) **असह्याग्नि दोष**—स्वभावतः पारद ३५७° सें० पर उड़ता है। किन्तु पारद यदि इससे कम तापमान पर उड़ता हो तो उसे अस्वाभाविक माना जायेगा। द्रव्य संयोग से तापसहत्व घटता-बढ़ता है। पारद में ऑक्सीजन, क्लोरीन आदि द्रव्य के मिले होने पर यह ३५७° सें० से कम ताप पर ही उड़ने लगता है अर्थात् इसकी अग्नि-सहत्त्व शक्ति घट जाती है। इसी को पारद का असह्याग्नि दोष कहा जाता है।

(५) **चापल्य दोष**—पारद स्वभाव से चञ्चल होता है। इस स्वाभाविक चपलता को कुछ विद्वान् दोष न मानकर पारद में चपल (विस्मय) गर्भत्व को दोष मानते हैं। विस्मथ २६८° सें० तापमान पर उड़ता है। पारद में अगर चपल मिला रहेगा तो ३५७° सें० की अपेक्षा उससे कम ताप पर ही उड़ने लगेगा। इसे ही चापल्य दोष कहा जाता है। अन्यथा चञ्चलता पारद का कोई दोष नहीं है। प्राकृत चञ्चलता की निवृत्ति नियमन-संस्कार से सम्भव होती है तथा अग्निसहत्व या पक्षखण्ड अभ्रक सत्त्व की चारणा-जारणा से ही सम्भव होता है।

(६) **गिरिदोष**—'गिरि' पर्वत का पर्याय है। पारद जिन पर्वतीय प्रदेशों के भूगर्भ से प्राप्त होता है तत्तत् पर्वतों में पाये जाने वाले नाग, वंग, यशद, रौप्य, चपल, माक्षिक, टंगस्टन, टुर्मलीन, पुष्पाञ्जन, स्रोतोञ्जन, सोमल आदि का सम्पर्क स्वाभाविक है। अतः इस एक गिरिदोष में अनेक दोषों की सम्भावना होती है। जिस पर्वतीय खान से पारद प्राप्त किया जायेगा उस खान से पाया जाने वाला अन्य खनिज धातु का संयोग पारद में होगा और वह गिरिदोष कहलायेगा। क्षेत्र-भेद से इन दोषों का तारतम्य भिन्न-भिन्न हो सकता है। अतः पारद के उत्पत्ति-स्थान की जानकारी होने पर उस पारद में स्थित गिरिदोष का निर्णय किया जा सकता है। गिरिदोष युक्त पारद के सेवन से स्फोट एवं जड़ता उत्पन्न होती है।

(७) **मददोष**—पारद यदि किसी अन्य धातु से मिलकर मिश्रक (Alloy) रूप का हो तो वैसी स्थिति में उसके सेवन से विकार उत्पन्न हो सकता है। मददोष को रसप्रकाशसुधाकर तथा रसकामधेनुकार ने स्वीकारा है। इस दोष से युक्त पारद उन्मत्तता उत्पन्न करता है।

(८) **दर्पदोष**—इस दोष की भी कल्पना रसप्रकाशसुधाकर में की गयी है। इस दोष से युक्त पारद के सेवन से शरीर में स्फोट उत्पन्न होता है।

(९-१०) **नागदोष एवं वंगदोष**—नाग और वंगदोष पारद में भूगर्भ से प्राप्त होता है, अधिक मूल्य प्राप्ति हेतु व्यापारियों द्वारा भी मिला दिया जाता है। इस दोष से युक्त पारद के सेवन से जड़ता, आध्मान तथा कुष्ठ विकार उत्पन्न होते हैं।[1]

१. (क) 'यौगिकौ नागवङ्गौ द्वौ तौ जाड्याध्मान कुष्ठदौ'। (आ० प्र० १९)

Scanned with CamScanner

उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त भी पारद में अन्य कई दोषों की कल्पना विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा की गई है। इनमें पार्थिव, आप्य, आग्नेय, नाभस तथा आनिल पञ्च-महाभूत के आधार पर—गजचर्म, पुण्डरीक, विसर्प, हारिद्र तथा रक्तबिन्दुक आदि रोग एवं विकृति के आधार पर—रक्तचर्म, नांरग आदि वर्णपरक तथा कुछ अन्य जैसे मण्डूक, कौटिल्य, अनार्तव, संकर, षण्डत्व, गुरुत्व आदि दोषों की कल्पना पारद में की गयी है।

उपरोक्त विविध औपाधिक-कंचुक दोषों की अनुभूति अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग समय में अलग-अलग स्थानों से प्राप्त पारद में की गई है। उन्हीं सबको यहाँ सम्मिलित रूप से नातिसंक्षेप-विस्तार रूप से प्रस्तुत किया गया है। ये सभी दोष पारद में निहित होते हैं तथा जब कोई व्यक्ति ऐसे दोषयुक्त पारद का सेवन करता है तो उसमें तत्तत् दोषजनित विकार देखने में आते हैं। पारद जब इन सबसे मुक्त होकर शुद्ध रूप का हो जाता है, तभी कल्याणकारी हो पाता है।

पारद के दोषों के बारे में सभी रसतन्त्रकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि पारद में दोष होता है। किन्तु इन दोषों की संख्या के बारे में प्रत्येक ग्रन्थकारों का मत भिन्न-भिन्न है। कुछ ग्रन्थकार सभी दोषों को मुख्य तीन दोषों में समाविष्ट करते हैं और कुछ चार, पाँच, छः, आठ, नौ, बारह अथवा पन्द्रह दोषों की गणना करते हैं। किन्तु इन सभी का अन्तर्भाव तीन दोषों (नैसर्गिक, यौगिक तथा औपाधिक) के अन्तर्गत हो जाता है।

पारद का ग्राह्याग्राह्य स्वरूप

ग्राह्य पारद का स्वरूप—जिस पारद का अन्तः भाग नीलवर्ण की आभा वाला तथा बाह्यभाग उज्ज्वल (शुभ्र) वर्ण का हो तथा मध्याह्न के सूर्य जैसा तेजस्वी और चमकदार हो वह पारद शुद्ध जाना जाता है तथा यही ग्राह्य है।[1]

अग्राह्य पारद का स्वरूप—जो पारद धूम्रवर्ण वाला, पाण्डुरवर्ण का अथवा चित्र-विचित्र रंग वाला हो, वह पारद अशुद्ध एवं अग्राह्य माना जाता है।[2] खान (भूगर्भ) से प्राप्त पारद में नाग, वंग आदि इतर पदार्थों के दोष रूप में मिले होने के कारण ही पारद का वर्ण धूम्रवर्ण अथवा पाण्डुरवर्ण अथवा चित्र-विचित्र वर्ण का होता है और ऐसा पारद अशुद्ध होता है। इसे संस्कार अथवा औषधि कार्य के लिए भी नहीं लिया जाता, अतएव यह अग्राह्य है।

(ख) 'नागाद् व्रणं भवेत् कुष्ठं वङ्गात्' । (र० त० ५।८)
(ग) 'जाड्यगण्डौ तनौ नागात्' । (आ० प्र० १।१७)

१. 'अन्तस्सुनीलो बहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमः प्रकाशः' । (रसमञ्जरी)
२. '.....धूम्रः परिपाण्डुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धयै' । (रसमञ्जरी)

पारद का शोधन

पारद में नैसर्गिक, यौगिक एवं औपाधिक दोषों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले विकारों को सभी ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है। दोषयुक्त पारद का यदि सेवन किया जायेगा तो वह अनेक प्रकार के रोग तो उत्पन्न करेगा ही; साथ ही जैसे विष के प्रभाव से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार अशुद्ध पारद के सेवन से मृत्यु तक की सम्भावना रहती है। वही पारद जब शुद्ध हो जाता है तब वह मृत्यु एवं ज्वर (अथवा जरा) का नाश करता है तथा साक्षात् अमृत के समान होता है। दोषयुक्त रस (पारद) विषतुल्य होता है। अतः दोषों की शुद्धि के लिए शोधन अवश्य करना चाहिए।[1]

पारद लौह के सिवा सभी धातुओं में चिपक जाता है, जिससे वह धातु पारद में मिल जाती है। अतः शोधन तथा संस्कार कार्यों (मर्दन, छानन) के लिए काँच, मिट्टी, पत्थर, इनामिल तथा लोहे के पात्र अथवा खरल का ही उपयोग करना चाहिए। भूल से भी ताम्बा, चाँदी, पित्तल अथवा एल्युमिनियम आदि का पात्र नहीं लेना चाहिए।

पारद का शोधन दो प्रकार का होता है—

१. सामान्य शोधन—रोग नाश हेतु।
२. विशेष शोधन—रसायन गुण प्राप्ति हेतु।

यहाँ रोग-नाशन तथा रसायन गुण-प्राप्ति सामान्य एवं विशेष शोधन से अपेक्षित होता है। जो शोधन रोग-नाशन के लिए कहा गया है, वही रसायन गुण के लिए इष्ट नहीं होता है, किन्तु रसायन गुण प्राप्ति हेतु किया गया शोधन व्याधि को नष्ट करने में समर्थ होता है।[2]

आधि-व्याधि के विनाश के लिए यदि पारद का उपयोग करना हो, तो सामान्य शोधन पर्याप्त होता है, ऐसा रसतन्त्रज्ञों का मत है।[3]

रसकर्म का प्रारम्भ शुभ दिन एवं शुभ नक्षत्र का विचार कर अपने इष्ट भगवान् शंकर तथा भैरव आदि की पूजा कर करना चाहिए।[4]

१. 'दोषहीनो यदा सूतस्तदा मृत्यु ज्वरा(जरा)पहः ।
साक्षादमृतमप्येव दोषयुक्तो रसो विषम् ॥
तस्माद्दोषविशुद्धचर्थं रसशुद्धिर्विधीयते' । (नि० रत्नकार)
२. 'व्याधौ रसायने चैव द्विविधा सा परिकीर्तिता ।
या शुद्धिः कथिता व्याधौ सा नेष्टा हि रसायने ॥
रसायने तु या शुद्धिः सा व्याधावपि कीर्तिता' । (र० रा० सु० २।२५)
३. 'आधिव्याधिविनाशार्थं प्रयोगार्थं रसेषु च ।
सामान्यं शोधनं शस्तं रसतन्त्रविशारदैः' ॥ (र० त० ५।२१)
४. 'सुदिने शुभनक्षत्रे स्वेष्टदेवं च शङ्करम् ।
भैरवं चापि सम्पूज्य रसकर्म समाचरेत्' ॥ (र० त० ५।१९)

Scanned with CamScanner

शौच, श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक अपने इष्टदेव का पूजन कर प्रारम्भ किया गया कार्य सफल होता है। अतः सभी आवश्यक साधन सामग्री को एकत्र कर शुभमुहूर्त आदि का विचार कर पारद का शोधन आदि कर्म प्रारम्भ करना चाहिए।

पारद का सामान्य शोधन

प्रथम विधि—पहले पारद के समान भाग में सुधा-रज (चूना) लेकर तीन दिन तक पत्थर के खरल में अच्छी तरह मर्दन करें, तत्पश्चात् उसमें से पारद को प्राप्त कर द्विगुण वस्त्र से गालित कर पुनः खरल में डालकर पारद के समान भाग में (छिलका रहित) लहसुन तथा लहसुन का आधा भाग सैंधव लवण डालकर कल्क के कृष्णवर्ण होने तक मर्दन करें। इसके पश्चात् सावधानीपूर्वक जल से प्रक्षालन कर पारद को प्राप्त करें। इस विधि से एक ही बार में पारद शुद्ध हो जाता है।[1]

द्वितीय विधि—घृतकुमारि, चित्रक, रक्तसर्षप, बृहती (छोटी भटकटैया) तथा त्रिफला क्वाथ के साथ पारद को तीन दिन तक मर्दन करने के पश्चात् प्रक्षालित कर पारद प्राप्त कर लें। इस विधि से पारद सप्त मलों से मुक्त (शुद्ध) हो जाता है।[2]

तृतीय विधि—पान का स्वरस, आर्द्रक स्वरस तथा क्षारत्रय (यवक्षार, सज्जीखार तथा सुहागा) के साथ पारद का अच्छी प्रकार मर्दन करें (तीन दिन तक मर्दन करना चाहिए) तत्पश्चात् प्रक्षालन कर (अम्ल कांजी से) पारद को प्राप्त कर लें। इस विधि से शुद्ध पारद मोती के समान चमकदार तथा सातो दोषों से मुक्त हो जाता है।[3]

चतुर्थ विधि—पहले पारद का सात दिनों तक तक चूने के साथ मर्दन करें और बाद में चतुर्गुण वस्त्र से छान लें तत्पश्चात् गृहधूम, हरिद्रा तथा ईंट के चूर्ण के साथ तीन दिन तक मर्दन करके काञ्जी से प्रक्षालन कर पुनः चतुर्गुण वस्त्र से छानकर

१. 'रसेश्वरं समसुधारजसा मर्दयेत् त्र्यहम्।
ततो द्विगुणवस्त्रान्तर्गालितं खल्वके न्यसेत्॥
रसोनं निस्तुषं तुल्यं तदर्धं लवणं हरेत्।
तत्कल्के मर्दयेत्सूतं यावदायाति कृष्णताम्॥
कृष्णं कल्कं परित्यज्य तथा प्रक्षाल्य युक्तितः।
एवमेकेन वारेण रसेन्द्रः शुद्धिमाप्नुयात्'॥ (र० त० ५।२७-२९)

२. 'कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सप्तमलैर्विमुच्यते'॥
(र० त० ५।३१)

३. 'नागवल्लीदलरसैस्तथा चार्द्रकजै रसैः।
क्षारत्रययुतैश्चापि रसराजं विमर्दयेत्॥
ततस्तेभ्यः पृथक्कृत्वा सप्तदोषविवर्जितम्।
मुक्ताफलसमाकारं रसराजं प्रयोजयेत्'॥ (र० त० ५।३४-३५)

पारद को प्राप्त कर लें। इस विधि से शोधित पारद सप्तकञ्चुक से मुक्त निर्मल हो जाता है।[1]

पञ्चम विधि—पारद को मात्र लहसुन तथा सैंधव लवण से सात दिनों तक तप्त खल्व विधि द्वारा मर्दन करने पर शुद्ध हो जाता है।[2]

पारद का विशेष शोधन

पारद में रहने वाले विष, वह्नि, मल, नाग, वंग, चापल्य, गिरि एवं असह्याग्नि आदि दोष-विशेष को पृथक् रूप से दूर करने के लिए संस्कार के अतिरिक्त जो विधि शोधन हेतु की जाती है, उसे विशेष शोधन के रूप में यहाँ लिया गया है।

प्रथम विधि : नागदोष-निवारणार्थ—गृहधूम, ईंट का चूर्ण, हरिद्राचूर्ण तथा बारीक कटा हुआ ऊन—सबको एकत्र लेकर पारद के साथ एक दिन तक मर्दन कर अम्ल काञ्जी से धोकर पारद को प्राप्त कर लेना चाहिए। इस विधि से पारद का नागदोष नष्ट हो जाता है।[3]

द्वितीय विधि : वंगदोष-निवारणार्थ—इन्द्रायण, अंकोल तथा हरिद्रा चूर्ण के साथ पारद का मर्दन कर काञ्जी से धोकर स्वच्छ कर लेने से पारद का वंगदोष नष्ट हो जाता है।[4]

तृतीय विधि : अग्निदोष-निवारणार्थ—चित्रकमूल के चूर्ण से पारद का मर्दन कर लेने से पारद में स्थित अग्निदोष नष्ट हो जाता है।[5] अथवा त्रिफला चूर्ण से पारद का मर्दन कर लेने से पारद का अग्निदोष नष्ट होता है।[6]

चतुर्थ विधि : मलदोष-निवारणार्थ—अमलतासत्वक् चूर्ण के साथ पारद का मर्दन कर लेने से पारद का मलदोष नष्ट हो जाता है।[7] इसी प्रकार कुमारी स्वरस से मर्दन कर लेने से भी मलदोष नष्ट हो जाता है।[8]

१. 'विमर्द्य सुधया सप्तदिनं धूमनिशेष्टकैः।
त्रिदिनं मर्दयेत्सूतं काञ्जिकैः क्षालयेत्ततः॥
वस्त्रं चतुर्गुणं कृत्वा सूतं निःसारयेत् ततः।
सप्तकञ्चुकनिर्मुक्तो जायते निर्मलो रसः'॥ (र० त० ५।३६-३७)

२. 'एकेन लशुनेनापि शुद्धो भवति पारदः।
पिष्टो लवण संयुक्तो सप्ताहं तप्तखल्वके'॥ (आ० प्र० १।१६५)

३. 'धूमेष्टिकाहट्टविलासिनीनां सोर्णैस्तु चूर्णैः परिमर्द्य सूतम्।
प्रच्छालयेदम्लजलेन सम्यक् ततो रसो मुञ्चति नागदोषम्'॥ (र० त० ५।२२)

४. 'मृगेक्षणाङ्कोलनिशोत्थचूर्णैः सूतो जहातीह तु वंगदोषम्'। (र० त० ५।२३)

५. 'चित्रोऽग्निदोषं विनिहन्ति शीघ्रम्'। (र० त० ५।२३)

६. 'त्रिफलाऽग्नि नाशिनी'।

७. 'दोषं मलोत्थं खलु राजवृक्षः'। (र० त० ५।२३)

८. 'गृहकन्यामलं हन्ति'।

Scanned with CamScanner

पञ्चमविधि : चापल्यदोष-निवारणार्थ—कृष्ण धत्तूर बीज या पञ्चाग से पारद का मर्दन कर लेने से पारद स्थित चापल्य दोष नष्ट हो जाता है।[1]

षष्ठ विधि : विषदोष-निवारणार्थ—त्रिफला चूर्ण से पारद को मर्दन करने से पारद का विषदोष नष्ट हो जाता है।[2] अथवा चित्रकमूल चूर्ण से मर्दन करने से पारद का विषदोष नष्ट हो जाता है।[3]

सप्तम विधि : गिरिदोष-निवारणार्थ—पारद को त्रिकटु के साथ मर्दन करने से गिरिदोष नष्ट होता है।[4]

अष्टम विधि : असह्याग्निदोष-निवारणार्थ—गोक्षुरु के चूर्ण या कल्क के साथ मर्दन करने से पारद असह्याग्निदोष से मुक्त हो जाता है।[5]

पारद-संस्कार

पारद में बल एवं तेज की वृद्धि के लिए जो विशिष्ट क्रिया की जाती है उसे संस्कार कहते हैं।[6]

संस्कार से द्रव्य में गुणान्तराधान (विशिष्ट गुणों की उत्पत्ति) होता है।[7] शोधन की क्रिया से द्रव्य शुद्ध होकर दोष-मुक्त हो जाता है। संस्कार से द्रव्य-स्थित दोष की निवृति एवं विशिष्ट गुणोत्पत्ति दोनों साथ-साथ होती है।

रसायन प्रयोग के लिए पारद का उपयोग उपरोक्त आठ संस्कार करके ही करना चाहिए।[8]

पारद-संस्कारों की संख्या

पारद के अठारह प्रकार के संस्कार होते हैं। कुछ विद्वान् इसे उन्नीस मानते हैं तथा कुछ स्थानों पर यह संख्या आठ ही बतलाई गई है।[9]

पारद के अठारह संस्कार—१. स्वेदन, २. मर्दन, ३. मूर्च्छन, ४. उत्थापन, ५. पातन, ६. रोधन, ७. नियामन, ८. दीपन, ९. ग्रासमान, १०. चारणा ११. गर्भद्रुति, १२. बाह्यद्रुति, १३. जारणा, १४. रंजन, १५. सारण, १६. क्रामण, १७. वेध तथा १८. भक्षण।[1]

१. 'चापल्यहारी खलु कृष्णधूर्तो'। (र० त० ५।२४)
२. 'विपापहर्त्री त्रिफला प्रशस्ता'। (र० त० ५।२४)
३. 'चित्रकश्च विषम्'।
४. 'दोषं गिरेस्त्र्यूषणमाशुहन्यात्'। (र० त० ५।२४)
५. 'त्रिकण्टको ब्रह्मघसहत्वदोषम्'। (र० त० ५।२४)
६. 'शोधनं दोषहरणं संस्कारश्च बलतेजसोऽभिवर्द्धनम्'। (ध० ध० सं०)
७. 'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'। (च० वि०)
८. 'रसायनप्रयोगेषु रसागमविशारदः।
रसराजं प्रयुञ्जीत कर्माष्टकविशोधितम्'॥ (र० त० ५।४३)
९. 'अष्टादशैव संस्काराः ऊनविंशतिकाः क्वचित्।
सम्प्रोक्ता रसराजस्य वसुसङ्ख्या क्वचिन्मताः॥ (आ० प्र० १)

पारद-संस्कार : नाम एवं ग्रन्थ-सूचक तालिका

क्रम	संस्कार	रसहृदयतन्त्र	रसार्णव	रसरत्नाकर	आनन्दकन्द
१.	स्वेदन	+	+	+	+
२.	मर्दन	+	+	+	+
३.	मूर्च्छन	+	+	+	+
४.	उत्थापन	+	+	+	+
५.	पातन	+	+	+	+
६.	रोधन	+	+	निरोधन	+
७.	नियमन	+	+	+	+
८.	सन्दीपन	+	+	+	+
९.	अनुवासन	+	+	+	+
१०.	ग्रासमान	+	+	+	+
११.	चारणा	+	+	+	+
१२.	गर्भद्रुति	+	द्रावण	+	+
१३.	बाह्यद्रुति	+	द्रुतिमेलन	+	+
१४.	जारणा	+	+	+	राग
१५.	रंजन	+	+	+	+
१६.	सारणा	+	+	+	+
१७.	क्रामण	+	+	प्रतिसारण	अनुसारण
१८.	वेध	+	+	लोहक्रामण	प्रतिसारण
१९.	भक्षण	+	+	देहक्रामण	देहलोहवेध

१. (क) 'स्वेदनमर्दनमूर्च्छोत्थापनपातननिरोधनियमाश्च।
दीपनं, गगनग्रासप्रमाणमथ चारणविधानं च॥
गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिजारणरसरागसारणं चैव।
क्रामण वेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म'॥ (र० हृ० त० २।१२)

(ख) 'स्यात् स्वेदनं तदनु मर्दनमूर्च्छनञ्च।
स्यादुत्थितिः पतनरोधनियामनानि॥
सन्दीपनं गगनभक्षणमानमत्र।
सञ्चारणं तदनु गर्भगता द्रुतिश्च॥

Scanned with CamScanner

क्रम संस्कार	रसप्रकाशसु०	रसरत्नसमु०	रसेन्द्रचिन्तामणि	आयुर्वेदप्रकाश
१. स्वेदन	+	+	+	+
२. मर्दन	+	+	+	+
३. मूर्च्छन	+	+	+	+
४. उत्थापन	+	+	+	+
५. पातन	+	+	+	+
६. रोधन	+	+	+	+
७. नियमन	+	+	+	+
८. सन्दीपन	+	+	+	+
९. अनुवासन	+	+	+	+
१०. ग्रासमान	अभ्रक ग्रासमान	गगनभक्षण	+	+
११. चारणा	+	+	+	+
१२. गर्भद्रुति	+	+	+	+
१३. बाह्यद्रुति	+	+	+	+
१४. जारणा	+	+	+	+
१५. रंजन	+	+	+	+
१६. सारणा	+	+	+	+
१७. क्रामण	+	+	+	+
१८. वेध	+	+	+	+
१९. भक्षण	सेवन	योग	+	+

पारद-संस्कार सम्बन्धी रसोपनिषत् की विचारधारा इससे भिन्न है। इसमें संस्कारों का नाम क्रम एवं संख्या अन्य ग्रन्थों से काफी भिन्न है। इसमें पारद के १६ संस्कार बतलाये गये हैं[1]—१. शोधन, २. तेजन, ३. पाचन, ४. दासन, ५. चारण

बाह्यद्रुतिः सूतकजारणा स्यात् रागस्तथा सारणकर्म पश्चात्।
सङ्क्रामणं वेधविधिः शरीरयोगस्तथाऽष्टादशधाऽत्र कर्म॥
(आ० प्र० १।३३-३४)

(ग) 'सूतेऽष्टादशसंस्क्रिया निगदिताः स्युः स्वेदनं मर्दनं
मूर्च्छोत्थापनपातरोधनियमाः प्रोद्दीपनं ग्रासजम्।
मानं चारणगर्भबाह्यजनित द्रुतिश्च तज्जारणा
रागः सारणकं परिक्रमविधिः वेदस्ततः सेवनम्'॥
(र० चू० १५।२८)

१. 'सङ्ग्रहं प्रवक्ष्यामि यथावद् अनुपूर्वशः।
शोधनं तेजनं चैव पाचनं दासनं तथा॥

६. पातन, ७. निग्रहण, ८. बन्धन, ९. वह्नि-अंकुश, १०. पक्षच्छेद, ११. अग्निकर्म, १२. रसक्रिया, १३. रञ्जन १४. क्रामण, १५. सारण एवं १६. प्रतिसारण।

'रसपद्धति' धातुवाद से सम्बन्धित ग्रन्थ है। कुछ विद्वान् इसे सिद्ध-सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानते हैं। इसका प्रधान विषय लोहवेध है।

पारद के अष्टविध संस्कार—पारद के आठ संस्कार वैसे तो देहवाद एवं धातुवाद दोनों के लिए समान रूप में उपयोगी है एवं उसे उसी क्रम में आगे बढ़ाया जा सकता है, तथापि पारद से विशेष औषधीय रसायन गुण प्राप्ति हेतु आठ संस्कार करके पारदीय योगों के लिए उपयोग में लिया जा सकता है।

पारद के आठ संस्कार निम्न है—१. स्वेदन, २. मर्दन, ३. मूर्च्छन, ४. उत्थापन, ५. पातन (उर्ध्व, अधः एवं तिर्यक्), ६. रोधन (बोधन), ७. नियमन और दीपन (प्रदीपन)।[1]

अष्टविध संस्कारों का वर्गीकरण—पारद के उपरोक्त आठ संस्कारों को परिणाम की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—

पहला—क्रम एक से पाँच संस्कारों से पारद सभी दोषों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है।

दूसरा—क्रम छह से आठ तक के तीन संस्कारों द्वारा पारद में बल एवं तेज की वृद्धि (गुणान्तराधान) होती है।

संस्कारार्थ पारद मान—संस्कार हेतु पारद २००० पल, १००० पल, १०० पल, २८ पल, १० पल, ५ पल, १ पल अथवा कम से कम आधा पल लेना चाहिए।[2]

अन्य मत से—शोधन अथवा संस्कार के लिए पारद १०० पल या ५० पल या २५ पल या १० पल या ५ पल अथवा कम-से-कम १ पल परिमाण में लेना चाहिए।

चारणं पातनं चेति रसकर्म तु षड्विधम्।
निग्रहो बन्धनश्चाग्नावङ्कुशतदनन्तरम्॥
पक्षच्छेदकरं चैव वह्निकर्म रसक्रिया।
रञ्जनं क्रामणं चैव सारणं प्रतिसारणम्'॥ (रसोपनिषत् १।२०-२२)

१. (क) 'स्वेदो मर्दनमूर्च्छनोत्थिति ततः पातोऽपि भेदान्वितो।
रोधः संयमनं प्रदीपनमिति स्पष्टाष्टधा संस्कृतिः'॥ (रसपद्धति)

(ख) 'स्वेदनं मर्दनं चैव मूर्च्छनोत्थापने तथा।
पातनं बोधनं चैव नियामनमतः परम्।
दीपनं चेति संस्काराः सूतस्याष्टौ प्रकीर्तिताः'॥ (र० सा० सं० १)

२. 'द्वे सहस्रे पलानां तु सहस्रं शतमेव वा।
अष्टाविंशत्पलान्येव दश पञ्चैकमेव वा॥
पलार्धेनैव कर्त्तव्यः संस्कारः सूतकस्य च'। (र० र० स० ११।२४-२५)

Scanned with CamScanner

संस्कार हेतु १ पल से कम पारद नहीं लेना चाहिए।[1] क्योंकि इतने कम पारद के लिए भी प्रयत्न, परिश्रम, साधन-सामग्री एवं समय वही लगेगा जो सौ पल पारद के लिए।

संस्कारोपयोगी आवश्यक साधन सामग्री—१. पातन यन्त्र, २. दोलायन्त्र, ३. मर्दन हेतु तमखल्व, ४. रोधनार्थ घट ५. प्रच्छालन हेतु इनामेल ट्रे (Enamal trays), ६. वस्त्र खण्ड, ७. काञ्जी, ७. उष्ण जल का साधन, ९. पारद एवं १९. संस्कारोपयोगी द्रव्य। उपरोक्त सभी साधन-सामग्री एकत्र कर संस्कार प्रारम्भ करें।

संस्कारोपयोगी काञ्जी-निर्माण—धान्य के मण्डादि को सन्धान करके जो पदार्थ प्राप्त किया जाता है, उसे काञ्जी कहते हैं।[2] इसी तरह निस्तुष गेहूँ को कूट-कर बिना पकाये सन्धान कर प्राप्त किये जाने वाला पदार्थ 'आरनाल' कहलाता है। कन्द-मूल और फल के साथ तैल एवं नमक के साथ मिलाकर सन्धान किया गया पदार्थ 'शुक्त' कहलाता है। कच्चे यव को कूटकर सन्धान करके प्राप्त पदार्थ को 'तुषाम्बु' कहते हैं।

पारद-संस्कार हेतु व्यवहार में प्रचलित काञ्जी-निर्माण—

१. चावल	५	किलोग्राम
२. कुलत्थ	५	,,
३. राई	२·५	,,
४. सैंधव लवण	५	,,
५. हरिद्रा	१·२५	,,
६. बाँस की पत्ती	१·२५	,,
७. जीरा	·५	,,
८. शुण्ठी	·५	,,
९. शुद्ध हींग	२५०	ग्राम
१०. सर्षप तैल	१·१	किग्रा०
११. उड़द का आटा	१·२५	,,
१२. जल	५०	लीटर

सर्वप्रथम चावल को पकाकर भात बना लें। कुलत्थ को ४० लीटर जल में पकाकर १० लीटर क्वाथ प्राप्त कर लें। चूर्ण करने योग्य राई, सैन्धव, हरिद्रा,

१. 'पलानां शतकं ग्राह्यं तदर्धार्धमथापि वा।
पलानां दशकं वापि पञ्चकं वा पलोन्मितम्॥
पलान्यूनो न सङ्ग्राह्यः संस्कारार्थं रसो बुधैः।
बहुप्रयाशसाध्यत्वात् लाभाभावाच्च निश्चितम्॥ (र० तं० ५।१७-१८)

२. 'सन्धितं धान्यमण्डादि काञ्जिकं कथ्यते जनैः'।

जीरा, शुण्ठी एवं घी में भुने हुए शुद्ध हींग का पृथक्-पृथक् चूर्ण कर लें। हरे बाँस के पत्ते को काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें। उड़द के आटे मे सर्षप तैल में वटक बना लें। सब वस्तु तैयार कर लेने के पश्चात् एक बड़ा भाण्ड लेकर उसमें अन्दर से तैल का लेप कर उसमें जल, भात, कुलत्थ क्वाथ, हींग, लवण तथा शेष सभी द्रव्यों को डालकर अच्छी तरह मसल कर मिला दें। पात्र इतना बड़ा हो कि सभी पदार्थ डालने के बाद भी चौथाई भाग खाली रहे। पश्चात् पात्र का मुख एक शराव से ढँककर कपड़मिट्टी कर सुरक्षित स्थान पर रख दें। ग्रीष्म ऋतु में १०-१२ दिन तथा शीत ऋतु में २०-२५ दिन में काञ्जी तैयार हो जाती है। सन्धान हो जाने पर मुख खोलकर ऊपर का द्रव भाग एक कलईदार पात्र में छानकर रख लें। इसे आवश्यकतानुसार उपयोग में लायें।

(१) आशुधान्य अर्थात् षष्टिक चावल तथा कोमल मूली १-१ प्रस्थ लेकर चावल को पका लें तथा मूली को छोटे-छोटे टुकड़े में काटकर एक बड़े पात्र में डाल-कर उसमें एक आढ़क जल डाल दें। इसे अम्लरस उत्पन्न होने तक सन्धान के लिए रख छोड़ें।[1]

(२) एक तुला षष्टिक चावल लेकर पका लें। एक भाण्ड में डालकर इसमें एक द्रोण जल डालकर सन्धान के लिए रख छोड़ें। सन्धान हो जाने पर पात्र स्थित द्रव काञ्जी को ग्रहण कर लें तथा नीचे के स्थित कल्क को निकाल कर फेंक दें। इसे ही काञ्जी अथवा आरनाल कहते हैं[2]।

१. 'अशुधान्यं क्षोदितं च वालमूलं तु खण्डशः।
कृतं प्रस्थमितं पात्रे जलं तत्राढकं क्षितेत्॥
तावत् सन्धाय संरक्षेद् यावदम्लत्वमागतम्।
काञ्जिकं तत्तु विज्ञेयमेतत्सर्वत्रपूजितम्॥

२. (क) तुलामितं षष्टिकतण्डुलस्य प्रगृह्य चात्रं विधिवद्विहाय। द्रोणोऽम्भसि-क्षिप्तमथ त्रियामं तत् सप्त रक्षेत् पिहितं प्रयत्नात्। तत्रैव कल्कं सकलं निरस्येत् तत्काञ्जिकं कथ्यत आरणालम्'।

(ख) 'नानाधान्यैर्यथा प्राप्तैस्तुषवर्जजलान्वितैः।
मृद्भाण्डपूरितं रक्षेद् यावदम्लत्वमाप्नुयात्॥
तन्मध्ये घनवाङ्मुण्डी विष्णुकान्ता पुनर्नवाः।
मीनाक्षी चैव सर्पाक्षी सहदेवी शतावरी॥
त्रिफला गिरिकर्णी च हंसपादी च चित्रकः।
समूलकाण्डं पिष्ट्वा तु यथालाभं विनिक्षिपेत्॥
पूर्वाम्लभाण्डमध्ये तु धान्याम्लकमिदं भवेत्।
स्वेदनादिषु सर्वत्र रसाराजस्य योजयेत्॥
अत्यम्लमारनालं वा तद्भावे प्रयोजयेत्'॥
(आ० प्र० १ एवं र० चि० पृ० २७)

Scanned with CamScanner

पारद-संस्कार की विधियाँ

(१) स्वेदन संस्कार—

परिभाषा—क्षारद्रव्य तथा अम्ल औषधियों के साथ पारद को दोलायन्त्र द्वारा पकाने की क्रिया को स्वेदन कहते हैं। इससे पारद का मल शिथिल होता है।[1]

स्वेदन—पारद के षोडशांश राई, सैंधव, सोंठ, मरिच, पीपल, चित्रकमूल,

---

(ग) 'यवगोधूमकलमाषमुद्गचणकादिभिः ।
श्यामाककोद्रवाद्यैश्च नानाधान्यैश्च निस्तुषैः ॥
धान्यं चतुर्गुणजले मृद्घटे निक्षिपेत् प्रिये ।
प्राप्नोति यावदम्लत्वं तावद् यत्नेन रक्षयेत् ॥
तन्मध्ये हंसपादी च मीनाक्षी द्विपुनर्नवाम् ।
चित्रकं भृङ्गराजञ्च विष्णुक्रान्ता शतावरीम् ॥
सर्पाक्षीं गिरिकर्णीं च मुण्डीञ्च सहदेविकाम् ।
त्रिफलां खण्डशः कृत्वा सर्वानितान् विनिक्षिपेत् ॥
धान्यस्य च चतुर्थांशान् धान्याम्लमिदमुत्तमम् ।
स्वेदनादिषु कार्येषु पारदस्य विशिष्यते' ॥
(आनन्दकन्द : अमृतीकरण विश्रान्ति; चतुर्थोल्लास)

(घ) 'सर्वधान्याम्लसन्धानं तुषवर्ज्यं तु कारयेत् ।
उरगा त्रिफला क्रान्ता लघुपर्णी शतावरी ॥
तेन युक्तं रसस्विन्नं त्रिदिनं मृदुवह्निना ।
दोलायन्त्रेण तीव्रेण मर्दयित्वा पुनः पुनः' ॥ (रसेन्द्रमंगल)

(ङ) अन्नं शाल्यादिसंसिद्धं प्रक्षिप्तं त्रिगुणे जले ॥
धान्याम्लसन्धिनं प्रोक्तं आरनालं च काञ्जिकम् ।
शालिकोद्रवमण्डैर्वा साधितं काञ्जिकं भवेत्' ॥
सुतीव्र काञ्जी—
'अत्यम्लं निर्मलं शुक्तं गृहनीरमथापि वा ।
समाहरेद् भिषग्वर्यो रससेरकसम्मितम् ॥
काचलिप्ते तु मृत्पात्रे नाडिकायत्रयोगतः ।
पचेन्मन्दाग्निना तावत् पञ्चसेरकसम्मितम् ।
यावत्तु गृहनीरस्थं जलांशं न परित्रवेत् ।
परिस्रुताम्बुसन्त्यक्तं जायते तीव्रकाञ्जिकम् ॥

१. 'क्षाराम्लैरौषधैर्वापि दोलायन्त्रे स्थितस्य हि ।
पचनं स्वेदनाख्यं स्यात् मलशैथिल्यकारकम्' ॥ (रतरंगिणी १९।७६-७८)
(र० चू० ४।८१)

अदरक और मूली लेकर इनका कल्क बनाकर उसमें पारद को रख दोलायन्त्र विधि से काञ्जी में तीन दिन तक मृदु अग्नि पर पकायें। इसे स्वेदन-संस्कार कहते है।[1]

विधि—राई, सैन्धव आदि प्रत्येक द्रव्य पारद का षोडशांश लेना चाहिए। प्रत्येक का पृथक्-पृथक् चूर्णकर एकत्र मिला काञ्जी डालकर कल्क बना लें। अब एक चतुर्गुण वस्त्र पर वटपत्र का दोना बना उसमें पारद डालकर सावधानीपूर्वक वस्त्र की पोटली बना लें। इस पोटली को काञ्जी युक्त मिट्टी या स्टील के पात्र में शलाका के माध्यम से लटका दें। पोटली पात्रतल से उपर दोला की तरह काञ्जी में लटकती रहे, इस प्रकार लटकायें। अब इस पात्र को चूल्हे पर रखकर मृदु अग्नि द्वारा तीन दिन तक (प्रतिदिन आठ घंटे के क्रम से) पकायें। आवश्यकतानुसार काञ्जी डालते रहें। पश्चात् खूब सावधानीपूर्वक वस्त्र, वटपत्र, कल्क आदि से उष्ण जल द्वारा धोकर पारद को प्राप्त करें। पश्चात् पारद को द्विगुण वस्त्र से छान कर मर्दन संस्कार के लिए रख लें।

(२) मर्दन-संस्कार—

परिभाषा—मर्दन-संस्कार के लिए कही गई औषधि अम्ल द्रव्य या काञ्जी के साथ पारद को घोंटने की क्रिया को मर्दन कहते हैं। मर्दन से पारद-स्थित बाह्य मल नष्ट होता है।[2]

मर्दन—एक पत्थर या लोहे की खरल में गुड़, जला हुआ ऊन (ऊन की मसी), सैन्धव लवण, गृहधूम, पुरानी ईंट का चूर्ण तथा राई—प्रत्येक पारद का सोलहवाँ भाग लेकर लौह या पत्थर के खरल में पारद के साथ काञ्जी डालकर तीन दिन तक मर्दन करने को मर्दन संस्कार कहते हैं। इससे पारद का बाह्य मल नष्ट होता है।[3] मर्दन तप्त खरल मे करना चाहिए।[4]

विधि—गुड़, जला हुआ ऊन आदि प्रत्येक द्रव पारद का सोलहवाँ भाग लेकर एक बड़े पत्थर या लोहे की खरल में डाल दें। पारद को उसी खरल में डाल कर खरल को 'हॉट प्लेट' पर रखकर काञ्जी डालकर मर्दन करें, या दो ईंट पर उठाकर खरल को रखें तथा ईंट के मध्य बकरी की प्रज्वलित निर्धूम मिंगी या प्रज्वलित निर्धूम लकड़ी का कोयला डालकर मर्दन करें। इसे तप्तखल्व विधि कहा जाता है। बार-

---

१. 'आसुरीपटुकटुकत्रयचित्रार्द्रकमूलकैः कलांशैश्च ।
सूतस्य काञ्जिकेन त्रिदिनं मृदुवह्निना स्वेदः' ॥ (र० हृ० त० २।८)

२. 'उदितैरौषधैः सार्धं सर्वाम्लैः काञ्जिकैरपि ।
पेषणं मर्दनाख्यं स्याद् बहिर्मलविनाशनम्' ॥ (र० चू० ४।८२)

३. 'गुडदग्धोर्णालवणैमन्दिरधूमेष्टिकासुरी सहितैः ।
रसपोडशांशमानैः सकाञ्जिकैर्मर्दनं त्रिदिनम्' ॥ (र० हृ० त० २।९)
(रससार)

४. (अ) 'प्रमर्दयेत् तप्तखल्वे रक्षितव्यं प्रयत्नतः' ।
(ब) 'लोहाकाश्मिज खल्वे तु तप्तेष्वेव तु मर्दयेत्' ।

Scanned with CamScanner

बार सूखने पर काञ्जी डालते हुए तीन दिन तक इस मर्दन की क्रिया को करना चाहिए। चौथे दिन उष्ण जल से प्रच्छालन कर वस्त्र से छानकर पारद प्राप्त कर लेना चाहिए।

(३) मूर्च्छन-संस्कार—

परिभाषा—मूर्च्छन-संस्कार हेतु कही गई औषधियों के साथ पारद को नष्टपिष्ट होने तक घोंटने की इस प्रक्रिया को मूर्च्छन-संस्कार कहते हैं। इस संस्कार से पारद का विष, वह्नि, मल आदि सर्वदोष नष्ट हो जाता है।[1] 'नष्टपिष्टकारकं मूर्च्छनम्' अर्थात् पारद को नष्टपिष्ट करना ही मूर्च्छन है। मर्दन करने से पारद अपनी चपलता एवं द्रवता को त्याग देता है तथा पारद नागवर्ण का हो जाता है। इस अवस्था को मूर्च्छन-संस्कार कहते हैं।[2]

'तन्मूर्च्छनं हि वार्यं द्विभुजकञ्चुकनाशनम्' अर्थात् मूर्च्छन से पारद स्थित वारिज नाग, वंग एवं कञ्चुक दोष नष्ट हो जाता है।

मूर्च्छन—पारद के मलदोष को घृतकुमारि, अग्निदोष को त्रिफला तथा विषदोष को चित्रक नष्ट करता है। अतः घृतकुमारि (ग्वारपाठा) का गूदा, त्रिफला और चित्रकमूल का चूर्ण—प्रत्येक पारद का षोडशांश लेकर इनके साथ पारद का सात बार मर्दन कर लेने से पारद का मूर्च्छन-संस्कार हो जाता है।[3]

विधि—पारद का सोलहवाँ भाग घृतकुमारि, त्रिफलाचूर्ण और चित्रकचूर्ण लेकर लौह खरल में इकट्ठा डालकर पारद मिलाकर काञ्जी से लगातार तब तक मर्दन करें जब तक कि पारद पूर्णरूपेण नष्ट-पिष्ट न हो जाय। इस क्रिया के लिए भी तप्तखल्व का प्रयोग करें। 'आरनालं सहितं सुतापितं' (रसे० मं०)। इस क्रिया को सात बार धातुवाद की दृष्टि से करना चाहिए, न कि रसवाद के लिए।[4]

(४) उत्थापन-संस्कार—

परिभाषा—मूर्च्छन-संस्कार के क्रम में पारद नष्ट-पिष्ट होकर मृत अर्थात् मूर्च्छित हो जाता है। उसे पुनः अपने स्वरूप में लाने की क्रिया को उत्थापन कहते हैं।[5]

उत्थापन—स्वेदन, आतप, प्रच्छालन, वस्त्रनिष्पीडन एवं पातन आदि क्रियाओं

१. 'मूर्च्छनोद्दिष्टभैषज्यैर्नष्टपिष्टत्वकारकम् ।
तन्मूर्च्छनं हि सम्प्रोक्तं सर्वदोषविनाशनम्' ॥ (र० चू० ४।८३)
२. 'नागवर्णं भवेत् सूतं विहाय घनचापलम् ।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि' ॥ (रसावर्ण ११।११९)
३. 'गृहकन्या हरति मलं त्रिफलाऽग्नि चित्रकश्च विषम् ।
तस्मादेभिर्मिश्रैर्वारान् सप्त सम्मूर्च्छयेत्' ॥ (र० हृ० त० २।६)
४. 'सप्तवारानि मूर्च्छयेत् इति धातुवादे, न रसेषु'। (आ० प्र०)
५. 'मृतस्य पुनरुद्भूतिः सा प्रोक्तोत्थापनक्रिया'। (टोडरानन्द)

द्वारा पारद को अपने स्वरूप में लाने की क्रिया को उत्थापन कहते हैं।[1] इससे पारद की मूर्च्छा नष्ट होती है।

'उत् उर्ध्वस्थापनम् उत्थापनम्'।

विधि—प्रथम पारद को काञ्जी में दोलायन्त्र द्वारा ३ दिन अथवा १ दिन स्वेदन कर पश्चात् उष्ण जल से प्रच्छालन कर लें। यदि फिर भी पारद में अन्य द्रव्य शेष रह जाय तो उसे नींबू स्वरस में घोंट कर कड़ी धूप में रख कर शुष्क कर लें और चूर्ण भाग को फूंक मारकर उड़ा दें तथा पारद को कपड़े में दबा कर निचोड़ लें। यदि इतने पर भी पारद सम्पूर्ण रूप से अपने रूप में न आ सके तो उसे डमरू यन्त्र द्वारा ऊर्ध्वपातन करके प्राप्त कर लें। इससे पारद अपने स्वाभाविक रूप में आ जाता है तथा नाग-वंगादि दोष से भी मुक्त हो जाता है।[2]

(५) पातन-संस्कार—

परिभाषा—निर्दिष्ट औषधियों द्वारा पारद का मर्दन कर ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् पातनयन्त्र द्वारा पारद को प्राप्त करना पातन कहलाता है। पातन से पारद स्थित नाग-वंग के सम्पर्क से उत्पन्न कञ्चुकों का नाश होता है।[3]

(विक्रय हेतु पारद में मिश्रित नाग, वंग आदि कृत्रिम दोषों की मुक्ति त्रिविध पातन द्वारा हो जाती है।[4])

पातन के प्रकार—

पारद का पातन तीन प्रकार से किया जाता है—

१. उर्ध्वपातन (Sublimation)।
२. अधःपातन (Sublimation)।
३. तिर्यक्पातन (Distillation)।

उर्ध्वपातन में नीचे के पात्र में पारद होता है और उसी पात्र को नीचे से अग्नि देते हैं। ऊपर के पात्र को ठंडा रखकर उर्ध्वपातित पारद को प्राप्त करते हैं। अधःपातन में पारद ऊपर के पात्र में होता है, अग्नि भी ऊपर से दी जाती है तथा नीचे के पात्र में जल होता है जिसमें अधःपातित पारद एकत्रित होता है। तिर्यक्पातन में एक पात्र में पारद होता है जिसे अग्नि पर रखा जाता है। यह पात्र एक नली से जुड़ा होता है और नली का दूसरा सिरा जलयुक्त पात्र में रखे जलयुक्त पात्र से, जिसमें वाष्पीभूत

१. 'स्वेदातपादियोगेन स्वरूपाऽऽपादनं हि यत् ।
तदुत्थापनमित्युक्तं मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम्' ॥ (र० चू० ४।८५)
२. 'अमुना विरेचनेन विशुद्धो नागवङ्गपरिमुक्तः ।
सूतः पातनयन्त्रे समुत्थितः काञ्जिकक्वाथात्' ॥ (र० हृ० त० २।७)
३. 'उक्तौषधैर्मर्दितपारदस्य यन्त्रस्थितस्योर्ध्वमधश्च तिर्यक् ।
निर्यातनं पातनसंज्ञमुक्तं वङ्गादिसम्पर्कजकञ्चुकघ्नम्' ॥ (र० चू० ४।८६)
४. 'मिश्रितौ चेद्रसे नागवङ्गौ विक्रयहेतुना ।
ताभ्यां स्यात् कृत्रिमो दोषः तन्मुक्तिः पातनत्रयात्' ॥ (रसे० चि० ३।३२)

Scanned with CamScanner

पारद शीतल जल के सम्पर्क से अपने द्रव स्वरूप में एकत्र होता है। पातन की इन तीनों क्रिया में जहाँ पारद होता है उधर अग्नि की व्यवस्था तथा दूसरी ओर जहाँ पारद प्राप्त करना होता है वहाँ जल की व्यवस्था की जाती है। ('यत्र तिष्ठति सूतेन्द्रो वह्निस्तत्र, अन्यथा जलम्')।

पातन—तीन भाग पारद में एक भाग ताम्र का चूर्ण मिलाकर नींबू के रस से मर्दन कर पिष्टी बना लें। नींबू स्वरस के शुष्क हो जाने पर विद्याधर यन्त्र, अथवा (डमरू यन्त्र द्वारा) उर्ध्वपातन तथा अधःपातन एवं तिर्यक्पातन यन्त्र द्वारा पारद को तिर्यक् पातित कर लें। इस तरह ताम्र के साथ पिष्टी बनाकर पातित किया गया पारद नाग-वंग आदि अन्य धातुओं को ताम्र में छोड़ देता है और स्वयं यौगिक आदि सभी दोषों से मुक्त होकर शुद्ध रूप में प्राप्त होता है।[1]

उर्ध्वपातन विधि—डमरू यन्त्र के नीचे वाले पात्र में ताम्रचूर्ण के साथ बनाये गये पारद की पिष्टी को रखते हैं। ऊपर वाले पात्र के ऊपर (बाहरी पेंदे पर) एक मिट्टी द्वारा आलबाल बनाया जाता है या कम्बल को कई तह में मोड़कर गीला कर ऊपर रखते हैं और नीचे से तीव्र अग्नि देते हैं। नीचे की तीव्र अग्नि से पारद वाष्पीभूत होकर ऊपर के पात्र में एकत्र होता है जिसे बाद में पात्र के स्वांगशीत हो जाने पर सन्धि-बन्धन खोलकर ऊपरी पात्र में एकत्रित पारद तथा पारद के धूम्र को सावधानीपूर्वक वस्त्र से रगड़कर एकत्र कर लेते हैं। इसे द्विगुण वस्त्र से निचोड़ लेना चाहिए। इसमें पारद ऊपर की ओर गति करता है, अतः इसे उर्ध्वपातन कहते हैं।

अधःपातन विधि—उर्ध्वपातित पारद एवं ताम्रचूर्ण निर्मित पिष्टी का ऊपर के पात्र के भीतरी तल में लेप कर दें। दूसरे नीचे के पात्र में जल भर लें। अब जल वाले तथा पारद वाले दोनों पात्रों का अच्छी प्रकार सन्धि-बन्धन कर लें। जमीन में एक गड्ढा खोद कर जलवाले पात्र को पूरी तरह गड्ढे में प्रविष्ट कर सन्धि-बन्धन के ऊपर तक मिट्टी से ढँक दें। अब ऊपर वाले पात्र के चारों ओर उपले सजा कर अग्नि प्रज्वलित कर दें। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक पात्र को बाहर निकालें तथा सन्धि-बन्धन खोलकर जल वाले पात्र के तल में एकत्रित पारद को जल निथार कर प्राप्त कर लें। इस विधि में दूसरा तरीका यह है कि नीचे वाले पात्र में जल न भर कर उसे खाली ही रखते हैं; तथा पात्र पूरी तरह गड्ढे में चला जाय, इससे कुछ बड़ा गड्ढा खोद कर उसमें पानी डालकर कीचड़ बना लेते हैं और नीचे वाले पात्र को गड्ढे में डालकर सन्धि-बन्धन तक मिट्टी से ढँक देते हैं। बाकी की अग्नि पहले की ही तरह देते हैं। गड्ढे में पानी डालकर कीचड़ बना देने से शीतलता बनी रहती है तथा ऊपर की अग्नि से वाष्पीभूत पारद नीचे आकर शीतलता को प्राप्त कर द्रव रूप में परिणत होकर एकत्रित होता है। पारद की गति ऊपर से नीचे की ओर होने से इसे अधःपातन कहते हैं।

१. 'कृत्वा तु शुल्वपिष्टि निपात्यते नागवङ्गशङ्खातः।
तस्मिन् दोषान् मुक्त्वा निपतति शुद्धस्तथा सूतः'॥ (र० हृ० त० २।१२)

तिर्यक्पातन विधि—इस प्रक्रिया में एक लोहे की बोतल जिसके ऊपर का ढक्कन चूड़ीदार होता है जो एक निकास नली से जुड़ा होता है, उसमें पारद एवं ताम्र निर्मित पिष्टी को डालकर कोयले की अंगीठी में स्थापित कर देते हैं। ढक्कन से लगी निकास नली का दूसरा सिरा एक अन्य पात्र से जोड़ देते हैं तथा यह दूसरा पात्र एक जल से भरे पात्र में रखा जाता है। नली के उपर भी गीला वस्त्र लपेट दिया जाता है, जिससे नली ठंडी रहे। अंगीठी की अग्नि प्रज्वलित कर पारद वाले पात्र को तीव्र अग्नि देते हैं। पारद वाष्पीभूत होकर नली से होता हुआ जल वाले ग्राहक पात्र में शीतलता को पाकर द्रव रूप में एकत्रित हो जाता है। इस विधि में पारद की गति तिरछी (तिर्यक्) होती है, अतः इसे तिर्यक् पातन कहते हैं।

तीनों पातन के लिए पारद को ताम्र के साथ पिष्टी करके लिया जाता है। ऐसा करने से पारद नाग-वंग दोष को त्याग देता है।[1]

त्रिविध पातन में तिर्यक् पातन का अधिक महत्त्व है। एक तिर्यक् पातन मात्र से ही पारद का तीनों पातन हो जाता है—ऐसी अनेक विद्वानों की मान्यता है। पारद के प्रथम पाँच संस्कारों (स्वेदन से पातन तक) से पारद सभी प्रकार से शुद्ध हो जाता है।

'एवं सुसंस्कृतः सूतः पातनावधियत्नतः।
सर्वदोषविनिर्मुक्तो जायते नात्र संशयः'॥ (आ० प्र० १।८३)

(६) बोधन संस्कार—

परिभाषा—स्वेदन से पातन तक की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पारद क्लान्त, मन्द, षण्ढ एवं मरणासन्न हो जाता है। फिर से उसमें वीर्योत्कर्ष के लिए जो संस्कार किया जाता है, उसे बोधन कहते हैं।[2]

इसे ही रोधन या मुखकरण भी कहा जाता है। सृष्टचम्बुज के साथ पारद का बोधन-संस्कार कर लेने से पारद में मुख उत्पन्न हो जाता है। या सृष्टचम्बुज के साथ पारद का दोला यन्त्र विधि से स्वेदन कर लेने से पारद वीर्यवान् हो जाता है।[3]

यहाँ मुख का अर्थ बुभुक्षा से है। स्वेदन से पातन तक की क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप पारद मृदु, शांत, शिथिल तथा मन्दवीर्य हो जाता है। स्वर्णादि के ग्रास लेने एवं पचाने की क्षमता घट जाती है। इस क्षमता को पुनः बोधन-संस्कार द्वारा बढ़ाया जाता है, अतः इसे मुख या मुखकरण कहते हैं।

१. 'पातने ताम्रयोगेन नागवङ्गौ त्यजेद् रसः'॥ (आ० क० ३।४)
२. (अ) 'मर्दनमूर्च्छनपातैः कदर्थितो भवति मन्दवीर्यत्वात्'। (र० हृ० त०)
(ब) 'मर्दनैर्मूर्च्छनैर्पातैः मरणान्तो भवेद्रसः।
शक्त्युत्कर्षाय बोध्योऽसौ गुरुदर्शितवर्त्मना'। (रसपद्धति)
३. 'सृष्टचम्बुजैर्निरोधेन ततो मुखकरो भवेत्।
स्वेदनादिवशात्सूतो वीर्यं प्राप्नोत्यनुत्तमम्'॥ (र० र० स० ११।४५)

Scanned with CamScanner

सृष्टचम्बुज—सृष्टचम्बुज से मूत्र, शुक्र, शोणित (आर्तव) तथा सैंधव का ग्रहण किया जाता है।

संस्कार-विधि—लवण के घोल में तीन दिन तक रखने से पारद का बोधन होता है। इसके लिए पारद को एक बड़े मिट्टी के घड़े में एक भाग सैन्धव लवण और तीन भाग जल डालकर घड़े का मुख बन्दकर तीन दिन तक रखा जाता है, जिससे पारद षण्ढता-मन्दता को त्यागकर वीर्यवान् हो जाता है। इसी को शोधन, बोधन या रोधन संस्कार कहते हैं।[1] चौथे दिन जल निथार कर पारद प्राप्त कर लिया जाता है।

(७) नियमन संस्कार—

परिभाषा—बोधन-संस्कार से प्राप्त बल या वीर्यवान् पारद के चपलत्व की निवृत्ति के लिए जो स्वेदनादि क्रिया की जाती है, उसे नियमन-संस्कार कहते हैं।[2] इसे ही नियामन या संनियमन भी कहते हैं।

नियमन—नियमन संस्कार हेतु कथित औषधियों के कल्क में रखकर काञ्जी में तीन दिन स्वेदन करने से पारद का अपना चपलत्व दूर होता है। इसी को नियमन संस्कार कहते हैं।

संस्कार-विधि—नियमन के लिए पानपत्र, लहसुन, सैंधव, भृंगराज, बांझ-ककोड़ा और इमली—प्रत्येक को पारद का षोडशांश लेकर कल्क बना कर उस कल्क में पारद को रखकर स्वेदन-संस्कार की भाँति काञ्जी से दोलायन्त्र में तीन दिन स्वेदन करना चाहिए। इससे पारद में बोधन संस्कार से प्राप्त वीर्य पारद की चपलता की निवृत्ति हो जाती है।[3]

(८) दीपन संस्कार—

परिभाषा—पारद को बुभुक्षित करने के लिए जो संस्कार किया जाता है, उसे दीपन संस्कार कहते हैं।

दीपन—दीपन, मुखकरण और बुभुक्षा ये तीनों एक ही अर्थ को सूचित करते हैं। दीपन से पारद की बुभुक्षा बढ़ती है। जैसे भूखे प्राणी में भोजन की लालसा उत्पन्न होती है और वह सामने रखे अन्न को शीघ्र खा लेता है, उसी प्रकार दीपन-संस्कार से पारद ग्रास-लोलुप होकर स्वर्ण आदि के ग्रास को शीघ्र ग्रहण कर लेता है।[4]

---

१. 'जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम्।
स्थितिराप्यायनी कुम्भे याऽसौ रोधनमुच्यते' ॥ (र० चू० ४।८७)

२. रोधनाल्लब्धवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये'। (र० र० स० ८।१६)

३. इति लब्धवीर्यः सम्यक् चपलोऽसौ संनियम्यते तदनु।
फणिलशुनाम्बुजमार्कवकर्कोटीचिञ्चिकास्वेदात् ॥ (र० हृ० तं० २।१०)

४. 'लेलिहानो हि धातूंश्च पीड्यमानो बुभुक्षया।
अमुनैव प्रकर्तव्यं रसराजस्य दीपनम्' ॥ (रससार०)

संस्कार-विधि—पारद से षोडशांश स्फटिक, कासीस, टंकण, काली मरिच, सैन्धव, राई और शिग्रु की छाल लेकर इनके कल्क में पारद को रखकर पोट्टली बना दोला यन्त्र विधि से काञ्जी के साथ तीन दिन तक स्वेदन करने के पश्चात् उष्ण जल से प्रक्षालित कर पारद को प्राप्त कर लेना चाहिए। ऐसा करने से पारद का दीपन-संस्कार हो जाता है।[1]

पारद-संस्कारान्तर्गत अनुक्त मान—पारद के संस्कारों में जहाँ द्रव्य की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया हो, वहाँ प्रत्येक द्रव्य की मात्रा पारद के सोलहवें भाग के बराबर ग्रहण करना चाहिए।[2]

यदि तीन दिन तक स्वेदन सम्भव न हो तो ऐसी स्थिति में लगातार एक दिन स्वेदन करना चाहिए। पारद का स्वेदन अति तीक्ष्ण अग्नि पर नहीं करना चाहिए।[3]

पारद-संस्कार का फल

(१) स्वेदन से—मल-शैथिल्य।

(२) मर्दन से—

१. 'बहिर्मल का नाश—'बहिर्मलविनाशनम्'। (र० का० धे० पृ० ३३८)
२. 'रसो भवेद् वह्निसमप्रभावः'। (र० चू०)
३. 'तद् वह्निशान्तये'। (र० कौ०)
४. 'नवदोष विनिर्मुक्तो जायते निर्मलो रसः'। (र० प्र० सु०)
५. 'शुद्धतमो रसः'।

(३) मूर्च्छन से—

१. 'दोषत्रयविनाशनम्'। (र० चू०)
२. 'सर्वदोषविनाशनम्'।
३. 'वार्य द्विभुजकञ्चुकनाशनम्'।
४. 'मूर्च्छनं दोषविध्वंसि सप्तकञ्चुकनाशनम्'। (र० प्र० सु०)
५. निर्मलत्व।
६. ग्रन्थिभेद।

(४) उत्थापन से—

१. 'मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम्'।
२. कंचुकापहरण।
३. नाग-वंग मुक्ति।

---

१. 'भूखगटङ्कणमरिचैर्लवणासुरिशिग्रुकाञ्जिकैस्त्रिदिनम्।
स्वेदेन दीपितोऽसौ ग्रासार्थी जायते सूतः' ॥ (र० हृ० त० २।१५)

२. 'रसस्य षोडशांशेन द्रव्यं युञ्ज्यात् पृथक् पृथक्।
द्रव्येषु अनुक्तमानेषु मतं मानमिदं बुधैः' ॥ (आ० प्र० १।४७)

३. 'त्रिदिनं स्वेदनाशक्तौ दिनमेकं निरन्तरम्।
स्वेदयेद्रसराजं तु नातितीक्ष्णेन वह्निना' ॥ (आ० प्र० १।४८)

Scanned with CamScanner

(५) पातन—

(क) उर्ध्वपातन से—

१. 'वंगनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः'। (रसार्णव)
२. 'सकलदोषनिर्मुक्तः'।

(ख) अधःपातन से—

१. 'नाग-वंग-शङ्कामुक्ति'। (रसहृदय)
२. 'त्यजति कञ्चुलिकां हि वाङ्गीम्'। (र० चू०)
३. 'रसायने योग्यो भवेद् द्रव्यविशेषतः'। (र० र० स० ११।३९)

(ग) तीर्यक्पातन से—

१. 'कृत्रिमदोषमुक्तिः'। (र० चि०)
२. 'सर्वदोषमुक्तिः'। (आ० प्र०)
३. 'नागवङ्गौ त्यजेद्रसः'। (आ० क०)
४. 'निपततिशुद्धस्तथा सूतः'। (र० हृ० त०)
५. 'कर्मकारी भवेद्ध्रुवम्'। (र० र० स०)

(६) बोधन से—

१. 'मन्दवीर्यत्वात् लब्धाऽऽप्यायो भवति'। (र० हृ० त०)
२. 'आप्यायितो वीर्यवान् पण्ढत्ववर्जितः'। (आ० क०)
३. 'लब्धश्वासो प्राप्तपुंस्त्वः'। (र० चि०)
४. 'षण्ढभावं विमुञ्चन्ति'। (र० चि०)
५. 'वीर्यप्रकर्षः'। (र० च०)
६. 'पुनराप्यायनं प्राप्य न स्यात् पण्ढो, भवेद् वली'। (र० चू०)
७. 'निरस्तपण्ढभावः'। (आ० प्र०)
८. 'वीर्यप्राप्नोत्यनुत्तमम्'। (र० र० स०)
९. 'महामुखकरः'। (र० हृ० टीका०)
१०. (अ) 'बुभुक्षितो भवेत् सूतः'। (रससार ५।५०)
(ब) 'ततो बलमाप्नुयात्'। (रससार ५।४३)

(७) नियमन से—

१. 'निर्मलस्तेजवान्'। (र० मं०)
२. 'चपलत्वनिवृत्तये'। (र० र० स०)
३. 'चपलोऽसौ सन्नियम्यते'। (र० हृ०)
४. 'स्थिरतां व्रजेत्'। (र० चि०)
५. 'वीर्यवान् जायेत'। (र० प्र० सु०)
६. 'वह्निमित्रत्वकारकः'। (रससार०)

(८) दीपन से—

१. 'ग्रासार्थी'। (र० हृ० त०, रसार्णव०, र० रत्ना०, आ० क०)

२. 'दीपनम्'। (र० चू०; र० प०)
३. 'दीपनं वीर्यतेजवृद्धिः'। (र० र० स०)
४. 'तीव्रत्वं, वेगकारित्वं, व्यापकत्वं, बुभुक्षता, बलवत्त्वम्, यातुधानन्मुखम्'। (र० प्र० सु०)
५. 'लेलिहानः, बुभुक्षा'। (रससार)

पारद की गतियां

पारद-संस्कारों के क्रम में द्रव अग्नि आदि उपकरण के सम्पर्क में आता है तथा विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरता है। इस क्रम में यह भिन्न-भिन्न रूपों में निकल जाता है, फलस्वरूप उसके भार में कमी आ जाती है। पारद के विभिन्न रूपों में निकल जाने की क्रिया को रसाचार्यों ने गति कहकर सूचित किया है। यह गति पाँच प्रकार की होती है। यथा—१. जलग, २. हंसग, ३. मलग, ४. धूमग तथा ५. जीव या अदृश्य गति।

(१) जलग ('जलगो जलरूपेण')—प्रयोग (स्वेदन, प्रच्छालन) के समय जल में जल के साथ पारद निकल जाता है। इसे पारद की जलग या जल गति कहते हैं।

(२) हंसग ('त्वरितो हंसगो भवेत्')—प्रयोग में शीघ्रता करने पर हंस की तरह उछलकर अथवा उड़कर पारद निकल जाता है। पारद को अन्य द्रव्यों के साथ मर्दन करते समय अथवा एक पात्र से दूसरे पात्र में लेते समय इस प्रकार की स्थिति देखी जाती है। पारद का सूक्ष्म कण श्वेत चमक के साथ उड़कर या छिटक कर गिर जाता है। इस क्रिया का श्वेतहंस में उछलने अथवा उड़ने की क्रिया से साम्य स्थापित किया गया है। इसे पारद की हंसग या हंस गति कहते हैं।

(३) मलग - ('मलगो मलरूपेण') नाग, वंग आदि जो पारद में मल के रूप में मिले होते हैं, उनसे मुक्त करने के लिए पारद की उर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् पातन आदि क्रियाएं की जाती हैं। इस प्रक्रिया में पारद की हानि होती है। यह हानि मल के साथ पारद के निकल जाने के कारण होती है। इसे ही मलग गति कहते हैं।

(४) धूमग ('धूमो धूमगो भवेत्') पारद जब अग्नि के सम्पर्क में आता है तो वह धूम्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है। पारद के धूम्र के रूप में उड़ने की क्रिया पारद के पातन तथा गन्धक-जारण (रससिन्दूर, मकरध्वज आदि के निर्माण) आदि के क्रम में असावधानीवश तथा स्वभावतः भी होती है। गन्धक-जारण के क्रम में गन्धक के धूम्र के साथ-साथ पारद भी धूम्र रूप में उड़ जाता है और पारद के वजन में कमी आ जाती है। पारद की इस गति को धूमग या धूमगति कहते हैं। गन्धक के साथ धूम्र के रूप में निकलते हुए पारद को धूम्र को ठण्डा करके सिद्ध किया जा सकता है।

(५) जीवगति या अदृश्यगति ('अन्या जीवगतिर्देवी जीवोऽण्डादिव निष्क-

१. आ० र०

Scanned with CamScanner

मेत्')—जैसे शरीर से जीव के निकलने की गति अदृश्य होती है, ठीक उसी प्रकार प्रयोग के क्रम में पारद अदृश्य रूप से निकल जाता है, जिसे कोई देख नहीं पाता। पारद की इस गति को कोई रोक भी नहीं सकता है। यहाँ जीवगति का अर्थ पारद की जीव (आत्मा) सदृश गति से है जिससे पारद की हानि हो जाती है। किन्तु इस हानि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता, अतएव इसे अदृश्य गति कहते हैं।

पारद जल में जल के साथ, प्रयोग में त्वरा (जल्दीबाजी) से हंस के समान, मलों के साथ मल के रूप में और धूम के साथ धूम के रूप में निकल जाता है। पाँचवीं गति देह से आत्मा के निकलने की तरह अदृश्य रूप से होती है। पारद जीवों को जीवन (दीर्घायुष्य) देता है, अतः पारद को जीव कहा गया है। पारद की जलग, हंसग, मलग एवं धूमग—ये चार गतियाँ दृश्य हैं, जिसे प्रयोगों के क्रम में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इसकी पाँचवी गति अदृश्य होती है। मन्त्र एवं ध्यान से ही इस अदृश्य गति को रोका जा सकता है। इन विभिन्न गतियों के कारण संस्कारों के क्रम में पारद की रक्षा करना कठिन है। अतः निपुण वैद्य को चाहिए कि सावधानी पूर्वक पारद की रक्षा करे।[1]

जारण या जारणा

विभिन्न यन्त्रों की सहायता से पारद में गन्धक आदि द्रव्यों को क्षीण करना या जीर्ण करना (पचाना) या जलाना 'जारण' कहलाता है।[2]

पारद चाहे अष्टसंस्कारित हो अथवा हिंगुल से प्राप्त शुद्ध रूप का, परन्तु यदि वह छः गुना गन्धक द्वारा जीर्ण न किया गया हो तो उसमें रोगनाशक शक्ति पूर्ण रूप से नहीं आती। अतः पारद में रोगनाशक शक्ति तथा रसायन गुण उत्पन्न करने के लिए छः गुना (षड्गुण) गन्धक का जारण अवश्य करना चाहिए।[3]

---

१. 'जलगो जलरूपेण त्वरितो हंसगो भवेत्।
मलगो मलरूपेण सधूमो धूमगो भवेत्॥
अन्या जीवगतिर्देवी जीवोऽण्डादिव निष्क्रमेत्।
स तांश्च जीवयेज्जीवांस्तेन जीवो रसः स्मृतः॥
चतस्रो गतयो दृश्या अदृश्या पञ्चमी गतिः।
मन्त्रध्यानादिना तस्य रुध्यते पञ्चमी गतिः॥
इति भिन्नगतित्वाच्च सूतराजस्य दुर्लभः।
संस्कारस्तस्य भिषजा निपुणेन तु रक्षयेत्' ॥ (र० र० स० १।८१-८४)

२. 'सूते गन्धादिनिक्षेपात् तत्तद्विधिविशेषतः।
गन्धान्धं जार्यते यत्तु जारणं तदिहोच्यते' ॥

३. (क) 'रसगुणबलिजारणं विनाऽयं न खलु रुजाहरणक्षमो रसेन्द्रः।
न जलदकलधौतपाकहीनः स्पृशति रसायनतामिति प्रतिज्ञा' ॥
(आ० प्र० १।११४)

शुद्ध पारद में विविध धातु के बीजों को विलीन करने की शक्ति को बढ़ाना या उत्पन्न करना जारण कहलाता है। विभिन्न प्रकार के विडों के सहयोग से पारद का मुख तैयार होता है, बुभुक्षा बढ़ती है और तब पारद स्वर्ण, रजत, अभ्रकसत्त्व, माक्षिकसत्त्व आदि को अपने अन्दर विलीन करने में समर्थ हो पाता है।

जारणा उसे कहते हैं जिसमें पारद गालन-पातन आदि क्रिया के बिना ही ग्रास लिये हुए अभ्रक, स्वर्ण आदि औषधियों को जीर्ण कर ले तथा अपने पूर्व स्वरूप में बना रहे[1] तथा पारद की मात्रा अथवा भार में भी वृद्धि न हो।[2]

विड् एवं यन्त्रों (कच्छपादि) के सहयोग से पारद में दिया गया द्रुत लोहादि एवं द्रुत सत्त्व आदि का ग्रास अच्छी तरह पच जाय तो इसे जारण कहते हैं।[3] पारद में द्रुत ग्रास का क्षीण या जीर्ण हो जाना ही जारणा है।[4]

जारणा के भेद

प्रथम भेद—१. भूचरी जारणा तथा २. खेचरी जारणा।

द्वितीय भेद—१. बाल जारणा तथा २. वृद्ध जारणा।

तृतीय भेद—१. सम्मुख जारणा, २. निर्मुख जारणा तथा ३. वासनामुख जारणा।

जारण-क्रम

सर्वप्रथम कच्छप यन्त्र के माध्यम से गन्धक का जारण करना चाहिए। तत्पश्चात् अभ्रक, स्वर्णमाक्षिक सत्त्व, हेम-प्रभृति द्रव्यों का; तदनन्तर नाग, वंग एवं रत्न आदि का जारण करना चाहिए। यही जारण का क्रम है। गन्धक का जारण किये बिना धातुओं का जारण करने से पारद में मुख (क्षुधा) नहीं बन पाता, जिससे उसमें धातु जीर्ण नहीं हो पाते हैं। अतः सर्वप्रथम गन्धक का ही जारण करना चाहिए।[5]

(ख) 'वसुविधविधिसंस्कृतोऽपि सूतो रसविबुधैरिह हिङ्गुलोत्थितो वा।
रसगुणबलिजारणाविहीनो गदगणवारणतां तु नैति नूनम्' ॥
(र० त० ५।१०१)

१. 'जारणा हि नाम गालनपातनव्यतिरेकेण ग्रस्तघनहेमादिरसस्य पूर्वावस्था प्रतिपन्नत्वम्' । (आ० प्र० १।१०७)

२. 'अर्थात्तुलया तोलितो नाधिको भवेदिति यावत्'।

३. 'द्रुतग्रासपरीणामो विडयन्त्रादियोगतः।
जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिशः' ॥ (र० चू० ४।१०२)

४. 'द्रुतग्रासक्षय एव जारणा'।

५. (क) 'गन्धकं जारयेत्पूर्वं यन्त्रे कच्छपसञ्ज्ञके'।
'पश्चाद्वै जारयेद्व्योम हेमप्रभृति यद्भवेत्॥
पश्चान्नागादयः सर्वे जार्यन्ते रत्नसङ्करा:।
क्रमोऽयं विद्यते सर्वजारणासु न संशयः॥

Scanned with CamScanner

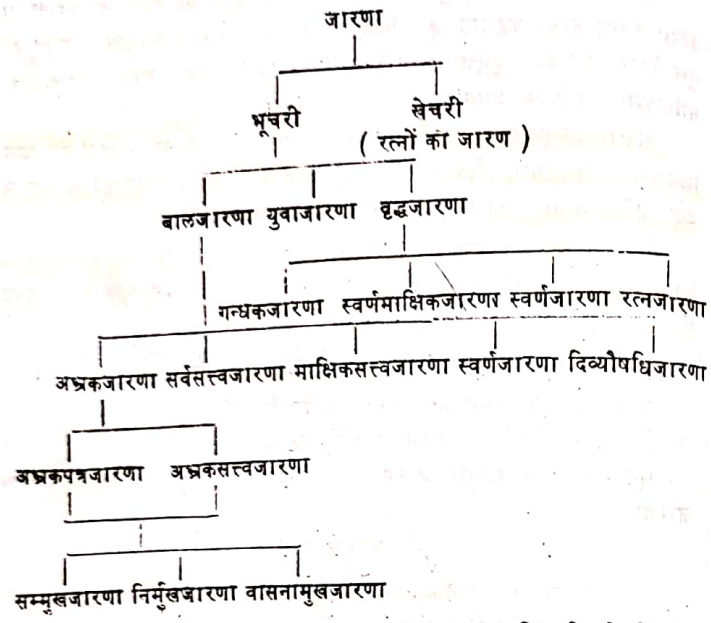

बहिर्धूम एवं अन्तर्धूम गन्धक-जारण—गन्धक का जारण प्रक्रिया-भेद से दो प्रकार से किया जाता है—

१. **बहिर्धूम**—वालुका यन्त्र विधि से खुले मुख वाले पात्र में जो गन्धक जारण किया जाता है, उसे बहिर्धूम गन्धक-जारण कहते हैं। इस विधि से गन्धक-जारण की क्रिया शीघ्र सम्पन्न होती है।

२. **अन्तर्धूम**—इस विधि में कच्छप यन्त्र अथवा भूधर यन्त्र द्वारा बन्द कूपी, मूषा अथवा यन्त्र पात्र द्वारा गन्धक का जारण किया जाता है। इस विधि में गन्धक-जारण की क्रिया मन्द गति से होती है।

गन्धक-जारण-विधि—

(१) **बहिर्धूम विधि**—वालुका यन्त्र के ऊपर एक मिट्टी अथवा लोहे का पात्र रखकर उसमे प्रथम पारद के समान भाग शुद्ध गन्धक डाल दें। गन्धक के पिघल जाने

बिना गन्धेन ये मर्त्याः कुर्वन्ति धातुजारणाः।
न क्षुधा जायते सूते जरयन्ति न धातवः।
तस्माद् गन्धं पुरा जार्यः सूतवह्निविवृद्धये' ॥ (र० चि० ५।७०-७३)

(ब) 'गगनं जारयेदादौ सर्वसत्त्वमतः परम्।
ततो माक्षिकशुद्धं च सुवर्णं तदनन्तरम्' ॥ (रसार्णव० ११।८)

पर शुद्ध पारद डाल दें तथा अग्नि देते जायें। जब आधा गन्धक जल जाय तब पुनः उसमें पारद के समान भाग में गन्धक डाल दें। इस प्रकार क्रमशः छः गुना तक गन्धक का जारण कर लें।[1]

(२) **अन्तर्धूम विधि**—कच्छप यन्त्र के पात्र में प्रथम पारद का आधा गन्धक डालकर उसमें गड्ढा कर पारद डाल दें। ऊपर से शेष आधा गन्धक डालकर पात्र के मुख को भली प्रकार अवरुद्ध कर अग्नि दें। इसी क्रम से षड्गुण गन्धक का जारण कर लें।[2]

गन्धक जीर्ण पारद के गुण—

पारद के समान भाग में गन्धक जीर्ण होने पर पारद शुद्ध पारद की अपेक्षा सौ गुना अधिक बलवान् एवं फलप्रद हो जाता है। द्विगुण गन्धक जीर्ण होने पर सभी प्रकार के कुष्ठ का नाश करता है। त्रिगुण गन्धक जीर्ण होने पर सभी प्रकार की शरीरगत जड़ता का नाश करता है। चतुर्गुण गन्धक जीर्ण होने पर वली एवं पलित का नाश करता है। पाँच गुणा गन्धक के जीर्ण होने पर पारद क्षयरोग को नष्ट करता है। छः गुणा गन्धक जीर्ण होने पर पारद सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है।[3]

अन्य मत से—

समगुण गन्धक के जीर्ण होने पर पारद सामान्य रोगों को नष्ट करता है। द्विगुण जीर्ण होने पर महारोगों को नष्ट करता है। त्रिगुण गन्धक के जीर्ण होने पर पुंस्त्व की वृद्धि करता है। चार गुणा गन्धक जीर्ण होने पर शरीर में उत्साह, धारणा-

---

१. 'निधाय बालुकायन्त्रे चषकं सुदृढं भिषक्।
रसतुल्यं बलिं तस्मिन्निक्षिपेत् खलु शोधितम् ॥
बलिं तु विद्रुतं दृष्ट्वा रसेशं तत्र दापयेत्।
अर्द्धजीर्णं बलिं ज्ञात्वा पुनर्गन्धं प्रदापयेत् ॥
आषड्गुणं क्षिपेदेवमल्पमल्पं समाहितः।
स्वतः शीतं ततो ज्ञात्वा रसेशं तु समाहरेत्' ॥
(र० त० ५।१०२-१०४)

२. 'कच्छपाख्येन यन्त्रेण रसतन्त्ररहस्यवित्।
उक्तमार्गानुसारेण जारयेत् षड्गुणं बलिम्' ॥ (र० त० ५।१०५)

३. 'तुल्ये तु गन्धके जीर्णे शुद्धाच्छतगुणो रसः।
द्विगुणे गन्धके जीर्णे सर्वथा सर्वकुष्ठहा ॥
त्रिगुणे गन्धके जीर्णे सर्वजाड्यविनाशनः।
चतुर्गुणे तथा जीर्णे वलीपलितनाशनः ॥
गन्धे पञ्चगुणे जीर्णे क्षयक्षयकरो रसः।
षड्गुणे गन्धके जीर्णे सर्वरोगहरो रसः' ॥ (आ० प्र० १।११८-१२०)

Scanned with CamScanner

शक्ति तथा स्मृति-शक्ति को बढ़ाता है। पाँच गुणा गन्धक के जीर्ण होने पर पारद रोग तथा दुःख को नष्ट करता है। छः गुणा गन्धक के जीर्ण होने पर पारद अनेक प्रकार के अद्भुत कार्य करने वाला हो जाता है।[1]

गन्धक-जारण फल

जारित गन्धक-प्रमाण	आयुर्वेदप्रकाश	रसतरङ्गिणी
समगुण गन्धक जीर्ण	शुद्ध की अपेक्षा सौ गुना फलप्रद	सामान्य रोग का नाश
द्विगुण गन्धक जीर्ण	सर्वकुष्ठ नाशक	महारोगों का नाश
त्रिगुण गन्धक जीर्ण	जड़ता का नाश	पुंस्त्व-वृद्धि
चतुर्गुण गन्धक जीर्ण	वलिपलित का विनाश	उत्साह, मेधा, स्मृति
पञ्चगुण गन्धक जीर्ण	क्षय का नाश	गद-सन्तापनाशन
षड्गुण गन्धक जीर्ण	सर्वरोगहर	अद्भुत कार्य करनेवाला

मूर्च्छना

परिभाषा—गन्धक अथवा बिना गन्धक (गन्धकेतर) योग के पारद में निश्चित व्याधिनाशक गुण उत्पन्न करना मूर्च्छना कहलाता है।[2]

पारद में निश्चित व्याधिनाशक शक्ति का आधान करना ही मूर्च्छना कहलाता है।[3]

मूर्च्छन संस्कार से मूर्च्छना को भिन्न समझना चाहिए। क्योंकि मूर्च्छन-संस्कार से पारद में निश्चित व्याधिघातक गुण उत्पन्न नहीं होता है और यहाँ मूर्च्छना से निश्चित व्याधिघातक गुण उत्पन्न होना बताया गया है। ('मूर्च्छित्वा हरति रुजम्' अर्थात् पारद मूर्च्छित होने पर ही व्याधि को नष्ट करता है)।

१. 'समे तु गन्धके जीर्णे सामान्यगदनाशनः।
द्विगुणे तु विशेषेण महारोगविधूननः॥
त्रिगुणे तु विशेषेणाक्षय्यपुंस्त्वप्रकाशनः।
चतुर्गुणे महोत्साहमेधास्मृतिविवर्धनः॥
तथा पञ्चगुणेऽशेषगदसन्तापनाशनः।
रसेश्वरः षड्गुणे तु विविधाद्भुतकार्यकृत्' ॥ (र० त० ५ १०६-१०८)

२. तत्तद्विधिप्रभेदेन रसस्याव्यभिचारतः।
व्याधिघातकता या स्यात् सा मता मूर्च्छनाः बुधैः' ॥ (र० त० ६।१)

३. 'अथाव्यभिचरितव्याधिघातकत्वं मूर्च्छना'। (आ० प्र० १।१३७)

मूर्च्छना के प्रकार

१. सगन्ध एवं निर्गन्ध भेद से मूर्च्छना दो प्रकार की होती है। सगन्ध गन्धकयुक्त होता है तथा निर्गन्ध गन्धकरहित।[1]

२. बहिर्धूम, अन्तर्धूम और निर्धूम भेद से सगन्ध मूर्च्छना तीन प्रकार की होती है।[2]

३. गन्धपिष्टि, गन्धबद्ध, गन्धजीर्ण, रसगन्धक, कज्जली और धातुपिष्टि भेद से मूर्च्छना पाँच प्रकार की है[3]।

४. धातुपिष्टि के रूप में मूर्च्छना (लोह) भेद से स्वर्ण, रजत, ताम्र, अभ्रक-सत्त्व और लौह पाँच प्रकार की होती है।

कुछ लोग मूर्च्छना एवं जारणा को पर्यायवाची मानते हैं[4]।

पारद मूर्च्छित होने पर ही रोग-निवारण में समर्थ होता है।

१. 'मूर्च्छितस्तु जनार्दनः' । —र० चि०
२. 'मूर्च्छितो हरते व्याधीन्' । —शब्दकल्पद्रुम
३. 'मूर्च्छाप्रपन्नो हरते च रोगान्' । —योगतरङ्गिणी
४. 'मूर्च्छितं व्याधिनाशनम्' । —रसरत्नाकर
५. 'हरति सकलरोगान् मूर्च्छितो यो नराणाम्' । —रसमञ्जरी
६. 'मूर्च्छितो व्याधिघातकः' । —र० सा० सं०
७. 'मूर्च्छितो गदहृतः' । —रसराजलक्ष्मी, रसकामधेनु
८. 'मूर्च्छागतौ यो हरते च रोगान्' । —योगरत्नाकर
९. 'मूर्च्छितौ गदहृत् तथैव' । —योगरत्नाकर
१०. 'यः श्लेष्मानिलपित्तदोषशमनी रोगापहो मूर्च्छितः' । —रसरत्नसमुच्चय

मूर्च्छना विधि एवं लक्षण

(१) शुद्ध गन्धक को शुद्ध पारद के साथ अच्छी प्रकार मर्दन करने से पारद अपनी गुरुता एवं चपलता को त्याग देता है तथा कृष्णवर्ण का (कज्जलाभ) चूर्णरूप का हो जाता है। ऐसी स्थिति को रसवेत्ता मूर्च्छना कहते हैं। यह अनुपान-भेद से रोग समूह को नष्ट करता है।[5]

१. 'निर्गन्धा च सगन्धा च मूर्च्छना द्विविधा मता।
निर्गन्धा गन्धरहिता सगन्धा गन्धसंयुता' ॥ (र० त० ६।२)
२. 'सगन्धा तु बहिर्धूमान्तर्धूमनिर्धूमतस्त्रिविधा' । (आ० प्र० १।१३७)
३. 'त्रिविधाऽपि केवलं गन्धपिष्टिगन्धबद्धगन्धजीर्णरसगन्धकज्जलीधातुपिष्टिभेदेन पञ्चधा। धातुपिष्टिश्च कनकरजतशुल्बघनसत्त्वकालायसप्रभेदैः पञ्चधा'। (आ० प्र० १।१३७)
४. 'किञ्च मूर्च्छना जारणा इत्यनर्थान्तरं प्रायः'। (आ० प्र० १।१३७)
५. 'गन्धकेन रसं प्राज्ञः सुदृढं मर्दयेद्भिषक्।
कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम् ॥

Scanned with CamScanner

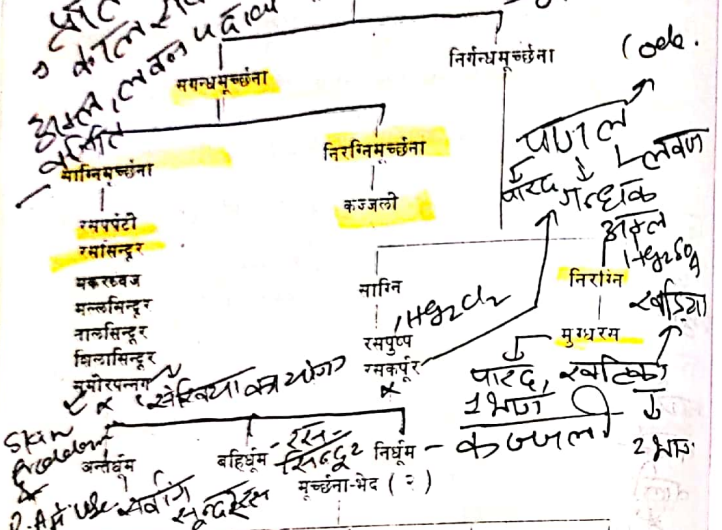

पारदमूर्च्छित रसौषधियाँ

खरलीयरसायन	पर्पटीरसायन	कूपीपक्वरसायन	पोट्टलीरसायन
कज्जली	रसपर्पटी	रससिन्दूर	रसगर्भ
त्रिभुवनकीर्ति	स्वर्णपर्पटी	मकरध्वज	हेमगर्भ आदि
आरोग्यवर्द्धनी आदि	पञ्चामृतपर्पटी आदि	रसकर्पूरादि	

दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदैः ।
अमी रोगचयं हन्यादनुपानस्य योगतः' ॥ (र० सा० सं० १।६०-६१)

(२) पारद जब अपनी गुरुता एवं चपलता छोड़कर कृष्णवर्ण का (चूर्ण-सदृश) हो जाय तो इसे मूर्च्छना जानना चाहिए। यह अनेक वर्ण का भी हो सकता है।[1] यहाँ अनेक वर्ण कहने का तात्पर्य यह है कि—कज्जलाभ-कृष्णवर्ण-कज्जली को जब अग्नि पर पाककर रससिन्दूर बनाया जाता है, तब यह रक्तवर्ण का हो जाता है। इसी में वंग आदि मिलाकर स्वर्ण सदृश चमक वाला स्वर्ण-वंग बन जाता है।

मूर्च्छना फल

पारद जब मृत हो जाता है तब देह सिद्धि को देने वाला होता है। मूर्च्छित होने पर व्याधि का नाश करता है। कहीं मृत पारद रसायनार्थ एवं मूर्च्छित देहार्थ, देहसिद्धि हेतु या अमरत्व के लिए होता है।[2]

मूर्च्छन एवं मूर्च्छना में भिन्नता

मूर्च्छन	मूर्च्छना
१. यह पारद का तीसरा संस्कार है जो पारद के नैसर्गिक दोष को दूर करने के लिए किया जाता है।	१. पारद में व्याधिनाशक गुण उत्पन्न किया जाता है।
२. पारद मूर्च्छन-संस्कार में उपयुक्त औषधियों के साथ मिलकर नष्ट-पिष्ट हो जाता है।	२. पारद सेवन योग्य बनता है (पारद खाने योग्य बनता है)।
३. पारद स्थित नाग-वंग आदि दोष मूर्च्छित हो जाते हैं।	३. यह कज्जली, पर्पटी, रससिन्दूर, स्वर्णवंग, रसकर्पूर, मुग्धरस आदि रूपों में अनेक वर्ण वाला होता है।

पारद को सेवन योग्य बनाने तथा साथ ही साथ उसमें विविध रोगों को नष्ट करने की क्षमता से युक्त करना ही पारद की मूर्च्छना है। सगन्ध मूर्च्छना अधिक निरापद एवं व्यापक रूप से प्रचलित है। सगन्ध मूर्च्छना की सबसे प्रथम या मौलिक कल्पना कज्जली है। कज्जली से पुनः विविध प्रकार की कल्पना; यथा—पर्पटी, पोट्टली, कूपीपक्व एवं खरलीय रसायन आदि का निर्माण किया जाता है।

हिंगुल से पारद-निष्कासन

हिंगुलोत्थ पारद ('हिङ्गुलात् रसाकर्षण')[1]—हिंगुल पारद का प्रधान खनिज

१. (क) 'कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम्।
मूर्च्छितस्तु तदा ज्ञेयो नानावर्णोऽपि च क्वचित्' ॥ (आ० प्र० १।३९५)

(ख) 'नानावर्णं भवेत् सूतं विहाय घनचापलम्।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि' ॥ (रसार्णव० ११।१९९)

'मारितं देहसिद्धयर्थं मूर्च्छितं व्याधिनाशने।
रसभस्म क्वचिद् योगे देहार्थे मूर्च्छितं क्वचित्' ॥ (आ० प्र० १।३९६)

३. (क) 'दरदं पातनायन्त्रे पातयेत् सलिलाशये।
सत्त्वं तु सूतसङ्काशं जायते नात्र संशयः' ॥ (रसार्णव० ७।४९)

Scanned with CamScanner

है। हिंगुल से प्राप्त पारद सर्वथा शुद्ध, सप्तकञ्चुक आदि दोष से रहित तथा सप्तगुण गन्धक जीर्ण पारद के समान ('जीर्णगन्धसमो गुणैः') होता है। अतः संस्कारित पारद के अभाव में हिंगुल से निष्कासित पारद का उपयोग श्रेयष्कर होता है।

हिंगुल से पारद प्राप्त करने के लिए ऊर्ध्वपातन की क्रिया की जाती है। इसके लिए विद्याधरयन्त्र, डमरूयन्त्र, अधःपातनयन्त्र, ऊर्ध्वपातनयन्त्र, नादयन्त्र अथवा तिर्यक् पातन यन्त्र का उपयोग किया जाता है।

अधःपातन विधि—इस विधि में आर्द्रक या नींबू स्वरस मर्दित हिंगुल का यन्त्र के ऊपर वाले पात्र के आन्तरिक तल में लेपकर सुखा लिया जाता है। अब इसे एक जल भरे पात्र जो जमीन के अन्दर मुख तक स्थापित किया जाता है, उसके साथ मुँह मिलाकर पात्र के मुख का सन्धि-बन्धन कर दिया जाता है। ऊपर वाले पात्र को बाहर से उपलों द्वारा अग्नि दी जाती है। हिंगुल से निकला हुआ पारद जल वाले पात्र में एकत्र होता जाता है।

तिर्यक्पातन विधि—इस विधि में आर्द्रक अथवा नींबू भावित हिंगुल चूर्ण को तिर्यक् पातन यन्त्र के पात्र में डालकर तिर्यक् पातन विधि द्वारा पारद प्राप्त कर लिया जाता है।

नादयन्त्र विधि—इस विधि में हिंगुल चूर्ण को एक चौड़े कपड़े पर पतले स्तर में फैलाकर लपेटकर वर्त्ती अथवा पोट्टली बना ली जाती है। अब इस पोट्टली को एक टिन पर रखे निर्धूम अंगारे पर रख ऊपर से थोड़ा सा किरासिन का तेल डालकर अग्नि प्रज्वलित कर चारों ओर तीन चार ईंट रखकर उसके ऊपर नाद उलटकर रख देते हैं। नाद के अन्दर उपरी भाग में पारद धूम्र रूप में एकत्र हो जाता है। इसे बाद में कपड़े से धीरे-धीरे रगड़ कर एवं ३-४ बार कपड़े से छानकर पारद प्राप्त कर लेते हैं।

निष्कासन विधि—एक पत्थर की खरल में हिंगुल का चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में

(ख) 'हिङ्गुलात् पृथुपारिभद्रकरसे वा जम्भवारादिनम्।
पिष्ट्वादूर्ध्वपातयन्त्रविधिना निष्कासयेत् पारदम्' ॥
(रसपद्धति १४।१८)

(ग) 'तां मृदं पातनायन्त्रे क्षिप्त्वा सूतं हरन्ति च'। (र० र० स० १।८९)

(घ) 'दिनैकं हिङ्गुलं खल्वे मर्द्यम्लेन च केनचित्।
पातयेत् पातनायन्त्रे दिनान्ते तत्समुद्धरेत्।
विना कर्माष्टकेनैव सूतोऽयं सर्वकार्यकृत्' ॥ (र० र०, वादिखण्ड)

(ङ) 'ऊर्ध्वपातनयुक्त्या तु डमरूयन्त्रपाचितम्।
हिङ्गुलं तस्य सूतं तु शुद्धमेव न शोधयेत् ॥
निम्बुरसैं निम्बपत्ररसैर्वा यामसात्रकम्।
घृष्ट्वा दरदमूर्ध्वं तु पातयेत् सूतयुक्तिवत् ॥
तत्रोर्ध्वपिठरीलग्नं गृह्णीयाद् रसमुत्तमम्।
शुद्धमेव हि तत् सूतं सर्वकर्मसु योजयेत्' ॥ (आ० प्र० ३।१४-१६)

समान भाग आर्द्रक या निम्ब स्वरस लेकर थोड़ा-थोड़ा डाल कर खूब अच्छी प्रकार मर्दन करें। चूर्ण के शुष्क हो जाने पर इसे डमरू यन्त्र, ऊर्ध्वपातन यन्त्र अथवा तिर्यक्पातन यन्त्र में रखकर मध्य से तीव्र प्रकार की अग्नि देकर पारद प्राप्त कर लें। ऊर्ध्वपातन यन्त्र या डमरूयन्त्र के ऊपर वाले पात्र के बाह्य उपरि पृष्ठ पर गीला वस्त्र रखा जाता है, जिससे धूम्र रूप वाला पारद पात्र में एकत्रित हो जाता है। इसके पश्चात् सावधानीपूर्वक पारद वाले पात्र से कपड़े से घिसकर पारद को एकत्र कर लें। अग्नि देने का काल हिंगुल की मात्रा के आधार पर निर्धारित करना चाहिए। २५० ग्राम हिंगुल के लिए २ घण्टे की अग्नि पर्याप्त है।

अनुभव के आधार पर यह देखा गया है कि हिंगुल से पारद प्राप्ति हेतु तिर्यक्-पातन यन्त्र का उपयोग सबसे उत्तम होता है। इसमें पारद की क्षति की सम्भावना कम से कम रहती है।

पारद ३५७° सें० ताप पर उबलता है। यदि पारद को श्रुत करना हो तो ४०० से ४५०° सें० ताप उपयुक्त होता है। किन्तु जब हिंगुल से पारद प्राप्त करना हो तो पारद एवं गन्धक का यौगिक हिंगुल का यौगिक स्वरूप टूटकर पारद पृथक् हो, इसके लिए ६५० से ७००° सें० ताप की आवश्यकता होती है हिंगुल का विघटन (Dissociation) ६२०° सें० ताप पर होता है। अग्नि-समय का निर्धारण इस तथ्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए। जब ताप ७००° सें० पर पहुँच जायेगा तो हिंगुल से पारद के पृथक् होने की क्रिया तेजी से होने लगती है तथा यदि तिर्यक् पातन यन्त्र का उपयोग किया जा रहा होगा तो पारद का निकलना स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता रहेगा और पारद निकलना बन्द हो जाने पर सम्पूर्ण पारद पृथक् होकर प्राप्त हो गया है—ऐसा मानकर अग्नि की क्रिया बन्द की जा सकेगी।

रस (पारदीय) कल्पनाएँ

पारदीय कल्पनाओं का आधार द्रव्य पारद है। इसके लिए सुविधा, आवश्यकता एवं उपयोगिता के अनुसार शुद्ध, हिंगुलोत्थ अथवा संस्कारित पारद लिया जा सकता है। पारद का स्वयं एकाकी रूप में न तो उपयोग किया जाता है और न ही वह औषधि के अनुरूप या औषध स्वरूप होता है। औषधीय गुण-प्राप्ति हेतु उसमें विविध द्रव्य-संयोग एवं स्वरूप-परिवर्तन किया जाता है, जिसका वर्णन मूर्च्छना के नाम से किया जा चुका है। प्रक्रिया के आधार पर पारद से निर्मित या प्राप्त होने वाली विविधि उपलब्धियों को खरलीय, पर्पटी, पोट्टली, कूपीपक्व एवं भस्म आदि नामकरण किये गये हैं। इनमें खरलीय कल्पनाएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्राथमिक या मौलिक कल्पना है। खरलीय कल्पना के अन्तर्गत विविध सगन्ध-निर्गन्ध, यौगिक-एकाकी एवं वे कल्पनाएँ जिनमें पुनः अग्नि की आवश्यकता नहीं रहती और खरल में ही सम्पन्न होकर औषध रूप में या कुछ अन्य औषधियों के आधारभूत मूल उपादान के रूप में प्रस्तुत होती हैं, उन्हें हम खरलीय कल्पना के नाम से सूचित करते हैं। इस प्रकार

Scanned with CamScanner

की कल्पनाओं का बहुत बड़ा समूह चिकित्सा-व्यवहार में प्रचलित है। उदाहरण के लिए—कज्जली, मुग्धरस, रामबाणरस, आरोग्यवर्द्धनी आदि।

कज्जली—इसका वर्णन परिभाषा-प्रकरण में किया जा चुका है। कज्जली-पर्पटी, कूपीपक्व (रससिन्दूर) आदि कल्पनाओं का आधार द्रव्य है।

पर्पटी कल्पना

व्युत्पत्ति—'पर्पटी' शब्द 'पर्पट' से बना है। पर्पट का अर्थ पापड़ होता है। पर्पट आकारान्त पुल्लिग शब्द है। इसमें 'ई' प्रत्यय लगा देने से स्त्रीलिंग रूप पर्पटी बनता है। पर्पट, पर्पटी एवं पर्पटिका—ये उत्तरोत्तर लघुता को सूचित करते हैं।

परिभाषा—कज्जली को अग्नि-संयोग से द्रवित कर कदली, पलाश आदि के पत्र पर चिपटाकार पापड़ सदृश बना लेने को रसशास्त्र को जानने वाले पर्पटी या पर्पटिका कहते हैं[1]। इसे ही 'पोट' भी कहते हैं। यह बालकों के समस्त रोगों का नाश करता है[2]। शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक को अच्छी प्रकार घोंटकर बनायी गयी कज्जली को अग्नि पर पिघलाकर केले के पत्तों के बीच ऊर्ध्वाधः गोवर के द्वारा दबाकर चिपटा कर देने को पोट या पर्पटी कहते हैं।

पर्पटी-निर्माण का उद्देश्य—पर्पटी पारद का पोटबन्ध है। बद्ध होने पर पारद की चञ्चलता तथा दुर्ग्रहत्व नष्ट होता है। पारद सभी दोषों से मुक्त होकर अपरिमित गुणों को देने वाला हो जाता है। इस बन्ध में गन्धक का उपयोग किया जाता है। गन्धक का विषहरत्व, योगवाहित्व, सूतेन्द्रवीर्यप्रद एवं संस्कारजनित अन्य औषधीय गुणों से पारद संयुक्त होकर अत्यन्त गुणवान् हो जाता है। पारद स्वयं भी योगवाही है, जो गन्धक से मिलकर क्रियाशील हो जाता है। अग्नि-संस्कार से इसमें दीपन, पाचन एवं ग्राही गुण आ जाता है। इन्हीं गुणों की प्राप्ति हेतु इस कल्प का निर्माण किया जाता है।

पर्पटी का इतिहास

पर्पटी के उपयोग के साथ ही पारद के आभ्यन्तर उपयोग की शुरुआत हुई है, ऐसा ऐतिहासिक अवलोकन से पता चलता है। ११वीं शताब्दी में चक्रपाणिदत्त द्वारा लिखित ग्रन्थ 'चक्रदत्त' में ग्रहणी चिकित्सा के अन्तर्गत पर्पटी का उपयोग किया गया है। वहाँ निम्न उल्लेख मिलता है—

'रसपर्पटिका ख्याता निबद्धा चक्रपाणिना'। (चक्रदत्त : ग्रहणीचि० ९६)

१. 'सन्द्रावित कज्जलिकाग्नियोगात्।
रम्भापलाशे चिपटी कृता च।
रसागमज्ञैः खलु पर्पटी सा, प्रकीर्तिता पर्पटिका च सैव'।

२. 'द्रुतकज्जलिका मोचापत्रे चिपटीकृता च।
स पोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत्' ॥ (र० र० स० ११।७२)
'पर्पटाकारतां नीता पर्पटीत्युच्यते बुधैः'।

नागार्जुनविरचित 'रसेन्द्रमंगल' (८वीं शताब्दी) में पर्पटी का पाठ उपलब्ध है। यहाँ पारद, गन्धक, ताम्र एवं विष के सहयोग से पर्पटी का निर्माण तथा कुष्ठ रोग पर इसके उपयोग का निर्देश प्राप्त होता है। किन्तु यह ग्रन्थ नागार्जुन द्वारा लिखित रसेन्द्रमंगल है या नहीं, सन्दिग्ध है। अन्यथा पर्पटी का आरम्भ ८वीं शताब्दी में माना जा सकता है। चक्रदत्त के पश्चात् वंगसेन, रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रसारसंग्रह, आदि ग्रन्थों में इसे उद्धृत किया गया है।

भावमिश्र ने १६वीं शताब्दी में निम्न रूप से उल्लेख किया है; यथा—
'श्रीवत्साङ्कविनिर्मितसम्यक्रसपर्पटिका श्रेष्ठा'।

यहाँ वत्सांक से भगवान् विष्णु का भी अर्थ किया जाता है अथवा वत्सांक नामक कोई रसाचार्य भी हो सकते हैं।

जो भी हो पर्पटी के उद्भव के साथ ही ग्रहणीरोग-चिकित्सा में एक क्रान्ति एवं विश्वास की स्थिति पैदा हुई तथा इसके सफलतापूर्वक प्रयोग से रोगाक्रान्त मानव का बहुत बड़ा कल्याण हुआ। वैसे पर्पटी का कार्य-क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है, और बाद में समय-समय पर द्रव्य-भेद से विभिन्न पर्पटियों का विकास होता रहा है। यथा—

१. रत्नपर्पटी	
२. अभ्रकपर्पटी	
३. मुक्ता पर्पटी	
४. अष्टामृत पर्पटी	: रसोद्धारतन्त्र
५. सप्तामृत पर्पटी	
६. सुधापर्पटी	
७. सिद्धनाथी काञ्चन पर्पटी	
८. श्वेतपर्पटी	
९. हेमपर्पटी	: र० प्र० सु०
१०. पञ्चामृत पर्पटी	: र० सा० सं०
११. ताम्र पर्पटी	
१२. मणि पर्पटी	: र० र० समु०
१३. सर्वेश्वर पर्पटी	
१४. भैरवनाथी पञ्चामृत पर्पटी	
१५. प्राणदा पर्पटी	
१६. बोल पर्पटी	: योगरत्नाकर
१७. लौह पर्पटी	
१८. सुवर्णपर्पटी	
१९. मल्लपर्पटी	: सि० भै० म० मा०
२०. विजय पर्पटी	: भैषज्यरत्नावली
२१. गगन पर्पटी	
२२. मण्डूर पर्पटी	: सि० यो० सं०
२३. क्षार पर्पटी	

Scanned with CamScanner

पर्पटी प्रकार—द्रव्य-भेद से पर्पटी के अनेक प्रकार होते हैं, तथापि मूलरूप से उन्हें हम दो भागों में बाँटते हैं—१. सगन्ध एवं २. निर्गन्ध।

(१) सगन्ध पर्पटी—इसमें मूलद्रव्य पारद एवं गन्धक होता है। पारद-गन्धक के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की पर्पटी हेतु इसमें स्वर्ण, ताम्र, लौह मण्डूर, अभ्रक आदि का संयोग करते हैं। यथा—रसपर्पटी, स्वर्णपर्पटी, ताम्रपर्पटी, लौहपर्पटी, मण्डूरपर्पटी, अभ्रकपर्पटी आदि।

(२) निर्गन्ध पर्पटी—इस पर्पटी में पारद-गन्धक नहीं होता। किन्तु निर्माण-प्रक्रिया एवं निर्मित औषधद्रव्य का आकार-प्रकार एवं स्वरूप पर्पटी की तरह होता है। यथा—श्वेतपर्पटी, मल्लपर्पटी आदि। इसमें सूर्यक्षार, नवसादर, स्फटिका आदि का प्रयोग किया जाता है।

सगन्ध पर्पटी निर्माण हेतु साधन सामग्री—

१. खल्वयन्त्र, २. लौहदर्वी, ३. छोटा चम्मच, ४. अग्नि, ५. गोमय, ६. पत्र (कदली, नागवल्ली आदि पत्र), ७. समतल पिधानक, ८. स्नेह, ९. उष्ण जल आदि।

(१) खल्वयन्त्र—पर्पटी का उपादान द्रव्य कज्जली है। शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक को मर्दन कर कज्जली निर्माण हेतु खल्व यन्त्र (खरल एवं मूसल) का उपयोग किया जाता है। इसके लिए पत्थर या लौह निर्मित द्रोण्याकार अथवा वर्तुल खल्व का सुविधानुसार उपयोग किया जाता है।

(२) लौहदर्वी—पर्पटी-निर्माण के लिए कज्जली को अग्नि पर द्रवित किया जाता है। द्रवित करने के लिए ऐसे पात्र का चुनाव करना चाहिए, जिसमें द्रवित करने एवं ढालने आदि की सुविधा तो हो ही, साथ ही द्रव्य के गुणों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पात्र के संसर्ग से न हो। व्यवहार में लौहदर्वी का विशेष उपयोग किया जाता है। शास्त्र का निर्देश लौह एवं ताम्र दोनों पात्रों के लिए है। यथा—

१. 'लौहपात्रेऽथवा ताम्रे'। (रसपर्पटी–र० यो० सा०, यो० म०)

२. 'लौहपात्रे विनिक्षिप्य लौहपर्पटिका भवेत्'।
(पर्पटिकारस—भा० भै० र०, र० र० स०)

३. 'लौहपात्रे समरसं मर्दितं कज्जलीकृतम्'।
(विजयपर्पटी—र० यो० सा०, भै० र०)

(३) छोटा चम्मच—दर्वी में द्रवित हो रहे कज्जली को उलटने-पलटने एवं एकरूप करने तथा एकत्र कर कदली पत्र पर डालने की सुविधा के लिए छोटा चम्मच या लोहपट्टी (Spetula) या काष्ठ निर्मित तत्सदृश खण्ड सुविधानुसार लेना चाहिए।

(४) अग्नि—पर्पटी-निर्माण में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अग्नि की क्रिया से कज्जली का द्रावण अथवा पाक किया जाता है। अग्नि के लिए परम्परागत अङ्गार धानिका, स्टोव या बिजली का हीटर सुविधानुसार लेना चाहिए। पर्पटी

निर्माण के लिए मृदु अग्नि की आवश्यकता होती है। ११५ से १२०° सें० पर कज्जली द्रवित हो जाती है। कज्जली द्रवित होकर पंकवत् हो जाय इतनी ही अग्नि देना चाहिए। यथा—

'सूतं पङ्कसमं विलाप्य रुचिरं पाकक्रिया कोविदः'।
(रसपर्पटिका—र० त० ६।१३६)

(५) गोमय—पर्पटी-निर्माण के लिए द्रवित कज्जली पर गोमय द्वारा उर्ध्वाधः दबाव देकर फैला दिया जाता है। शीघ्रता से शीतल होकर पुनः कठिन रूप को प्राप्त कर ले अथवा अपने निश्चित स्वरूप को प्राप्त कर ले—इसके लिए गोमय की एक स्थूल विस्तृत (रोटी सदृश) पीठिका बनाते हैं। गोमय का अर्थ गोबर है और यह गाय या महिष से प्राप्त किया जा सकता है। यथा—

१. 'शीघ्रं गोमयसंस्थिते तु कदलीपत्रे ततो निक्षिपेत्'। (र० त० ६।१३६)

२. 'गोमयस्यालबालेन स्थापिते कदलीदले'।
(गन्धकपर्पटी—र० यो० सा०, र० का० धे०)

३. 'महिषीमलविन्यस्ते तत्र तत् कदलीदले'।
(रसपर्पटी—र० यो० सा०, र० प्र० सु०)

गोमय के अभाव में पंक (कीचड़) का उपयोग भी किया जा सकता है—

'समविनिहितपङ्कस्थायिरम्भादलस्थम्'।
(पञ्चामृतपर्पटी—र० यो० सा०, र० का० धे०)

पर्पटी-निर्माण के स्तर पर गोमय कंकर-पत्थर या बालूरहित पदार्थ है और इस पर पर्पटी बनाने में पर्पटी पर कंकर-पत्थर जन्य उत्सेध या छिन्न-भिन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। जहाँ उसके अभाव में पंक का उपयोग करना हो तो कंकर-पत्थर एवं बालूरहित पंक का उपयोग करना चाहिए। गोबर बहुत गीला नहीं होना चाहिए।

पर्पटी में गुणाधान की दृष्टि से ऐसा मानना है कि गोमय चूँकि अन्नवह स्रोतस् से होकर बाहर निकलता है, अतः उसमें अनेक प्रकार का पाचक रस, किण्व (Enzymes) तथा अन्तःस्राव मिले होते हैं, जिससे कदली आदि पत्रों के माध्यम से पर्पटी में उनका शोषण हो जाता है जो ग्रहणी आदि अग्निमान्द्यजन्य विकारों में अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है।

(६) पत्र (कदली-पलाशादि पत्र)—पर्पटी-निर्माण के लिए गोमय से सीधा सम्पर्क को बचाने के लिए विभिन्न पत्रों का उपयोग किया जाता है। इनमें—कदली-पत्र, कमल, नागवल्ली (पान), अर्क, कुटज, माचिका, पलाश एवं एरण्ड आदि में से किसी एक पत्र का उपयोग करते हैं।

उपलब्धि के आधार पर इसे ग्रहण करना चाहिए। रचना, आकार-प्रकार एवं उपलब्धता की दृष्टि से कदली पत्र सबसे उत्तम एवं सुलभ है, अतः विशेष रूप से इसी

Scanned with CamScanner

का उपयोग किया जाता है। इन सबके अभाव में स्विन्नपट का उपयोग किया जा सकता है। कहा गया है—

१. 'प्रथमं कदली श्रेष्ठा तस्याभे पद्मिनीदलम्। तद् लाभे नागवल्ली'।
(ताम्रपर्पटी—र० यो० सा०)

२. 'ढालयेत् अर्कपत्रस्था पर्पटी रससिद्धये'।
(ताम्रपर्पटी—र० यो० सा०, यो० र०)

३. 'तत्सर्वं क्षिपेत्कुटजपत्रके'। (सुधासार रस—र० यो० सा०, र० र०, यो० र०)

४. 'माचिका पत्र खण्डे पत्रोत्थापितम्'। (पञ्चामृतपर्पटी—र० यो० सा०)

५. 'पञ्चाङ्गुलदले क्षिपेत्'। (क्रव्यादरसपर्पटी—र० यो० सा०, यो० र०)

६. 'रम्भापलाशे चिपटी कृता च'। (र० त०)

७. 'मोचा पत्रे चिपटीकृता च'। (र० र० स०)

८. 'ढालयेत् कदली पत्रेऽथवा स्विन्नपटे क्षिपेत्'।
(रसपर्पटी—र० यो० सा०, यो० महोदधि)

(७) **समतल पिधानक (अथवा थाली)**—द्रवित कज्जली को गोमय पीठिका पर रखे कदली पत्र पर डालकर ऊपर से दूसरा कदली पत्र रखकर दबाने से पर्पटी बनती है, अतः यहाँ दबाने के लिए सबसे सुविधाजनक उपकरण चौड़े पेंदे वाला ढक्कन या थाली लेना चाहिए। पिधानक के स्थान पर गोमय को कदली पत्र से वेष्टित (लपेट कर) कर लिया जा सकता है। यहाँ गोमय से पर्पटी का सीधा सम्पर्क न हो, इसमें सावधानी रखनी चाहिए।

(८) **स्नेह**—पर्पटी-निर्माण के समय थाली में कज्जली चिपके नहीं, साथ ही कदली पत्र में भी न चिपके तथा ताप-नियमन में भी सहयोग करे, एतदर्थ किंचित् घृत या तैल का उपयोग किया जाता है। परोक्ष रूप में घृत एवं तैल से संस्कार जनित स्निग्धता, वात-पित्त शामकता आदि गुण की प्राप्ति भी सम्भव है। यथा—

१. 'घृताक्तं लौहपात्रेऽग्नौ द्रुतत्वादेकतां गतम्'। (अभ्रपर्पटी—र० यो० सा०)

२. 'किञ्चित् क्षिपेत्तैलमतश्च वह्नौ प्रदाव्य'। (रसपर्पटी—र० यो० सा०)

(९) **उष्णजल**—पर्पटी के तैयार हो जाने पर घृत-तैल जनित स्नेहांश को पर्पटी से अलग करने के लिए उष्ण जल से प्रक्षालन करना व्यवहार में प्रचलित है। तत्पश्चात् उसे सुखाकर चूर्णकर प्रयोग में लाना चाहिए।

पर्पटी में धातु-मिश्रण—पर्पटी-निर्माण में धातुओं का भी प्रयोग किया जाता है। ये धातु विशेष रूप से भस्म के रूप में लिये जाते हैं। तथापि स्वर्ण, रजत आदि को वर्ख या कण्टकवेधी पत्र के रूप में लेकर प्रथम पारद में अच्छी प्रकार घोंटकर मिला लिया जाता है फिर गन्धक डालकर कज्जली बनायी जाती है। तत्पश्चात् उस कज्जली से पर्पटी का निर्माण किया जाता है।

पर्पटीपाक-परीक्षा

पाक की दृष्टि से पर्पटी को तीन प्रकार का बतलाया गया है, यथा—१. मृदु-पाक, २. मध्यपाक तथा ३. खरपाक।

पर्पटीपाक-परीक्षा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. पाककालीन परीक्षा।
२. पाक-पश्चात् परीक्षा।

(१) **पाककालीन परीक्षा**—कज्जली को पर्पटी-निर्माण हेतु जब द्रवित किया जाता है, तो अग्नि की मात्रा एवं पाककाल आदि के अन्तर से द्रवित कज्जली में कुछ लक्षण व्यक्त होते हैं, जिनके आधार पर बनने वाली पर्पटी का ज्ञान किया जा सकता है कि पर्पटी कैसी बनेगी।

मृदुपाक—द्रवित कज्जली का वर्ण यदि मयूरचन्द्रिका के वर्ण का हो तो इसे मृदु-पाक जानना चाहिए।

'मयूरचन्द्रिकाकारं लिङ्गं यत्र तु दृश्यते।
तत्र सिद्धिं विजानीयात् मृदुनैवात्रसंशयः॥'
(रसपर्पटी—भा० भै० र०)

मध्यपाक—तैलाभ होने तक पाक किया जाय तो उससे मध्यपाक पर्पटी बनती है।

'तावत् स्थाप्यते यावत्तैलाभो जायते रसः।'
(ताम्रपर्पटी—र० यो० सा०, र० चि०)

खरपाक—द्रवित कज्जली का वर्ण पकाते हुए यदि रक्त वर्ण की हो जाय तो खरपाक पर्पटी बनेगी, ऐसा जानना चाहिए।

'रक्तवर्णं भवेद् यावत् तावत्पाच्यं प्रचालयेत्।'
(रुद्रपर्पटी—भा० भै० र०, र० का० धे०)

(२) **पाक-पश्चात् परीक्षा**—

मृदुपाक—

'मृदौ न सम्यग् भङ्गोऽस्ति।' (पञ्चामृतपर्पटी—र० यो० सा०)
'मृदुपाके न भङ्गः।' (र० त० ६।१३८)

अर्थात् मृदुपाक पर्पटी सम्यक् रूप से टूटती नहीं है, बल्कि मुड़ या झुक जाती है।

मध्यपाक—

'मध्ये भङ्गश्च रौप्यवत्।' (पञ्चामृतपर्पटी—र० यो० सा०)

मध्यपाक पर्पटी टूटने पर रजत के समान दिखाई देती है।

'स्यात् तत्सारल्यञ्च मध्यमे'। (र० त० ६।१३९)

अर्थात् जो सरलता से टूट जाय, उसे मध्यपाक जानना चाहिए। मृदु एवं मध्य-पाक पर्पटी का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

Scanned with CamScanner

खरपाक—

'खरेऽल्पघुर्भवेद् भङ्गो रूक्षः श्लक्ष्णोऽरुणच्छवि ।'

(पञ्चामृत पर्पटी—र० यो० सा०)

अर्थात् खरपाक पर्पटी कठिन, रूक्ष, श्लक्ष्ण तथा अरुण छवि वाली होती है।

'खरे चूर्णञ्च लोहितम्' । (र० त० ६।१३९)

अर्थात् खरपाक पर्पटी का चूर्ण लोहित वर्ण का होता है।

यदि कज्जली को द्रवित अवस्था में किञ्चित् अधिक अग्नि पर अधिक समय तक रखा जाय तो वह रसनिन्दूर (Red sulphide) बनने की स्थिति में पहुँच जाती है, बल्कि आंशिक रूप से रसनिन्दूर बन जाती है, जिससे वह लोहित वर्ण की दिखलाई देने लगती है।

त्याज्य पर्पटी—

'खरत्यज्यो विषोपमः' । (रसपर्पटी०—र० यो० सा)

'खरन्तु विषवत् त्यजेत्' । (र० त० ६।१३८)

अर्थात् खरपाक पर्पटी को विषवत् या विषोपम कहा गया है और इसे त्याज्य कहा है।

भृगन्ध पर्पटी का मूल घटक पारद एवं गन्धक है। अन्य घटकों के आधार पर इसका नाम, गुण एवं मात्रा आदि अलग-अलग प्रकार के होते हैं। जिसे यथास्थान प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर्पटी का मुख्य उपयोग, सामान्य मात्रा एवं कल्प प्रयोग को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

पर्पटी का मुख्य उपयोग—ग्रहणी, अतिसार, जलोदर, गुल्म, शोथ, अर्श, कुष्ठ, पाण्डु तथा पाचन विकारों में।

पर्पटी प्रयोग प्रकार—पर्पटी का प्रयोग दो रूपों में होता है—१. सामान्य प्रयोग तथा २. कल्प प्रयोग।

१. सामान्य प्रयोग—पर्पटी का समान्य प्रयोग १ से २ रत्ती (१२० मिग्रा० से २४० मिग्रा०) तक २ से ३ बार किया जाता है। पर्पटी के सामान्य प्रयोग में पथ्या-पथ्य का अधिक विचार नहीं किया जाता।

२. कल्प प्रयोग—इस प्रयोग में पर्पटी १ रत्ती से प्रारम्भ कर १० रत्ती तक (कहीं-कहीं २ रत्ती से प्रारम्भ कर १२ रत्ती तक) प्रतिदिन १-१ रत्ती बढ़ाते हुए रोग मुक्त होने तक दी जाती है। पश्चात् १-१ रत्ती घटाते हुए १ रत्ती पर (या २ रत्ती पर) पहुँचकर प्रयोग बन्द कर दिया जाता है।

सामान्य रूप से पर्पटी का कल्प प्रयोग ४० दिन का होता है। तथापि रोग एवं रोगी के बलाबल के अनुसार ३६ दिन, ४० दिन, ६० दिन तथा ९६ दिन का भी हो सकता है। इस प्रयोग की किसी एक अवधि को एक चक्र या मण्डल कहा जाता है।

३६ दिन के १ चक्र या मण्डल में	२८८ रत्ती तक।
४० दिन के १ चक्र में	३१० रत्ती तक।
६० दिन के १ चक्र में	४८० रत्ती तक।
९६ दिन के १ चक्र में	७६८ रत्ती तक।

इनमें से किस चक्र या मण्डल का प्रयोग किस रोगी पर करना चाहिए, इसका निर्णय चिकित्सक करता है। ऐसा चक्र या मण्डल आवश्यकतानुसार १ बार, २ बार, ३ बार अथवा इससे भी अधिक बार अपेक्षानुसार दुहराया जा सकता है।

कल्प प्रयोग में पथ्य—कल्प-प्रयोग में अन्न, जल एवं लवण का निषेध किया जाता है। इस काल में दुग्ध या तक्र का यथेष्ठ प्रयोग किया जाता है।

सामान्य प्रयोग में भृष्ट जीरक चूर्ण एवं तक्र से पर्पटी का प्रयोग किया जाता है।

रसपर्पटी

(भै० र० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१. हिंगुलोत्थ पारद, २. शुद्ध गन्धक } दोनों समान भाग।

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम पारद को अग्निमन्थ स्वरस, एरण्डमूल स्वरस एवं आर्द्रक स्वरस से १-१ दिन मर्दन कर जल से प्रच्छालन कर साफ कर लें। शुद्ध गन्धक को भृंगराज स्वरस की सात भावनाएँ देकर सुखा लें। तत्पश्चात् गन्धक को द्रवित कर ३ बार भृंगराज स्वरस में बुझा लें। अब गन्धक एवं पारद को एक साथ खरल में डालकर २-३ दिन तक अच्छी प्रकार मर्दन कर कज्जली बना लें। अब इस कज्जली को किंचित् घृत-लिप्त लोह दर्वी में डालकर कोयले के अंगार पर गर्मकर पंकवत् द्रवित कर शीघ्रता से गोमय स्थित कदलीपत्र पर डाल कर कदली-पलाशादि पत्र से आच्छादित कर दबाकर पर्पटी का निर्माण कर लें।[1] लौह दर्वी की क्षमता के

---

१. 'सूतं हिङ्गुलसम्भवं हृतमलं मोटोरुबूकार्द्रकैः ।
दैत्येन्द्रं कचरञ्जनोद्भवजलैः प्राक् सप्तधा भावितम् ।
अग्नौ कोलककोकिलोज्ज्वलशिखे सम्यग्विलाप्य द्रुतं ।
भृङ्गोत्थे सलिले निषिच्य विमलं तुल्यं ततः पेषयेत् ॥
युक्त्या कज्जलिकां विधाय विबुधस्तां लोहदर्व्यां क्षिपेत् ।
निर्दिष्टैः खलु कोकिलैश्च दहनं प्रज्वाल्य दर्वीं न्यसेत् ।
सूतं पङ्कसमं विलोक्यरुचिरं पाकक्रियाकोविदः ।
शीघ्रं गोमयसंस्थिते तु कदलीपत्रे ततो निक्षिपेत् ॥
निक्षिप्तमात्रं कदलीपलाशैराच्छादयेद्वै सुचिरं रसज्ञः ।
यस्मादियं पर्पटतुल्यरूपा तस्मान्मता पर्पटिकाभिधेया' ॥
(र० त० ६।१३५-१३७)

हिसाब से तथा सरलतापूर्वक पर्पटी बन सके—इसके लिए एक बार में २०-२५ ग्राम से अधिक कज्जली नहीं लेनी चाहिए। अधिक मात्रा में यदि कज्जली हो तो इसका कई बार में निर्माण करें।

रसपर्पटी का गुण—यह ग्रहणी, अतिसार, क्षय, कास, जलोदर, गुल्म उन्माद, दाह, ज्वर, शोथ, कामला, शूल, पाण्डु, भस्मक, अठारह प्रकार के कुष्ठ, प्लीहा, आमवात एवं अम्लपित्त को नष्ट करता है तथा कामशक्ति को बढ़ाने वाला एवं शुक्र जनक है।[1]

लोह पर्पटी[2]

(भै० र० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१. हिंगुलोत्थ अथवा शुद्ध पारद
२. शुद्ध गन्धक — तीनों समान भाग।
३. कान्तलोह भस्म

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक की कज्जली बना लें।

---

१. 'ग्रहणीगजमर्दनदक्षतरा क्षयकासजलोदरगुल्महरा।
अतिसारमतिभ्रमदाहहरा ज्वरशोथहरा रसपर्पटिका॥
अर्शोरोगं हरति सुतरां कामलां शूल कोपं
पाण्डुव्याधिं श्वयथुसहितं भस्मकञ्चातिभीष्मम्।
कुष्ठान्यष्टादश भृशमथोत्सेधकं सर्वरूपं
प्लीहानञ्च प्रविततरुजं त्वामवातानशेषान्॥
अम्लपित्तशमनी हरणीया वृद्धदोषदमनी रमणीया।
कामशुक्रजननी मदनीया पर्पटी क्व न भवेत्कमनीया'॥
(र० त० ६।१४०-१४२)

२. 'समौ गन्धरसौ कृत्वा कज्जलीकृत्य यत्नतः।
शुद्धलौहस्य चूर्णन्तु रसतुल्यं प्रदापयेत्॥
एकीकृत्य ततो यत्नाल्लौहपात्रे प्रमर्दितम्।
घृतप्रलिप्तदर्व्यान्तु स्वेदयेन्मृदुनाऽग्निना॥
द्रवीभूतं समाहृत्य ढालयेत् कदलीदले।
चूर्णीकृत्य सुखार्थाय पथ्यभुग्भिः प्रसेव्यते॥
शीतोदकानुपानं वा क्वाथो वा धान्यजीरयोः।
लोहेन पर्पटी ह्येषा भक्ष्या लोकस्य सिद्धिदा॥
रक्तिकैकां समारभ्य वर्द्धयेद् रक्तिकां क्रमात्।
सप्ताहं वा द्वयं वाऽपि यावदारोग्यदर्शनम्॥
सूतिकाञ्च ज्वरांश्चैव ग्रहणीमतिदुस्तराम्।
आमशूलातिसारांश्च पाण्डुरोगं सकामलम्॥

कज्जली बन जाने पर उसमें कान्तलोह भस्म डाल कर खूब अच्छी प्रकार घोंटकर मिला लें। तत्पश्चात् घृत-लिप्त लोह दर्वी में डालकर मृदु अग्नि पर द्रवित कर गोमय स्थित कदली पत्र पर ढालन कर ऊपर से अन्य कदली पत्र रखकर दबाकर पर्पटी बना लें। इसे चूर्ण कर प्रयोग करें।

लोह पर्पटी मात्रा—सामान्य मात्रा १ से २ रत्ती। कल्प मात्रा १ रत्ती से प्रारम्भ कर क्रमशः १-१ रत्ती बढ़ाते हुए ७ दिन अथवा १५ दिन तक ७ रत्ती अथवा १५ रत्ती तक रोगमुक्ति-पर्यन्त प्रयोग करें। पुनः १-१ रत्ती घटाते हुए १ रत्ती पर ले आयें।

अनुपान—शीतोदक अथवा धान्य एवं जीरक क्वाथ से।

लोह पर्पटी गुण—सूतिका ज्वर, ग्रहणी (दुस्तर ग्रहणी), आमशूल, अतिसार, पाण्डु, कामला, प्लीहा, अग्निमान्द्य, भस्मक, आमवात, उदावर्त एवं अठारह प्रकार के कुष्ठ।

पथ्य—तक्र एवं शालि चावल।

अपथ्य—शाक एवं विदाही अन्न-पान, आतप, वायु, चिन्ता एवं मैथुन।

स्वर्ण पर्पटी[1]

(भै० र० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१. शुद्ध अथवा हिंगुलोत्थ पारद — ४ भाग
२. शुद्ध गन्धक — ४ भाग
३. स्वर्णभस्म या स्वर्ण का कण्टकवेधी पत्र — १ भाग

प्लीहानमग्निमान्द्यञ्च भस्मकञ्च तथैव च।
आमवातमुदावर्त्तं कुष्ठान्यष्टादशैव तु॥
हन्त्येनं प्रयोगेण वपुष्मान् निर्मलः सुखी।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णं वलीपलितवर्जितः॥
भोजनं तक्रशालीनां त्यक्त्वा शाकं विदाहि च।
आतपं वातकोपञ्च चिन्तनं मैथुनं तथा'॥ (भै० र०—ग्रहणी ४४४-५२)

१. 'रसोत्तमं पलं शुद्धं हेमतोलकसंयुतम्।
शिलायां मर्दयेत्तावद् यावदेकत्वमागतम्॥
गन्धकस्य पलं चैकमयःपात्रे ततो दृढे।
मर्दयेद् दृढपाणिभ्यां यावत्कज्जलतां व्रजेत्॥
ततः पाकविधानज्ञः पर्पटीं कारयेत् सुधीः।
रक्तिकादिक्रमेणैव योजयेदनुपानतः'॥
ग्रहणीं विविधां हन्ति यक्ष्माणञ्च विशेषतः।
शूलमष्टविधं हन्ति वृष्या सर्वरुजापहा॥ (भै० र०-ग्रहणी ४५४-५७)

Scanned with CamScanner

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम शुद्ध स्वर्णपत्र अथवा स्वर्णभस्म को पारद में मिलाकर खूब अच्छी प्रकार घोंटकर एकरूप कर लें। तत्पश्चात् शुद्ध गन्धक डालकर कज्जली बनायें। सम्यक् कज्जली बन जाने पर पर्पटी निर्माण विधान के अनुसार पर्पटी बना लें।

स्वर्ण पर्पटी की मात्रा—१ रत्ती। अथवा कल्प प्रयोग के क्रम में १-१ रत्ती बढ़ाते हुए (कुछ विद्वानों के अनुसार ½ रत्ती प्रतिदिन बढ़ाते हुए) १५ दिन तक ले जायें। पश्चात् रोग मुक्त होने पर उसी क्रम से घटाकर १ रत्ती तक ले आयें।

अनुपान—भृष्टजीरक चूर्ण एवं शहद से।

स्वर्ण पर्पटी के गुण—सभी प्रकार का ग्रहणी, राजयक्ष्मा एवं अष्टविध शूल को नष्ट करता है। यह वृष्य है एवं सभी रोगों को नष्ट करता है।

ताम्र पर्पटी[1]

(योगरत्नाकर : कास)

घटक द्रव्य—१.	ताम्र भस्म	३ भाग
२.	शुद्ध पारद	३ भाग
३.	शुद्ध गन्धक	३ भाग
४.	शुद्ध वत्सनाभ	१ भाग

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम पारद-गन्धक की कज्जली बना कर उसमें ताम्र भस्म डाल कर अच्छी प्रकार घोंट कर मिला लें। पश्चात् शुद्ध वत्सनाभ का चूर्ण डालकर इसे भी अच्छी प्रकार से घोंटकर मिला लें। अब इस मिश्रण को घृतलिप्त लौह दर्वी में डालकर मृदु अग्नि पर द्रवित कर इसे गोमय-स्थित अर्कपत्र पर ढालकर दूसरे अर्कपत्र से आच्छादित कर दबाकर पर्पटी बना लें।

ताम्र पर्पटी की मात्रा—२ से ३ रत्ती दिन में २ से ३ बार।

अनुपान—आर्द्रकस्वरस, त्रिफलाक्वाथ, एरण्डतैल, कुमारीस्वरस, वाकुची चूर्ण, त्रिफला चूर्ण अथवा खदिर क्वाथ से।

गुण—श्वास, कास, ज्वर, पाण्डु, क्रिमि, यक्ष्मा, कुष्ठ, शूल, संग्रहणी, प्लीहा एवं यकृद्दृद्धि, अतिसार तथा अनुपान-भेद से वात एवं श्लेष्म रोगनाशक है।

पथ्य—गेहूँ, चना, गोदुग्ध, घृत, मक्खन, परवल, कद्दू, पका केला एवं मांसरस।

अपथ्य—अम्ल पदार्थ, तैल, बैंगन, पेठा, कच्चा केला एवं मैथुन।

---

१. 'मृतं ताम्रं त्रिभागश्च रसं गन्धश्च तत्समम्।
भागमेकं वत्सनाभं कज्जलीखल्वमध्यगम्॥
गोष्टतेन कृतं कल्कं लोहपात्रे विपाचयेत्।
ढालयेदर्कपत्रस्थां पर्पटीं रससिद्धये'॥ (योगरत्नाकर-श्वास)
'गुञ्जाद्वयं त्रयञ्चैव पिप्पलीमधुसंयुतम्'। (योगरत्नाकर)
'निष्कं वाकुचीचूर्णं लेहयेदनुपानकम्'॥ (र० र० स० २०।१३४)

विजय पर्पटी[1]

(भै० र० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१.	शुद्ध पारद	४ भाग
२.	शुद्ध गन्धक (भृंगराज स्वरस शोधित)	२ भाग
३.	रौप्यभस्म	१ भाग
४.	स्वर्णभस्म	½ भाग
५.	मुक्ताभस्म या पिष्टी	½ भाग
६.	वैक्रान्तभस्म	½ भाग

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम गन्धक को चूर्णकर ७ अथवा ३ बार भृंगराज स्वरस की भावना देकर सुखा लें। अब इस भावित गन्धक को घृतयुक्त लौहदर्वी में मन्द-अग्नि पर द्रवित कर भृंगराज स्वरस में वस्त्र गालित करते हुए ढालन कर लें। इसके पश्चात् भृंगराज स्वरस से गन्धक को निकाल कर गर्म जल से प्रच्छालन कर सुखाकर चूर्णकर उपरोक्त मात्रा में लेकर पारद के साथ अच्छी प्रकार मर्दन कर कज्जली तैयार करें। कज्जली बन जाने पर सभी भस्म डालकर सम्यक् रूप से घोंटकर एक-रूप कर लें। अब इस कज्जली को घृतलिप्त लौहदर्वी में मन्द अग्नि (बेर की लकड़ी के निर्धूम अंगारे) पर द्रवित कर गोमय स्थित कदली पत्र पर डालकर दूसरे कदली-पत्र से ढक कर दबाकर पर्पटी तैयार कर लें। इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में सम्पूर्ण कज्जली की पर्पटी बना लें।

विजयपर्पटी मात्रा—सामान्य प्रयोग—२ रत्ती दिन में दो से तीन बार।

कल्प प्रयोग—१ रत्ती से प्रारम्भ कर १-१ रत्ती बढ़ाते हुए १० रत्ती रोगमुक्त होने तक; पश्चात् क्रमशः १-१ रत्ती घटाते हुए १ रत्ती पर पहुँचकर प्रयोग बन्द करें।[2]

---

१. 'गन्धकं क्षुद्वितं कृत्वा भाव्यं भृङ्गासेन तु।
सप्तधा वा त्रिधा वापि पश्चाच्छुष्कं विचूर्णयेत्॥
चूर्णयित्वाऽऽयसे पात्रे कृत्वा वह्निगतं सुधीः।
द्रुतं भृङ्गरसे क्षिप्तं तत उद्धृत्य शोषयेत्॥
तच्च गन्धं पलञ्चैकं गन्धार्द्धं शुद्धपारदम्।
सूतार्द्धं भस्मरौप्यञ्च तदर्धं स्वर्णभस्मकम्॥
तदर्द्धं मृतवैक्रान्तं मौक्तिकं च विनिक्षिपेत्।
लोहपात्रे समरसं मर्दितं कज्जलीकृतम्॥
बदराङ्गारवह्निस्थे लौहपात्रे द्रवीकृते।
एकीकृत्य ततः सर्वं कुर्यात् पर्पटिका शुभाम्'॥ (भै० र० ग्रहणी ४६१-६४)

२. 'प्रभाते भक्षयेदेनां प्राग्रक्तिद्वयसम्मिताम्।
रक्तिकादिक्रमाद् वृद्धिर्भक्ष्या नैव दशोपरि॥

Scanned with CamScanner

अनुपान—भृष्ट जीरक चूर्ण एवं दही अथवा तक्र से।

विजयपर्पटी के गुण—कष्टसाध्य पुराना ग्रहणी, आमशूल, सामदारुण अतिसार, सभी प्रकार (छः प्रकार) का अर्श, यक्ष्मा, शोथ, कामला, पाण्डु, प्लीहा, जलोदर, उदरशूल, अम्लपित्त, बातरक्त, वमन, क्रिमि, अठारह कुष्ठ, प्रमेह, विषमज्वर तथा वात-पित्त-कफोत्थ दारुण ज्वर को नष्ट करता है। यह उत्तम रसायन एवं वृष्य है।[1]

पथ्य—तक्र, शालि चावल, बैंगन, घृत, सैन्धव, धनिया, हींग, जीरक, सोंठ से युक्त व्यंजन। मांसरस, दूध, पटोल, नारिकेल, पक्व कदली फल आदि। कल्प-प्रयोग में मात्र दुग्ध का ही प्रयोग करना चाहिए।[2]

अपथ्य—निम्बपत्र, तिक्तशाक, अम्ल पेय (काँजी, सुरा आदि), ककड़ी, कद्दू, कूष्माण्ड, करेला, व्यायाम, रात्रि-जागरण एवं मैथुन।[3]

आरोग्यदर्शनं यावत्तावद्ध्रासस्ततः परम्।
अजीर्णे भोजनं नैव पथ्यकालव्यतिक्रमे' ॥ (भै० र० ग्रहणी ४७०-७१)

१. 'दुर्धरां ग्रहणीं हन्ति दुःसाध्यां बहुवार्षिकीम्।
आमशूलमतीसारं सामञ्चैव सुदारुणम् ॥
अतीसारं षडर्शांसि यक्ष्माणं सपरिग्रहम्।
शोथञ्च कामलां पाण्डुं प्लीहानञ्च जलोदरम् ॥
पक्तिशूलं चाम्लपित्तं बातरक्तं वमिं क्रिमिम्।
अष्टादशविधं कुष्ठं प्रमेहान् विषमज्वरान् ॥
वातपित्तकफोत्थांश्च ज्वरान् हन्ति सुदारुणान्।
जीर्णोऽपि पर्पटीं कुर्वन् वपुषा निर्मलः सुधीः ॥
जीवेद्वर्षशतं श्रीमान् वलीपलितवर्जितः'। (भै० र० ग्रहणी ४८०-८३)

२. 'घृतसैन्धवधान्याकहिङ्गुजीरकनागरैः।
शस्यते व्यञ्जनं सिद्धं पित्ते स्वाद्वम्लमाक्षिकम् ॥
कृष्णमत्स्येन दुग्धेन मांसेन जाङ्गलेन च।
जाङ्गलेषु शशच्छागौ मत्स्यौ रोहितमद्गुरौ ॥
पटोलफलपत्रञ्च कृष्णवार्ताकुजालिका।
सुस्विन्नपूगैस्ताम्बूलैर्लिभे कर्पूरसंयुतैः ॥
क्षुधाकाले व्यतिक्रान्ते यदि वायुः प्रकुप्यति।
क्षिन्क्षिनीति शिरःशूले विरेके वमथौ तथा ॥
तृष्णायाञ्चाधिके पित्ते नारिकेलाम्बु निर्भयम्।
नारिकेलपयः पेयं द्विर्भक्ष्यं क्षीरमेव च ॥
स्वप्ने शुक्रच्युतौ चैव चम्पकं कदलीफलम्'। (भै० र० ग्रहणी ४७२-७७)

३. 'वर्ज्यं निम्बादिकं शाकं शाकाम्लं काञ्जिकं सुराम्।
कदलीफलपत्राङ्घ्रिपुपालाबुकर्कटी।
कूष्माण्डं कारवेल्लञ्च व्यायामो जागरं निशि ॥

पञ्चामृत पर्पटी
(भै० र० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१. शुद्ध गंधक ८ भाग
२. शुद्ध पारद ४ भाग
३. कान्तलौह भस्म २ भाग
४. वज्राभ्रक भस्म १ भाग
५. ताम्र भस्म ½ भाग

निर्माण-विधि—सर्वप्रथम लौह खरल में पारद-गन्धक की कज्जली बना उसमें अन्य सभी भस्म डाल अच्छी प्रकार मर्दन कर एकरूप कर लें। अब इस मिश्रण को घृतलिप्त लोह दर्वी में डालकर बदरांगार की मृदु अग्नि पर द्रवित कर गोमयस्थित कदली पत्र पर ढालकर यथाविधि पर्पटी तैयार कर लें।[1]

पञ्चामृत पर्पटी मात्रा—सामान्य मात्रा—२ रत्ती दो से तीन बार।

कल्प मात्रा—२ रत्ती से प्रारम्भ कर प्रतिदिन २ रत्ती बढ़ाते हुए ८ रत्ती तक ३ सप्ताह तक प्रयोग करें।[2]

पञ्चामृत पर्पटी में अनुपान—शहद एवं घी से।

पञ्चामृत पर्पटी के गुण—विविध प्रकार के साध्य-असाध्य ग्रहणी, अरुचि, छर्दि, पुराना अतिसार, ज्वर, रक्तपित्त एवं क्षय को नष्ट करता है। यह वृष्य, वलीपलित नाशक एवं नेत्ररोगनाशक है।[3]

पथ्य—दुग्ध, तक्र, भृष्ट जीरक, शालि चावल।

न पश्येन्न स्पृशेद् गच्छेत् स्त्रियं जीवितुमिच्छति।
यद्यौषधे स्त्रियं गच्छेत् कर्त्तव्या तु प्रतिक्रिया' ॥ (भै० र० ग्रहणी ४७७-७९)

१. 'अष्टौ गन्धकतोलका रसदलं लोहं तदर्द्धं शुभं
लोहार्द्धञ्च वराभ्रकं सुविमलं ताम्रं तदभ्रार्द्धकम्।
पात्रे लौहमये च मर्दनविधौ चूर्णीकृतञ्चैकतो-
दर्व्या बादरवह्निनाऽतिमृदुना पाकं विदित्वादले ॥
रम्भाया लघु ढालयेत् पटुरियं पञ्चामृता पर्पटी'।
(र० सा० सं०, भै० र० ग्रहणी)

२. 'ख्याताक्षौद्रघृतान्विता प्रतिदिनं गुञ्जाद्वयं वृद्धितः।
लौहे मर्दनयोगतः सुविमलं भक्ष्यक्रिया लौहवत्।
गुञ्जाष्टावथवा त्रिकत्रिगुणितं सप्ताहमेवं भजेत्' ॥
(र० सा० सं०, भै० र० ग्रहणी)

३. 'नानावर्णग्रहण्यामरुचिसमुदये दुष्टदुर्नामकादौ।
छर्द्यां दीर्घातिसारे ज्वरभवकलिते रक्तपित्ते क्षयेऽपि ॥
वृष्याणां वृष्यराजी वलीपलितहरा नेत्ररोगैकहन्त्री।
तुन्दं दीप्तस्थिराग्निं पुनरपि नवकं रोगि देहं करोति' ॥
(र० सा० सं० २।६५, भै० र० ग्रहणी)

Scanned with CamScanner

गगन पर्पटी[1]

(सि० यो० सं० : संग्रहणी)

घटक द्रव्य—१. शुद्ध पारद १ भाग
२. शुद्ध गन्धक २ भाग
३. अभ्रक भस्म १ भाग

निर्माण विधि—यथाविधि कज्जली एवं पर्पटी निर्माण करें।

गगन पर्पटी मात्रा—१ से ३ रत्ती।

अनुपान—भृष्टजीरक, तक्र, दूध, शहद, अनार का रस आदि।

गुण—पाण्डु, ग्रहणी, अतिसार, क्षय, कास, श्वास, मन्दाग्नि।

पथ्यापथ्य—रसपर्पटी सदृश।

बोल पर्पटी[2]

(यो० र० : रक्तपित्त)

घटक द्रव्य—१. शुद्ध पारद १ भाग
२. शुद्ध गंधक १ भाग
३. बोल चूर्ण (हीराबोल) २ भाग

निर्माण विधि—पारद-गन्धक की कज्जली बनाकर उसमें बोलचूर्ण डालकर अच्छी प्रकार मिला लें, पश्चात् घृतलिप्त लोहदर्वी में मृदु अग्नि पर बोल मिश्रित कज्जली को द्रवित कर कदली पत्र पर ढालकर यथाविधि पर्पटी बना लें।

बोल पर्पटी मात्रा—३ से ६ रत्ती।

अनुपान—शर्करा, शहद, मक्खन, मिश्री, गुलकन्द, दूर्वास्वरस आदि।

गुण—रक्तस्रावरोधक, रक्तातिसार, रक्तार्श, रक्तप्रदर, अत्यार्तव, उरःक्षत आदि।

पथ्य—शीत, मधुर एवं कषाय रस वाले द्रव्यों का सेवन। दूध, घी एवं मिश्री गेहूँ, परवल, मूँग आदि।

---

१. 'रसो भागो भवेदेकस्तत्समं व्योमभस्म च।
तयोः समं शुद्धगन्धं दत्त्वा कुर्यात्तु कज्जलीम्॥
रसपर्पटिका प्रोक्ता विधिना पर्पटी शुभा।
कार्या पाण्डुक्षयं कासं श्वासं मन्दानलं तथा॥
ग्रहणी चिरजां हन्ति ह्येषा गगनपर्पटी'। (सि० यो० सं० संग्रहणी)

२. 'सूतगन्धकसुकज्जलिकायाः पर्पटी समयुता समभागम्।
बोलचूर्णविहितं प्रतिवाप्यं स्याद्रसोऽयमसृगामयहारी॥
[बल्लयुग्मयुगलं प्रतिदेयं शर्करामधुयुतः किलदत्तः।
रक्तपित्तगुदजस्रुतियोनिस्रावमाशु विनिवारयतीशः'॥
(यो० र० पूर्वार्द्ध, रक्तपित्त)

अपथ्य—अम्ल, कटु, लवण रस वाला तथा उष्ण गुणयुक्त द्रव्य।

कुछ विद्वान् रक्तबोल के स्थान पर कृष्णबोल (एलुआ-मुसब्बर) का उपयोग करते हैं।

श्वेत पर्पटी

(क्षार पर्पटी)

(सिद्धयोगसंग्रह : मूत्रकृच्छ्र)

घटक द्रव्य—१. सूर्यक्षार (कलमी शोरा) १ किलो
२. स्फटिका (फिटकिरी) १२५ ग्रा०
३. नवसादर ६५ ग्रा०

निर्माण विधि—सर्वप्रथम तीनों द्रव्यों को खरल में डालकर मोटा चूर्ण बना लें। अब इसे एक मिट्टी के पात्र में डालकर मध्यम अग्नि पर गर्म करें। धीरे-धीरे सम्पूर्ण मिश्रण पिघल कर पीत द्रव में परिणत हो जायेगा। अब इसे गोमय स्थित कदली पत्र पर थोड़ा-थोड़ा डालते हुए दूसरे कदली पत्र से ढककर एक थाली या कदली पत्र में लिपटे गोमय से दबाकर पर्पटी बना लें।

सावधानी—इस प्रक्रिया में हर बार उर्ध्वाधः उपयुक्त कदली पत्र बदल देना चाहिए। मिश्रण द्रव की ऊष्मा अधिक होने के कारण कदली पत्र दूसरी बार के उपयोग में जल जाता है, उसमें छिद्र हो जाता है तथा पर्पटी के गोमय में मिल जाने की सम्भावना रहती है।

श्वेत पर्पटी के द्रव्य को अग्नि पर गर्म करने पर पिघलते समय तथा पिघल जाने पर जब तक अग्नि के सम्पर्क में रहता है, उससे भूरे रंग का घुटन पैदा करने वाला धुँआ निकलता है, उससे अपनी रक्षा करनी चाहिए।

इसके निर्माण के लिए मिट्टी का पात्र ही उपयुक्त है। धातु पात्रों में रासायनिक प्रतिक्रिया होती है, जिससे पात्र एवं औषधद्रव्य दोनों में विकृति सम्भव है।

श्वेत पर्पटी मात्रा—५ से १० रत्ती तक।

अनुपान—शीतल जल, नारिकेल जल, इक्षुरस, मिश्रीयुक्त दूध, कर्पूरयुक्त जल, अन्य मूत्रल कषाय आदि।

श्वेतपर्पटी का गुण—यह श्रेष्ठ मूत्रल, स्वेदल एवं वातानुलोमक औषधि है। मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, मूत्राघात एवं आध्मान नाशक है।

पथ्य—शीतल खाद्य एवं पेय तथा अन्य उपचार।

अपथ्य—उष्ण, तीक्ष्ण, कटु, विदाही भोजन, आतप-सेवन आदि।

कज्जली एवं पर्पटी—दोनों ही पारद एवं गन्धक से निर्मित हैं किन्तु दोनों के गुणों में भिन्नता पायी जाती है। इसका कारण अग्नि-संस्कार एवं तज्जनित परिवर्तन है। यथा—

१. कज्जली मर्दनजन्य कल्पना है एवं शिथिल प्रकार का पारद बन्ध है।

Scanned with CamScanner

२. कज्जली में गन्धक एवं पारद मुक्तरूप में काफी मात्रा में पाया जाता है।

३. कज्जली मुक्त पारद (Free muraury), मुक्त गन्धक (Free sulphur) एवं पारद गन्धक यौगिक (Hgs, Black sulphide of mercury) के रूप में होता है।

४. पर्पटी अग्नि द्वारा संस्कारित, द्रवित कर पुन. ठोस रूप को प्राप्त यौगिक है। यह अग्निजनित दीपन-पाचन गुणों से युक्त होती है।

५. इसमें मुक्त पारद एवं गन्धक की मात्रा अल्प किन्तु दृढ़बद्ध पारद-गन्धक यौगिक रूप (Hgs) में अधिक होता है।

मुग्धरस
(Grey powder)
(रसतरंगिणी)

घटक द्रव्य—१. शुद्ध पारद १ भाग
२. शुद्ध खटिका २ भाग

निर्माण-विधि—उपरोक्त दोनों द्रव्यों को एक पत्थर के खरल में डालकर पारद के निश्चन्द्र होने तक मर्दन करें।[1] यही मुग्ध रस है। इसका वर्ण हल्का भूरा (Grey) होता है।

नोट—बाजार में यह 'Grey powder' के नाम से मिलता है।

मात्रा—½ रत्ती से २½ रत्ती तक।

१ वर्ष के बच्चों को— ½ रत्ती से ½ रत्ती तक।[2]

मुग्धरस का गुण—मुग्धरस के अन्तःप्रयोग से अतिसार, वमन एवं सहज फिरंग रोग नष्ट होता है। बालकों के लिए यह विशेष रूप से बतलाया गया है। बच्चों के अतिसार, हरे-पीले या मृत्तिका वर्ण के दुर्गन्धयुक दस्त में लाभकारी है।[3]

मुग्धरस का आमयिक प्रयोग—१ रत्ती मुग्धरस जल के साथ १ अथवा २ माह

१. 'युगतोलकप्रमाणं विमलीकृतं रसेशम्।
द्विगुणां खटीञ्च शुद्धां निदधीत खल्वमध्ये॥
परिपेषयेत्तु तावत् विधिनेतदीयचूर्णम्।
अवलोक्यते न यावत्खलु चन्द्रिकाविहीनम्॥
हतचन्द्रिकं तु चूर्णं ह्यवबुध्यः योजयेद्बुधः।
विबुधैः स्मृतो रसोऽयं खलु मुग्धनामधेयः'॥ (र० त० ६।९-११)

२. 'गुञ्जार्धतः समारभ्य सार्धगुञ्जद्वयोन्मिता।
पूर्णमात्रा मता मुग्धरसस्य तरुणोचिता॥
गुञ्जाष्टमांशतश्चास्य गुञ्जापादांशसम्मिता।
पूर्णमात्रा मता विज्ञैर्वार्षिकस्यार्भकस्य तु'॥ (र० त० १३-१४)

३. 'उदरामयनुत् वमिहृन्नियतं सहजोत्थफिरङ्गकुरङ्गहरिः।
शिशुरोगहरस्तु विशेषतया विबुधैरुदितः खलु मुग्धरसः'॥ (र० त० ६।१२)

तक लगातार सेवन करने से गर्भिणी स्त्री का नवीन अथवा पुराना फिरंग रोग नष्ट होता है। ½ रत्ती की मात्रा में बच्चों को जल के साथ देने से उनका सहज फिरंग रोग नष्ट होता है। ½ रत्ती की मात्रा में बच्चों को जल के साथ देने पर उनके दस्त में लाभ होता है। रोग शान्त हो जाने पर भी इस यौगिक का प्रयोग रससिन्दूर की तरह नहीं करना चाहिए।[1]

मुग्धरस पारद का एक निर्गन्ध यौगिक है। इसके प्रयोग में औषधि मात्रा एवं सेवन अवधि का निर्णय विचारपूर्वक करना चाहिए। रोग शान्त हो जाने पर आगे इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

कूपीपक्व रसायन

'कूपी इति काचकूपी, पक्वम् अग्निनां पक्वं, रसस्य पारदस्य, अयनं स्थानम् अर्थात् कुप्याम् अग्निनां पक्वं यद्रसायनं तत् कूपीपक्वरसायनम्।'

अर्थात् काँच की शीशी में पारद आदि द्रव्यों को अग्नि द्वारा पकाकर जो औषध तैयार की जाती है, ऐसे रसायन को कूपीपक्व रसायन कहते हैं।

संस्कारित अथवा शुद्ध पारद एवं गन्धक की कज्जली बना अपेक्षित वनस्पतियों के स्वरस की भावना देकर, अथवा पारद एवं लवण, क्षार, कासीस, स्फटिक, तुत्थ आदि द्रव्यों के साथ पारद का निश्चन्द्र चूर्ण बनाकर आतसी शीशी में भरकर अन्तर्धूम अथवा बहिर्धूम विधि से मन्द, मध्य एवं तीव्र अग्नि द्वारा पाककर जो औषध कल्प तैयार किया जाता है, उसे कूपीपक्व कल्प कहते हैं। द्रव्य एवं पाक के अनुसार यह सिन्दूर कर्पूर आदि विविध वर्ण का प्राप्त होता है।

कूपीपक्व रस के भेद—१. सगन्ध एवं २. निर्गन्ध।

(१) सगन्ध—

१. पारद + गन्धक = रससिन्दूर, सुगम सिन्दूर।
२. पारद + गन्धक + अन्य धातु = ताम्रसिन्दूर, रजतसिन्दूर।
३. पारद + गन्धक + अधातु = मल्लसिन्दूर, तालसिन्दूर, शिलासिन्दूर आदि।

१. 'गुञ्जैकसम्मितो मुग्धरसस्तु सलिलान्वितः।
मासमेकं द्वयं वापि यत्नतः परिशीलितः॥
गर्भिणीनां चिरोद्भूतां नवजातामथापि वा।
फिरङ्गजनितां बाधां नाशयत्यविलम्बितम्॥
गुञ्जापादोन्मितो मुग्धरसो नीरेण शीलितः।
शिशूनां विनिहन्त्याशु फिरङ्गं सहजोत्थितम्॥
रक्तिकाङ्घ्रिमितो मुग्धरसो वारा नियोजितः।
विनिहन्त्याशु बालानामतीसारं सुनिश्चितम्॥
विज्ञाय रोगोपशमं प्राणाचार्यो भिषग्वरः।
न योजयेन्मुग्धरसं रससिन्दूरवद् भृशम्'॥ (र० त० ६।१५-१९)

Scanned with CamScanner

४. पारद+गन्धक+अधातु+स्वर्ण=पूर्ण चन्द्रोदय, ताल चन्द्रोदय आदि।

(२) निर्गन्ध—रसपुष्प एवं रसकर्पूर।

सिद्धौषध प्राप्ति-स्थान भेद—पाक के पश्चात् सिद्धौषध की प्राप्ति के कूपी के उर्ध्व, अधः एवं मध्य के आधार पर ३ भेद किये जाते हैं—१. गलस्थ या कण्ठस्थ, २. तलस्थ या अधस्थ एवं ३. उभयस्थ।

१. गलस्थ या कण्ठस्थ—रससिन्दूर, रसकर्पूर, मल्लसिन्दूर।

२. तलस्थ या अधस्थ—समीरपन्नग एवं रसमिन्दूर।

३. उभयस्थ—पूर्णचन्द्रोदय, माणिक्यरस।

निर्माण भेद—१. अन्तर्धूमविधि—तलस्थ।
२. बहिर्धूमविधि—कण्ठस्थ।

कूपीपक्व रस का संक्षिप्त इतिहास

श्रीयशोधर ने १३वीं शताब्दी में रससिन्दूर कल्पना का सर्वप्रथम उल्लेख अपने ग्रन्थ रसप्रकाशसुधाकर में उदयभास्कररस[1] के नाम से किया है। यहीं पर 'घनसार रस'[2] के नाम से रसकर्पूर की निर्माण-विधि एवं गुण-निर्देश भी किया गया है।

इन्होंने उदयभास्कर रस के निर्माण में काचघटी (कूपी) एवं सिकतायन्त्र का उपयोग किया है।

१५वीं शताब्दी में अनन्तदेव सूरि ने रसचिन्तामणि में रसपार्थिव रस के नाम स इस कल्प को कहा है।

---

१. 'विगतदोषकृतौ रसगन्धकौ तदनु लुङ्गरसेन परिप्लुतैः ॥
प्रहरयुग्ममितं च शिलातले रविकरेण विमर्द्य विचूर्णितौ।
रुचिरकाचघटीविनिवेशितौ सिकतायन्त्रवरेण दिनत्रयम् ॥
कुरु भिषग्वरवह्निमधस्ततः स च भवेदरुणः कमलच्छविः।
उदयभास्करनामरसो ह्ययं भवति रोगविघातकरः स्वयम्' ॥
(र० प्र० सु० ३।१०-१४)

२. 'विमलसूतवरो हि पलाष्टकं तदनु धातुखटीपटुखेचराः।
पृथगिमाश्च चतुष्पलभागिकाः स्फटिकशुद्धपलाष्टसमन्विताः ॥
सह जलेन विमर्द्य च यामकं लवणकाम्लजलेन विमिश्रितम्।
उदितधातुगणस्य, च मूषिकां कुरु रसं विनिवेशय तत्र वै ॥
डमरूकाभिधयन्त्रवरेण तं द्विदशयाममितं पचवह्निना।
पवनपित्तकफक्षयकारकः सकलरोगहरः परमः सदा ॥
गजपतेर्बलवद् बलदो नृणां द्विजपतीक्षणवन्नयनप्रदः।
युवतिकामविलासविधायको भवति सूतवरः सुखदः सदा।
स घनसाररसः किल कान्तिदस्त्वखिलकुष्ठहरः कथितो मया' ॥
(र० प्र० सु० ३।६-९)

१६वीं शताब्दी के रसकौमुदी एवं रसकल्पयोग में तथा १७वीं शताब्दी के आयुर्वेद-प्रकाश में सिन्दूरनामा रस यानि सिन्दूर सदृश रस या सिन्दूर नामक रस के रूप में उल्लिखित है। रसतरङ्गिणीकार ने कई प्रकार के रससिन्दूर का उल्लेख किया है।

गन्धक जारण के क्रम में रससिन्दूर कल्प का विकास हुआ। पारद में रोग-नाशन क्षमता उत्पन्न करने के लिए षड्गुण बलि जारण किया जाता है। इस जारण के क्रम में पारद एवं गन्धक की एक निश्चित मात्रा (पारद ६ भाग एवं गन्धक १ भाग) एक विशिष्ट ताप (लगभग २७०° सें०) को पाकर सिन्दूर सदृश यौगिक में परिणत हो जाती है। गन्धकजारण का उल्लेख सर्वप्रथम रसहृदयतन्त्र (९वीं शताब्दी) में देखा जाता है। आगे चलकर यह कूपीपक्वरस निर्माण विधि के रूप में विकसित हुआ।

कूपीपक्वरस विधि

मुख्य द्रव्य—शुद्धपारद, शुद्धगन्धक तथा सुवर्ण आदि। रससिन्दूरादि कूपीपक्व रस निर्माण हेतु।

सर्वप्रथम शुद्धपारद एवं शुद्धगन्धक की कज्जली बनाई जाती है। रससिन्दूर निर्माण हेतु पारद गन्धक के विविध अनुपात वाली कज्जली ली जा सकती है। रस-तरंगिणी में समगुण एवं अर्धगुण गन्धक की कज्जली, द्विगुण गन्धक की कज्जली, त्रिगुण गन्धक की कज्जली एवं षड्गुण गन्धक की कज्जली से रससिन्दूर का निर्माण किया गया है, इसके अतिरिक्त भी षडांश, चतुर्थांश, तृतीयांश, सपाद समगुण (१ : १¼ भाग पारद एवं गन्धक), सार्ध समगुण (१ : १½ भाग पारद एवं गन्धक) एवं चतुर्गुण गन्धक से निर्मित कज्जली के उपयोग का उदाहरण भी ग्रन्थों में उपलब्ध है।

कज्जली-निर्माण के पश्चात् कज्जली में नवसादर आदि विविध खनिज द्रव्यों का भी मिश्रण किया जाता है।

कज्जली में भावना—पाक से पूर्व कज्जली को वटांकुरस्वरस, निम्बूस्वरस, कुमारीस्वरस, रक्तकार्पासपुष्पस्वरस आदि से भावित करने का भी विधान देखा जाता है। विविध विधियों में किसी एक से भावित किया जाता है।

यन्त्र उपकरण

कूपीपक्वरस-निर्माण हेतु निम्नलिखित यन्त्रोणकरण अपेक्षित हैं—

१. काँच कूपी।
२. वस्त्र।
३. मुल्तानी मिट्टी।
४. कूपी स्टैण्ड।
५. बालुका यन्त्र।
६. बालुका।
७. लौह शलाका (लम्बी)।
८. अग्नि भट्ठी।

Scanned with CamScanner

काचकूपी वस्त्राच्छादन—कूपीपक्वरस-निर्माण हेतु सबसे अनुकूल बियर की बोतल होती है। इस बोतल को कूपी स्टैण्ड पर उलट कर रखें तथा कूपी को पूरी तरह ढक सके, इतना लम्बा-चौड़ा वस्त्र के सात टुकड़े लें। अब इस वस्त्र का १ टुकड़ा मुलतानी मिट्टी से लिप्त कर बोतल पर चढ़ावें। इसे सूख जाने दें फिर दूसरा स्तर चढ़ावें। इस प्रकार क्रमशः सातों वस्त्र खण्डों द्वारा कूपी को आच्छादित कर लें।

बालुका यन्त्र पर भी सात बार कपड़मिट्टी की जा सकती है। इससे बालुका यन्त्र की सुरक्षा होगी। बालुका यन्त्र का वर्णन यन्त्रप्रकरण में किया जा चुका है।

लौह शलाका—पाक के समय कूपी का कण्ठ कई बार गन्धक, नवसादर आदि से अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध को हटाने के लिए तप्त शलाका का उपयोग किया जाता है। शलाका को तप्त कर कूपी के कण्ठ में प्रवेश कराते हैं। इससे गन्धक जल जाता है और कूपी के कण्ठ का अवरोध दूर हो जाता है। एतदर्थ सुविधा हेतु ३ से ४ फुट लम्बी लौह शलाका लेनी चाहिए।

अग्नि एवं अग्नि भ्राष्ट्री—रससिन्दूर-पाक की प्रक्रिया में अग्नि मृदु, मध्य एवं तीव्र क्रम से दी जाती है। कालक्रम से अग्नि के माध्यम (लकड़ी, कोयला एवं विद्युत) में सुविधानुसार परिवर्तन भी देखा जाता है। जहाँ कोयले की उपलब्धि न हो, वहाँ लकड़ी का उपयोग किया जाता है तथा इसके लिए भट्ठी या चूल्हा भी उसी प्रकार का लिया जाता है। जहाँ कोयले का उपयोग किया जाता है वहाँ कोयले की भट्ठी इस प्रकार की बनाई जाती है जिससे भट्ठी द्वारा सम्पूर्ण अग्नि का उपयोग आसानी से किया जा सके। एतदर्थ सर्वार्थसिद्धकरी भ्राष्ट्री का उपयोग किया जाता है। वर्तमान काल में इसमें काफी परिवर्तन देखा जाता है। सामान्य लकड़ी के कोयले वाली अङ्गारकोष्ठी का भी सफल उपयोग किया जाता है। इसमें बालुकायन्त्र का उपयोग नहीं किया जाता। इसी तरह विद्युत् भट्ठी का भी सफल उपयोग सिद्ध हो चुका है। एवं ताप का नियन्त्रण भी सरलता से तथा बालुका यन्त्र की उपयोगिता भी इसमें समाप्त हो गई है। बालुका यन्त्र का मुख्य कार्य नियमित एवं नियन्त्रित ताप कूपी को पहुँचाना है और यह क्रिया विद्युत् भट्ठी (Electric furnace) द्वारा बड़ी सरलता से सम्भव होता है। अग्नि देने की क्रिया को मृदु, मध्य एवं तीव्र के क्रम से ३ भाग में विभक्त करते हैं। **मृदु अग्नि** का अर्थ होता है जिसमें कज्जली द्रवित रहे एवं पाक होता रहे, एतदर्थ २००-२५०° सें० की अग्नि उपयुक्त होती है। **मध्य अग्नि** में कज्जली उबलती रहती है, धूम्र निर्गमन तेजी से होता है तथा बाद में ज्वाला भी प्रारम्भ हो जाती है तथा समग्र ज्वाला के शान्त होने तक की अग्नि मध्य अग्नि की स्थिति में होती है। यह अग्नि २५० से ४५०-५००° सें० तक की होती है। **यौगिक** का निर्माण इसी अग्नि पर हो जाता है। **तीव्र अग्नि** द्वारा पाककाल में रससिन्दूर उर्ध्वपातित होकर कूपीकण्ठ में एकत्र होता है। इस अवस्था से पूर्व ज्वाला के समाप्त होते ही कूपी के मुख को बन्द कर दिया जाता है। यह अग्नि ४५० से ६५०° सें० तक होती है।

मृदु 200-250°
मध्य 250-400
तीक्ष्ण 450-650

मुद्रा एवं कूपीमुख मुद्रण—कूपी के मुख को बन्द करना या डाट लगाना कूपी-मुख मुद्रण कहलाता है, तथा जिससे मुख बन्द किया जाता है उसे मुद्रा (डाट) कहते हैं। इस कार्य हेतु गीली मिट्टी से—जो कूपी के मुख में प्रविष्ट होकर (कार्क की तरह) कूपीमुख को बन्द कर दे—ऐसा डाट बना लिया जाता है) इस मुद्रा के लिए 'मदनमुद्रा' या 'हठमुद्रा' शब्द भी प्रचलित है। सिर्फ मुलतानी मिट्टी एवं वस्त्र को भी इस कार्य के लिए उपयोग किया जा सकता है। मुखमुद्रण से पूर्व निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

१. कूपी के मुख से ज्वाला का निकलना बन्द हो गया हो।
२. कूपी के चारों ओर अन्धेरा कर कूपी के तल को देखने पर तल लाल वर्ण का दिखलाई देता हो।
३. कूपी के मुख में टार्च का प्रकाश करने पर पारद का कण ऊपर उठता हुआ प्रतीत हो।
४. कूपी में शीतल शलाका डालने पर शलाका में धुँए का न लगना।
५. ताम्बे का सिक्का कूपी के मुख पर रखने से उस पर पारद के कण चिपक कर सिक्के के उस भाग को श्वेत कर देते हैं।
६. तप्त शलाका को कूपी में डालने पर उसमें कुछ भी नहीं लगता है।

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर मुख-मुद्रण का निश्चय करें तथा मुख-मुद्रण करें।

कूपी तोड़ने की विधि—कूपी के स्वांगशीत हो जाने पर उसे निकाल कर सावधानीपूर्वक उसके ऊपर की कपड़मिट्टी एक चाकू से खुरच कर पहले कूपी को बाहर से साफ कर लें। अब रससिन्दूर उसके कण्ठ में कहाँ तक एकत्र हुआ है, यह निश्चित कर लें जो कूपी के बाहर से साफ हो जाने पर स्पष्ट परिलक्षित होगा। अब जहाँ तक रससिन्दूर एकत्र हुआ है उससे एक इंच नीचे एक सुतली केरोसीन में भिगाकर लपेट लें तथा जला दें। सुतली के पूर्णतः जल जाने पर एक गीले वस्त्र से कूपी के तप्त भाग को आच्छादित कर दें। तप्त स्थान पर गोलाई में कूपी के टूटने की आवाज सुनाई पड़ने पर वस्त्र को हटा कर कूपी का उर्ध्व भाग ग्रहण कर लें। अब एक काष्ठ-खण्ड से कूपी के उर्ध्व भाग को चारों ओर से धीरे-धीरे ठोंकें। बोतल टूटे नहीं इसका ध्यान रखें। ठोंकने से कूपीकण्ठ से चिपका कूपीकण्ठ के आकार का सम्पूर्ण रससिन्दूर अलग होकर नीचे आ जायेगा, जिसे सुरक्षित प्राप्त कर लें। काँच के छोटे-छोटे टुकड़ों से औषधि की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए।

रससिन्दूर
(Red Sulphide of Mercury)
(रसयोगसागर : रसायन)

शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक १-१ पल (४-४ तोला) लेकर इसकी विधिवत् कज्जली बनावें। इस कज्जली को बटांकुर स्वरस की तीन भावना देकर सुखा लें।

Scanned with CamScanner

अब इस कज्जली को सात बार कपड़मिट्टी की हुई काँचकूपी में भरकर बालुका यन्त्र में प्रथम दो अंगुल ऊँची बालू भरकर कूपी रखकर बालुका यन्त्र को बालू से पूरी तरह भर लें। अब इस बालुका यन्त्र को भ्राष्ट्री पर स्थापित कर चार याम तक मृदु, मध्य एवं तीव्र क्रम से पाक करें। इससे अरुण वर्ण का रससिन्दूर तैयार हो जायेगा। इसे बालुका यन्त्र के स्वांगशीत हो जाने पर सावधानीपूर्वक ग्रहण करें। यह अनुपान विशेष से विविध गुणों को प्रदान करने वाला होता है।[1]

रससिन्दूर-निर्माण (रसतरंगिणी)—शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक ८-८ तोला लेकर दोनों को खरल में एकत्र मिलाकर दो दिन तक अच्छी तरह मर्दन करके कज्जली बना लें। अब इस कज्जली को बड़ के अंकुर स्वरस अथवा कोमल सेमल की मुसलियों के स्वरस की तीन भावना देकर सुखा लें। अब एक दवात जैसे आकार की शीशी लेकर उसको रूई और मिट्टी के गारे से ७ बार कपड़मिट्टी करके सुखा लें। इस शीशी में उक्त कज्जली को भरकर बालुका यन्त्र में रखकर इसके नीचे मन्द, मध्य एवं तीव्र क्रम से अग्नि दें। प्रथम दो याम (६ घंटे) तक मृदु अग्नि दें, फिर मध्यम अग्नि दें। गन्धक के जीर्ण हो जाने पर काँचकूपी के मुख पर डॉट लगाकर उसको गुड़ और चूने के मिश्रण से अच्छी प्रकार बन्द कर दें। तत्पश्चात् ६ घंटे तक तीव्र अग्नि देकर रससिन्दूर का पाक करें। बालुका यन्त्र के स्वांगशीत हो जाने पर शीशी को निकाल कर तोड़कर उसमें से रक्तकमल के समान वर्ण वाला शीशी के गले में लगा हुआ रससिन्दूर प्राप्त कर लें।[2]

---

१. 'पलमात्रं रसं शुद्धं तावन्मात्रन्तु गन्धकम्।
विधिवत् कज्जलीं कृत्वा न्यग्रोधाङ्कुरवारिभिः॥
भावना त्रितयं दत्त्वा स्थालीमध्ये निधापयेत्।
विरच्य कवचीयन्त्रं बालुकाभिः प्रपूरयेत्॥
दद्यात् तदनु मन्दाग्निं भिषग्यामचतुष्टयम्।
जायते रससिंदूरं तरुणादित्यसन्निभम्॥
अनुपानविशेषेण करोति विविधान् गुणान्' ॥ (र० यो० सा०)

२. 'वसुतोलकप्रमाणं विमलीकृतं रसेशम्।
विनिधाय खल्वमध्ये रससम्मितञ्च गन्धम्॥
दिवसद्वयं प्रयत्नादिह पेषयेद्विधिज्ञः।
नवनीलनीरदाभां खलु कज्जलीं विदध्यात्॥
अथ भावयेद्विधानात्तु वटाङ्कुरोत्थवारा।
लघुशाल्मलीशिफोत्थैः सलिलैस्तु वा त्रिवारम्।
मसिपात्रकोपमाङ्गीं मलिनां तु काचकूपीम्।
जलतूलमृत्तिकाभिः परिलेपयेन्निकामम्॥
विनिधाय तां तु कुप्यामथ वालुकाख्ययन्त्रे।
क्रमवृद्धवह्नियोगाद्विपचेद्रसं रसज्ञः॥

रससिन्दूर प्राप्ति मान—६ भाग पारद (६·२५ भाग) एवं १ भाग गन्धक मिल कर रससिन्दूर यौगिक का निर्माण होता है। अतः यदि १०० ग्राम पारद एवं १०० ग्राम गन्धक लिया जाय और सम्पूर्ण हानि को बचा लिया जाय तो कुल रससिन्दूर (Hgs) ११६ ग्राम बनना चाहिए। किन्तु निर्माण में हानि के कारण यह प्रमाण पूर्ण रूप में नहीं मिल पाता है। सावधानी बरतने पर ११० ग्राम तक रससिन्दूर प्राप्त किया जा सकता है।

रससिन्दूर मात्रा—१ से २ रत्ती की मात्रा दिन में दो बार तक।

रससिन्दूर के गुण—यह उत्तम रसायन, वाजीकरण, नाड़ी एवं स्नायु बलवर्द्धक है। यह फुफ्फुस की क्रियाशीलता को बढ़ाता है। ज्वर, प्रमेह, शूल, भगन्दर, क्षय, गुल्म, पाण्डु, स्थौल्य, व्रण, अग्निमान्द्य एवं कुष्ठ, का नाश करने वाला तथा पाँचों प्रकार के वायु का नियमन करने वाला होता है। मन को प्रफुल्लित एवं स्वस्थ रखता है। इसके नियमित सेवन से यह मल-मूत्र एवं अपान वायु आदि को स्वाभाविक रूप से निकालता रहता है। यह पित्त को बाहर निकालता है, किन्तु पतला दस्त नहीं कराता, तथा पित्ताशय अथवा कोष्ठ में क्षोभ भी नहीं पैदा करता है। लम्बे समय तक प्रयोग से भी यह निर्गन्ध यौगिक की तरह दातों-मसूढ़ों में शोथ, मुखपाक, व्रण, लालास्राव एवं दाह आदि विकार उत्पन्न नहीं करता। यह उत्तम योगवाही है।

अनुपान—शहद, घी, मक्खन आदि।

मकरध्वज
(चन्द्रोदय रस या स्वर्णसिन्दूर)

उपादान द्रव्य—

१. कण्टकवेधी शुद्ध सुवर्ण पत्र	१ भाग (४ तोला)
२. हिंगुलोत्थ अथवा अष्टसंस्कारित पारद	८ भाग (३२ तोला)
३. शुद्ध गन्धक	१६ भाग (६४ तोला)

भावना द्रव्य—

१. रक्तकार्पास पुष्प स्वरस
२. अथवा—वटांकुर स्वरस } यथावश्यक
३. घृतकुमारी स्वरस

मृदुवह्निना च पूर्वं विबुधो द्वियाममात्रम्।
विधिना विधानविज्ञः खलु जारयेत्तु गन्धम्॥
अवलोक्य जीर्णगन्धं रसपाकविद्रसेशम्।
पिदधीत काचकूपीवदनं पिधानकेन॥
गुडचूर्णवारिपिष्टया सुविधाय वक्त्ररोधम्।
अथ तीव्रवह्नियोगाद्विपचेद् द्वियाममात्रम्॥
स्वत एव शीतलाङ्गीं तु विभिद्य काचकूपीम्।
अरुणोत्पलप्रकाशं रसमाहरेद्रसज्ञः'॥ (र० त० ६।१६८-१७६)

Scanned with CamScanner

विधि—सर्वप्रथम स्वर्ण पत्र को कैंची से छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लें। उसे एक पत्थर के खरल में डालकर पारद के साथ खूब अच्छी तरह सावधानीपूर्वक मर्दन करें। ऐसा तब तक करें जब तक पारद में सम्पूर्ण स्वर्ण मिल न जाय। अब उसमें उपरोक्त मान में गन्धक डालकर अच्छी प्रकार मर्दन कर कज्जली बना लें। कज्जली बन जाने पर उसमें रक्तकार्पास पुष्प स्वरस या वटांकुर स्वरस एवं घृतकुमारी स्वरस से १-१ भावना देकर सुखा लें। इस कज्जली को सात बार कपड़मिट्टी की हुई काँच कूपी में भरकर बालुका यन्त्र में स्थापित कर क्रमवृद्धिपूर्वक अग्नि देते हुए तीन दिन तक पकावें। विधि का अनुसरण रससिन्दूर की तरह ही करें। स्वांगशीत होने पर काँच कूपी को तोड़कर कूपी-कण्ठ में लगे मकरध्वज और कूपीतल में एकत्रित स्वर्ण को सावधानीपूर्वक निकाल लें। इसे मकरध्वज, चन्द्रोदय या स्वर्णसिन्दूर कहते हैं[1]।

तल से एकत्र किये हुए सुवर्ण और मकरध्वज को एक साथ तीन दिन तक खरल में खूब मर्दन करके तत्तद् रोगोक्त अनुपान के साथ प्रयोग करें।

अथवा—तलस्थ सुवर्ण १ भाग, मकरध्वज ८ भाग, लवंग का चूर्ण ४ भाग, जायफल का चूर्ण ४ भाग, केशर ४ भाग—इनको पान के रस में खूब मर्दन कर अन्त में उसमें १ तोला कपूर और १ तोला उत्तम कस्तूरी मिलाकर पान के रस में मर्दनकर तीन-तीन रत्ती की गोलियाँ बना छाया में सुखाकर शीशी में भर लेवें।

मकरध्वज मात्रा—½ से २ रत्ती (१ से २ गोली) तक प्रातः-सायं उबाल कर ठंडा किया गया तथा मिश्री मिलाये हुए गाय के दूध के साथ सेवन करें।

अनुपान—शहद, मक्खन।

गुण—यह मकरध्वज रस जठराग्नि, स्मरणशक्ति, आयुष्य और शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाला वाजीकर तथा वृद्धावस्था और अनुपान-विशेष से सर्वव्याधियों को दूर करने वाला होता है।

---

१. 'पलं मृदु स्वर्णदलं रसेन्द्रात् पञ्चाष्टकं षोडश गन्धकस्य।
न्यग्रोधशुङ्गप्रभवैं रसैस्तु दिनं विमर्द्याथ कुमारिकाद्रिः॥
तत्काचकुम्भे निहितं सुगाढं मृत्कर्पटैस्तद्दिवसत्रयं च।
पचेत् क्रमाग्नौ सिकताख्ययन्त्रे भवेद्रसो वै मकरध्वजाख्यः॥
तलस्थस्वर्णभागः स्यादेकोऽष्टौ मकरध्वजात्।
तदर्धभागादेयाः स्युर्लवङ्गात् कुङ्कुमात्तथा॥
जातीफलाच्च कर्पूरादेकश्च मृगनाभितः।
वल्लवल्लद्वयं वाऽपि ताम्बूली दलसंयुतम्॥
भक्षयेन्मधुरस्निग्धं कटुकाम्लविवर्जितम्।
घृतशीतं सितायुक्तं गुग्धगोधूम आज्यकम्॥
करोत्यग्निबलं पुंसां जराव्याधिविनाशनः।
मेधायुः कान्तिजननो वृष्यश्च मकरध्वजः'॥ (रसामृत १।४०–४५)

सिद्धमकरध्वज (१)
(रसतरंगिणी)

उपादान द्रव्य—

१. शुद्ध कण्टकवेधी सुवर्णपत्र	४ भाग (१६ तोला)
२. हिंगुलोत्थ शुद्ध अथवा अष्टसंस्कारित या षड्गुणबलिजारित पारद	८ भाग (३२ तोला)
३. शुद्ध गन्धक	१६ भाग (६४ तोला)

निर्माण-विधि—मकरध्वज के समान।

यदि मकरध्वज के निर्माण काल में इसमें स्वर्ण एक भाग की जगह ४ भाग डाल दिया जाय, शेष पारद ८ भाग एवं गन्धक १६ भाग ही रहे तथा अन्य सभी क्रियाएँ मकरध्वज के समान ही की जायें, अर्थात् कार्पास पुष्प आदि की भावना, बालुका यन्त्र में पाक करते हुए मृदु, मध्य तथा तीव्र अग्नि का प्रयोग करते हुए पारद में क्रमशः ६ गुणा गन्धक जारण किया जाय तो इसे सिद्धमकरध्वज कहा जाता है[1]।

सिद्धमकरध्वज (२)
(भैषज्यरत्नावली)

उपादान द्रव्य—१. शुद्ध सुवर्ण पत्र १ भाग
२. हिंगुलोत्थ पारद २ भाग
३. शुद्ध गन्धक ४ भाग

भावना द्रव्य—१. रक्तकार्पास पुष्प स्वरस।
२. श्वेत अङ्कोट फल।
३. घृतकुमारी स्वरस की १-१ भावना।

निर्माण विधि—निर्माण-विधि मकरध्वज के समान[2]।

मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक।

---

१. 'पूर्वोक्तनिजमानाच्च कनकं चेच्चतुर्गुणम्।
निर्दिष्टमानप्रमितौ भवतो रसगन्धकौ॥
पूर्ववद्भावयित्वापि पचेत्सिकतयन्त्रके।
एवन्तु षड्गुणं गन्धं जारयेत्क्रमशो भिषक्'॥ (र० त० ६।२४५-२४६)

२. 'पलमानं रसं सम्यग् बहुसंस्कारसंस्कृतम्।
तथा पलद्वयं गन्धं शुद्धहेमद्विकार्षिकम्॥
कैलाशाचलसम्भूते सुदृढे च सुचिक्कणे।
शोणप्रस्तरजे खल्वे सर्वं संस्थाप्य मिश्रयेत्॥
मर्दयेत् यत्नतो वैद्यो यामानष्टौ निरन्तरम्।
रक्तकार्पासपुष्पस्य श्वेताङ्कोटफलस्य च॥
कुमार्याश्च रसैः सम्यग् भावयित्वा पृथक्-पृथक्।
स्थापयित्वा काचकूपी मध्ये सर्वं प्रयत्नतः'॥ (भै० र० रसायन ११०-११३)

Scanned with CamScanner

अनुपान—शहद, मक्खन, तुलसीपत्र स्वरस, आर्द्रक स्वरस आदि से।

गुण—क्षय, प्रबल कास, प्रमेह, आन्त्रशोथ (आन्त्रक्षय), नाशक है। साधारणतः सभी रोगों को नष्ट करता है तथा उत्तम वाजीकरण है। इसके अतिरिक्त सन्निपात ज्वर, मन्दाग्नि, अरोचक, आमशूल, कटिशूल, हृच्छूल, परिणामशूल, श्वास, कुष्ठ, गलगण्ड, गण्डमाला, आन्त्रवृद्धि, अतिसार, पुराना श्लीपद, नाड़ीव्रण, अर्श, भगन्दर, ध्वजभंग आदि समस्त रोगों का नाश करता है[1]।

रसपुष्प

(Calomel or Subchloride of Mercury)

उपादान द्रव्य—

१.	शुद्ध पारद	५ तोला
२.	सैन्धव लवण	५ तोला
३.	शुद्ध कासीस	५ तोला

सभी द्रव्यों को खरल में डालकर अच्छी तरह निश्चन्द्र होने तक मर्दन करें। पश्चात् सात बार कपड़मिट्टी की हुई काँचकूपी में इसे भर लें। अब इसे बालुका यन्त्र विधि से मृदु एवं मध्य क्रम से ६ घंटे अग्नि देकर पाक करें। पाक के समय जब कूपी से जल-वाष्प निकलना बन्द हो जाय तब कूपी के मुख को बन्द कर सन्धिलेप कर दें तथा कूपी-कण्ठ के पास की दो अँगुल तक बालू हटा दें, जिससे शीतलता प्राप्त कर औषधि वहाँ एकत्र हो सकेगी। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक कूपी तोड़कर कूपीकण्ठ में एकत्रित पुष्प सदृश रसपुष्प को प्राप्त कर लें[2]।

रसपुष्प की परीक्षा—एक चमकीला लोहफलक लेकर उसके एक स्थान पर १ बूँद जल डालें। इस जल में एक बहुत छोटा-सा रसपुष्प का टुकड़ा डाल दें। थोड़ी देर बाद इस जल को फेंक दें। यदि जल वाले स्थान पर काला चिह्न न बने तो रसपुष्प को शुद्ध लवणांश रहित समझना चाहिए[3]।

---

१. 'क्षयक्षयकरः परं प्रबलकासकालानलः।
प्रमेहकुलमण्डनः प्रविततान्त्रशोपान्तकः॥
समस्तगदभञ्जनः प्रमदकामिनीरञ्जनः।
सदैव मकरध्वजो विजयते रसाधीश्वरः'॥ (र० त० ६।२४८)

२. 'शुद्धं तोलकपञ्चकं रसवरं काशीसकं सैन्धवं
दत्त्वा चैव समं समं सुमसृणे खल्वे ततः पेषयेत्।
कूपीमध्यगतं पचेत्तु सिकतायन्त्रेऽथ यामद्वयम्
नीहारप्रभमूर्ध्वभागनिचितं पुष्पं रसाद्यं हरेत्॥
जलीयवाष्पे निष्क्रान्ते पिधानेन पिधाय वै।
कूपिकाकण्ठदेशस्थां वालुकामपसारयेत्॥
पुष्पवच्छोभते यस्मात् कूपीकण्ठप्रलम्बितम्।
रसपुष्पमिदं तस्मात् प्राणाचार्यैर्निगद्यते'॥ (र० त० ६।२९-३१)

३. 'महोज्ज्वले लोहपात्रे जलबिन्दुं तु विन्यसेत्।
रसपुष्पं समादाय जलबिन्दौ विनिक्षिपेत्॥
क्षणादूर्ध्वं जलं क्षिप्त्वा यदि कार्ष्ण्यं न लभ्यते।
रसपुष्पं तदा शुद्धं जानीयाद्भिषजां वरः'॥ (र० त० ६।३९-४०)

रसपुष्प की मात्रा—½ रत्ती से २½ रत्ती तक।

विरेचन के लिए इसकी २½ रत्ती की मात्रा दी जाती है। हिक्का (हिचकी) शान्ति के लिए ½ रत्ती। फिरंग रोग की शान्ति के लिए ½ रत्ती। छोटे बच्चों को विरेचनार्थ देना हो तो ¼ रत्ती दें।

अनुपान—गुड़ में, मलाई या कैप्सुल में रखकर जल या दूध से लेना चाहिए।

रसपुष्प का गुण—यह पित्तहर (यकृत् में सञ्चित मलभूत पित्त को बाहर निकालता है) एवं मूत्रल है। व्रण के क्रिमि एवं पूय को नष्ट करता है। यह तीव्र विरेचक है। यह संक्रामक जन्तु विषनाशक है। शरीर में बढ़े हुए जलीय भाग को सुखाता है। यह पित्ताशय में क्षोभ पैदाकर मलभूत पित्त को बाहर निकाल देता है। विसूचिका, कृमि, हिक्का, फिरंग रोग एवं जलोदर आदि अनेक रोगों को शीघ्र नष्ट करता है।

रसकर्पूर

(Per Chloride of Mercruy)

उपादान द्रव्य—

१. शुद्ध पारद १ पल।
२. शुद्ध गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) १½ पल।
३. सैन्धव लवण १ पल।

निर्माण-विधि—एक काँच पात्र (बीकर) में शुद्ध पारद एवं गन्धकाम्ल को डालकर त्रिपाद बैठकी पर रखकर स्प्रिट लैम्प से गर्म करें तथा गन्धकाम्ल के सम्पूर्ण जलीय अंश को सुखा दें। बीकर में बचे पारद के श्वेत चूर्ण को एक खरल में डालकर उसमें सैन्धव लवण का चूर्ण डालकर अच्छी प्रकार मिला लें। इस मिश्रण को कपड़-मिट्टी की हुई काँच कूपी में भरकर बालुका यन्त्र में स्थापित कर चार प्रहर (१२ घंटे) मध्यम अग्नि से पाक करें। चार प्रहर बाद अग्नि देना बन्द कर स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक शीशी को तोड़कर कण्ठ भाग में लगा हुआ कर्पूर सदृश श्वेत रसकर्पूर को प्राप्त कर लें।[1]

---

१. 'पलसम्मितं प्रयत्नाद् विमलीकृतं रसेशम्।
सपलार्द्धकं पलैकं विमलं च गन्धकाम्लम्॥
चषकोपमे विशुद्धं निदधीत काचपात्रे।
विनिधाय काचपात्रं त्वयसस्त्रिपादिकायाम्॥
ज्वलिते सुराप्रदीपे संशोषयेज्जलांशम्।
अथ शोषिते तु चूर्णं त्ववतार्य वै प्रदीपात्॥

Scanned with CamScanner

रसकर्पूर के पाक के समय काँचकूपी से जलवाष्प का निकलना बन्द हो जाने पर कूपी के मुख को डाट लगाकर बन्द कर देना चाहिए तथा कूपी-कण्ठ के पास से २ अंगुल बालू हटा देनी चाहिए, जिससे शीतलता पाकर वहाँ रसकर्पूर एकत्र हो जायेगा।[1]

रसकर्पूर की मात्रा—रसकर्पूर रत्ती के ६४ वें भाग (२ मि० ग्रा०) से लेकर ३२ वें भाग (४ मि० ग्रा०) तक प्रयोग करना चाहिए।[2]

रसकर्पूर का आभ्यन्तर प्रयोग हेतु मात्रा-निर्माण करना—

१. शुद्ध नौसादर ५ रत्ती (६०० मि० ग्रा०) तथा रसकर्पूर ५ रत्ती लेकर दोनों को एकत्र पीस कर साठ तोले (लगभग ७½० मि० ली०) शीतल जल में घोलकर रख लें। अब इसको ३० बूंद से लेकर ६० बूंद तक की मात्रा में प्रयोग करें।[3]

२. ५ मासे (५ ग्रा०) दालचीनी चूर्ण में एक रत्ती (१२० मि० ग्रा०) रसकर्पूर (नीम्बू रस से मर्दित) को अच्छी प्रकार घोंटकर मिला लें। अब इस मिश्रण में से १-१ रत्ती की मात्रा बनाकर प्रयोग करें। इस चूर्ण की पूर्ण मात्रा १ रत्ती समझें।[4]

रसकर्पूर का गुण—रसकर्पूर अनेक प्रकार के कृमि विषों को नष्ट करता है। त्वचा एवं रक्त के दोष को शान्त करता है। व्रण में से होने वाले स्राव को बन्द करता है। यह ग्राही, अन्न में रुचि पैदा करने वाला, अतिसार एवं कृमिनाशक है।

समभागिकं च दद्याल्लवणं तु सैन्धवाख्यम्।
परिमेल्य चूर्णमेतन्निदधीत काचकुप्याम्॥
युगसङ्ख्यकैस्तु यामैः सिकताख्ययन्त्रसंस्थम्।
विपचेदतिप्रयत्नात् रसतन्त्रकर्मविज्ञः॥
अवधुध्य काचकूपीं स्वत एव शीतलाङ्गीम्।
(घनसारनामधेयं) रसमाहरेद्रसज्ञः'॥ (र० त० ६।६५-७०)

१. 'जलीयवाष्पे निर्याते पिधानेन पिधापयेत्।
कूपीकण्ठस्थितां स्वल्पां सिकतान्धापसारयेत्'॥ (र० त० ६।७१)

२. 'आरभ्य रक्तिकायास्तु चतुःपष्टयंशतो भिषक्।
द्वात्रिंशद्भागपर्यन्तं मात्रामस्य प्रयोजयेत्'॥ (र० त० ६।७६)

३. 'चुल्लिकालवणं शुद्धं गुञ्जापत्रकसम्मितम्।
समञ्च रसकर्पूरं पष्टितोलकसम्मिते॥
जले विनिक्षिपेत्प्राज्ञो मात्रामस्य प्रकल्पयेत्।
बिन्दुत्रिंशकतश्चादौ पष्टिबिन्दुमितां पराम्'॥ (र० त० ६।७७-७८)

४. श्लक्ष्णं दारुसिताचूर्णं पञ्चमाषकसम्मितम्।
गुञ्जैकं रसकर्पूरं क्षिपेत्तन्निम्बवम्लमर्दिम्॥
रक्तिकैकमितं चूर्णं मात्रायां विनितोजयेत्।
रक्तिकैकमिता पूर्णमात्रास्य परिकीर्तिता'॥ (र० र० स० ६।७९-८०)

यह रक्तमिश्रित प्रवाहिका में लाभकारी है। अधिक मात्रा में प्रयोग से पारद विष के लक्षण उत्पन्न करता है। यह स्फोट (Blister), पुराना कण्डू, मण्डल आदि कुष्ठ, सभी प्रकार के सहज या स्पर्शजन्य फिरंग-रोग (Syphilis) को नष्ट करता है। अनेक प्रकार के व्रणों में होने वाली पीड़ा को शान्त करता है। अल्प प्रमाण में यह पाचक है। यह १६ गुना शीतल जल में अच्छी प्रकार घुल जाता है।[1]

रसकर्पूर का आमयिक प्रयोग—मात्रापूर्वक रसकर्पूर के सेवन से प्रातःकाल में होने वाला या भोजनोत्तर होने वाला दस्त बन्द हो जाता है। पुराना दाहयुक्त पतले पीले दस्त का अतिसार नष्ट हो जाता है। यह कफ रक्त मिश्रित मलयुक्त प्रवाहिका को शान्त करता है।[2]

रस-सेवन-विधि—शरीर-शुद्धि के पश्चात् निष्ठापूर्वक योग्य अनुपान से पारद भस्म या अन्य पारदीय योगों का सेवन करें। पारद भस्म को ताम्बूल (पान) में रखकर उसका सेवन करे।

रस-सेवन में पथ्य—शुद्ध एवं ताजा घी, सैन्धव लवण, धनियाँ, जीरक और आर्द्रक आदि पदार्थों के द्वारा संस्कारित चौलाई, धनियाँ, परवल, लौकी, नेनुआ आदि गेहूँ, पुराना शालिचावल, गोदुग्ध, दही, घृत, हंसोदक और मुद्गयूष आदि पारद-सेवन काल में हितकर होता है।[3]

---

१. 'रसकर्पूरकः ख्यातो बहुभूतविषापहः।
त्वग्रक्तदोषशमनो ग्राही रुचिविवर्द्धनः॥
अतीसारप्रशमनो विशेषात्कृमिनाशनः।
प्रवाहिकाहरः कामं मात्राधिक्ये विषक्रियः॥
स्फोटं कण्डूमपि च चिरजां मण्डलादींश्च कुष्ठान्
सर्वोत्थं वा सहजमपि वा स्पर्शजं वा फिरङ्गम्।
शीघ्रं नानाव्रणभवां हन्ति पीडां महोग्रां
कर्पूराख्यो जठरदहनोद्दीपनोऽयं रसेशः॥
शीतले षोडशगुणे सलिले विनिपातितः।
सर्वथा द्रवतां याति रसः कर्पूरकाभिधः'॥ (र० त० ६।७२-७५)

२. 'रसः कर्पूरसंज्ञोऽयं मात्रया परिशीलितः।
प्राभातिकीं भुक्तमात्रोत्थितान्धातिसृतिं हरेत्॥
कर्पूराख्यो रसो युक्तः सदाहं चिरकालजम्।
द्रवपीतमलोपेतमतीसारं विनाशयेत्॥
शीलितो रसकर्पूरो मात्रया सुचिरोत्थिताम्।
सरक्तां सकफाञ्चैव विनिहन्ति प्रवाहिकाम्'॥ (र० त० ६।८१-८३)

३. 'घृतसैन्धवधान्याकजीरकार्द्रकसंस्कृतम्।
तण्डुलीयकधान्यकपटोलालाबुकादिकम्॥

Scanned with CamScanner

रस-सेवन में अपथ्य—बड़ी कटेरी, बिल्व, पेठा, बेंत का अंकुर, करेला, उड़द, मसूर, मटर, कुलत्थ, सरसों और तिल के पदार्थ, लंघन, उबटन, स्नान, मुर्गे का मांस, मद्य, आसव, आनूप मांस, काँजी, केले के पत्ते अथवा काँस्य पात्र में भोजन, गुरु, विष्टम्भी भोजन, तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थों का भक्षण पारद-सेवन काल में अपथ्य माना गया है।[1]

रसव्यापद प्रतिकार—पारदभस्म अथवा पारदीय योगों के सेवन करने वाले व्यक्ति को यदि वमनेच्छा या अधिक डकार आना शुरू हो जाय तब उसको जीरक चूर्ण के साथ दही और भात अथवा काली मछली खिलाना चाहिए। यदि वातप्रकोपजन्य कोई पीड़ा हो जाय तो नारायण तैल आदि वातनाशक औषधियों की मालिश करनी चाहिए। यदि अशान्ति या बेचैनी अनुभव हो तो सिर पर ठण्डे जल का अभिषेक करना चाहिए। यदि अधिक तृष्णा की अनुभूति हो तो नारियल का पानी शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा मूँग का यूष शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिए।[2]

रसत्याग विधि—पारदीय योगों का प्रयोग बन्द करने पर एक वार बड़ी कटेरी और बिल्व, इनके फलों का सेवन अवश्य करें। तत्पश्चात् रोगी इच्छानुसार पथ्यकर आहार-विहार का सेवन करे।[3]

रसबन्ध

परिभाषा—जिन-जिन क्रियाओं द्वारा पारद की चञ्चलता एवं दुर्ग्रहत्व का नाश होता है, उस क्रिया का नाम बन्धन या रसबन्ध है।[4]

गोधूमजीर्णशाल्यन्नं गव्यं क्षीरं घृतं दधि।
हंसोदकं मुद्गरसः पथ्यवर्गः समासतः' ॥ (र० र० स० ११।१२३-१२४)

१. 'बृहती बिल्वकूष्माण्डं वेत्राग्रं कारवेल्लकम्।
माषं मसूरं निष्पावं कुलत्थं सर्षपं तिलम् ॥
लङ्घनोद्वर्तनस्नानताम्रचूडसुराऽऽसवान् ।
आनूपमांसं धान्याम्लं भोजनं कदलीदले ॥
कांस्ये च गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णोष्णञ्च भृशं त्यजेत्'।
(र० र० स० ११।१२५-१२६)

२. 'उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णमीनं सजीरकम्।
अभ्यङ्गमनिलक्षोभे तैलैर्नारायणादिभिः ॥
अरतौ शीततोयेन मस्तकोपरि सेचनम्।
तृष्णायां नारिकेलाम्बु मुद्गयूषं सशर्करम्' ॥ (र० र० स० ११।१३१-१३२)

३. '··· ··· ···रसत्यागविधौ पुनः ।
भक्षयेद् बृहतीं बिल्वं सकृत्साधारणो विधिः' ॥ (र० र० स० ११।१३४)

४. 'येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं च नश्यति।
रसराजस्य सम्प्रोक्तो बन्धनार्थो हि वार्त्तिकैः' ॥ (र० र० स० ११।६०)

पारद बद्ध होने पर अपना द्रवरूप छोड़ देता है तथा कठिन खण्ड या चूर्ण आदि रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में इसकी चञ्चलता खत्म हो जाती है और आसानी से पकड़ में आ जाता है।

रसबन्ध के नाम—पारद के २५ प्रकार के बन्ध निम्नानुसार हैं—

१. हठबन्ध	१०. कज्जलीबन्ध	१८. कुमारकबन्ध
२. आरोटबन्ध	११. सजीवबन्ध	१९. तरुणबन्ध
३. आभासबन्ध	१२. निर्जीवबन्ध	२०. वृद्धबन्ध
४. क्रियाहीनबन्ध	१३. निर्बीजबन्ध	२१. मूर्त्तिबन्ध
५. पिष्टिकाबन्ध	१४. सबीजबन्ध	२२. जलबन्ध
६. क्षारबन्ध	१५. शृंखलाबन्ध	२३. अग्निबन्ध
७. खोटबन्ध	१६. द्रुतिबन्ध	२४. सुसंस्कृतबन्ध
८. पोटबन्ध	१७. बालकबन्ध	२५. महाबन्ध।[1]
९. कल्कबन्ध		

कुछ लोग २६ वाँ जलूकाबन्ध भी मानते हैं। इसका उपयोग स्त्रियों को मैथुन में शीघ्र द्रवित करने के लिए किया जाता है।[2]

(१) **हठबन्ध**—पारद का सम्यक् शोधन किये बिना जब उसका बन्धन किया जाता है तो वह हठबन्ध कहलाता है। इसके सेवन से मृत्यु अथवा जटिल व्याधि उत्पन्न हो सकती है।[3]

(२) **आरोटबन्ध**—अच्छी प्रकार से शुद्ध किये गये पारद का जब बन्धन किया जाता है तब वह आरोटबन्ध कहलाता है। यह क्षेत्रीकरण के लिए श्रेष्ठ है। उपयोग करने से यह धीरे-धीरे व्याधियों को नष्ट करता है।[4] यहाँ क्षेत्र का अर्थ शरीर है। यह शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करता है।

---

१. 'हठारोटौ तथाऽऽभासः क्रियाहीनश्च पिष्टिका।
क्षारः खोटश्च पोटश्च कल्कबन्धश्च कज्जलिः ॥
सजीवश्चैव निर्जीवो निर्बीजश्च सबीजकः।
शृङ्खलाद्रुतिबन्धौ च बालकश्च कुमारकः ॥
तरुणश्च तथा वृद्धो मूर्त्तिबद्धस्तथाऽपरः।
जलबन्धोऽग्निबन्धश्च सुसंस्कृतकृताभिधः ॥
महाबन्धाभिधश्चेति पञ्चविंशतिरीरिताः'। (र० र० स० ११।६१-६३)

२. 'केचिद्वदन्ति षड्विंशो जलूकाबन्धसंज्ञकः।
स तावल्लेप्यते देहे स्त्रीणां द्रावेऽतिशस्यते' ॥ (र० र० स० ११।६४)

३. 'हठो रसः स विज्ञेयः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः।
स सेवितो नृणां कुर्यान्मृत्युं वा व्याधिमुद्धतम्' ॥ (र० र० स० ११।६५)

४. 'सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते।
स क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः शनैर्व्याधिविनाशनः' ॥ (र० र० स० ११।६६)

Scanned with CamScanner

(३) **आभासबन्ध**—पारद में जब धातु एवं वनस्पतियों की भावना देकर पुट-पाक किया जाता है तब पारद अपने स्वाभाविक चाञ्चल्य को त्यागकर बद्ध हो जाता है, ऐसे पारद को आभासबद्ध पारद कहते हैं। यहाँ पारद के स्वाभाविक गुणों में परिवर्तन हो जाता है।[1]

(४) **क्रियाहीन बन्ध**—शोधित पारद को जब अशोधित लोहादि धातुओं के साथ मिलाकर बन्धन संस्कार किया जाता है तो उसे क्रियाहीन बन्ध कहते हैं। ऐसे पारद के सेवन काल में अपथ्य करने पर लाभ के बदले बड़ी हानि हो सकती है।[2]

(५) **पिष्टिकाबन्ध**—तीव्र धूप में खूब बलपूर्वक पारद का मर्दन करने से पारद की मक्खन के जैसी पिण्डी बन जाती है। पारद के इस प्रकार के बन्ध को पिष्टिका-बन्ध कहते है। यह पिष्टिकाबद्ध पारद जठराग्नि को दीप्त करता है और विशेषरूप से यह भोजन का पाचन भी करता है।[3]

(६) **क्षारबन्ध**—शङ्ख, शुक्ति, वराटिका आदि के भस्मों के साथ मर्दन कर जो पारद का बन्धन किया जाता है, उसको क्षारबन्ध कहते हैं। क्षारबद्ध पारद जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, शरीर को पुष्ट करता है तथा उदरशूल का नाश करता है।[4]

(७) **खोटबन्ध**— जिस बन्धन विधि द्वारा पारद गोली के रूप में बनाया जा सकता है तथा वह तीव्र आँच पर बारम्बार धमन करने पर भी धीरे-धीरे क्षीण होता है, तब उसको खोटबद्ध पारद कहते हैं। इसके सेवन से शीघ्र ही सब प्रकार के रोगों का नाश होता है।[5]

(८) **पोटबन्ध या पर्पटीबन्ध या रसपर्पटी**—शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक निर्मित कज्जली को आँच पर पिघलाकर गोमय स्थित कदली पत्र पर डालकर दूसरे कदली पत्र से ढककर गोमय की पोट्टली से दबाकर चिपटी कर देने से पारद का पोटबन्ध हो जाता है। इसी को पर्पटी-बन्ध भी कहते हैं। यह बालकों से लेकर मनुष्यों तक में होने वाले समस्त रोगों का नाश करता है।[6]

१. 'पुटितो यो रसो याति योगं मुक्त्वा स्वभावताम्।
भावितो धातुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृतैः' ॥ (र० र० स० ११।६७)
२. 'असंशोधितलोहाद्यैः साधितो यो रसोत्तमः।
क्रियाहीनः स विज्ञेयो विक्रियां यात्यपथ्यतः' ॥ (र० र० स० ११।६८)
३. 'तीव्रातपे गाढतरावमर्दात्पिष्टी भवेत्सा नवनीतरूपा।
ख्यातः स सूतः किल पिष्टिबद्धः सन्दीपनः पाचनकृद्विशेषात्' ॥ (वही, ११।६९)
४. 'शङ्खशुक्तिवराटाद्यैर्योऽसौ संसाधितो रसः।
क्षारबन्धः परं दीप्तिपुष्टिकृच्छूलनाशनः' ॥ (र० र० स० ११।७०)
५. 'बन्धो यः खोटतां याति ध्मातो ध्मातः क्षयं व्रजेत्।
खोटबन्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वगदापहः' ॥ (र० र० स० ११।७१)
६. 'द्रुतकज्जलिका मोचपत्रके चिपटीकृता।
स पोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत्' ॥ (र० र० स० ११।७२)

(९) **कल्कबन्ध**—स्वेदन, मर्दन आदि संस्कारों के क्रम में जब पारद पंक के सदृश हो जाता है तो इसे ही कल्कबन्ध कहते हैं। यह जिन-जिन योगों में दिया जाता है उनके कथित यथार्थ फल को देने वाला होता है।[1]

(१०) **कज्जलीबन्ध**—शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक को एकत्र घोटकर अत्यन्त बारीक काजल के समान श्लक्ष्ण चूर्ण बना दिया जाता है तो इसको कज्जलीबन्ध कहते हैं। जिन-जिन योगों में कज्जली डाली जाती है, उनको भी कज्जलीबन्ध ही कहते हैं।[2]

(११) **सजीवबन्ध**—भस्म हो जाने पर भी जो पारद अग्नि पर उड़ जाता है, ऐसे पारद भस्म को सजीवबन्ध कहते हैं। ऐसा पारद न तो भस्म का कार्य करता है और न ही जरा एवं व्याधि का विनाश ही करता है।[3]

(१२) **निर्जीवबन्ध**—पारद में प्रथम अभ्रक और गन्धक का जारण कर फिर उसका भस्म बना लिया जाता है। इस पारद भस्म को निर्जीवबन्ध कहते हैं। यह सम्पूर्ण रोगों को तत्काल नष्ट करता है।[4]

(१३) **निर्बीजबन्ध**—शुद्ध पारद में प्रथम चतुर्थांश भाग स्वर्ण का जारण करें। तत्पश्चात् समान भाग गन्धक डालकर पिष्टी बना लें। अब सबके समान भाग में पृथक् से गंधक लेकर शराव में पिष्टी के उर्ध्वाधः गन्धक रखकर सम्पुट को बन्द कर आँच देकर उसकी भस्म बना लें। इसे पारद का निर्बीजबन्ध कहते हैं। यह सम्पूर्ण रोगों का नाश करने वाला होता है।[5]

(१४) **सबीजबन्ध**—अभ्रक सत्त्व, स्वर्ण, रजत, ताम्र और कान्त लौह का क्रमशः पारद में जारण कर उसकी पिष्टी बना लें। अब इस पिष्टी से छः गुना गन्धक

१. 'स्वेदाद्यैः साधितः सूतः पङ्कत्वं समुपागतः।
कल्कबद्धः स विज्ञेयो योगोक्तफलदायकः' ॥ (र० र० स० ११।७३)
२. 'कज्जली रसगन्धोत्था सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा।
तत्तत् योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते' ॥ (र० र० स० ११।७४)
३. 'भस्मीकृतो गच्छति वह्नियोगाद् सूतः सजीवः खलु सम्प्रदिष्टः।
संसेवितोऽसौ न करोति भस्मकार्यं जराव्याधिविनाशनञ्च' ॥
(र० र० स० ११।७५)
४. 'जीर्णाभ्रको वा परिजीर्णगन्धो भस्मीकृतश्चाखिललौहमौलिः।
निर्जीवनामा हि स भस्मसूतो निःशेषरोगान्विनिहन्ति सद्यः' ॥
(र० र० स० ११।७६)
५. 'रसस्तु पादांशसुवर्णजीर्णः पिष्टीकृतो गन्धकयोगतश्च।
तुल्यांशगन्धैः पुटितः क्रमेण निर्बीजनामा सकलामयघ्नः' ॥
(र० र० स० ११।७७)

Scanned with CamScanner

मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन कर पुटपाक द्वारा इसकी भस्म बना लें। इस प्रकार भस्म बने पारद को सबीजबद्ध पारद कहते हैं। यह विपुल प्रभाव वाला होता है।[१]

(१५) **शृंखलाबन्ध**—वज्र, वैक्रान्त आदि द्वारा मारित पारद अथवा वनस्पतियों द्वारा मारित पारद—इन दोनों प्रकार की भस्मों को एकत्र समान मात्रा में घोंटकर रख लें। बद्ध पारद के इस मिश्रण को शृंखलाबद्ध पारद कहते हैं। यह शरीर को दृढ (स्थिर : लौह सदृश) करने वाला होता है। यह वेग से शरीर में व्याप्त होकर आश्चर्यजनक प्रभाव उत्पन्न करता है।[२]

(१६) **द्रुतिबन्ध**—बाह्यद्रुति संस्कार के पश्चात् पारद को शास्त्रोक्त विधि से बद्ध या भस्म कर लें। ऐसे पारद को द्रुतिबद्ध पारद कहते हैं। इस द्रुतिबद्ध पारद का राजिका (सर्षप) चतुर्थांश मात्रा में कुछ दिन सेवन करने से यह दुःसाध्य रोगों को भी नष्ट कर देता है।[३]

(१७) **बालकबन्ध**—पारद में समान भाग अभ्रक का जारण करने के बाद यदि पारद का भस्म कर दिया जाय तो ऐसे पारद को बालबद्ध या बालकबद्ध पारद कहते हैं। उचित अनुपान से लेने पर यह उत्तम रसायन, भावी रोगों का नियन्त्रण करने वाला तथा रोगों को उपद्रवों एवं अरिष्ट लक्षणों सहित नष्ट करने वाला होता है।[४]

(१८) **कुमारबन्ध**—पारद में द्विगुण अभ्रक जीर्ण करने के बाद जो भस्म बनाई जाती है, उसे कुमारबद्ध पारद कहते हैं। इस पारद का यदि १ चावल की मात्रा में ३ सप्ताह तक सेवन किया जाय तो यह सम्पूर्ण पापकर्मज कुष्ठादि रोगों का नाश करता है। यह उत्तम रसायन भी है।[५]

---

१. 'पिष्टीकृतैरभ्रकसत्त्वहेमतारार्ककान्तैः परिजारितो यः।
हतस्ततः षड्गुणगन्धकेन स बीजबद्धो विपुलप्रभावः' ॥
(र० र० स० ११।७८)

२. वज्रादिनिहतः सूतो हतः सूतः समोऽपरः।
शृङ्खलाबद्धसूतस्तु देहलोहविधायकः ॥
चित्रप्रभावां वेगेन व्याप्तिं जानाति शङ्करः' ॥ (र० र० स० ११।७९)

३. 'युक्तोऽपि बाह्यद्रुतिभिश्च सूतो बन्धङ्गतो वा भसितस्वरूपः।
स राजिकापादमितो निहन्ति दुःसाध्यरोगान्द्रुतिबद्धनामा' ॥
(र० र० स० ११।८०)

४. 'सभ्रजीर्णः शिवजस्तु बालः संसेवितो योगयुतो जवेन।
रसायनो भाविगदापहश्च: सोपद्रवारिष्टगदान्निहन्ति' ॥
(र० र० स० ११।८१)

५. 'हरोद्भवो यो द्विगुणाभ्रजीर्णः स स्यात्कुमारो मिततण्डुलोऽसौ।
त्रिःसप्तरात्रैः खलु पापरोगसङ्घातघाती च रसायनश्च' ॥
(र० र० स० ११।८२)

(१९) **तरुणबन्ध**—पारद में यदि चतुर्गुण अभ्रक का जारण कर फिर उसका भस्म बना लिया जाय तो उसे तरुणबद्ध पारद कहते हैं। यह रसायन में श्रेष्ठ होता है। ३ सप्ताह तक प्रयोग करने पर यह सब प्रकार की व्याधि को नष्ट करता है तथा वीर्य एवं बल की वृद्धि करता है।[१]

(२०) **वृद्धबन्ध**—पारद में छः गुणा अभ्रक जीर्ण करने के बाद जब उसका निरुत्थ भस्म बना लिया जाता है, तब उसको वृद्धबन्ध कहते हैं। यह भस्म देह एवं लोह दोनों में अत्यन्त उपयोगी होता है।[२]

(२१) **मूर्तिबन्ध**—पारद में अभ्रक का जारण किये बिना वनस्पतियों द्वारा तीव्र अग्नि सहन करने की शक्ति पैदा कर देने को मूर्तिबद्ध रस कहते हैं। अग्नि पर इसका क्षय नहीं होता। सभी प्रकार के रोगों में प्रयोग से यह निरुपम फल को देने वाला होता है।[३]

(२२) **जलबन्ध**—शिलोदक (शिला तोय) आदि विशेष जल से जब पारद का बन्धन किया जाता है, तब वह जलबन्ध कहलाता है। यह जलबद्ध पारद वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु को दूर करता है तथा जिस योग के साथ प्रयुक्त होता है उसके सम्पूर्ण फल को देने वाला होता है।[४]

(२३) **अग्निबन्ध**—केवल पारद या अन्य किसी पदार्थ या पदार्थों के साथ जब अग्नि द्वारा धमन कर गुटिकाकार बना लिया जाता है तथा जब इसका अग्नि पर क्षय नहीं हो तो इसे अग्निबद्ध पारद कहा जाता है। यह खेचरीसिद्धि (आकाश में उड़ने या खेचरी मुद्रा की सिद्धि) को देने वाला होता है।[५]

---

१. 'चतुर्गुणव्योमकृताशनोऽसौ रसायनाग्र्यस्तरुणाभिधानः।
स सप्तरात्रात् सकलामयघ्नो रसायनो वीर्यबलप्रदाता' ॥
(र० र० स० ११।८३)

२. 'यस्याभ्रकः षड्गुणितो हि जीर्णः प्राप्ताग्निसख्यः स हि वृद्धनामा।
देहे च लोहे च नियोजनीयः शिवादृते कोऽस्य गुणान् प्रवक्ति' ॥
(र० र० स० ११।८४)

३. 'यो दिव्यमूलिकाभिश्च कृतोऽत्यग्निसहो रसः।
विनाभ्रजारणात् स स्यान्मूर्तिबन्धो महारसः ॥
अयं हि जार्यमाणस्तु नाग्निना क्षीयते रसः।
योजितः सर्वयोगेषु निरौपम्यफलप्रदः' ॥
(र० र० स० ११।८५-८६)

४. 'शिलातोयमुखैस्तोयैर्बद्धोऽसौ जलबन्धवान्।
स जरारोगमृत्युघ्नः कल्पोक्तफलदायकः' ॥ (र० र० स० ११।८७)

५. 'केवलो योगयुक्तो वा ध्मातः स्याद् गुटिकाकृतिः।
अक्षीणश्चाग्निबद्धोऽसौ खेचरत्वादिकृत् स हि' ॥ (र० र० स० ११।८८)

Scanned with CamScanner

(२४) **सुसंस्कृतबन्ध**—विष्णुक्रान्ता, सोमलता, जलकुम्भी, धत्तूरमूल, इन्द्रायण, नागिनीकन्द (लक्ष्मणाकन्द), विकंकत, पियावाँसा, वृश्चिक घास, हस्तिशुण्डी, हंसपदी, मुद्गपर्णी एवं राई—इन सबको कुमारी गौ के मूत्र में पीसकर कल्क बना उसके साथ पारद को घोंटकर गोला बनाकर बालुका यन्त्र में पाक करें। पाक के पश्चात् इसे पुनः धातु भस्मों के साथ मर्दनकर उपयुक्त यन्त्र द्वारा पाचन कर पारद को मूर्च्छित कर लें। इस प्रकार से बद्ध पारद को सुसंस्कृतबन्ध कहते हैं।[1]

(२५) **महाबन्ध**—स्वर्ण या रजत के साथ पारद को धमन कर मिला लिया जाय। इस एकरूप पारद को जब पुनः धमन किया जाय तो इसके भार में कमी न हो अर्थात् अक्षीण रहे, गुटिकाकार हो, भारी हो, बहुत काल तक चमकता रहे, पीटने पर नमक की तरह चूर-चूर हो जाय, घिसने पर मैल न छोड़े तथा गर्म करने पर शीघ्र द्रवित हो जाय किन्तु किसी प्रकार की गन्ध न छोड़े, तो ऐसे बन्ध को पारद का महाबन्ध कहते हैं।[2]

(२६) **जलूकाबन्ध**—शुद्ध पारद १ भाग में आधा भाग स्वर्ण अथवा चौथाई भाग सीस (नाग) का जारण कर पारद से षोडशांश मात्रा में (प्रत्येक)—एरण्ड बीज, सेमलबीज, भांग, श्लेष्मातक, मालकांगनी, छोटी बेर, तिल एवं तेजपात के चूर्ण को तप्त खरल में अच्छी प्रकार घोंटने से पारद का जलूका तैयार हो जाता है। इसे जलूकाबन्ध कहते हैं।[3]

---

१. 'विष्णुक्रान्ताशशिलताकुम्भीकनकमूलकैः ।
विशालानागिनीकन्दव्याघ्रपादीकुरण्टकैः ॥
वृश्चिकालीभशुण्डीभ्यां हंसपादी सहासुरैः ।
अप्रसूतगवां मूत्रैः पिष्टं वा कुलके पचेत् ॥
पक्वमेवं मृतैर्लोहैर्मर्दितं विपचेद् रसम् ।
यन्त्रेषु मूर्च्छा सूतानामेष कल्पः सुसंस्कृतः' ॥ (र० र० स० ११।८९-९१)

२. 'हेम्ना वा रजतेन वा सहचरो ध्मातो व्रजत्येकता-
मक्षीणो निबिडो गुरुश्च गुटिकाकारश्च दीर्घोज्ज्वलः ॥
चूर्णत्वं पटुवत्प्रयाति निहतो घृष्टो न मुञ्चेन्मलम् ।
निर्गन्धो द्रवति क्षणात् स हि महाबन्धाभिधानो रसः' ॥
(र० र० स० ११।९२)

३. 'सूते गर्भनियोजितार्धकनके पादांशनागेऽथवा ।
पञ्चाङ्गुष्ठकशाल्मलीकृतमदाश्लेष्मातबीजैस्तथा ॥
तद्वत्तेजिनिकोलकाख्यफलजैश्चूर्णं तिलं पत्रकं ।
तप्ते खल्लतले निधाय मृदितं जाता जलूका वरा' ॥ (र० र० स० ११।९३)

षष्ठ अध्याय

महारसोपरससाधारणरस प्रकरण

(महारस-उपरस-साधारणरस)

रसशास्त्र में खनिज द्रव्यों की प्रधानता है, तथापि इनमें जांगम एवं औद्भिद् स्रोत के द्रव्य भी शामिल किये गये हैं। द्रव्यों की प्रस्तुति में वर्गीकरण की परम्परा प्राचीन काल से देखी जाती है। वर्गीकरण द्वारा द्रव्य या द्रव्यों के वर्ग में परस्पर भिन्नता प्रदर्शित की जाती है। चरक, सुश्रुतादि प्राचीन ग्रन्थों में भी वर्गीकृत करके द्रव्यों को प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल (६ठी शताब्दी के बाद) में विकसित रस-ग्रन्थों का द्रव्य-वर्गीकरण उससे भिन्न है। रस-ग्रन्थों में भी द्रव्यों के वर्गीकरण में एकरूपता नहीं है।

रसशास्त्रीय द्रव्यों का वर्गीकरण

रस (पारद)—इसे स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। इसका किसी वर्ग या वर्ग-विशेष में अन्तर्भाव नहीं किया गया है, अन्य खनिज द्रव्यों के—१. महारस २. उपरस ३. साधारणरस ४. रत्न ५. उपरत्न एवं ६. लोह—ये छः प्रधान वर्ग किये गये हैं।

(१) **महारस वर्ग**—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, अद्रिज, सस्यक, चपल एवं रसक—ये आठ महारस हैं।

(यहाँ वस्तुतः जिस मूलश्लोक में कहे गये अभ्रकादि आठ द्रव्यों को महारस के के नाम से लिया जाता है उसे रसरत्नसमुच्चयकार ने 'रस' संज्ञा से सूचित किया है; यथा—'ज्ञात्वाष्टौ सङ्ग्रहेद्रसान्'। इसी ग्रन्थकार ने (अध्याय ६।५० में) रसक आदि आठ द्रव्यों को 'महारस' की संज्ञा से सूचित किया है, किन्तु व्यवहार में अभ्रकादि आठ द्रव्य ही महारस के रूप में प्रचलित हैं।)

रसहृदयतन्त्रकार ने रसवर्ग में वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, रसक, कान्तलोह तथा हिंगुल—इन आठ द्रव्यों को शामिल किया है।[2] गोरक्षसंहिता-

---

१. (क) 'अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम् ।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ सङ्ग्रहेद्रसान्' ॥ (र० र० स० २।१)
(ख) 'रसकं विमला ताप्यं चपला तुत्थमञ्जनम् ।
हिङ्गुलं सस्यकञ्चैव ख्याता एते महारसाः' ॥ (र० र० स० ६।५०)

२. 'वैक्रान्तकान्तसस्यकमाक्षिकविमलाद्रिजदरदरसकाश्च ।
अष्टौ रसास्तथैषां सत्वानि रसायनानि स्युः' ॥
(र० हृ० तं० ९।४)

कार ने रसवर्ग में—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, रसक एवं हिंगुल—इन आठ द्रव्यों को[१] तथा रसरत्नसमुच्चयकार ने—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, चपल एवं रसक—इन आठ द्रव्यों को पढ़ा है।[२] रसरत्न-समुच्चय के इन्हीं आठ द्रव्यों को व्यवहार में महारस वर्ग के नाम से जाना जाता है।

ग्रन्थानुसार रसवर्ग-सूचक तालिका (१)

क्रम०	द्रव्य-नाम	रसहृदयतन्त्र	गोरक्षसंहिता	रसरत्नसमुच्चय
१.	अभ्रक	—	+	+
२.	वैक्रान्त	+	+	+
३.	माक्षिक	+	+	+
४.	विमल	+	+	+
५.	शिलाजतु	+	+	+
६.	सस्यक	+	+	+
७.	चपल	—	—	+
८.	रसक	+	+	+
९.	कान्तलौह	+	—	—
१०.	हिंगुल	+	+	—

रसार्णव में—माक्षिक, विमल, शैल (शिलाजतु), चपल, रसक, सस्यक, हिंगुल, और स्रोतोञ्जन—इन आठ द्रव्यों को महारस में गिना गया है।[३]

रसेन्द्रचूडामणि में—अभ्रक, राजावर्त्त, वैक्रान्त, सस्यक, विमल, शिलाजतु, तुत्थ एवं माक्षिक—इन आठ द्रव्यों को गिनाया गया है।[४]

रसोपनिषत् में—माक्षिक, विमल, पारद, वैक्रान्त, सस्यक, चपल एवं शैल (शिलाजतु)—ये ७ महारस कहे गये है।[५]

१. 'रसाश्चाष्टौ समाख्याता अभ्रवैक्रान्तसस्यकाः।
शैलो विमलरसको दरदोऽष्टमः' ॥ (गोरक्षसंहिता भू० २।२०)
२. 'अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम् ।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाष्टौ संगृहेद्रसान्' ॥ (र० र० स० २।१)
३. 'माक्षिको विमलः शैलश्चपलो रसकस्तथा।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम् ॥
अष्टौ महारसाश्चैवमेतान् प्रथमतः शृणु'। (रसार्णव० ७।२)
४. 'महारसाः स्युर्घनराजवर्तवैक्रान्तसस्या विमलाद्रिजातेः।
तुत्थञ्च ताप्यञ्च रसायनास्ते सत्त्वानि तेषाममृतोपमानि' ॥ (र० चू० १०।१)
५. 'माक्षिको विमलश्चैव रसो वैक्रान्तमेव च।
सस्यकं चपलं शैलं सप्त एव महारसाः' ॥ (रसोपनिषत् ४।४)

रसप्रकाशसुधाकर में—अभ्रक, माक्षिक, वैक्रान्त, विमल, रसक, शिलाजतु, राजावर्त एवं सस्यक—ये आठ महारस कहे गये हैं।[१]

रसपद्धति में—वैक्रान्त, अभ्रक, शिलाजतु, चपल, माक्षिक एवं तुत्थ—ये छः महारस कहे गये हैं।[२]

आयुर्वेदप्रकाश में—केवल पारद को महारस कहा गया है। शेष सभी द्रव्य उपरस हैं।[३]

ग्रन्थानुसार महारस-दर्शक तालिका (२)

क्रम०	द्रव्यनाम	रसार्णव	र०चू०	र०र०स०	रसोपनि०	र०प्र०सु०	रसपद्धति	आ० प्र०
१.	पारद	—	—	—	+	—	—	+
२.	हिंगुल	+	—	+	—	—	—	+
३.	विमल	+	+	+	+	+	—	—
४.	सस्यक	+	+	+	+	+	—	—
५.	शिलाजतु	+	+	+	+	+	+	—
६.	चपल	+	—	+	+	—	+	—
७.	रसक	+	—	+	—	+	—	—
८.	अभ्रक	—	+	—	—	+	+	—
९.	तुत्थ	—	+	+	—	—	+	—
१०.	माक्षिक	+	+	+	+	+	+	—
११.	राजावर्त्त	—	+	—	—	+	—	—
१२.	अञ्जन	+	—	+	—	—	—	—
१३.	वैक्रान्त	—	+	—	+	+	+	—

(२) उपरस वर्ग—गन्धक, गैरिक, कासीस, फिटकिरी, हरताल, मनःशिला, अञ्जन और कङ्कुष्ठ—इन आठ द्रव्यों को उपरस कहते हैं।[४]

रसार्णव में—गन्धक, हरताल, मनःशिला, फिटकिरी, कासीस, गैरिक, राजावर्त्त और कंकुष्ठ—इन आठ द्रव्यों की उपरस में गणना की गयी है।[५]

१. 'क्रमेण गगनं ताप्यं वैक्रान्तं विमलं तथा।
रसकं शैलसम्भूतं राजावर्तकसस्यके ॥
एवं महारसाश्चाष्टावुदिता रसवादिभिः'। (र० प्र० सु० ५।१२)
२. 'वैक्रान्तं गगनं शिलाजचपलौ तापीजतुत्थे तु
षण्णाम्ना नाम महारसाः पुनरयं वैक्रान्तकः समधा'। (र० प० १।३८)
३. 'महारसा स एव स्याद् गन्धकाद्युपरसाः स्मृताः' ॥ (आ० प्र० २।३४७)
४. 'गन्धाश्मगैरिकासीसकाङ्क्षीतालशिलाञ्जनम्।
कङ्कुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारदकर्मणि' ॥ (र० र० स०३।१)
५. 'गन्धकस्तालकः शिला सौराष्ट्री खगगैरिकम्।
राजावर्त्तश्च कङ्कुष्ठं अष्टौ उपरसाः स्मृता' ॥ (रसार्णव० ७।५६)

Scanned with CamScanner

रसहृदयतन्त्र में—गन्धक, तालक, मनःशिला, स्फटिका, कासीस, गैरिक, कंकुष्ठ एवं अंजन—ये आठ द्रव्य हैं।

रसेन्द्रचूड़ामणि में—गन्धक, हरताल, फिटकिरी, मनःशिला, सौवीराञ्जन, कंकुष्ठ, कासीस एवं गैरिक—इन आठ द्रव्यों को उपरस कहा गया है।[1]

आयुर्वेदप्रकाश में—गन्धक, हिंगुल, अभ्रक, हरताल, मनःशिला, स्रोतोञ्जन, टंकण, राजावर्त्त, चुम्बक पत्थर, स्फटिका (फिटकिरी), शंख, खटिका (खड़िया मिट्टी), गैरिक (गेरू), कासीस, रसक (खपरिया), कपर्द (कौड़ी), सिकता (बालू), बोल और सौराष्ट्री (फिटकिरी बनाने वाली मिट्टी)—इन १९ द्रव्यों को उपरस में गिना गया है।[2]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र—कंकुष्ठ, वज्र, वैक्रान्त, भूनाग, शिलाजतु, सिन्दूर, समुद्रफेन एवं शम्बूक—इन आठ द्रव्यों को भी उपरस में पढ़ा गया है।[3]

रसहृदयतन्त्र, गोरक्षसंहिता, रसप्रकाशसुधाकर एवं रसरत्नसमुच्चय—ये सभी ग्रन्थकार उपरस के ८ द्रव्यों के प्रति एकमत हैं।

रसार्णव में—अञ्जन की जगह राजावर्त को शामिल किया गया है। शेष द्रव्य रसहृदयतन्त्र की तरह हैं।

रसोपनिषत् में—उपरस ७ गिनाये गये हैं। कंकुष्ठ को छोड़ शेष सभी द्रव्य रसहृदयतन्त्र के अनुसार हैं।

रसेन्द्रचूड़ामणिकार ने—रसहृदयतन्त्र के आठ में से अञ्जन के स्थान पर सुवीर (अञ्जन) को गिनाया है। इन्होंने भी कुल आठ उपरस माने हैं।

रसराजलक्ष्मी में—गन्धक, हरताल, मनःशिला, स्फटिका एवं गैरिक—इन ५ द्रव्यों को उपरस वर्ग में गिनाया है।

रसपद्धति में—गन्धक, हरताल एवं मनःशिला मात्र इन तीन द्रव्यों की उपरस में गणना की है।

१. 'गन्धाश्मतालतुवरीकुनटीसुवीरकङ्कुष्ठखेचरगैरिकनामधेयाः।
उक्ता बुधैरुपरसाश्च रसायनास्ते तैर्बद्धपारदवरो न रसायमः स्यात्' ॥
(र० चू० ११।१)

२. 'गन्धो हिङ्गुलमभ्रतालकशिलाः स्रोतोऽञ्जनं टङ्कणं
राजावर्तकचुम्बकौ च स्फटिका शङ्खः खटी गैरिकम्।
कासीसं रसकं कपर्दसिकताबोलाश्च कङ्कुष्ठकं
सौराष्ट्री च मता अमी उपरसाः सूतस्य किञ्चिद् गुणैः' ॥ (आ० प्र० २।१)

३. 'गन्धको वज्रवैक्रान्तौ सिन्दूरं बोलगैरिकम्।
समुद्रफेनः खटिकाद्वयं शम्बूकताक्ष्यंजौ ॥
कासीसं कान्तपाषाणो वराटीशुक्तिहिङ्गुलाः।
कङ्कुष्ठं शङ्खभूनागौ टङ्कणं च शिलाजतु ॥
उक्ता उपरसा एते द्रव्यनिर्णयकारिभिः' ॥ (आ० प्र० २।३४९)

रसेन्द्रसारसंग्रह में—गन्धक, हरताल, मनःशिला, कासीस, गैरिक, अंजन, वज्र वैक्रान्त, अभ्रक, खर्पर, तुत्थ, विमल, वराटिका, कान्तपाषाण, हिंगुल, शंख, भूनाग, टंकण, शिलाजतु एवं खटिका—इन २० द्रव्यों की उपरस में गणना की गयी है।

रसमञ्जरी में—भी उपरस २० गिनाये गये हैं। इसमें रसेन्द्रसारसंग्रह के गैरिक की जगह कंकुष्ठ को शामिल किया गया है।

आनन्दकन्द में—२३ उपरस माने गये हैं। इसमें रसहृदयतन्त्र के आठ के अतिरिक्त अभ्रक, खर्पर, तुत्थ, स्वर्णमाक्षिक, वराटिका, कान्तपाषाण, हिंगुल, शंख, भूनाग, टंकण, शिलाजतु, सिकता, सिन्दूर, समुद्रफेन एवं शम्बूक को शामिल किया गया है।

(३) साधारणरस वर्ग—कम्पिल्लक, गौरीपाषाण, नवसादर, कपर्द, अग्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल एवं मृद्दारशृंग (मुर्दाशंख)—ये आठ साधारणरस कहे गए हैं।[1]

(४) रत्न वर्ग—माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, तार्क्ष्य (पन्ना), पुष्पराग (पुखराज), वज्र (हीरा), नीलम, गोमेद एवं वैडूर्य—ये नौ रत्न कहलाते हैं।[2]

(५) उपरत्न वर्ग—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, पेरोजक, लाजवर्त और स्फटिक को उपरत्न कहा जाता है।[3]

(६) लोह वर्ग—प्राचीन काल में स्वर्ण, रजत आदि जिन्हें आज प्रचलित भाषा में धातु (Metal) कहते हैं, उनको 'लोह' तथा जिन खनिजों में किसी भी लोह का अंश विद्यमान हो, उनको धातु (लोह को धारण करने वाला Ore) कहते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र (आदि से अध्याय ३३) में सुवर्ण, रूप्य, ताम्र, तीक्ष्ण (अयस्), त्रपु (वंग), सीस (नाग) और वैकृन्तक—इन सात लोहों के खनिजों का स्वरूप बतलाकर उन्हें स्वर्णधातु, रूप्यधातु, तीक्ष्णधातु, ताम्रधातु, त्रपुधातु, सीसधातु और वैकृन्तकधातु—ये नाम दिये गये हैं। रसार्णव में सुवर्ण और रौप्य को शुद्धलोह,

१. 'कम्पिल्लश्चापरो गौरीपाषाणो नवसारकः।
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूरहिङ्गुलौ ॥
मृद्दारशृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः'।
रससिद्धिकराः प्रोक्ता नागार्जुनपुरस्सरैः ॥ (र० र० स० ३।१२६-२७)

२. 'माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि तार्क्ष्यं च पुष्पं भिदुरश्च नीलम्।
गोमेदकश्चाथ विदूरकश्च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम्' ॥
(र० र० स० ४।६)

३. 'वैक्रान्तं सूर्यकान्तश्च चन्द्रकान्तो नृपोपलः।
पेरोजकश्च स्फटिकं क्षुद्ररत्नगणो ह्ययम्' ॥ (र० त० २३।१५४)

Scanned with CamScanner

ताम्र और अयस् को साधारण लोह तथा नाग और वंग को पूति लोह नाम देकर छः प्रकार के अमिश्र लोहों का वर्णन किया गया है।[1]

सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, रांगा और सीसा—ये छः लोह अतिप्राचीन काल से भारतीयों को ज्ञात थे। बाद में रससिद्धों ने खर्पर से यशद निकाला जिसका लोक में प्रचार हुआ, तब उसे भी लोहधातु में स्थान मिला।[2] भारतीय रससिद्धों में स्रोतोञ्जन से वरनाग (Antimony), फिटकिरी से कांक्षीसत्त्व (Aluminium) और चपल से चपल सत्त्व (Bismuth या Selenium) भी प्राप्त किये। इनका प्रचार धातुवाद तक ही सीमित रहा। चिकित्सा-व्यवहार में इनका प्रचार नहीं हो पाया।

रसद्रव्यों का आधुनिक वर्गीकरण

वस्तुतः रसद्रव्यों का आधुनिक वर्गीकरण सर्वप्रथम रसतरंगिणी में उपलब्ध होता है। यह वर्गीकरण आधुनिक रसायनशास्त्र पर आधारित है। तत्पश्चात् रसामृत में यादवजी ने भी लगभग इसी क्रम को परिष्कृत कर अपनाया है। रसशास्त्र में पारद प्रधान द्रव्य है, अतः सर्वप्रथम पारद का वर्णन किया गया है। रसशास्त्र में पारद के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण द्रव्य गन्धक है, अतः इसका दूसरे स्थान पर स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। [यहाँ काल निर्णायक धातु हैं।]

रसतरंगिणी के अनुसार

रसतरंगिणीकार ने स्वतन्त्र रूप से पारद, गन्धक, हिंगुल एवं अभ्रक का वर्णन किया है। हरताल, मनःशिला, संखिया, फिटकिरी, खड़िया (खटिका), चूना, दुग्ध-पाषाण, गोदन्ती—इन आठ द्रव्यों को एक अध्याय के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। शंख, क्षुद्रशंख, शुक्ति, जलशुक्ति, वराटिका, शृंग, समुद्रफेन—इन सात जान्तव सुधावर्गीय द्रव्यों को एकत्र १२वें अध्याय में रखा है। १३वें अध्याय में यवक्षार, सर्जिकाक्षार एवं टंकण—इन तीन क्षारों को; १४वें अध्याय में नवसादर, सोरक (सूर्यक्षार), अपामार्ग, अर्क, तिल, स्नुही, पलास, चिञ्चादि क्षार तथा सैंधव, सामुद्र, विड, सौवर्चल एवं रोमक आदि लवणों को प्रस्तुत किया है।

धातुओं के नाम गिनाते हुए स्वर्ण, तार, ताम्र, वंग, नाग, यशद एवं लोह—ये सप्त धातु एवं इन्हें ही सप्त लोह भी कहा है। इन्हें पृथक्-पृथक् अध्यायों में प्रस्तुत किया है। ताम्र के अन्तर्गत भूनाग सत्त्व एवं मयूरपिच्छ सत्त्व को शामिल किया गया है। लोह के प्रकरण में मण्डूर को शामिल किया गया है। धातु के बाद २१वें अध्याय

[1] 'सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वङ्गं भुजङ्गमः।
लोहं तु षड्विधं प्रोक्तं यथा पूर्वं तदक्षयम्॥
तत्रादितः सुरेशानि ! सारं लोहद्वयं स्मृतम्।
साधारणे तीक्ष्णशुल्वे नागवङ्गौ तु पूतिकौ'॥ (रसार्णव० ७।९७-९८)

[2] 'सुवर्णं रजतं ताम्रं वङ्गं यशदसीसकम्।
लोहं चैते मताः सप्त धातवो गिरिसम्भवाः'॥ (आ० प्र०)

में उपधातु संज्ञा से—माक्षिक, तुत्थ, सिन्दूर, मुर्दाशंख, खर्पर, कान्तपाषाण एवं कासीस को सूचित किया गया है। मिश्रलोह संज्ञा से—पित्तल, कांस्य, अंजन (स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, पुष्पाञ्जन एवं तुहिनाञ्जन), शिलाजीत् एवं गैरिक का समावेश किया है। रत्नविज्ञानीय नाम से—नव महारत्न एवं क्षुद्ररत्न को पढ़ा गया है। विषोपविष में—विष के नौ भेद एवं ग्यारह उपविष को शामिल किया है। अन्त में सर्पविष को भी शामिल किया गया है। सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग, नाग, यशद और अयस् (लोहा) का लोहविज्ञानीय नामक अध्याय के अन्तर्गत इन सात लोहों का वर्णन किया गया है।

रसामृत में—पित्तल और कांस्य ये ताम्र प्रधान मिश्र लोह हैं, साथ ही माक्षिक (सुवर्णमाक्षिक), तुत्थ और जंगार (जंगाल) ये ताम्र के खनिज एवं यौगिक होने से इनका भी ताम्र के प्रकरण में वर्णन किया गया है।

नाग एवं नाग से बनने वाले या नाग के खनिज यौगिक—सिंदूर, मृद्दारशृंग (मुर्दाशंख) तथा सफेदा (नाग से निर्मित), सौवीराञ्जन, नीलाञ्जन आदि को नाग के प्रकरण में रखा गया है।

यशद, यशद निर्मित पुष्पाञ्जन तथा यशद का खनिज खर्पर—इन सबको यशद प्रकरण के अन्तर्गत रखा गया है।

मण्डूर, विमल, कासीस, गैरिक, अभ्रक, अयस्कान्त और शिलाजतु—ये सभी लोहे के यौगिक या खनिज हैं, अतः इन्हें लोह प्रकरण में स्थान दिया गया है।

मल्लविज्ञानीय अध्याय के अन्तर्गत मल्ल (संखिया) तथा मल्ल प्रधान यौगिकों यथा—हरताल एवं मनःशिला का वर्णन किया गया है।

सुधाविज्ञानीय अध्याय के अन्तर्गत सुधा (चूना) और सुधा-प्रधान खटिका, गोदन्ती एवं सफेद सुरमा का वर्णन किया गया है।

सिकताविज्ञानीय के नाम से सिकता (बालू) एवं सिकता-प्रधान यौगिक—दुग्ध-पाषाण (संगेजराहत), कौशयाश्म (एस्बेस्टस), जहरमोहरा और हजरूलयहूद का वर्णन किया गया है।

लवणक्षारविज्ञानीय नामक ७वें अध्याय में प्रचलित सैंधव, सामुद्र, रोमक, विड्, सौवर्चल, औद्भिद् आदि लवण, यवक्षार, सर्जिकाक्षार, टंकण, स्फटिका, पर्पटक्षार एवं सूर्यक्षार का वर्णन किया गया है।

रत्नविज्ञानीय नाम से वर्णित अध्याय में—माणिक्य, नीलम, पुष्पराग, गोमेद, वैदूर्य, तार्क्ष्य एवं वज्र ऐसे ७ रत्नों का तथा उपरत्नों के अन्तर्गत राजावर्त, संगे-यशब, अक्रीक, स्फटिक, सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, पिरोजा, वैक्रान्त एवं तृणकान्त (कहरुवा) नामक ९ उपरत्नों का वर्णन किया गया है।

रसद्रव्यों के वर्गीकरण का आधार

रसशास्त्र में तथा व्यवहार में रस शब्द से पारद का ग्रहण किया जाता है। रसशास्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सर्वगुण-सम्पन्न द्रव्य पारद ही है। अन्य सभी इसके

Scanned with CamScanner

सहयोगी द्रव्य हैं, जिनसे पारद और भी शक्तिसम्पन्न बनता है। ये द्रव्य पारद के जारण, बन्धन, रंजन, सारण, क्रामण आदि संस्कारों में उपयोगी होते हैं। इन समग्र सहयोगी द्रव्यों को महारस, उपरस, साधारणरस आदि वर्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस वर्गीकरण के पीछे निम्न कारण हो सकते हैं—

(१) रस (पारद) से महारस आदि का पार्थक्य तथा उपरस एवं साधारणरस आदि द्रव्यों से विशेष महत्त्व दिखलाने के लिए इस प्रकार का वर्गीय नामकरण किया गया है।

(२) रस-उपरस-साधारणरस के वर्ग-स्थापन में रसाचार्यों में मतैक्य नहीं है। अलग-अलग समय पर अलग-अलग आचार्यों ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर वर्ग निर्धारित किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

(३) पारदीय कर्मों में उपयोगिता एवं महत्त्व के आधार पर—जिससे पारद अधिक शक्तिशाली बन सकता है—महारस, उपरस एवं साधारणरस आदि का वर्गक्रम निर्धारित किया गया है।

महारस वर्ग

महारस शब्द खनिज स्रोत के द्रव्यों के एक वर्ग को सूचित करता है। इस वर्ग का सर्वप्रथम उल्लेख रसार्णव में मिलता है। तत्पश्चात् क्रमशः रसोपनिषत्, गोरक्ष-संहिता, रसेन्द्रचूड़ामणि, रसप्रकाशसुधाकर, रसरत्नसमुच्चय, रसपद्धति, रसराज-लक्ष्मी एवं आयुर्वेदप्रकाश आदि ग्रन्थों में। द्रव्य एवं उनकी संख्या के बारे में इन ग्रन्थों में एकरूपता नहीं है।

ग्रन्थानुसार महारस निम्नरूप में देखे जाते हैं—

१. **रसार्णव**—हिंगुल, विमल, सस्यक, शिलाजतु, चपल, रसक, माक्षिक एवं अञ्जन—कुल संख्या ८।

२. **रसोपनिषत्**—पारद, विमल, सस्यक, शिलाजतु, चपल, माक्षिक एवं वैक्रान्त—कुल संख्या ७।

३. **गोरक्षसंहिता**—हिंगुल, विमल, सस्यक, शिलाजतु, रसक, अभ्रक, माक्षिक एवं वैक्रान्त—कुल संख्या ८।

४. **रसेन्द्रचूड़ामणि**—विमल, सस्यक, शिलाजतु, अभ्रक, तुत्थ, माक्षिक, राजावर्त, एवं वैक्रान्त—कुल संख्या ८।

५. **रसप्रकाशसुधाकर**—विमल, सस्यक, शिलाजतु, रसक, अभ्रक, माक्षिक, राजावर्त एवं वैक्रान्त—कुल संख्या ८।

६. **रसरत्नसमुच्चय**—हिंगुल, विमल, सस्यक, चपल, रसक, तुत्थ, माक्षिक एवं अञ्जन—कुल संख्या ८।

७. **रसपद्धति**—शिलाजतु, चपल, अभ्रक, तुत्थ, माक्षिक एवं वैक्रान्त—कुल संख्या ६।

८. **रसराजलक्ष्मी**—पारद, हिंगुल, विमल, सस्यक, शिलाजतु, चपल, रसक, अभ्रक, तुत्थ, राजावर्त, अञ्जन, वज्र, वैक्रान्त, कान्तलौह एवं टंकण—कुल संख्या १५।

९. **आयुर्वेदप्रकाश**—पारद—मात्र १।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि महारस वर्ग के नाम से वर्णित द्रव्यों एवं उनकी संख्या में विभिन्न ग्रन्थों में मत-भिन्नता है।

रसहृदयतन्त्र, गोरक्षसंहिता एवं रसरत्नसमुच्चय में रसवर्ग के नाम से जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें भी लगभग ये ही सभी द्रव्य हैं। यथा—

१. **रसहृदयतन्त्र**—वैक्रान्त, कान्तलोह, सस्यक, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, हिंगुल एवं रसक—कुल संख्या ८।

२. **गोरक्षसंहिता**—अभ्रक, वैक्रान्त, सस्यक, शिलाजतु, विमल, रसक, माक्षिक एवं हिंगुल—कुल संख्या ८।

३. **रसरत्नसमुच्चय**—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, चपल एवं रसक—कुल संख्या ८।

विभिन्न ग्रन्थों में कहे गये रसद्रव्यों में किञ्चित् भिन्नता है, किन्तु आठ की संख्या सभी में समान है।

उपरोक्त भिन्नताओं के बावजूद वर्तमान में महारस के नाम से निम्न आठ द्रव्य ही पढ़े जाते हैं—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, शिलाजतु, सस्यक, चपल एवं रसक। यथा—

'अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम् ।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ सङ्ग्रहेद्रसान्' ॥

अभ्रक
(Mica)

नाम—संस्कृत : अभ्रकम्।
हिन्दी : अभ्रक।
अंग्रेजी : माइका (Mica)।

पर्याय—अभ्रक, गगन, भृंग, ख, व्योम, वज्र, घन, गिरिज, बहुपत्र, अनन्तक, आकाश, अम्बर, अमल, गरजध्वज, मेघ, अन्तरिक्ष[1] एवं गौरीतेज।[2]

इतिहास—अभ्रक का सर्वप्रथम उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र में मिलता है। यह काल ४थी शताब्दी ईसापूर्व का है। यहाँ खनिज द्रव्यों में वज्राभ्रक का उल्लेख

१. 'अभ्रकं गगनं भृङ्गमभ्रं खं व्योमनामकम्।
वज्रं घनञ्च गिरिजं बहुपत्रमनन्तकम् ॥
आकाशाम्बरं शुभ्रं त्वमलं गरजध्वजम्।
मेघाख्यमन्तरिक्षञ्च तदेव परिकीर्तितम्' ॥ (र० त० १०।१-२)
(र० र० स० २।२)
२. 'गौरीतेजः·····'।

Scanned with CamScanner

किया गया है। पारद से कृत्रिम स्वर्ण-निर्माण में अभ्रक का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में रसविद्ध स्वर्ण का उल्लेख अभ्रक के उस काल में उपयोग को प्रमाणित करता है। गौतमकृत न्यायदर्शन (३री शताब्दी) में काच, अभ्रक, स्फटिक आदि का उल्लेख किया गया है। ६ठी शताब्दी में लिखे गये अमरकोष में अभ्रक को 'गिरिजामल' कहकर सूचित किया गया है। रसशास्त्र में पारद को शिवबीज तथा गन्धक एवं अभ्रक को गौरीबीज की संज्ञा दी गई है। अभ्रक का रसवाद (देह-धातुवाद) में उपयोग रसशास्त्र के विकास के साथ ही हुआ है। पारद को शक्ति-सम्पन्न बनाने में अभ्रक का सबसे बड़ा योगदान होता है।

चिकित्सा में अभ्रक का सर्वप्रथम उपयोग अष्टांगहृदय (४थी से ६ठी शताब्दी) में कासीसादि तैल (अर्शचिकित्सा ८।१५-१) के रूप में बाह्य प्रयोगार्थ देखा जाता है; यथा—

'शिलाभ्रकाश्वमारञ्च जन्तु हृद्दन्ति चित्रकौ'।

प्राप्ति-स्थान—यह भारतवर्ष में कई स्थानों में प्राप्त होता है। राजस्थान के अजमेर एवं भीलवाड़ा जिलों में, तमिलनाडु के नेल्लोर एवं सलेम जिलों में, पंजाब के नूरपुर जिले में, उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले में तथा बिहार के हजारीबाग एवं गिरिडीह जिलों में। गिरिडीह की 'कोडरमा' अभ्रक खान विश्वप्रसिद्ध है। यह भारत के अतिरिक्त रूस, अमेरिका, कनाडा आदि देशों में भी पाया जाता है। गुणवत्ता की दृष्टि से भारतीय अभ्रक श्रेष्ठ माने जाते हैं।

स्वरूप—यह टेढ़े-मेढ़े आकार का बड़े-बड़े ढेलों के रूप में खान से प्राप्त होता है। इसके साथ मिट्टी-पत्थर आदि भी मिले होते हैं। कहीं-कहीं छः किनारों से युक्त पर्त-दार सफेद एवं चमकदार छीटे युक्त भी अभ्रक देखे जाते हैं। इसके पत्र पारदर्शक होते हैं।

वैज्ञानिक विवरण—अभ्रक को डबल सिलिकेट ऑफ अल्युमीनियम एण्ड पोटेशियम या सोडियम (Double silicate of aluminium and potassium or sodium) भी कहते हैं।

आधुनिक दृष्टि से इसे दो विभागों में बाँटा जाता है—

१. अल्कली माइका (Alkali mica)—इसे क्षारीय अभ्रक भी कहते हैं। क्योंकि इसमें क्षार-स्वभावी तत्त्व सोडियम एवं पोटाशियम पाया जाता है। इसका वर्ण प्रायः सफेद अथवा हल्के रंग का होता है।

२. फेरो मेग्नेशियम माइका (Ferro magnesium mica)—इसमें लोहा और मैग्नेशियम तत्त्व मुख्यरूप से होते हैं। इसका वर्ण लाल अथवा काला होता है।

रासायनिक दृष्टि से अभ्रक के ५ मुख्य भेद किये जाते हैं—

१. मस्कोवाइट (Muscovite)—श्वेत अभ्रक।
(White or potash mica)
$H_2 KAl_3 (SiO_4)_3$।

२. पैरागोनाइट (Paragonite)—श्वेत अभ्रक।
$H_2 Na Al_3 (SiO_4)_3$

३. फ्लोगोपाइट (Phlogopite)—रक्त अभ्रक।
(Magnesium or amber mica)
$[HK(MgF)]_3 Mg_3 Al(SiO_4)_3$

४. लेपिडोलाइट (Lepidolite)—पीत अभ्रक।
(Lithium or Ruby mica)
$KLi[Al(OHF)_2] Al(SiO_4)_3$

५. बायोटाइट (Biotite)—कृष्ण अभ्रक।
(Black mica–Magnesium–Iron mica)
$(H, K)_2 (Mg Fe)_2 (Al, Fe)_2 (SiO_4)_3$

इनमें मस्कोवाइट (Muscovite) एवं पैरागोनाइट (Paragonite) रंगहीन (श्वेत वर्ण का) तथा पारदर्शक होता है।

परिचय—अभ्रम एक जटिल संगठन वाला खनिज द्रव्य है। इसमें सिलिका के साथ-साथ मुख्य रूप से अल्युमीनियम, सोडियम, पोटाशियम, रूबीडियम, सीजियम, लीथियम, हाइड्रोजन, मैग्नेशियम, आयरन तथा अल्प मात्रा में क्रोमियम, मैंगनीज, बेरियम, फ्लोरीन एवं टेलरियम आदि तत्त्वों में से ५-६ तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक अभ्रक में पाये जाते हैं।

अभ्रक के परत आसानी से पृथक् किये जा सकते हैं। इसके पतले परत बड़े लचीले, स्थिति-स्थापक और कड़े होते हैं। परत दानेदार अणुओं से बने होते हैं।

अभ्रक का आपेक्षित घनत्व लगभग ३ और काठिन्य २·५ से ३ होता है। अभ्रक ताप और विद्युत् का चालक नहीं होता है। इसके सूक्ष्म चूर्ण का उपयोग पेण्ट और कागज-निर्माण में विशेषरूप से किया जाता है।

रस-ग्रन्थों में गन्धक एवं अभ्रक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि—देवी पार्वती के रज से गन्धक और शुक्र से अभ्रक की उत्पत्ति हुई है।[1] अर्थात् देवी पार्वती का रज (आर्त्तव) गन्धक है तथा शुक्रधातु अभ्रक है।

इस कथन को इस रूप में समझना चाहिए—पर्वत का विशेषण पार्वती (या पर्वतीय प्रदेश/भूगर्भिक प्रकृति) होता है। ज्वालामुखी से निकलने वाला भूगर्भिक लावा जिसे पर्वत का रज (आर्तव) कहा जा सकता है तथा शरीर में व्याप्त शुक्रधातु की तरह पर्वतीय प्रदेशों में फैले अभ्रक को समझा जा सकता है।

भू-गर्भ में प्रत्येक खनिज यौगिकों का निर्माण उसके घटक द्रव्य, विशिष्ट ताप एवं विशिष्ट दबाव के कारण होता है। अभ्रक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए।

१. 'देव्या रजो भवेद् गन्धो धातुः शुक्रं तथाऽभ्रकम्'। (र० र० स० २।२)

Scanned with CamScanner

अभ्रक-खनन—खानों से सवा हाथ चौडा और चार हाथ गहरा (पुरुष प्रमाण का) गड्ढा खोदकर उसके नीचे से अभ्रक ग्रहण करना चाहिए। यही सत्त्व-सम्पन्न एवं गुणवान् होता है। ऊपरी सतह से प्राप्त किया गया अभ्रक निःसत्त्व एवं निष्फल होता है।[1] गहराई से खोदकर प्राप्त किया गया अभ्रक श्रेष्ठ होता है।

अभ्रक के भेद—पिनाक, नाग, मण्डूक एवं वज्र—ये अभ्रक के चार भेद कहे गए है। श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण भेद से ये पुनः ४-४ प्रकार के होते हैं।[2]

अभ्रक में वर्ण की भिन्नता उसके रासायनिक संगठन के कारण होती है। यह लौह तत्त्व की अधिकता से काला, किंचित् अल्पता से लाल तथा अत्यल्पता से पीत वर्ण का होता है।

अभ्रक के लक्षण—

१. **पिनाक अभ्रक**—इसे अग्नि पर तपाने से इसके सूक्ष्मदल (पत्र) आसानी अलग-अलग हो जाते हैं। इसके सेवन से मलबद्धता (मलावरोध) उत्पन्न होती है और मनुष्य को मार डालती है।[3]

२. **नागाभ्रक**—अग्नि में तपाने से सर्प की भाँति फुत्कार शब्द उत्पन्न होता है। इसके सेवन से मण्डल आदि कुष्ठ उत्पन्न होते हैं।[4]

३. **मण्डूक अभ्रक**—इसको अग्नि में तपाने पर यह चटखता है तथा इसका दल उड़कर (उछलकर) अग्नि के बाहर चला जाता है। सेवन से यह अश्मरी रोग उत्पन्न करता है, जो मात्र शस्त्रसाध्य होता है।[5]

४. **वज्र अभ्रक**—इस अभ्रक को अग्नि पर तपाने पर यह सब विकृतियों से मुक्त निश्चल रहता है। इसके सेवन से यह देह और लोह दोनों प्रकार की सिद्धि को देने वाला होता है। समस्त व्याधियों को नष्ट करने वाला तथा सब में यही श्रेष्ठ होता है।[6]

उपरोक्त पिनाक, नाग, मण्डूक एवं वज्र आदि अभ्रक के भेद, उसके अग्नि-

१. 'राजहस्तादधस्ताद् यत्समानीतं घनं खनेः।
भवेत् तदुक्तफलदं निःसत्त्वं निष्फलं परम्' ॥ (र० र० स० २।३)

२. पिनाकं नागमण्डूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम्।
श्वेतादिवर्णभेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्' ॥ (र० र० स० २।४)

३. 'पिनाकं पावकोत्तप्तं विमुञ्चति दलोच्चयम्।
तत्सेवितं मलं बद्ध्वा मारयत्येव मानवम्' ॥ (र० र० स० २।५)

४. 'नागाभ्रं नागवत्कुर्यात् ध्वनिं पावकसंस्थितम्।
तद्भुक्तं कुरुते कुष्ठं मण्डलाख्यं न संशयः' ॥ (र० र० स० २।६)

५. 'उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मण्डूकं भ्रमातं पतति चाभ्रकम्।
तत्कुर्यादश्मरीरोगमसाध्यं शस्त्रतोऽन्यथा' ॥ (र० र० स० २।७)

६. 'वज्राभ्रं वह्निसन्तप्तं निर्मुक्ताशेषवैकृतम्।
देहलोहकरं तच्च सर्वरोगहरं परम् ॥ (र० र० स० २।८)

परीक्षणजन्य प्रतिक्रिया के आधार पर किया गया है। यह अग्नि पर देखी जाने वाली प्रतिक्रिया अभ्रक के विशिष्ट दलीय संघटन के कारण होती है। अभ्रक की रचना में ४ से ६ प्रतिशत तक जल का अंश रहता है। जब इसे तेज आँच पर गर्म किया जाता है तब वह भाप बनकर उड़ता है। गर्म होने पर जब यह अभ्रक से निकलने लगता है तब अभ्रक का दल (परत) खण्ड और कण के रूप में टूटता है। इस टूटने की क्रिया के समय अभ्रक की विशिष्ट रचना के कारण भिन्न-भिन्न लक्षण (प्रतिक्रिया) दिखलाई देते हैं। यदि रचना दलों, परतों के रूप में है तो जल-वाष्प उन परतों से निकल जाता है और अभ्रक के परत अलग हो जाते हैं। ('विमुञ्चति दलोच्चयम्')। जिसकी परत अत्यन्त मजबूती से जुड़ी होती है तथा दलों के बीच यदि उनमें सिरा जैसी कोई रचना होती है तो गर्म करने पर अन्दर का जल-वाष्प सिरा मार्ग से एक ही स्थान पर खुलने के कारण वेगपूर्वक फुस्स-फुस्स की आवाज करते हुए बाहर निकलता है, जो सर्प के फुत्कार का आभास कराता है। ऐसा नाग जाति के अभ्रक में देखा जाता है। मण्डूक जाति के अभ्रक में उसके दल छोटे-छोटे होते हैं और इसके गठन में कोई खास रचना भी नहीं होती। गर्म करने पर जलवाष्प किसी विशिष्ट दिशा में न निकलकर एकत्र होकर आन्तरिक दबाव बढ़ जाने पर तीव्र स्फोट के साथ इसका दल टुकड़े-टुकड़े होकर छूटकर अलग चूल्हे से बाहर गिरता है। यह क्रिया मेढ़क के कूदने जैसी होती है, अतः इसे मण्डूक जाति का अभ्रक कहते हैं।

वज्राभ्रक के दलों का गठन बहुत ढीला होने के कारण तपाने से उसमें का जलीयांश बड़ी आसानी से निकल जाता है। इसमें जल का अंश कम होता है तथा इसकी सच्छिद्र रचना के कारण जलवाष्प के निकलने के समय कोई प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती है।

श्वेतादि वर्ण-भेद से अभ्रक की उपयोगिता—**श्वेतवर्ण** अभ्रक श्वेतकर्म हेतु उपयोगी है। यहाँ श्वेतकर्म का तात्पर्य रजत आदि श्वेत उच्च धातु का निर्माण या श्वित्ररोग को नष्ट करना है। **रक्तवर्ण** का अभ्रक रक्तकर्म में उपयोगी है। यहाँ रक्त-कर्म से रक्तप्रसादन या लाल रक्तकणों की शरीर में वृद्धि करना समझना चाहिए। **पीतवर्ण** का अभ्रक पीतकर्म के लिए श्रेष्ठ है। पीतकर्म का अर्थ है—धातुओं में पीत-वर्ण उत्पन्न करना, कृत्रिम स्वर्ण का निर्माण करना या कामला आदि रोग जो शरीर में पीलापन उत्पन्न करता है, उसका नाश करना। यद्यपि चारों प्रकार का अभ्रक रसायन गुण वाला है, तथापि **कृष्णवर्ण का अभ्रक सबसे श्रेष्ठ तथा अन्य अभ्रकों से करोड़ों गुना अधिक गुणवाला होता है।**[1]

१. 'श्वेतं श्वेतक्रियासूक्तं रक्ताभं रक्तकर्मणि।
पीताभमभ्रकं यस्तु श्रेष्ठं तत् पीतकर्मणि ॥
चतुर्विधं वरं व्योम यद्यप्युक्तं रसायने।
तथाऽपि कृष्णवर्णाभ्रं कोटिकोटिगुणाधिकम्' ॥ (र० र० स० २।९-१०)

Scanned with CamScanner

उपरोक्त कथन से कृष्ण वज्राभ्रक की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अतः औषध कार्य के लिए इसी को ग्रहण करना चाहिए।

प्रशस्त अभ्रक के लक्षण—जो अभ्रक चिकना, मोटे दल वाला, उत्तम वर्ण से युक्त, भारयुक्त, आसानी से जिसका पत्र अलग किया जा सके, ऐसा अभ्रक प्रशस्त माना जाता है।[1]

नीले सुरमे के जैसे वर्ण का (नीलाञ्जन सदृश), चमकीला, वजनदार, सुखपूर्व पृथक् हो सकने योग्य पत्र वाला तथा कोमल अभ्रक श्रेष्ठ होता है।[2]

देश-भेद से अभ्रक का वैशिष्ट्य—हिमालय पर्वत की खान से प्राप्त होने वाला अभ्रक उत्तम माना जाता है। पूर्वीय देशों के पर्वतों से प्राप्त अभ्रक मध्यम तथा दक्षिणी पर्वतों से प्राप्त अभ्रक अधम होता है।[3]

अशोधित अभ्रक के दोष—विना शुद्ध किये (अशोधित) या चन्द्रिका युक्त अभ्रक का सेवन करने से शरीर में अनेक प्रकार के रोग; यथा—पार्श्वपीड़ा, शोथ, पाण्डुरोग और कुष्ठरोग उत्पन्न होते हैं। अतः भस्म, सत्त्व एवं धान्याभ्रक बनाने के लिए शुद्ध अभ्रक का ही उपयोग करना चाहिए।[4]

अभ्रक-शोधन—कृष्ण वज्राभ्रक को अग्नि में तपा-तपा कर काञ्जी, गोमूत्र, त्रिफला क्वाथ, बदरी पत्र एवं छाल का क्वाथ या गोदुग्ध—इनमें से किसी भी एक द्रव्य में ७ बार बुझा लेने से अभ्रक शुद्ध हो जाता है।[5]

उपरोक्त विधि से अभ्रक को तपाकर द्रव में बार-बार बुझा लेने से अभ्रक के

१. 'स्निग्धं पृथुदलं वर्णसंयुक्तं भारतोऽधिकम्।
सुखनिर्मोच्यपत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम्' ॥ (र० र० स० २।११)

२. 'नीलाञ्जनोपमं स्निग्धं भारपूर्णं महोज्ज्वलम्।
निर्मोच्यपत्रं मृदुलं त्वभ्रं श्रेष्ठमिहोच्यते' ॥ (र० त० १०।१३)

३. 'अभ्रकं हिमशैलोत्थमुत्तमं परिकीर्तितम्।
मध्यमं पूर्वशैलोत्थं त्वधमं दक्षिणाद्रिजम्' ॥ (र० त० १०।१४)

४. 'बाधां विदध्याद्विविधां शरीरे हृत्पार्श्वपीडां तनुते नितान्तम्।
शोफं क्षयं पाण्डुगदञ्च कुष्ठं त्वशोधिताभ्रं खलु मारितं यत् ॥
धान्याभ्रकरणे चैव मारणे सत्त्वपातने।
रसतन्त्रविशेषज्ञः शुद्धमभ्रं नियोजयेत्' ॥ (र० त० १०।१६-१७)

५. (क) 'प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं काञ्जिकेऽभ्रकम्।
निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वाऽपि गोजले ॥
त्रिफलाक्वथिते चापि गवां दुग्धे विशेषतः'। (र० र० स० २।१६)

(ख) 'अभ्रकं दहनोत्तप्तं सप्तवारं निषेचितम्।
बदरीक्वथिते पश्चात् पेषितं शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० १०।२१)

दलों का गठन ढीला हो जाता है, अभ्रक के पत्र अलग-अलग हो जाते हैं तथा कंकर, पत्थर, बालू आदि भी जो पत्रों के बीच पड़े रहते हैं, वे सब भी पत्र के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

धान्याभ्रक-निर्माण—शुद्ध अभ्रक एवं अभ्रक का ½ भाग धान (शालि) लेकर उसे कम्बल या बोरे के टुकड़े में पोट्टली की तरह बाँध कर जल या काञ्जी में ३ रात्रि-पर्यन्त डुबाकर छोड़ दें। पश्चात् पोट्टली का अच्छी प्रकार दृढ़ता से द्रव में ही मर्दन करें। अभ्रक का श्लक्ष्ण सूक्ष्म कण कम्बल के छिद्रों से बाहर द्रव में आ जायेगा। सम्पूर्ण अभ्रकचूर्ण के पोट्टली से बाहर आ जाने पर द्रव को स्थिर होने दें। स्थिर हो जाने पर सावधानीपूर्वक द्रव को निथार लें तथा पात्र के निम्न भाग में स्थित धान्याभ्रक को प्राप्त कर लें। इसे सुखाकर रख लें[1] एवं मारण के लिए उपयोग में लें।

धान्याभ्रक-निर्माण से अभ्रक का एक सदृश (Homogeneous) कण (चूर्ण) प्राप्त हो जाता है। कम्बल में कंकर, पत्थर एवं बालू आदि रह जाता है। धान की मजबूत नोंकदार रचना अभ्रक पत्र को पोट्टली के मर्दन के समय तोड़ती, खुरचती एवं नोचती है जिससे अभ्रक के छोटे-छोटे कण बनते चले जाते हैं एवं द्रव के मर्दन के समय कम्बल के छिद्रों से बाहर निकलते रहते हैं। क्रमशः सम्पूर्ण अभ्रक चूर्णरूप में बाहर आ जाता है और पोट्टली के अन्दर धान, कंकर, पत्थर एवं बालू आदि रह जाता है।

अभ्रक-मारण में पुट संख्या—साधारण रोगों को नष्ट करने के लिए (अभ्रक भस्म निर्माण के लिए) २० से लेकर १०० पुट, किन्तु रसायन-प्रयोग के लिए इसे १०० से लेकर १००० पुट तक देना चाहिए।[2]

अभ्रक-मारण—१. धान्याभ्रक को कासमर्द स्वरस से मर्दन कर चक्रिका (टिकिया) बना-सुखा कर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार १० पुट देने से अभ्रक का भस्म बन जाता है।[3]

१. (क) 'पादांशशालिसंयुक्तमभ्रकं कम्बलोदरे।
त्रिरात्रं स्थापयेन्नीरे तत् विलग्नं मर्दयेद् दृढम् ॥
कम्बलाद्गलितं श्लक्ष्णं बालुकारहितञ्च यत्।
तद्धान्याभ्रमिति प्रोक्तमभ्रमारणसिद्धये' ॥
(र० सा० सं० १।१५४)

(ख) 'चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि काञ्जिके।
निर्यातं मर्द्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते' ॥ (र० र० स० २।२१)

२. 'विंशत्यादिः शतान्तस्तु पुटो रोगनिवृत्तये।
शतादिस्तु सहस्रान्तः प्रशस्तश्च रसायने' ॥ (र० त० १०।२९)

३. 'धान्याभ्रं कासमर्दस्य रसेन परिमर्दितम्।
पुटितं दशवारेण म्रियते नात्र संशयः' ॥ (र० र० स० २।२२)

Scanned with CamScanner

२. इसी प्रकार अभ्रक को नागरमोथा या चौराई (तण्डुलीयक) के स्वरस में घोटकर १० पुट देने से अभ्रक का भस्म बन जाता है।[१]

३. वटमूलत्वक् क्वाथ, ताम्बूलपत्र स्वरस, वासापत्र स्वरस एवं मत्स्याक्षी स्वरस सम भाग, मत्स्याक्षी एवं करेले का स्वरस सम भाग तथा वटदुग्ध—इन द्रव्यों में से किसी भी द्रव्य से मर्दन कर चक्रिका बना २० बार गजपुट की अग्नि देने से सिन्दूर वर्ण का सुन्दर अभ्रक भस्म तैयार हो जाता है।[२]

४. धान्याभ्रक के समान भाग में गुड़ मिलाकर एरण्डपत्र स्वरस से भावित कर टिकिया बना-सुखाकर सम्पुट में बन्द कर तीन पुट देने से अभ्रक का निश्चन्द्र भस्म बन जाता है।[३]

५. हल्दी, आँवला स्वरस और टंकण के साथ अभ्रक को मर्दन कर टिकिया बना-सुखाकर सम्पुट में बन्द कर ६० पुट देने से सिन्दूर के वर्ण का अभ्रक भस्म बन जाता है।[४]

इसके अतिरिक्त पुनर्नवा, हंसपदी एवं आकदुग्ध की भावना देकर चक्रिका बनाकर अर्धगजपुट या गजपुट की १० से १०० पुट देने से अभ्रक का उत्तम भस्म बन जाता है।

अभ्रक भस्म के लक्षण (अभ्रक भस्म परीक्षा)—अभ्रक भस्म निश्चन्द्र, अञ्जन-सदृश सूक्ष्म एवं अरुण वर्ण (लाल वर्ण) का होना चाहिए[५]।

चन्द्रिका रहित, लालवर्ण का अत्यन्त सूक्ष्म, स्पर्श में कोमल होना मृत अभ्रक के लक्षण हैं[६]।

अभ्रक भस्म का निश्चन्द्र होना प्रधान लक्षण है। चन्द्रिका युक्त (चमक युक्त) अभ्रक भस्म विषवत् समझा जाता है। अभ्रक भस्म का वर्ण इष्टिकावर्ण सदृश

१. 'तद्वन्मुस्तारसेनापि तण्डुलीयरसेन च'। (र० र० स० २।२२)

२. 'वटमूलत्वचः क्वाथैस्ताम्बूलीपत्रसारतः।
वासामत्स्याक्षिकाभ्यां वा मीनाक्ष्या सकठिल्लया॥
पयसा वटवृक्षस्य मर्दितं पुटितं घनम्।
भवेद्विंशतिवारेण सिन्दूरसदृशप्रभम्'॥ (र० र० स० २।२४-२५)

३. 'गन्धर्वपत्रतोयेन गुडेन सह भावितम्।
अधोर्ध्वं वटपत्राणि निश्चन्द्रं त्रिपुटैः क्षमम्'॥ (र० र० स० २।२६)

४. 'पीतामलकसौभाग्यपिष्टं चक्रीकृताभ्रकम्।
पुटितं षष्ठीवाराणि सिन्दूराभं प्रजायते'॥ (र० र० स० २।२३)

५. 'निश्चन्द्रकं सुसूक्ष्मं च लोचनाञ्जनसन्निभम्।
तदा तु मृतमित्युक्तमभ्रकं नान्यथा मृतम्॥
मृतं निश्चन्द्रतां यातमरुणं चामृतोपमम्'॥ (आ० प्र० २।१०४-५)

६. 'निश्चन्द्रचारुणं स्वच्छं सुसूक्ष्मं स्पर्शकोमलम्।
अभ्रं मृतं विजानीयाद्रसतन्त्रविचक्षणः'॥ (र० त० १०।५५)
जायते ह्यरुणं चाति भस्म वज्राभ्रकोद्भवम्'॥ (आ० प्र० २।१३४)

लालवर्ण का होना चाहिए ('अभ्रकं चेष्टिकाभ स्यात्')। इसके अतिरिक्त भस्म के अन्य सभी सामान्य लक्षण, यथा—निश्चन्द्र, रेखापूर्ण, वारितर, श्लक्ष्ण, सूक्ष्म, मृदु, स्वादरहित, निर्धूम, अपुनर्भव, निरुत्थ, लघु एवं दन्ताग्र पर कच-कच की अनुभूति से रहित भी होना चाहिए। ऐसा भस्म उत्तम माना जायेगा।

अभ्रक भस्म लोहितीकरण—अभ्रक भस्म को मारक औषधियों से भावित कर पुट देने पर भी यदि उत्तम लालवर्ण उत्पन्न न हुआ हो तो उसे गंगेरन, नागरमोथा, वटदुग्ध एवं वटमूल स्वरस, हरिद्रा स्वरस और मञ्जिष्ठा या लज्जालु के क्वाथ या स्वरस में मर्दन कर दो से तीन पुट देने से वह निश्चन्द्र, कोमल एवं लाल कमल सदृश वर्ण वाला भस्म हो जाता है।[१]

उपरोक्त हरिद्रा, मञ्जिष्ठा, वटमूलत्वक् स्वरस आदि से भावित कर २-३ पुट दे देने से अभ्रक भस्म में अपेक्षित लालवर्ण विकसित हो जाता है।

लोहितीकरण—रक्तवर्ण उत्पन्न करने के लिए भस्म में जो क्रिया की जाती है, उसे लोहितीकरण कहते हैं।

अभ्रक भस्म अमृतीकरण—(१) १० भाग अभ्रक भस्म, १६ भाग त्रिफला क्वाथ और ८ भाग गोघृत को एकत्र लोहे की कड़ाही में मिलाकर मन्दाग्नि पर पका लेने से अभ्रक भस्म का अमृतीकरण हो जाता है।[२]

(२) कुमारी स्वरस, चौलाई-स्वरस अथवा मोथा तथा गोघृत—इन्हें क्रमशः अभ्रक से सोलहवाँ, दसवाँ और बारहवाँ भाग लेकर एक साथ मन्द अग्नि पर एक लोहे की कड़ाही में पका लेने से अभ्रक का उत्तम अमृतीकरण हो जाता है।[३]

(३) अभ्रक भस्म एवं गोघृत दोनों समान भाग में लेकर लोहे की कड़ाही में मन्द अग्नि पर पाक कर घृत को जीर्ण करें। सम्पूर्ण घृत के जल जाने पर अभ्रक का अमृतीकरण हो जाता है।[४]

१. 'गाङ्गेरुकी भद्रमुस्ता वटक्षीरन्तथैव च।
वटमूलजलं वापि हरिद्राया द्रवस्तथा॥
समङ्गाक्वथितञ्चैव घनमेभिः सुपेषयेत्।
पुटद्वयं त्रयं वापि वितरेद्भिषजां वरः॥
निश्चन्द्रिकञ्च मृदुलं रक्तोत्पलसमप्रभम्'। (र० त० १०।६५-६७)

२. 'मारितं त्वतियत्नेन दशभागिकमभ्रकम्।
त्रिफलाक्वथितं चैव नवं षोडशभागिकम्॥
नागभागिकमुख्याज्यं दत्त्वा लोहस्य भाजने।
पाचनाज्जायते रम्यममृतीकरणं वरम्'॥ (र० त० १०।६८-६९)

३. 'कन्याम्बुमेघगव्याज्यं कलादिक् तपनांशकम्।
पचेन्मन्दानलेनैतदमृतीकरणं वरम्'॥ (र० त० १०।७०)

४. 'मृताभ्रसम्मितं गव्यमाज्यं दत्त्वाभ्रकं पचेत्।
अमृतीकृतमेवन्तु धनं कार्येषु योजयेत्'॥ (र० त० १०।७१)

Scanned with CamScanner

अमृतीकरण—लोहादि द्रव्यों में मारण करने के पश्चात् भी जो कुछ दोष अवशिष्ट रह जाता है उसे दूर करने के लिए जो संस्कार किया जाता है, उसे अमृतीकरण कहते हैं[१]। अमृतीकरण से गुण की वृद्धि तथा वर्ण की हानि होती है[२]।

अभ्रक भस्म में अधिक गुणाधान की दृष्टि से १००० तक पुट की कल्पना की गई है। अत्यधिक अग्नि-सम्पर्क से उसमें उष्णता, तीक्ष्णता, रूक्षता आदि गुणों की वृद्धि हो जाती है। इन सबका शमन अमृतीकरण से हो जाता है।

अभ्रक भस्म के गुण—अभ्रक भस्म अत्यन्त शीतवीर्य, स्वादुरस, स्निग्ध, अमृत के समान तथा आयु, बल एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला होता है। यह उत्तम वाजीकर एवं रसायन है तथा कास, श्वास, पाण्डुरोग (रक्ताल्पता), क्षय, जीर्णज्वर, प्रमेह, परिणामशूल, अम्लपित्त, ग्रहणीरोग, श्वेतप्रदर, अपची, शोथ, अर्श, शीतपित्त एवं भ्रम को नष्ट करने वाला होता है। यह केश्य, नेत्र्य, वर्ण्य, स्तन्य, हृद्य, वृष्य एवं त्वच्य है। यह दीपन, पाचन, रुचिवर्द्धक तथा वात, पित्त एवं कफ का नाशक है। अनुपान-भेद से यह सम्पूर्ण रोगों का नाश कर शरीर को स्थिर रखने वाला तथा पारद का बन्धन करने वाला होता है[३]।

अशुद्ध एवं अपक्व अभ्रक भस्म सेवन के दोष—

अशुद्ध अभ्रक भस्म सेवन के दोष—शुद्ध अभ्रक द्वारा निर्मित अभ्रक भस्म सेवन से कुष्ठ, क्षय, पाण्डु, शोथ, हृदय एवं पार्श्व में वेदना उत्पन्न होती है। यह अग्नि को मन्द करने वाला एवं गुरु होता है तथा कफ एवं वायु को बढ़ाता है[४]।

१. 'लोहादीनां मृतानां वै शिष्टदोषापनुत्तये।
क्रियते यस्तु संस्कार अमृतीकरणं मतम्' ॥ (र० त० २।५८)
२. 'अरुणभस्मनस्तु पुनरमृतीकरणेन गुणवृद्धिर्वर्णहानिश्च भवति'।
(आ० प्र० २।१३५)
३. (क) 'गौरीतेजः परममृतं वातपित्तक्षयघ्नम्।
प्रज्ञाबोधि प्रशमितरुजं वृष्यमायुष्यमग्र्यम् ॥
बल्यं स्निग्धं रुचिदमकफं दीपनं शीतवीर्यम्।
तत्तद्योगैः सकलगदहृद्वच्मि सूतेन्द्रबन्धि' ॥ (र० र० स० २।२)
(ख) 'अभ्रं स्निग्धं परमशिशिरं स्वादु चायुष्यमग्र्यम्।
केश्यं वर्ण्यं रुचिकरमलं दीपनं चातिबल्यम् ॥
नेत्र्यं मेधां जनयतितरां स्तन्यसंवर्द्धनञ्च।
क्षेत्रे स्थैर्य्यं वितरति परं दीपनं पुष्पकेतोः' ॥ (र० त० १०।७२)
(क) 'पीड़ा विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदं च शोथम्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यशुद्धमभ्रं हि तद्वद्गुरुवह्निहृत्स्यात्' ॥
(आ० प्र० २।१०३)
(ख) 'अशुद्धाभ्रं निहन्त्यायुर्वर्द्धयेन्मारुतं कफम्'। (र० सा० सं० १।१५२)

अपक्व अभ्रक भस्म सेवन के दोष—अपक्व एवं चन्द्रिकायुक्त अभ्रक भस्म विष, वज्र, अग्नि एवं शस्त्र की भाँति प्राणहर है[१]। यह अग्नि को मन्द करने वाला है तथा प्रमेह को उत्पन्न करता है[२]। चन्द्रिका युक्त अभ्रक भस्म बाघ के रोयें की भाँति आन्त्र में छिद्रकर (छिद्रोदर) रोगी को मार डालता है[३]।

अशुद्ध एवं अपक्व अभ्रक भस्म सेवन जनित दोष का निवारण—उमाफल (अतसी बीज) को जल में पीसकर तीन दिन तक सेवन करने से अशुद्ध एवं अपक्व अभ्रक भस्म के सेवन से उत्पन्न दोष का निवारण हो जाता है[४]।

अभ्रक भस्म की मात्रा—१ से २ रत्ती, २ से ३ वार।

अनुपान—शहद, घृत, मक्खन एवं विविध रोगहर वानस्पतिक स्वरस आदि।

अभ्रक सत्त्वपातन—अभ्रक में चौथाई भाग टंकण (सुहागा) मिलाकर मुसली रस से मर्दनकर टिकिया बनाकर सुखा लें। अब इसे मूषा में रखकर कोष्ठिका यन्त्र द्वारा तीव्र धमन करने से अभ्रक का लोहे जैसा सत्त्व निकल आता है[५]।

अभ्रक सत्त्व शोधन—त्रिफला क्वाथ, वटमूल क्वाथ या काञ्जी में सात वार गर्म कर बुझा लेने से अभ्रक सत्त्व शुद्ध हो जाता है[६]।

अभ्रक सत्त्व मारण—शुद्ध अभ्रक सत्त्व से आधा भाग कज्जली लेकर एकत्र घोंटकर कूपीपक्व-विधि या पुट-विधि द्वारा पाक करने से अभ्रक सत्त्व का भस्म बन जाता है। इसमें कम-से-कम सात पुट की अग्नि देते हैं[७]।

अभ्रक सत्त्व भस्म के गुण—सत्त्व भस्म शीतवीर्य, मधुररस एवं स्निग्ध होता है। यह रुचिकारक, केश्य, आयुष्य, त्रिदोषघ्न एवं उत्तम रसायन एवं वाजीकरण है[८]।

१. 'यथाविषं यथावज्रं शस्त्राग्निः प्राणहा भवेत्।
भक्षितं चन्द्रिकायुक्तमभ्रकं तादृशं गुणैः' ॥ (र० प्र० सु० ५।१५)
२. 'सेवितं चन्द्रसंयुक्तं मेहं मन्दानलं चरेत्'। (र० र० स० २।१३)
३. 'सचन्द्रं विषवज्जेयं मृत्युकृद् व्याघ्रलोमवत्'। (आ० प्र० २।१०५)
४. 'उमाफलं जले पिष्ट्वा सेवते यो दिनत्रयम्।
अशुद्धाभ्रकदोषेण विमुक्तः सुखमेधते' ॥ (र० ज० नि०)
५. 'पादांशटङ्कणोपेतं मुसलीरसमर्दितम्।
रुन्ध्यात्कोष्ठ्यां दृढं ध्मातं सत्त्वरूपं भवेद्घनम्' ॥ (र० र० स० २।२८)
६. 'त्रिफलासलिले वापि वटमूलकषायतः।
अम्लेन काञ्जिकैर्वापि खसत्त्वं शोधयेद्भिषक्' ॥ (र० त० १०।१०३)
७. 'द्वौ भागौ घनसत्त्वस्य भागश्च रसगन्धयोः।
श्लक्ष्णपिष्टं ततः कृत्वा सप्तवारं प्रयत्नतः ॥
गोमयाग्नौ पचेत्प्राज्ञः खसत्त्वस्य मृतिर्भवेत्' । (र० त० १०।११०-१११)
८. 'अभ्रसत्त्वं सुशिशिरं मधुरं रुचिरं परम्।
सुस्निग्धं केश्यमायुष्यं त्रिदोषघ्नं रसायनम्' ॥ (र० त० १०।११)

Scanned with CamScanner

अभ्रक भस्म का रासायनिक विश्लेषण
(Analytical report of Abhraka Bhasma)

Quantitative : Content	Percentage
Silica (SiO_2)	36·00%
Allumina (Al_2O_3)	27·6%
Ferric Oxide (Fe_2O_2)	12·8%
Potash (K_2O)	13·17%
Lime (CaO)	5·0%
Soda (Na_2O)	3·0%
Mognesia (MgO)	1·92%
Chloride	·1%
Phosphate	·01%
Moisture	·4%

अभ्रक भस्म के कुछ प्रमुख योग—

१. आरोग्यवर्द्धनी वटी ।
२. पञ्चामृत पर्पटी ।
३. गगन पर्पटी ।
४. पूर्णचन्द्र रस ।
५. वृ० शृंगाराभ्र रस ।
६. योगेन्द्र रस ।
७. वृ० कस्तूरीभैरव रस ।
८. वृ० वातचिन्तामणि रस ।
९. वसन्तकुसुमाकर रस ।
१०. श्वासकासचिन्तामणि रस ।

वैक्रान्त
(Manganese or Tourmaline)

वर्ग—महारस वर्ग, उपरत्न वर्ग ।

नाम—**संस्कृत** : वैक्रान्त । हिन्दी : वैक्रान्त । अंग्रेजी : Tourmaline.

पर्याय—वैक्रान्त, विक्रान्त, जीर्णवज्रक, कुवज्रक, क्षुद्रकुलिश एवं चूर्णवज्र ।[1]

इतिहास—सर्वप्रथम इसका उल्लेख वैकृन्तक धातु के नाम से कौटिल्ल अर्थशास्त्र में मिलता है । यहाँ सुवर्ण, रूप्य, ताम्र, सीस, त्रपु, तीक्ष्ण और वैकृन्तक—इन सात लोहों के खनिजों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र (अध्याय ३३) में किया गया है । यहाँ वैकृन्तक धातु का वर्णन करते हुए कहा गया है—'काकाण्ड-भूर्जपत्रवर्णो वा वैकृन्तक धातुः' । तत्पश्चात् रसहृदयतन्त्र से लेकर क्रमशः सभी रसग्रन्थों में इसका उल्लेख महारस वर्ग एवं उपरत्न वर्ग के अन्तर्गत मिलता है ।

१. 'वैक्रान्तञ्चैव विक्रान्तं वैक्रान्तं जीर्णवज्रकम् ।
कुवज्रं क्षुद्रकुलिशं चूर्णवज्रञ्च तन्मतम्' ॥ (र० त० २३।१५५)

वैक्रान्त की उत्पत्ति का पौराणिक इतिहास—रसरत्नसमुच्चयकार के अनुसार दुर्गादेवी ने त्रिशूल से जब दैत्यराज महिषासुर का वध किया, तब पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ उसका रक्त गिरा, वहाँ-वहाँ वैक्रान्त की उत्पत्ति हुई । यह विन्ध्य पर्वत के दक्षिण एवं उत्तर में सर्वत्र पाया जाता है ।[1]

निरुक्ति—'विकृन्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः' । 'कृन्त' धातु का प्रयोग छेदन के अर्थ में होता है । अर्थात् जो लोहादि धातुओं को काटे वह वैक्रान्त होता है । यहाँ धातुओं को काटने का तात्पर्य धातुओं के खनिजों से धातुओं को पृथक् करना भी माना जाता है । कड़ी आँच में खनिजों के साथ स्वयं पिघलकर खनिजों की अशुद्धियों और अपद्रव्यों को पिघलाकर अपने द्रव में घुला लेता है और खनिज में से धातु द्रव के रूप में पृथक् हो जाता है । धातु से मैल (अपद्रव्यों) को पृथक् कर देता है । इसकी निरुक्ति इस प्रकार भी की जाती है—'विक्रामयति लोहानि' । इसका तात्पर्य भी खनिज से धातु को गलाकर पृथक् करना है । अत्यधिक काठिन्य के कारण अपनी रगड़ से धातुओं को, लोहों को काटे या बिगाड़ दे—ऐसा भी अर्थ किया जाता है । इसके अतिरिक्त इसकी रोगहारक क्षमता के आधार पर भी इसकी निरुक्ति की जाती है । यथा—'विकृन्तयति रोगाणि इति वैक्रान्तः' अर्थात् यह सम्पूर्ण रोगों का नाश करता है, अतः इसे वैक्रान्त कहते हैं । अथवा 'वज्रवत् सर्वरोग-हरणायातुलां विक्रान्ति धत्ते यतस्तस्मात् वैक्रान्तमिति' अर्थात् वैक्रान्त सब रोगों को नष्ट करने की अनुपम शक्ति रखता है, अतः इसे वैक्रान्त शब्द से कहा जाता है ।[2] 'वैकृन्तीतीरसम्भूतो रसो वैक्रान्तको स्मृतः' अर्थात् वैकृन्ती नदी के तट के आस-पास उपलब्ध होने से वैक्रान्त कहा जाता है ।

वैक्रान्त का स्वरूप—वैक्रान्त आठ किनारे (आठ आस्र) वाला, आठ फलक (अष्ट फलक या आठ पहलू) और छः कोणयुक्त (षट्कोण), भारी एवं चिकना, शुद्ध एवं मिश्रित वर्ण से युक्त होता है ।[3]

वैक्रान्त के भेद—रसार्णव एवं रसमञ्जरी में इसके सात भेद बतलाये गये हैं । यथा—

१. 'दैत्येन्द्रो माहिषः सिद्धः सहदेवसमुद्भवः ।
दुर्गा भगवती देवी तं शूलेन व्यमर्दयत् ।
तस्य रक्तं तु पतितं यत्र-यत्र स्थितं भुवि ।
तत्र-तत्र तु वैक्रान्तं वज्राकारं महारसम् ॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे ह्युत्तरे वाऽस्ति सर्वतः' ॥ (र० र० स० २।५८-६०)
२. 'वज्रवत् सर्वरोगाणां हरणाय यतुस्त्विदम् ।
धत्ते विक्रान्तिमतुलां वैक्रान्तं कथ्यते ततः' ॥ (र० त० १३।१५६)
३. 'अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः ।
शुद्धमिश्रितवर्णश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते' ॥ (र० र० स० २।५३)

Scanned with CamScanner

१. श्वेत, २. रक्त, ३. पीत, ४. नील, ५. पारावत प्रभ, ६. श्याम एवं ७. कृष्ण।

रसेन्द्रचूणामणि एवं रसरत्नसमुच्चय में आठवाँ भेद कर्बुर बतलाया गया है।[1]

रसरत्नसमुच्चय में पुनः वैक्रान्त के सात भेद किये गये हैं; यथा—१. श्वेत, २. पीत, ३. रक्त, ४. नील, ५. पारावत प्रभ, ६. मयूरकण्ठ सदृश (नील) ७. मरकत प्रभ (हरित)[2]।

ग्राह्याग्राह्यत्व—कृष्णवर्ण के वैक्रान्त को देहसिद्धिकर, पीतवर्ण वैक्रान्त को पीतकर्म (स्वर्ण-निर्माण) में उपयोगी, श्वेत वर्ण को श्वेत कर्म (रजत-निर्माण) में उपयोगी, मरकत वर्ण एवं रक्तवर्ण को सभी प्रकार की सिद्धि देने वाला तथा शेष दो—नील एवं पारावत प्रभ को निष्फल एवं त्याज्य कहा गया है।[3]

टूर्मेलीन (Tourmeline) ($K_2O\ Al_2\ O_3\ 6\ SiO_2$ या $KAl\ Si_3O_8$) का काठिन्य ७ से ७·५ तथा आपेक्षिक घनत्व ३ से ३·२ होता है।

इसके तीन भेद पाये जाते हैं—१. अल्कली टूर्मेलीन, २. मैग्नेशियम टूर्मेलीन, तथा ३. आयरन टूर्मेलीन।

१. अल्कली टूर्मेलीन में सोडियम, पोटेशियम और लिथियम आदि क्षार स्वभावी धातु कुछ अंश में पाये जाते हैं।

२. मैग्नेशियम टूर्मेलीन में अल्युमिनियम और मैग्नेशियम के अंश पाये जाते हैं।

३. आयरन टूर्मेलीन में लोहा एवं अल्युमिनियम पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

कुछ टूर्मेलीन में तीनों भेद साथ-साथ पाये जाते हैं। वर्तमान समय में वैक्रान्त के नाम से ४ प्रकार के पाषाण खण्डों का उपयोग देखा जाता है। यथा—

1. Tourmeline.
2. Flourspar.
3. Calcium florite.
4. Rock crystal.

Tourmeline को शोभामणि भी कहते हैं। यह अत्यन्त सुन्दर रत्न है।

प्राप्ति-स्थान—विहार में अभ्रक की खानों से, अभ्रक की चट्टानों से तथा वर्मा में माणिक्य की खानों से प्राप्त होता है।

१. 'श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः'॥ (र० र० स० २।५४)

२. 'श्वेतः पीतस्तथा रक्तो नीलः पारवतप्रभः।
मयूरकण्ठसदृशश्चान्यो मरकतप्रभः'॥ (र० र० स० २।६१)

३. 'देहसिद्धिकरं कृष्णं पीते पीतं सिते सितम्।
सर्वार्थसिद्धिदं रक्तं तथा मरकतप्रभम्।
शेषे द्वे निष्फले वर्ज्ये वैक्रान्तमिति सप्तधा'॥ (र० र० स० २।६२-६३)

उपयोग—१. ग्रहों को प्रसन्न करने के लिए धारण हेतु।

२. औषधि के रूप में वज्र के अभाव में वैक्रान्त का उपयोग करने का निर्देश किया गया है।

३. धातुयुक्त खनिज से धातु को पृथक् करने के लिए।

वैक्रान्त-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध वज्र एवं वैक्रान्त के सेवन से यह किलास, कुष्ठ, दाह, पार्श्वपीड़ा एवं पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है, अतः इसका शोधन करके ही भस्म-निर्माण करना चाहिए।[1]

वैक्रान्त-शोधन—१. वैक्रान्त को काञ्जी आदि अम्ल में अथवा मूत्रों में अथवा कुलथी के काढ़े में अथवा केले की जड़ के स्वरस में अथवा कोदों के क्वाथ में अथवा सज्जीक्षार, यवक्षार, टंकण तथा पाँचों नमक—इन सबको मिलाकर दोला यन्त्र द्वारा तीन दिन तक स्वेदन करने से अथवा केवल कुलथी के ही क्वाथ में तीन दिन तक स्वेदन करने से वैक्रान्त शुद्ध हो जाता है।[2]

२. वैक्रान्त को प्रतप्त कर २१ बार अश्व-मूत्र में सेचन (बुझाना) करने से शुद्ध हो जाता है।[3]

वैक्रान्त का मारण—१. शुद्ध वैक्रान्त को समभाग गन्धक के साथ नींबू स्वरस में घोंटकर आठ गजपुट की अग्नि देने से उसकी रक्ताभ भस्म बन जाती है।[4]

२. वैक्रान्त को सर्वप्रथम खूब प्रतप्त कर बार-बार उस पर अश्वमूत्र का सेचन करें। पुनः अश्वमूत्र से ही उसे भावित कर भस्म होने तक पुट देते रहें। इस भस्म का वज्र भस्म के स्थान पर उपयोग करें।[5]

वैक्रान्त भस्म के गुण—वैक्रान्त भस्म आयु, बल और शरीर के वर्ण को बढ़ाने वाली, अत्यन्त वृष्य, बुद्धिवर्द्धक, वातादि तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाली, जठराग्नि को दीप्त करने वाली, हीरे के समान गुण वाली तथा शरीर को लोह सदृश दृढ़ करने वाली होती है। वैक्रान्त सभी रसायनों में अग्रगण्य, प्रभावशाली, सभी दोषों को शमन करने वाला, वज्रभस्म के स्थान पर

१. 'अशुद्धौ वज्रवैक्रान्तौ किलासं दाहसन्ततिम्।
पार्श्वपीडां तथा पाण्डुं कुरुतस्तौ विशोधयेत्'॥ (आ० प्र० ५।१६८)

२. 'वैक्रान्तकाः स्युस्त्रिदिनं विशुद्धाः संस्वेदिताः क्षारपटूनि दत्त्वा।
अम्लेषु मूत्रेषु कुलत्थरम्भानीरेऽथवा कोद्रवपारिपक्वाः'॥
कुलत्थक्वाथसंस्विन्नो वैक्रान्तः परिशुध्यति'॥ (र० र० स० २।६५-६६)

३. 'हयमूत्रेण तत्सेच्यं तप्तं तप्तं त्रिसप्तधा'। (रसेन्द्रचि० ७।६३)

४. 'म्रियतेऽष्टपुटैर्गन्धनिम्बुकद्रवसंयुतः'। (र० र० स० २।६७)

५. 'वैक्रान्तेषु च तप्तेषु हयमूत्रं विनिक्षिपेत्।
पौनःपुन्येन वा कुर्याद् द्रवं दत्त्वा पुटं त्वनु॥
भस्मीभूतं तु वैक्रान्तं वज्रस्थाने नियोजयेत्'॥ (र० र० स० २।६७-६८)

Scanned with CamScanner

प्रयोग करने योग्य होता है। वज्र के ही समान शरीर को लोह सदृश दृढ़ बनाने वाला तथा लोहसिद्धि देने वाला, विष, ज्वर, कुष्ठ और क्षय का नाश करने वाला होता है। यह रसों का राजा अर्थात् सम्पूर्ण रसों में श्रेष्ठ है।[1] यह षड्रसयुक्त, त्रिदोषघ्न, देहदार्ढ्यकर, पाण्डु, उदर, ज्वर, श्वास, कास, क्षय एवं प्रमेहनाशक है।[2]

वैक्रान्त भस्म की मात्रा—१४ रत्ती (५ मिग्रा०) से १ रत्ती (१० मिग्रा०) तक रोगी के बल एवं काल का विचार कर प्रयोग करें।[3]

वैक्रान्त का सत्त्वपातन—शुद्ध वैक्रान्त को सत्त्वपातन वर्ग के द्रव्यों (गुड़, गुग्गुल, गुञ्जा, घृत, मधु, टंकण) के साथ मर्दनकर टिकिया बना मूषा में रखकर ३ घंटे तक धमन करने से वैक्रान्त का सत्त्व निकल आता है।[4]

वैक्रान्त के प्रमुख योग—१. रत्नप्रभावटी, २. वसन्तकुसुमाकर रस, ३. सूचिकाभरण रस, ४. काञ्चनाभ्र रस, तथा ५. अपूर्वमालिनीवसन्त रस।

माक्षिक
(Pyrite)

वर्ग—महारस वर्ग (र० र० स०) उपधातु वर्ग (र० त०)।

नाम—संस्कृत : माक्षिकम् (सुवर्णमाक्षिकम्, रजतमाक्षिकम्)।
हिन्दी : माक्षिक (सोनामाखी एवं रूपामाखी)।
अंग्रेजी : Pyrite (Coppor Pyrite and Iron Pyrite)।

पर्याय—**स्वर्णमाक्षिक**—सुवर्ण माक्षिक, स्वर्णमाक्षिक, हेममाक्षिक, माक्षीक, ताप्य, धातुमाक्षिक, तापीज।[5]

---

१. 'आयुःप्रदश्च बलवर्णकरोऽतिवृष्यः प्रज्ञाप्रदः सकलदोषगदापहारी।
दीप्ताग्निकृत्पविसमानगुणस्तरस्वी वैक्रान्तकः खलु वपुर्बललोहकारी॥
रसायनेषु सर्वेषु पूर्वगण्यः प्रतापवान्।
वज्रस्थाने नियोक्तव्यो वैक्रान्तः सर्वदोषहाः॥
वैक्रान्तो वज्रसदृशो देहलोहकरो मतः।
विषघ्नो रसराजश्च ज्वरकुष्ठक्षयप्रणुत्' ॥ (र० र० स० २।५५-५६, ६२)

२. 'वैक्रान्तस्तु त्रिदोषघ्नः षडरसो देहदार्ढ्यकृत्।
पाण्डूदरज्वरश्वासकासक्षयप्रमेहनुत्' ॥ (आ० प्र० ५।१६७)

३. 'तत्त्वांशतो रक्तिकाया रुद्रांशप्रमितं मृतम्।
वैक्रान्तकं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० २३।१७०)

४. 'सत्त्वपातनयोगेन मर्दितश्च वटीकृतः।
मूषास्थो घटिकाध्मातो वैक्रान्तः सत्त्वमुत्सृजेत्' ॥ (आ० प्र० ५।७१)

५. 'सुवर्णमाक्षिकं स्वर्णमाक्षिकं हेममाक्षिकम्।
माक्षीकं माक्षिकञ्चैव ताप्यञ्च धातुमाक्षिकम्॥
माक्षीकधातुश्च तथा तापीजश्चापि तन्मतम्'। (र० त० २१।१-२)

रजत माक्षिक—रौप्यमाक्षिक, तारज, तारमाक्षिक, विमल, श्वेतमाक्षिक, रजत माक्षिक।[1]

उत्पत्ति—पौराणिक इतिहास—१. भगवान् श्रीकृष्ण के विद्धपाद तल से स्रवित रक्तबिन्दु से माक्षिक की उत्पत्ति हुई।

२. स्वर्णशैल पर्वत से स्रवित पीतवर्ण का निःस्राव सूर्य के ताप से सूखकर बना, जिससे इसे ताप्य कहा जाता है।

इतिहास—माक्षिक का ज्ञान भारतीयों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। चरक संहिता में इसका औषधीय प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

निरुक्ति—१. मधु के सदृश वर्ण होने तथा अग्नि पर मोम की तरह जलने के कारण इसे माक्षिक कहा जाता है।

२. स्वर्ण के समान वर्ण (चमक) एवं स्वर्ण सदृश गुण वाला; तथा कुछ विद्वानों के मत से इसमें किंचित् स्वर्ण का अंश होने के कारण इसे 'स्वर्णमाक्षिक' कहते हैं।[2]

३. सूर्य के ताप से सूखकर बनने के शास्त्रीय वचन से इसे 'ताप्य' कहते हैं।[3]

४. ताप्ती नदी के तट पर इसकी प्राप्ति होने से इसे 'तापीज' कहते हैं ('तप्ती तीरसम्भूतम्')।

५. रजत के समान वर्ण होने से 'रजतमाक्षिक' कहते हैं।[4]

६. कुछ विद्वानों के मत में इसमें रजत के समान गुण तथा अल्प अंश में रजत पाया जाता है, अतः इसे रजत या रौप्यमाक्षिक कहते हैं।

प्राप्ति-स्थान—रसग्रन्थों के आधार पर इसकी प्राप्ति कान्यकुब्ज प्रदेश, ताप्ती नदी के किनारे, किरात देश, चीन देश तथा यवन देश में बतलाई गई है।

वर्तमान समय में यह मुख्यरूप से जापान, अमेरिका, स्पेन, पुर्तगाल, इटली, नार्वे और साइप्रस से प्राप्त होता है। हेम एवं तार दो प्रकार का माक्षीक मिलता है। इनमें कान्यकुब्ज प्रदेश से प्राप्त सुवर्णमाक्षिक स्वर्ण के समान या पीतवर्ण का होता

---

१. 'रौप्यमाक्षिकमाख्यातं तारजं तारमाक्षिकम्।
विमलं श्वेतमाक्षीकं तथा रजतमाक्षिकम्' ॥ (र० त० २१।५५)

२. 'ईषत्सुवर्णसाहित्यात्सुवर्णगुणसाम्यतः।
सुवर्णद्युतिमत्त्वाद्वा स्वर्णमाक्षिकमुच्यते॥
तापीतीरभवत्वाच्च ताप्यं तापीजमुच्यते'। (र० त० २१।२-३)

३. 'सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः।
ताप्यो किरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः॥
ताप्यः सूर्यांशुसन्तप्तो माधवे मासि दृश्यते'। (र० र० स० २।७७-७८)

४. 'इषद्रौप्यस्य साहित्याद् वा रौप्यगुणसाम्यतः।
रौप्यवद् द्युतिमत्त्वाद्वा रौप्यमाक्षिकमुच्यते' ॥ (र० त० २१।५६)

Scanned with CamScanner

है, तथा ताप्ती नदी के किनारे से प्राप्त होने वाला पंचवर्ण सुवर्ण के समान एवं तार माक्षिक पाषाण बहुल तथा अल्पगुण वाला होता है।[1]

भारत में बिहार के घाटशिला (सिंहभूमि जिला) तथा राजस्थान के खेतड़ी से यह काफी मात्रा में प्राप्त होता है।

प्रकार—माक्षीक दो प्रकार का होता है[2]—

१. **स्वर्णमाक्षिक**—(Copper pyite or chalco pyrite) (Cu_2S, Fe_2S_3)

२. **रौप्यमाक्षिक**—(Iron pyrite) (Fe_2S_3)

वर्ण के आधार पर माक्षिक के भेद—

१. पीतवर्ण (Yellowish)—सुवर्णमाक्षिक।

२. शुक्लवर्ण (Whitish)—रौप्यमाक्षिक।

३. रक्तवर्ण (Greyish)—कांस्यमाक्षिक।

शुद्ध सुवर्ण का १६ (षोडश) वर्ण होता है। वर्ण की दृष्टि से माक्षीक को यशोधरभट्ट ने 'नववर्णसुवर्णवत्' तथा वाग्भट ने 'पंचवर्णसुवर्णवत्' कहा है।

वैज्ञानिक विवेचन

स्वर्णमाक्षीक—(Copper pyrite या Chalco pyrite)—इसका रासायनिक सूत्र है—Cu_2S, Fe_2S_3। इस खनिज का वर्ण स्वर्ण के समान और चमकीला होता है। यह मृदु एवं भंगुर होता है। इसे चाकू से काटा जा सकता है और हथौड़े से पीटने पर चूर-चूर हो जाता है। अच्छे खनिज में २०-३५% तक ताम्र की मात्रा होती है। यह ताम्र, लौह एवं गन्धक का यौगिक है अतः इसे 'ताम्रगन्धायस' कहते हैं।

इसका विशिष्ट गुरुत्व लगभग—५ तथा काठिन्य—६ है।

चमक—धात्वीय, अत्यन्त चमकदार।

वर्ण—पीत (Brassy), हरित या काला एवं भूरा (Streak-greenish or brownish black.)

यह नीली ज्वाला के साथ जलता है। जलने के बाद का अवशिष्ट भाग चुम्बक द्वारा पकड़ा जा सकता है। यह नाइट्रिक एसिड में घुल जाता है।

भौतिक गुण—यह निष्कोण (कोणरहित), गुरु, सुवर्ण वर्ण, स्निग्ध, कसौटी पर घिसने से सुवर्ण की रेखा खींचता है, किन्तु हथेली पर रगड़ने से हाथ को कालिमायुक्त (कृष्णवर्ण) कर देता है। तोड़ने पर स्वर्ण-सी चमक वाला होता है। सत्त्वरूप में इससे ताम्र प्राप्त होता है।

---

१. 'तत्राऽऽद्यं माक्षिकः कान्यकुब्जोत्थे स्वर्णसन्निभम्॥
तपतीतीरसम्भूतं पञ्चवर्णसुवर्णवत्।
पाषाणबहुलः प्रोक्तस्तारारव्योऽल्पगुणात्मकः'॥ (र० र० स० २।८१-८२)

२. 'माक्षिको द्विविधो हेममाक्षिकस्तारमाक्षिकः। (र० र० स० २।८१)

रौप्यमाक्षिक (Iron pyrite)—यह लौह एवं गन्धक का यौगिक है, अतः इसे 'गन्धायस' भी कहते हैं। इसी का एक भेद कांस्यमाक्षिक है जो रासायनिक दृष्टि से समान है। रौप्यमाक्षिक रजत की तरह चमकता है, अतः रौप्यमाक्षिक तथा काँसे जैसी चमक के कारण इसके दूसरे भेद को कांस्यमाक्षिक कहते हैं। यह कोण, पहलदार और धार रहित विषम आकृति के टुकड़ों में होता है अर्थात् कोई निश्चित आकृति नहीं होती है।

इसका काठिन्य ६ तथा विशिष्ट गुरुत्व ४.८ से ४.९ है। इसमें लौह (Fe) ४६.६% तथा गन्धक (S) ५३.४% होता है। किसी-किसी में किंचित् मात्रा में Arsenic एवं Copper भी पाया जाता है।

ग्राह्य स्वर्णमाक्षिक—जो स्वर्णमाक्षिक स्पर्श में स्निग्ध, भार में गुरु, नीली-काली चमकयुक्त तथा कसौटी पर घिसने पर कुछ-कुछ स्वर्ण जैसी रेखा खींचने वाला, कोण-रहित, सोने के जैसा वर्ण वाला हो, वह स्वर्णमाक्षिक उत्तम होता है।[1]

अग्राह्य स्वर्णमाक्षिक—स्पर्श में खर, अल्पभारयुक्त, कोणयुक्त तथा खर लोहे की आभा वाला स्वर्णमाक्षिक औषध कार्य हेतु अग्राह्य होता है।[2]

ग्राह्य रजतमाक्षिक—उत्तम रौप्यमाक्षिक स्निग्ध, कोणयुक्त, भार में गुरु, प्रायः वर्तुल, रजत के समान उज्ज्वल एवं चमकीला होता है।[3]

अग्राह्य रजतमाक्षिक—मलयुक्त, भार में लघु, रूक्ष, कसौटी पर घिसने से अत्यन्त मलिन रेखा खींचने वाला, लम्बे और विषम खण्डों वाला तथा फीके वर्ण का रौप्यमाक्षिक औषध प्रयोग हेतु अग्राह्य होता है।[4]

स्वर्णमाक्षिक-शोधन का प्रयोजन—अशुद्ध एवं असम्यक् मारित स्वर्णमाक्षिक के सेवन से नेत्र-विकार, मन्दाग्नि, कुष्ठरोग, हलीमक रोग, कोष्ठ में वायु प्रकोप आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अतः शुद्ध करके ही इसका मारण करना चाहिए। अशुद्ध रजतमाक्षिक भी अशुद्ध स्वर्णमाक्षिक के समान कुष्ठ-मन्दाग्नि आदि रोग उत्पन्न करता है।

---

१. 'स्निग्धं गुरु श्यामलकान्ति किञ्चित् कषे सुवर्णद्युतिसुप्रकाशम्।
कोणोज्झितं स्वर्णसमानवर्णं सुवर्णमाक्षीकमिह प्रशस्तम्'॥ (र० त० २१।४)

२. 'खरं परं वै गुरुताविहीनं प्रवृत्तकोणं खरलोहकाभम्।
प्रकीर्तितं तत्परिहेयमेव सुवर्णमाक्षीकमिहाययज्ञैः'॥ (र० त० २१।५)

३. 'स्निग्धं सकोणं गुरु च वर्तुलं रजतोज्ज्वलम्।
रौप्यवच्चाकचिक्याढ्यं जात्यं तद्रौप्यमाक्षिकम्'॥ (र० त० २१।५७)

४. 'समलं लघु रूक्षञ्च कषेऽतिमलिनच्छवि।
अवर्तुलं विवर्णञ्च हेयं स्याद्रौप्यमाक्षिकम्'॥ (र० त० २१।५८)

Scanned with CamScanner

माक्षिक-शोधन[1]—

१. एरण्ड तैल और मातुलुंग के स्वरस में माक्षिक चूर्ण की पोट्टली बांधकर दोलायन्त्र विधि से ६ घण्टा स्वेदन करने से माक्षिक शुद्ध हो जाता है।

२. कदली कन्द स्वरस में ६ घण्टा स्वेदन करने से माक्षिक शुद्ध हो जाता है।

३. माक्षिक चूर्ण को प्रतप्त कर (सात बार) त्रिफला क्वाथ में बुझा लेने से दोनों प्रकार के माक्षिक शुद्ध हो जाते हैं।

४. ३ भाग माक्षिक चूर्ण एवं एक भाग सैंधव लवण लेकर इसे लौह पात्र में थोड़ा-थोड़ा मातुलुंग या जम्बीरी नींबू का स्वरस डालते हुए तब तक भर्जन करना चाहिए जब तक लोहे की कड़ाही का पेंदा ताम्र के सदृश लाल वर्ण का न हो जाय। ऐसा करने से माक्षिक शुद्ध हो जाता है।[2]

लवण के अंश को निकालने के लिए भर्जन के पश्चात् ठण्डा हो जाने पर दो-तीन बार जल से माक्षिक का प्रक्षालन कर लेना चाहिए।

---

१. (क) 'मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान् सकुष्ठान्।
मालां विधत्तेऽपि च गण्डपूर्वां शुद्धयादिहीनं खलु माक्षिकं तु' ॥
(आ० प्र० ४।११)

(ख) 'अशुद्धं माक्षिकं कुर्यादान्ध्यं कुष्ठं क्षयं क्रिमीन्।
शोधनीयं प्रयत्नेन तस्मात्कनकमाक्षिकम्' ॥
(र० रा० सु० पृ० १०३)

(ग) 'अशोधितं वाऽमृतमप्यशुद्धं निषेवितं माक्षिकमक्षिबाधाम्।
मन्दानलं कुष्ठहलीमकादीन् कोष्ठानिलं वै जनयेन्नितान्तम्' ॥
(र० त० २१।६)

(घ) 'अशुद्धं रौप्यमाक्षीकं स्वर्णमाक्षिकवद् भृशम्।
जनयन्त्याशु मन्दाग्नि तथा कुष्ठादिकान् गदान्' ॥
(र० त० २१।५९)

(ङ) 'एरण्डतैललुङ्गाम्बुसिद्धं शुद्धयति माक्षिकम्।
सिद्धं वा कदलीकन्दतोयेन घटिकाद्वयम् ॥
तप्तं क्षिप्तं वराक्वाथे शुद्धिमायाति माक्षिकम्' ॥
(र० र० स० २।८३)

२. (क) 'माक्षिकस्य त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च।
मातुलुङ्गद्रवैर्वाऽथ जम्बीरोत्थ द्रवैः पचेत् ॥
लोहपात्रे पचेत्तावल्लोहदर्व्या च चालयेत्।
ताम्रवर्णमयो यावत् तावच्छुध्यति माक्षिकम्' ॥ (र० ज० नि०)

(ख) 'चालयेल्लोहजे पात्रे यावत्पात्रं सुलोहितम्।
भवेत्ततस्तु संशुद्धं स्वर्णमाक्षिकमत्र तु' ॥ (आ० प्र० ४।१३)

५. स्वर्णमाक्षिक को नींबू स्वरस से लौह कटाह में निर्धूम एवं लालवर्ण (रक्त-कमलवर्ण) होने तक भर्जन कर लेने से माक्षिक शुद्ध हो जाता है।[1]

माक्षिक का मारण—

१. माक्षिक में समभाग गन्धक मिलाकर उसमें नींबू (मातुलुंग-बिजौरा नींबू) के रस की भावना देकर उसकी पिष्टी बनाकर सुखा लें। अब इसे मूषा में रखकर वराहपुट में ५ बार फूंक दें। इस प्रकार माक्षिक का भस्म तैयार हो जाती है।[2]

२. एरण्ड स्नेह, गोघृत अथवा मातुलुंग स्वरस में माक्षिक को अच्छी तरह घोंट-कर तथा खर्पर में रखकर कड़ी आँच पर पाक करने से माक्षिक का स्वर्णगैरिक के समान सुन्दर लालवर्ण का भस्म बन जाता है। यह रसायन हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है।[3]

३. नींबू के रस में पकाकर शुद्ध किये गये स्वर्णमाक्षिक को पुनः नींबू स्वरस में घोंटकर टिकिया बना एवं सुखाकर शरावसम्पुट में बन्द कर पुट में फूंक दें। इस प्रकार १० पुट देने से स्वर्णमाक्षिक की रक्तकमलपत्र के सदृश वर्ण की उत्तम भस्म बन जाती है।[4]

४. माक्षिक में समान भाग गन्धक मिलाकर नीबू स्वरस से मर्दन कर चक्रिका बना एवं सुखाकर पुट में फूंक दें। इस प्रकार ५ पुट देने से माक्षिक का भस्म बन जाता है।[5]

---

१. 'ततो माक्षिकचूर्णन्तु चालनीपरिगालितम्।
समादाय कटाहे तु स्थापयेद्भृपजां वरः ॥
निम्बूकस्वरसं दत्त्वा पचेच्चुल्लीगतं ततः।
दर्व्या सञ्चालयेत्तावद् यावत्स्यादुत्पलप्रभम्' ॥ (र० त० २१।८-९)

२. 'मातुलुङ्गाम्बुगन्धाभ्यां पिष्टं मूषोदरे स्थितम्।
पञ्चक्रोडपुटैर्दग्धं म्रियते माक्षिकं खलु' ॥ (र० र० स० २।८४)

३. 'एरण्डस्नेहगव्याज्यैर्मातुलुङ्गरसेन वा।
खर्परस्थं दृढं पक्वं जायते धातुसन्निभम् ॥
एवं मृतं रसे योज्यं रसायनविधावपि' ॥ (र० र० स० २।८५-८६)

४. 'ताप्यं निम्बम्लसम्पक्वं पुनर्निम्बूकवारिणा।
सम्पेष्य सम्पुटस्थन्तु पुटयेत् कृतचक्रिकम् ॥
एवं दशपुटैरेव पञ्चतामेति माक्षिकम्।
रक्तोत्पलदलच्छायं जायते चातिशोभनम्' ॥ (र० त० २१।१९-२०)

५. 'विशोधितं माक्षिकन्तु बलिश्च समभागिकम्।
खल्वे सम्पेषयेद्यत्नाद् भृशं निम्बूकवारिणा ॥
संशोष्य सम्पुटे न्यस्य पुटयेत् कृतचक्रिकम्।
एवं पञ्चपुटैरेव म्रियते हेममाक्षिकम्' ॥ (र० त० २१।२१-२२)

Scanned with CamScanner

माक्षिक भस्म का वर्ण—यह लालवर्ण का सिन्दूर सदृश या सुवर्णगैरिक सदृश या रक्तोत्पल सदृश होता है।

स्वर्णमाक्षिक भस्म के गुण—इसका रस–तिक्त एवं मधुर; गुण–लघु; वीर्य–शीत तथा विपाक–कटु होता है। कर्म में यह बल्य, योगवाही, रसायन, अत्यन्त वृष्य, चक्षुष्य, सकल व्याधिनाशक, रसेन्द्र का प्राण, गुणों में श्रेष्ठ एवं द्वन्द मेलापक (सरलता से न मिलने वाली दो धातुओं को मिलाने वाला) है। यह त्रिदोषनाशक एवं कफपित्तहर है। यह क्षय, पाण्डु, प्रमेह, कुष्ठ, ग्रहणी, अर्श, कृमि, विष, उदर, शोथ, कण्डू, मन्दाग्नि, कामला, शोष, स्वरभेद, अरुचि, आमदोष, विचर्चिका, सभी प्रकार के ज्वर, वस्तिवेदना, जीर्ण ज्वर, अपस्मार, अरोचक, अनिद्रा एवं सभी व्याधियों का नाश करने वाला होता है।[1]

रजतमाक्षिक भस्म—रस में किञ्चित् तिक्त, गुण में लघु, रूक्ष और उष्ण एवं विपाक में मधुर होता है। कर्म की दृष्टि से यह वृष्य, रसायन एवं चक्षुष्य है। अन्य समग्र गुण स्वर्णमाक्षिक के समान हैं। रौप्यमाक्षिक का मारण आदि स्वर्णमाक्षिक की तरह ही जानना चाहिए।[2]

सुवर्णमाक्षिक भस्म की मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक रोग एवं रोगी का बल तथा काल आदि का पूर्ण विचार करते हुए प्रयोग करें।[3]

अनुपान—त्रिफला, त्रिकटु, विडंग, घृत एवं शहद।[4]

---

१. (क) 'मधुरः काञ्चनाभासः साम्लो रजतसन्निभः।
किञ्चित् कषायमधुरः शीतः पाके कटुर्लघुः।
तत्सेवनाज्जराव्याधिविषैर्न परिभूयते।
माक्षीकधातुः सकलामयघ्नः प्राणो रसेन्द्रस्य परं हि वृष्यः॥
दुर्मेललोहद्वयमेलनश्च गुणोत्तरः सर्वरसायनाग्र्यः'॥
(र० र० स० २।७९–८०)

(ख) 'माक्षिकं तिक्तमधुरं मेहार्शः क्रिमिकुष्ठनुत्।
कफपित्तहरं बल्यं योगवाहि रसायनम्'॥ (रसे० चि० ७।१०८)

(ग) 'सुवर्णमाक्षिकं स्वादु तिक्तं वृष्यं रसायनम्।
चक्षुष्यं वस्तिहृत्कण्ठपाण्डुमेहविषोदरम्॥
अर्शः शोफं विषं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत्'॥ (आ० प्र० ४।९-१०)

(घ) 'जीर्णज्वरमपस्मारं मन्दानलमरोचकम्।
अनिद्रां नाशयत्याशु योगवाहि परं मतम्'॥ (र० त० २१।२८)

२. 'स्वर्णमाक्षिकवज्ज्ञेयं तारमाक्षिकमारणम्'। (आ० प्र० ४।२४)

३. 'गुञ्जार्द्धतः समारभ्य बलकालाद्यपेक्षया।
गुञ्जाद्वितयपर्यन्तं माक्षिकं योजयेद्भिषक्'॥ (र० त० २१।२९)

४. 'अनुपानं वरा व्योषं वेल्लं साज्यं हि माक्षिके'। (आ० प्र० ४।१०)

अपक्व माक्षिकभस्म के सेवन से उत्पन्न दोष की शान्ति—दाडिम त्वक् का क्वाथ पीने से माक्षिकजन्य दोष शान्त होता है।[1]

स्वर्णमाक्षिक सत्त्वपातन—सुवर्ण माक्षिक में चतुर्थांश टंकण मिला निम्बू स्वरस द्वारा मर्दन कर सुखाकर एक मूषा में रखकर तीव्र अग्नि में धमन करने से माक्षिक का सत्त्व निकल आता है।[2]

स्वर्णमाक्षिक का रासायनिक विश्लेषण—

Free Sulphur	1.43 to 6.36% w/w
Sulphur (Maximum)	3.33% w/w
Calcium (as Ca)	1.625% w/w
Sodium (as Na)	0.922% w/w
Potassium (as K)	0.370% w/w
Sulphate	3.0% w/w
Copper	17.2% w/w
Feric oxide	25.0% w/w
Ferous oxide	5.7% w/w
Iron	36 to 51.96% w/w
Phosphate (as Po_4)	1.101% w/w
Silica	3.8% w/w
Acid in soluble	11.93% w/w

स्वर्णमाक्षिक भस्म के कुछ प्रमुख योग—१. ग्रहणीकपाट रस, २. चतुर्मुख रस, ३. चन्द्रप्रभा वटी, ४. जयमंगल रस, ५. पञ्चामृत पर्पटी, ६. रत्नगर्भपोट्टली तथा ७. सर्वेश्वर पर्पटी आदि।

विमल

(Iron Pyrite : Cubic Sulphide of Iron)

वर्ग—महारस एवं उपधातु वर्ग।

नाम—संस्कृत : विमल।
हिन्दी : विमल।
अंग्रेजी : Iron Pyrite.

सूत्र—$Fe_2 S_3$

काठिन्य—६ से ६·५।

वि० गु०—५ से ५·२।

१. 'कुलत्थस्य कषायेण माक्षीकविकृतिं जयेत्।
दाडिमस्य त्वचो वाऽपि प्रोक्ता विकृतिनाशिनी'॥ (व० र० रा० सु०)

२. 'पादांशटङ्कणोपेतं मर्दितं हेममाक्षिकम्।
ध्मातं मूषागतं सत्त्वं मुञ्चत्याशु सुनिश्चितम्'॥ (र० त० २१।४६)

Scanned with CamScanner

वर्ण एवं चमक—धात्वीय, चाँदी के समान, मलिन पीतवर्ण का।

उत्पत्ति-स्थान—ताप्ती नदी के निकट के पर्वतों से विमल की उत्पत्ति बतलाई गई है।

इतिहास—रसार्णव आदि रस-ग्रन्थों से इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इससे पूर्व इस खनिज का उल्लेख नहीं मिलता है।

प्राप्ति-स्थान—भारत के असम, उड़ीसा, बंगाल, बिहार, आन्ध्रप्रदेश एवं तमिलनाडु आदि प्रान्तों से प्राप्त होता है।

विमल के भेद—रस-ग्रन्थों में विमल के तीन भेद बतलाये गये हैं—१. हेम विमल, २. रौप्य विमल तथा ३. कांस्य विमल।

रसार्णव में इसके भेद निम्न रूप में किये गये हैं[1]—१. शुक्ल, २. पीत और ३. लोहित।

इनमें—

१. हेम विमल—पीतवर्ण का हेमक्रिया हेतु सबसे उत्तम (श्रेष्ठतम)।

२. रौप्य विमल—श्वेतवर्ण का रजतकर्म के लिए श्रेष्ठतर।

३. कांस्य विमल—रक्तवर्ण (कांस्य वर्ण) का औषधि कार्य हेतु उत्तम (श्रेष्ठ)।

भौतिक स्वरूप—विमल चतुष्कोणाकार तथा वर्तुल एवं स्निग्ध होता है।[2] यह बड़े-बड़े नियत आकार के दानों के रूप में प्राप्त होता है। इसकी चमक धातु के समान होती है। इसके दानों का आकार छः अथवा आठ पहलुओं से युक्त होता है। चमक पीतल के समान (पीला) होती है। लोहे के प्रत्येक परमाणु के साथ गन्धक के दो परमाणु जुड़े रहते हैं। तेज आँच पर गर्म करने पर जलते हुए गन्धक की-सी गन्ध प्राप्त होती है। कसौटी पर घिसने पर काली एवं सफेद रेखा खींचती है।[3]

विमल-शोधन—विमल को छोटे-छोटे टुकड़ों में कर वासा स्वरस अथवा क्वाथ अथवा जम्बीरी नींबू स्वरस अथवा मेढ़ाशृंगी के स्वरस में दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करने से विमल शुद्ध हो जाता है।[4]

विमल-मारण—शुद्ध विमल के कपड़छन चूर्ण में समभाग गन्धक मिलाकर लकुच

१. 'विमलस्त्रिविधः प्रोक्तो हेमाद्यस्तारपूर्वकः।
तृतीयः कांस्यविमलस्तत्तत्कान्त्या स लक्ष्यते'॥ (र० र० स० २।१९५)

२. 'पूर्वो हेमक्रियासूक्तो द्वितीयो रूप्यकृन्मतः।
तृतीयो भेषजे तेषु पूर्वपूर्वो गुणोत्तरः'॥ (र० र० स० २।१९७)

३. 'वर्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फल्गकान्वितः'। (र० र० स० २।१९६)

४. 'आटरूषजले स्विन्नो विमलो विमलो भवेत्।
जम्बीरस्वरसे स्विन्नो मेषशृङ्गीरसेऽथवा॥
आयाति शुद्धिं विमलो धातवश्च यथाऽपरे'॥
(र० र० स० २।९८-९९)

फल (बड़हल) के स्वरस की भावना देकर चक्रिका बना एवं सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर १० गजपुट की अग्नि देने से विमल का भस्म बन जाता है।[1]

विमल भस्म का वर्ण—लाल वर्ण (Redish)।

विमल भस्म के गुण—यह गुण में स्निग्ध एवं गुरु तथा वृष्य एवं अत्यन्त रसायन है। वात एवं पित्तनाशक, पाण्डु, प्रमेह, शूल, अरुचि, ग्रहणीरोग, ज्वर, यक्ष्मा, कामला, अर्श तथा भगन्दर आदि रोगों का नाश करता है।[2]

मात्रा—$\frac{1}{2}$ से २ रत्ती तक।

विमल भस्म सेवनजन्य विकार की शान्ति—मेषशृंगी चूर्ण में शर्करा मिलाकर तीन दिन खिलाने से विमल भस्म के सेवन से उत्पन्न विकार शान्त हो जाता है।[3]

विमल सत्त्वपातन—विमल में समान भाग टंकण तथा मेषशृंगी भस्म मिलाकर लकुच स्वरस से मर्दन कर मूषा में लेप कर सुखा-बन्द कर ६ प्रस्थ कोयले की अग्नि द्वारा तीव्र धमन करने से सीसे के समान सत्त्व निकल आता है।[4]

यह पारद में मिलकर उत्तम रसायन का कार्य करता है। विमल से सत्त्व के रूप में लोह (Iron) की प्राप्ति होती है।

विमल के कुछ प्रमुख योग—१. क्षयकेसरी रस, २. नवरत्नराजमृगांक रस तथा ३. रसेन्द्रचूड़ामणि रस आदि।

शिलाजतु

(Asphaltum Panjabinum)

वर्ग—महारस वर्ग।

नाम—संस्कृत : शिलाजतु।

हिन्दी : शिलाजतु, शिलाजीत।

अंग्रेजी : Black Bitumen या Mineral Pitch.

शिलाजतु के पर्याय—शिलाशतु, शैलेय, शिलाज, शैलधातुज, शिलामय, शिला-

१. 'गन्धाश्मलकुचाम्लैश्च म्रियते दशभिः पुटैः'। (र० र० स० २।१००)

२. (क) 'मरुत्पित्तहरो वृष्यो विमलोऽतिरसायनः'। (र० र० स० २।९६)
(ख) 'विमलाया गुणाः किञ्चिन्न्यूनाः कनकमाक्षिकात्'।
(आ० प्र० ४।२४)

३. 'विकारो यदि जायेत विमलाया निषेवणात्।
शर्करा सहिता भक्षेत् मेषशृङ्गी दिनत्रयम्'॥ (वृ० र० रा० सु०)

४. 'सटङ्कलकुचद्रावैर्मेषशृङ्ग्याश्च भस्मना।
पिष्टो मूषोदरे लिप्तः संशोष्य च निरुध्य च॥
पट्प्रस्थकोकिलैर्धमितो विमलः (सीससन्निभः)।
सत्त्वं मुञ्चति तद्युक्तो रसः स्यात्स रसायनः'॥
(र० र० स० २।१९१-१९२)

स्वेद, शिलानिर्यास, अश्मज, अश्मजतुक, गिरिज, अद्रिज, अश्मोत्थ, अश्मलाक्षा और गैरेय। ये सभी शिलाजतु के नाम कहे गये हैं।[1]

उत्पत्ति-स्थान—हिमालय पर्वत एवं क्षारीय भूमि में ग्रीष्मऋतु में सूर्य के तीव्रताप से स्वर्णादि खनिजों से सम्पन्न हिमालय पर्वत के निम्न पहाड़ी भूभागों के स्थान से स्रवित होकर शिलाजतु प्राप्त होता है।[2]

इतिहास—शिलाजतु का उल्लेख संहिताकाल से मिलता है। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट (अष्टांगहृदय) में प्रमेह आदि अनेक रोगों में इसका उपयोग किया गया है। इसके भेदों का भी उल्लेख चरक एवं सुश्रुतसंहिता में किया गया है। तदनुसार चरक ने ४ भेद तथा सुश्रुत ने ६ भेद बतलाये हैं। इसका उपयोग चिकित्सा में प्राचीन काल से अब तक सतत होता आ रहा है।

शिलाजतु के भेद—रसग्रन्थों में इसके दो भेद किये गये हैं; यथा—

१. गोमूत्र शिलाजतु (Black Bitumen)।
२. कर्पूर शिलाजतु (Potassium Nitrate)।

स्वरूप के आधार पर दो भेद—

१. गोमूत्र शिलाजतु—अकालोद्भव (पातित)—ससत्त्व एवं निःसत्त्व।
२. कर्पूर शिलाजतु (उपरोद्भव; अपातित)।

सत्त्व के आधार पर भेद—

१. हेमगर्भ शिलाजतु
२. तारगर्भ ,,
३. ताम्रगर्भ ,,
४. अयोगर्भ ,, → चरकसंहिता एवं रसरत्नसमुच्चय में वर्णित
५. नाग गर्भ ,,
६. वंग गर्भ ,, → सुश्रुतसंहिता, अष्टांगहृदय, रसेन्द्रचिन्तामणि एवं रसकामधेनु में वर्णित।

चरकसंहिता में—स्वर्णाद्रिज, रजताद्रिज, ताम्राद्रिज एवं लोहाद्रिज—ये ४ भेद बतलाये गये हैं।[3]

सुश्रुतसंहिता एवं अष्टाङ्गहृदय में—स्वर्णाद्रिज, रजताद्रिज, ताम्राद्रिज, लोहाद्रिज, नागाद्रिज एवं वंगाद्रिज—ये छः भेद कहे गये हैं।[4]

१. 'शिलाजतु च शैलेयं शिलाजं शैलधातुजम्।
शिलामयः शिलास्वेदः शिलानिर्यास इत्यपि॥
अश्मजं त्वश्मजतुकं गिरिजं त्वद्रिजं तथा।
अश्मोत्थमश्मलाक्षा च गैरेयञ्च मतन्तु तत्'॥ (र० त० २२।६०-६१)

२. 'ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः।
स्वर्णरूप्यार्कगर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत्'॥ (र० र० स० २।११०)

३. 'हेमनश्च रजतात्ताम्राद्वरं कृष्णायसादपि'। (च० चि० १।३।४५)

४. (क) त्रप्वादीनां तु लोहानां पण्णामन्यतमान्वयम्॥ (सु० चि० १३।५)
(ख) त्रप्वादीनि त्रपु-सीस-ताम्र-रजत-स्वर्ण-कृष्णलोहानि षट् (डल्हण)

भेदानुसार लक्षण[1]—

१. स्वर्णाद्रिज—स्वर्ण वाले पहाड़ से उत्पन्न जवापुष्प के समान लालवर्ण का तथा वजनदार होता है।

२. रजताद्रिज—रजत वाले पहाड़ से उत्पन्न पीले वर्ण का तथा वजनदार होता है।

३. ताम्राद्रिज—ताम्र वाले पहाड़ से उत्पन्न नीलवर्ण का ठोस एवं वजनदार होता है।

शिलाजतु की प्राप्ति—शिलाजतु एक प्रकार का स्राव है, जो प्रकृति में पहाड़ की दरारों से ग्रीष्म ऋतु में स्रवित होकर निकलता है। 'शिला' का अर्थ है—पहाड़ या पत्थर और 'जतु' का अर्थ है—लाह या लाक्षा या लाक्षा सदृश पदार्थ। विशेषरूप से भूगर्भ के जिन-जिन स्थानों से पत्थर का कोयला तथा पेट्रोलियम आदि खनिज पदार्थ मिलता है, उन स्थानों के ऊपर के पहाड़ों से या पत्थरों से ग्रीष्म ऋतु में काला या भूरा रंग का स्राव निकलता हुआ दिखलाई देता है। भूगर्भ की उष्णता के कारण पिघलकर पहाड़ों के या भूगर्भ के भीतरी दरारों के बीच में से यह रस ऊपर को चला आता है। शीतऋतु में ठण्ड के कारण यह ठोस रूप धारण कर लेता है तथा गर्मी में यही पिघलकर बहने लगता है। भूगर्भ में से ऊपर आते समय जिन धातुओं के खनिजों के सम्पर्क में यह आता है, उन धातु खनिजों का भी कुछ अंश घुलकर इसमें आ जाता है।

कुमायूं जिले में सरयू और रामगंगा के बीच वाले पहाड़ के चूने के पत्थरों से शिलाजतु स्रवित होता है। इसके अतिरिक्त नेपाल, कश्मीर एवं पंजाब के कुछ स्थानों से भी मिलता है।

शिलाजतु का स्वरूप—यह जतु (लाक्षा) के सदृश, मृदु, मिट्टी के समान पर्वत से मैल की तरह निकलता है तथा गुग्गुल की तरह दिखाई देता है। यह स्वाद में तिक्त एवं लवण रस वाला तथा गोमूत्र जैसी गन्ध वाला होता।

यह अर्धघन पदार्थ होता है। बाजार में यह शिलाजतु पत्थर के नाम से मिलता है जो वास्तव में जल में घुलनशील मिट्टी आदि द्रव्य होता है। इसकी कोई विशेष आकृति नहीं होती। इसका रंग काला भूरा होता है तथा इसमें से गोमूत्र की गन्ध आती है।

शिलाजतु-परीक्षा[2]—१. शिलाजतु को आग में जलाने पर बिना धुँए के जलता है और जलकर लिंगाकार आकृति बनाता है।

१. 'स्वर्णगर्भगिरेर्जातो जपापुष्पनिभो गुरुः।
रौप्यगर्भगिरेर्जातं मधुरं पाण्डुरं गुरु।
ताम्रगर्भगिरेर्जातं नीलवर्णं घनं गुरु'॥ (र० र० स० २।१११-११३)

२. (क) वह्नौ क्षिप्तं भवेद्यत्तल्लिङ्गाकारमधूमकम्।
सलिलेऽप्यविलीनं च तच्छुद्धं हि शिलाजतु'॥ (र० र० स० २।११४)

Scanned with CamScanner

२. शिलाजतु को एक तृण के अग्रभाग में लगाकर जल में डालने पर तन्तु की तरह पानी में मिलकर नीचे तल की ओर जाते हुए घुलता जाता है।

३. यह कृष्णवर्ण का एवं गोमूत्र की गन्ध वाला होता है।

शिलाजतु-शोधन का प्रयोजन—अशुद्ध शिलाजतु के सेवन से दाह, मूर्च्छा, भ्रम, रक्तपित्त, क्षय, अग्निमान्द्य एवं विबन्ध उत्पन्न होता है।[1] अतः शोधन करके ही इसे उपयोग में लाना चाहिए।

शिलाजतु-शोधन—१. क्षार, अम्ल एवं गोमूत्र से प्रच्छालन कर लेने से शिलाजतु शुद्ध हो जाता है।[2]

२. गोदुग्ध, त्रिफला क्वाथ या भृंगराज स्वरस इनमें से किसी एक में मिलाकर लौह पात्र में घोल-छान कर सुखा लेने से शिलाजतु शुद्ध हो जाता है।[3]

३. यवक्षार, काञ्जी और गुग्गुलु इनके साथ स्वेदनी यन्त्र में रखकर एक प्रहर तक स्वेदन कर लेने से शिलाजतु शुद्ध हो जाता है।[4]

शिलाजतु का शोधन द्रव पदार्थों से २ प्रकार से होता है; प्रथम—थोड़े द्रव पदार्थ से शिलाजतु का प्रच्छालन कर धूप में सुखा लेने से शिलाजतु की बहिःशुद्धि होती है। शिलाजतु यदि उत्तम कोटि का हो और कोई अपद्रव्य आदि उसमें न मिला हो तो इस विधि से काम चल सकता है। द्वितीय—वर्त्तमान समय में बाजार से प्राप्त होने वाले शिलाजतु पत्थर को चूर्णकर लोहे की एक कड़ाही में डालकर जिस द्रव (त्रिफला क्वाथ, गोमूत्र या भृंगराज स्वरस) से शोधन करना हो, उस द्रव को पर्याप्त मात्रा में डालकर शिलाजतु को घोल दें। इस घोल को कम-से-कम एक रात भर के लिए स्थिर होने के के लिए छोड़ दें। पश्चात् दूसरे दिन इसको उपर से निथार कर वस्त्रगालित कर लें। इस स्वच्छ घोल के जलीयांश को सुखा कर शुद्ध शिलाजतु प्राप्त कर लें। इससे शिलाजतु की बाह्य एवं अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धि हो जाती है।

सूर्यतापी—उपरोक्त त्रिफला या गोमूत्र में घुले शिलाजतु को कपड़े से छानकर यदि उसे धूप में सुखाकर गाढ़ा कर लिया जाता है तो उसे सूर्यतापी शिलाजतु कहते हैं। इस विधि से अनेक कार्यकारी उड़नशील पदार्थों की रक्षा होती है, जो कई बार औषधीय दृष्टि से उपयोगी होता है।

(ख) 'तृणाग्रेणाम्भसि क्षिप्तमधो गलति तन्तुवत्।
गोमूत्रगन्धिमलिनं शुद्धं ज्ञेयं शिलाजतु'॥ (रसरत्नमाला)

१. 'अशुद्धं दाहमूर्च्छाश्रमपित्तास्रशोषकृत्।
शिलाजतु विधत्ते हि माद्यमग्नेश्च विड्ग्रहम्'॥ (आ० प्र० ४।१०५)

२. 'क्षाराम्लगोजलैर्धौतं शुद्धत्येव शिलाजतु'। (र० र० स० २।११६)

३. 'शिलाधातुं च दुग्धेन त्रिफलामार्कवद्रवैः।
लोहपात्रे विनिक्षिप्य शोधयेदिति यत्नतः'॥ (र० र० स० २।११७)

४. 'क्षाराम्लगुग्गुलोपेतैः स्वेदनीयन्त्रमध्यगैः।
स्वेदिता घटिकामात्राच्छिलाधातुर्विशुद्ध्यति'॥ (र० र० स० २।११८)

अग्नितापी—उपरोक्त वस्त्रगालित द्रव को यदि मन्द अग्नि पर गर्म कर धीरे-धीरे गाढ़ा कर लेते हैं, तब जो शिलाजीत प्राप्त होता है उसे अग्नितापी शिलाजीत कहते हैं।

शिलाजतु शोधन के लिए प्रक्षेप क्वाथ मान—शिलाजतु के बराबर क्वाथ्य द्रव्य आठ गुने जल में पकाकर चतुर्थांश शेष रहने पर लेना चाहिए।

शिलाजतु के गुण—

१. **हेमगर्भ शिलाजतु**—रस में मधुर, तिक्त एवं कटु; गुण में गुरु; वीर्य में शीत; विपाक में कटु; वात-पित्तहर एवं परम रसायन होता है।

२. **रौप्यगर्भ शिलाजतु**—रस में तिक्त एवं कटु; गुण में गुरु; वीर्य में शीत; विपाक में मधुर तथा पैत्तिक रोगों का नाश करने वाला, श्लेष्म-पित्तघ्न तथा पाण्डुरोग नाशक है।

३. **ताम्रगर्भ शिलाजतु**—रस में तिक्त; गुण में तीक्ष्ण, उष्ण एवं गुरु; विपाक में उष्ण तथा कफवातघ्न एवं क्षयरोग का नाश करने वाला होता है।

४. **लोहगर्भ शिलाजतु**—रस में तिक्त, लवण; कषाय में कटु, मधुर एवं अम्ल; गुण में गुरु, स्निग्ध एवं मृदु; वीर्य में शीत तथा विपाक में कटु है। यह रसायन एवं योगवाही होता है।

इसके अतिरिक्त यह जराव्याधिप्रशमन, देहदाढर्यकर, मेधास्मृतिकर, छेदी, मेदोघ्न, मूत्ररोगनाशक, वयःस्थैर्यकर, यक्ष्मानाशक, वलीपलितनाशक त्वग्रोगनाशक, आमपाचक, कफज रोगनाशक, क्षय, उदर, वातिक अर्श, वस्ति-वेदना, प्रमेह, गुल्म, प्लीहारोग, अश्मशर्करा, मूत्रकृच्छ्र, श्वास, कास, पाण्डु, अपस्मार, उन्माद, हृच्छूल, त्वक्दोष, कुष्ठ, क्रिमि, अपची, सज्वरपाण्डु, शोफ, अग्निमान्द्य तथा आमदोष नाशक है।[5]

१. (क) 'न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य।
तत् कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति'॥
(च० चि० १।३।६४)

(ख) 'न सोऽस्ति रोगो यं चापि निहन्यान्न शिलाजतु'। (सु० चि० १३।१६)

(ग) 'रसोपरससूतेन्द्ररत्नलोहेषु ये गुणाः।
वसन्ति ते शिलाधातौ जरामृत्युजिमीषया'॥ (र० र० स० २।११५)

(घ) 'जराव्याधिप्रशमनं देहदाढर्यकरं परम्।
मेधास्मृतिकरं बल्यं क्षीराशी प्रयोजयेत्'॥ (च० चि० १।३।९)

(ङ) 'नूनं सज्वरपाण्डुशोफशमनं मेहाग्निमान्द्यापहं
मेदश्छेदकरं च यक्ष्मशमनं शूलामयोन्मूलनम्।
गुल्मप्लीहविनाशनं जठरहृच्छूलघ्नमामापहं
सर्वत्वग्दनाशनं किमपरं देहे च लोहे हितम्'॥
(र० र० स० २।११५)

शिलाजतु की मात्रा—२ रत्ती से आठ रत्ती तक रोगी के बल एवं काल का विचार करते हुए प्रयोग करना चाहिए।[1]

चरक ने शिलाजतु की मात्रा १ कर्ष, ½ पल एवं १ पल—इस प्रकार ३ प्रकार की मात्रा निर्धारित की है।[2]

शिलाजतु में अनुपान—दुग्ध, तक्र, मांसरस, यूष, जल, गोमूत्र एवं विविध रोग-हर क्वाथ के अनुपान से शिलाजतु का सेवन करना चाहिए।[3]

शिलाजतु का मारण—शुद्ध शिलाजतु के साथ समान भाग शुद्ध मनःशिला, शुद्ध गन्धक एवं शुद्ध हरताल मिलाकर मातुलुंग स्वरस की भावना देकर आठ उपलों का पुट देने से भस्म हो जाती है।[4]

शिलाजतु सत्त्वपातन—शिलाजतु को द्रावक वर्ग के साथ मिलाकर अम्ल द्रव्य की भावना देकर मूषा में रखकर तीव्र धमन करने से लोह के समान आभावाला सत्त्व निकल आता है।[5]

वस्तुतः व्यवहार में शिलाजतु का मारण अथवा सत्त्वपातन प्रचलित नहीं हे। शुद्ध शिलाजतु का प्रयोग ही चिकित्सा में किया जाता है।

शिलाजतु के प्रमुख योग—१. आरोग्यवर्द्धनी वटी, २. चन्द्रप्रभा वटी, ३. शिलाजत्वादि लौह, ४. शिलाजत्वादि वटी तथा ५. शिवा गुटिका।

सस्यक (तुत्थ)

(Copper Sulphate or Blue Vitriol : $CuSO_4 \cdot 5H_2O$)

वर्ग—महारस
नाम—संस्कृत : सस्यक।
हिन्दी : तूतिया।
अंग्रेजी : Copper Sulphate.

१. 'द्विगुञ्जातः समारभ्य वसुगुञ्जमितं परम्।
शिलामयं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया॥ (र० त० २२।८७)
२. 'पलमर्द्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता'। (च० चि० १।३। ५४)
३. 'पर्यासि तक्राणि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम्' ॥
(च० चि० १।३।६४)
४. 'शिलया गन्धतालाभ्यां मातुलुङ्गरसेन च।
पुटितो हि शिलाधातुर्म्रियतेऽष्टगिरिण्डकैः' ॥ (र० र० स० २।११९)
५. 'पिष्ट्वा द्रावणवर्गेण साम्लेन गिरिसम्भवम्।
क्षिप्त्वा मूषोदरे रुद्ध्वा गाढैर्धमतं हि कोकिलैः॥
सत्त्वं मुञ्चेच्छिलाधातुस्तत्क्षणाल्लोहसन्निभम्'। (र० र० स० २।१२२)

पर्याय—तुत्थ, तुत्थक, तुत्थाञ्जन, मयूरक, मयूरतुत्थक, सस्यक, ताम्रगर्भ, शिखि-ग्रीव, अमृतासङ्ग आदि सस्यक के पर्याय हैं।[1]

उत्पत्ति (पौराणिक इतिहास)—गरुड़ ने प्रथम अमृत का पान करने के पश्चात् विष का भी पान किया, जिससे मरकत (नीलगिरि) नामक पर्वत पर अमृतयुक्त विष का वमन हो गया। कुछ समय पश्चात् वह वमित द्रव्य ठोस हो गया और इस प्रकार सस्यक की उत्पत्ति हुई।[2]

इतिहास—तुत्थ का ज्ञान भारतीयों को अतिप्राचीन काल से है। चरक एवं सुश्रुतसंहिता में तुत्थ के नाम का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है। रस-ग्रन्थों में भी इसका वर्णन सर्वत्र मिलता है।

तुत्थ-परिचय—तुत्थ ताम्र का खनिज है। यह प्राकृतिक एवं कृत्रिम दो रूपों में उपलब्ध होता है। प्रकृति में स्वर्णमाक्षिक की खानों मे कुछ मात्रा में तथा कृत्रिम प्रयोगशाला में निर्माण किया जाता है। इसके वर्णन एवं पर्यायों में अनेक बार तुत्थ, मयूरतुत्थ, शिखिग्रीव आदि नाम आये हैं। प्रयोगशालाओं में निर्मित नीले थोथे का वर्णस्वरूप मयूरकण्ठ से कुछ भिन्न होता है। मयूरकण्ठ में नीला, हरा और लाल इन तीन रंगों की उपस्थिति होती है। नीला थोथा केवल नीला होता है। प्राकृतिक नीले थोथे में और भी कुछ रंग हो सकते हैं। किन्तु इस वर्ण से ठीक-ठीक मिलने वाला ताम्र का एक खास खनिज होता है जिसे Peacock ore और बोर्नाइट भी कहते हैं। इसमें ताम्र, लोहा और गन्धक ये तीन ही तत्त्व होते हैं और इसका रासायनिक सूत्र—$Cu_5 Fe S_4$ होता है। सम्भवतः सस्यक इसी का नाम है। यह पीकॉक ओर (Peacock ore) इस समय दुर्लभप्राय है। अतः व्यवहार में तुत्थ का ही प्रचलन है। यह ताम्र, गन्धक, हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन का यौगिक है। इसका मणिभ (Crystal) नीला-हरा मिश्रित वर्ण का होता है। इसका काठिन्य २.५ तथा विशिष्ट गुरुत्व २.१ से २.३ है। इसका वर्ण गहरा नीला, आसमानी नीला तथा हरा-नीला मिश्रित होता है। इसके मणिभ में ७ भाग जल का होता है, जो खुले वातावरण में रखने पर उड़ता है तथा इससे तुत्थ की पारदर्शकता नष्ट होकर वर्ण श्वेताभ हो जाता है।

प्राप्ति-स्थान—सिंहभूमि (बिहार) एवं राजस्थान से यह अल्पमात्रा में उपलब्ध होता है। विदेशों में जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, स्वीडेन, स्पेन, फ्रांस तथा इंगलैण्ड से।

१. 'तुत्थं तु तुत्थकं तुत्थाञ्जनञ्चापि मयूरकम्।
सस्यकं ताम्रगर्भञ्च शिखिग्रीवञ्च तन्मतम्' ॥ (र० त० २१।७१)
२. 'पीत्वा हालाहलं वान्तं पीतामृतगरुत्मता।
विषेणामृतयुक्तेन गिरौ मरकताह्वये॥
लब्धान्तं हि घनीभूतं सञ्जातं सस्यकं खलु'। (र० र० स० २।१२५-१२६)

Scanned with CamScanner

प्राप्त होता है। वर्त्तमान में प्रयोगशालाओं में इसका कृत्रिम रूप से निर्माण कर सर्वत्र उपयोग में लिया जाता है।

भेद—प्राप्ति के आधार पर—१. स्वभावज एवं २. कृत्रिम ये दो भेद होते हैं।[१]

वर्ण के आधार पर—१. रक्तवर्ण (श्रेष्ठ) एवं २. कालिका (अधम)—ये दो भेद किये जाते हैं।

ग्राह्य तुत्थ—मयूरकण्ठ के समान छायावाला अर्थात् नीलवर्ण, गुरु, स्निग्ध तथा अत्यन्त चमकीला तुत्थ औषध-कार्य के लिए उत्तम माना जाता है।

तुत्थ-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध तुत्थ वान्ति (वमन) एवं भ्रान्ति (भ्रम) उत्पन्न करता है। अतः इसका शोधन करने के बाद ही उपयोग करना चाहिए।[२]

तुत्थ-शोधन की विधि—(१) तुत्थ को कुसुम्भ, खदिर, लाक्षा, मञ्जिष्ठा आदि रक्त वर्ग के द्रव्यों के क्वाथ की ७ भावना देने से यह शुद्ध हो जाता है। स्नेह द्रव्यों के सिंचन से तुत्थ शुद्ध हो जाता है।[३]

(२) तुत्थ को गो, महिष अथवा बकरी के मूत्र में दोलायन्त्र विधि से ३ प्रहर तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[४]

(३) तुत्थ को नीम्बू स्वरस की ३ भावना देने से शुद्ध हो जाता है।[५]

शुद्ध तुत्थ के लक्षण—वान्ति-भ्रान्ति रहित तुत्थ को शुद्ध समझना चाहिए।[६]

शुद्ध तुत्थ के गुण—यह फिरंग, उपदंश, नेत्ररोग, कुष्ठ, व्रण एवं त्वग्दोष नाशक, कृमिनाशक तथा वामक है।

तुत्थ-मारण—शुद्ध तुत्थ, शुद्ध गन्धक एवं शुद्ध टंकण—सभी को समान भाग में लेकर लकुच (बड़हल) स्वरस से मर्दनकर मूषा में बन्दकर कुक्कुट पुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार तीन पुट देने से तुत्थ का भस्म बन जाता है।[७]

तुत्थ भस्म का गुण—मयूर तुत्थ एवं तुत्थ भस्म रस में कटु, कषाय, मधुर एवं

१. 'सस्यकं हि स्वभावजं तुत्थकं कृत्रिमं मतम्।
एकाभावे परं ग्राह्यं नात्र कार्या विचारणा'॥ (र० ज० नि०)
२. 'वान्ति भ्रान्तिमशुद्धं तत्कुरुते शोधितं शुभम्'। (आ० प्र० ४।३९)
३. 'सस्यकं शुद्धिमाप्नोति रक्तवर्गेण भावितम्।
स्नेहवर्गेण संसिक्तं सप्तवारमदूषितम्'॥ (र० र० स० २।१२९)
४. 'दोलायन्त्रेण सुस्विन्नं सस्यकं प्रहरत्रयम्।
गोमहिषाज्यमूत्रेषु शुद्धयते तुत्थखर्परम्'॥ (र० र० स० २।१३०)
५. 'तुत्थं विचूर्ण्य खल्वे नवनिम्बुकोत्थवारा।
परिवेषयेद् द्वियाम रसतन्त्रकर्मविज्ञः'॥ (र० त० २१।१०६)
६. 'वान्तिभ्रान्ति यदा नस्तस्तदाशुद्धि विनिर्दिशेत्'। (र० चि० ७।१०१)
७. 'लकुचद्रावगन्धाश्मटङ्कणेन समन्वितम्।
निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौक्कुटैः पुटैः'॥ (र० र० स० २।१३१)

क्षारीय, गुण में लघु, वीर्य में उष्ण तथा विपाक में कटु होता है।[१] यह लेखन, भेदन, वमन, कृमिघ्न, चक्षुष्य, बल्य, मेहघ्न, मेदोहर, रसायन, संकोचकर, नाड़ीबलकर, रुचिकारक, त्वक्दोषहर, दीपन, वयःस्तम्भकर, रेचन तथा गरविषनाशक है।[२] यह कफपित्त-नाशक है।

यह वातादि सभी दोष, सभी प्रकार के विष, हृद्रोग, अर्श आदि गुदरोग, सब प्रकार के शूल, कुष्ठ, अम्लपित्त एवं विबन्ध को नष्ट करता है। यह रसायन, वमन, रेचन, गरघ्न है तथा श्वित्र (श्वेतकुष्ठ) का नाश करता है।[३]

तुत्थ भस्म की मात्रा—उत्तम विधि से बनायी गयी तुत्थ भस्म ½ रत्ती से १ रत्ती तक प्रयोग करनी चाहिए।[४]

तुत्थ विकार एवं शान्त्युपाय—अशुद्ध तुत्थ वान्ति-भ्रान्ति पैदा करता है। तीन दिन तक जम्बीरी नीम्बू का रस अथवा धान का लाजमण्ड पीने से विकार शान्त होता है।[५]

तुत्थ सत्त्वपातन—तुत्थ में ½ भाग टंकण मिलाकर नींबू स्वरस की भावना देकर सुखा लें, पश्चात् मूषा में रखकर तीव्र अग्नि में धमन करने से तुत्थ का सत्त्व निकल आता है।[६] तुत्थ से सत्त्व के रूप में ताम्र धातु प्राप्त होती है।

तुत्थ के प्रमुख योग—१. कनकसुन्दर रस, २. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, ३. जात्यादि तैल, ४. महाज्वराकुंश रस तथा ५. महामृत्युञ्जय रस आदि।

१. 'शिखिकण्ठसमच्छायं गुरु स्निग्धं महोज्ज्वलम्।
तुत्थकं शस्यते विज्ञैरन्यद्धीनगुणं मतम्'॥ (र० त० २१।७२)
२. 'तुत्थकं लेखनं भेदि कषायं मधुरं लघु।
कृमिघ्नमथ चक्षुष्यं मेहमेदोहरं परम्॥
कफपित्तहरं बल्यं शूलहृत्कुष्ठनाशनम्।
श्वित्रापहं चाम्लपित्तहरं चैव रसायनम्॥
तुत्थं सङ्कोचनकरं नाडीनां बलकृत् परम्।
त्वग्दोषशमनं कामं विशेषाद्रुचिरं मतम्'॥ (र० त० २१।१२७-१२९)
३. निःशेषदोषविषहृद्गदशूलमूलकुष्ठाम्लपैत्तिकविबन्धहरं परञ्च।
रसायनं वमनरेककरं गरघ्नं श्वित्रापहं गदितमत्र मयूरतुत्थम्'॥
(र० र० स० २।१२८)
४. 'गुञ्जाष्टमांशतो गुञ्जपादिकं तुत्थकं मृतम्।
तत्तद्भेषजयोगेन वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥ (र० त० २१।१३०)
५. 'जम्बीररसमादाय यः पिबेच्च दिनत्रयम्।
तस्य तुत्थकशान्तिस्यात्तद्वल्लाजेन वारिणा'॥ (बृहदरसराजसुन्दर)
६. 'निम्बुद्रवाल्पटङ्काभ्यां मूषामध्ये निरुध्य च।
ताम्ररूपं परिध्मातं सत्त्वं मुञ्चति सस्यकम्'॥ (र० र० स० १।१३४)

Scanned with CamScanner

तुत्थ के कुछ अन्य प्रयोग—

१. तुत्थद्रव—२ से ४ रत्ती स्वच्छ तुत्थ को ५ तोला परिस्रुत जल में घोलकर रख लेते हैं। इसे तुत्थ द्रव्य कहते हैं।[1]

यह तुत्थद्रव दुर्गन्धयुक्त, देर से भरने वाले, मांस बढ़े हुए व्रण, उपदंश एवं फिरंग जन्य व्रण जो कि न भर रहे हों, उनकी सफाई इस द्रव से करने पर व्रण शुद्ध होता है तथा भरने लगता है। पोथकी (Trocome) एवं क्लिन्न वर्त्म में नेत्रपलक को उलटकर लगाने से शीघ्र आराम मिलता है।[2] इसकी उत्तर वस्ति देने से पूयमेह तथा श्वेत प्रदर में शीघ्र लाभ होता है।

२. तुत्थामृत मलहर—१० तोले सिक्थ तैल में २० रत्ती स्वच्छ तुत्थ चूर्ण एकत्र कर एक खरल में डालकर अच्छी तरह मिलाकर रख लेते हैं।[3] यह मलहर लगातार कुछ दिन तक पामा पर लगाने से पुराना पामा नष्ट हो जाता है।[4] तुत्थ एक उत्तम जीवाणुनाशक द्रव्य है।

भूनाग सत्त्वपातन—

प्रथम विधि—केंचुओं (Earthworm) को धो-सुखाकर खर्पर में भूनकर उसका चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को क्रमशः ३-३ दिन भृङ्गराजस्वरस, नीम्बूस्वरस तथा निर्गुण्डीस्वरस से घोंट डालें। अब इसमें द्रावक वर्ग की औषधियों को मिलाकर जल से घोंटकर बड़ी-बड़ी गोलियाँ बना कर सुखा लें। इन गोलियों को मूषा में रखकर २ दण्ड (४८ मिनट) तक तीव्र धमन करें। स्वांगशीत होने पर सम्पूर्ण द्रव्य को मूषा से

१. 'द्विगुञ्जतश्चतुर्गुञ्जं तुत्थकं निर्मलीकृतम्।
परिस्रुते तु सलिले पञ्चतोलकसम्मिते॥
निक्षिपेदथ विज्ञाय तुत्थकं सर्वथा द्रुतम्।
तुत्थद्रवं प्रभुञ्जीत रसतन्त्रविचक्षणः'॥ (र० त० २१।७८-७९)

२. 'प्रक्लिन्नपूतिमांसानां सुचिरादप्यरोहताम्।
तथात्युच्छ्रितमांसानां व्रणानां पूतिगन्धिताम्॥
उपदंशफिरङ्गोत्थस्फोटानाञ्चाप्यरोहताम्।
रोपणाय तथाशेषदोषनिहरणाय च।
तुत्थद्रवं प्रयुञ्जीत विधानज्ञो भिषग्वरः।
द्रवेणानेन धौतास्तु व्रणा रोहन्त्यशंसयम्।
नेत्रवर्त्मयुगे युक्त्या योजितस्तुत्थकद्रवः।
क्लिन्नवर्त्मरुजञ्चापि पोथकीमाशु नाशयेत्'। (र० त० २१।८०-८३)

३. 'सिक्थतैलं सुविमलं दशतोलकसम्मितम्।
सुनिर्मले शिखिग्रीवं खलु विंशतिगुञ्जकम्॥
आदाय खल्वे सम्पेष्य काचकूप्यां निधापयेत्।
कथितोऽयं मलहरस्तुत्थकामृतसंज्ञकः'॥ (र० त० २१।९७-९८)

४. 'विनाशयेत् प्रलेपेन पामां चिरसमुत्थिताम्'॥ (र० त० २१।९९)

निकालकर मर्दन कर उसमें से राई के समान छोटे-छोटे भारी कणों को पृथक कर लें। अब इन कणों के बारहवें भाग में शुद्ध ताम्र मिलाकर खूब धमन करें। इससे सत्त्व के बड़े-बड़े कण प्राप्त हो जायेंगे।[1]

कुछ विद्वान् यहाँ भूनाग के स्थान पर भूनाग की मिट्टी (धौत) भी लेने का निर्देश करते हैं। उसी मिट्टी को धोकर मिट्टी के अंश को निकाल देने के बाद जो भाग बचता है उससे उपरोक्त विधि द्वारा सत्त्व प्राप्त करने का निर्देश करते हैं। केंचुए की विष्ठा को बार-बार धोकर प्राप्त कृष्णवर्ण के चूर्ण को धौत कहते हैं।[2]

दूसरी विधि—जिस स्थान पर ताम्र का खनिज पाया जाता है उसी स्थान से भूनाग एकत्र कर धोकर सुखा लें। इसके साथ समान भाग हरिद्रा मिलाकर चूर्ण कर लें। अब इसको गुड़, गुग्गुल, लाक्षा, ऊन, छोटी मछली (सूखी हुई), तिल की खली एवं टंकण के साथ मर्दनकर मिलाकर मूषा में भरकर दृढ़ अग्नि पर धमन करें तो ताम्र के समान सत्त्व निकल आता है।[3]

तृतीय विधि—शुद्ध भूनागों (सुहागा-मिश्रित नींबूस्वरस से स्वेदित एवं प्रच्छालित) को सुहागायुक्त गोदुग्ध में पकाकर मूषा में रखकर तेज आँच देने से ताम्र धातु-रूप सत्त्व निकल आता है।

भूनागसत्त्व मुद्रिका निर्माण—भूनाग सत्त्व १½ माषा एवं शुद्ध स्वर्ण छः माषा—इन दोनों को एकत्र गलाकर मुद्रिका (अंगूठी) बनवा लें।

मुद्रिका का उपयोग—इस मुद्रिका को जल से धोकर प्राप्त हुए जल को लेप की तरह लगाने से सभी प्रकार के जांगम और स्थावर विष, नेत्र के रोग, शूल, अर्श,

१. 'धौतभूनागसम्भूतं मर्दयेद् भृङ्गजद्रवैः।
निम्बूद्रवैश्च निर्गुण्ड्याः स्वरसैस्त्रिदिनं पृथक्॥
तद्द्रावणगणोपेतं सम्मर्द्य वटिकीकृतम्।
निरुध्य दृढमूषायां द्विदण्डं प्रधमेद् दृढम्॥
स्वतः शीतं समाहृत्य पट्टके विनिवेश्य तत्।
रवकान् राजिकातुल्यान् रेणूनतिभरान्वितान्॥
द्वादशांशार्कसंयुक्तान्धमित्वा रवकान्हरेत्'। (र० र० स० ५।२२०-२२२)

२. 'भृभृजङ्गशकृत्तोयैः प्रक्षाल्यापहृतं रजः।
कृष्णवर्णं हि तत्प्रोक्तं धौताख्यं रसवादिभिः'॥ (र० र० स० ८।४५)

३. 'ताम्रभूभवभूनागान्निशापिष्टान् समेन तान्।
गुडगुग्गुलुलाक्षोर्णामत्स्यपिण्याकटङ्कणैः॥
दृढमेतैश्च संयोज्य मर्दयित्वा धमेत्सुखम्।
मुञ्चन्ति ताम्रवत्सत्त्वं ते पक्षा अपि बर्हिणाम्'॥ (आ० प्र० ४।५२)

Scanned with CamScanner

कर्णरोग और प्रसव काल में गर्भ का अवरोध आदि कष्ट दूर हो जाता है।[1] ऐसा सोमदेव द्वारा निर्दिष्ट है।

भूनाग सत्त्व वज्र का द्रावण करता है तथा वज्र एवं पारद के तेज (सामर्थ्य) को बढ़ा देता है।[2]

मयूरपिच्छ सत्त्व—मयूरपिच्छ के समभाग घृत लेकर दोनों को एकत्र लोहे की कड़ाही में जला लें। जलने के बाद प्राप्त राख में गुड़, गुग्गुलु, छोटी मछली, ऊन, टंकण, सज्जिकाक्षार, मधु, गुञ्जा, पिप्पली, लाक्षा एवं घृत—इन सबको एकत्र मर्दनकर अच्छी प्रकार मिला लें। इसे मूषा में बन्दकर तीव्र धमन करें। पश्चात् स्वांगशीत होने पर मूषा के तल से सत्त्व को प्राप्त कर लें।[3]

तुत्थ, स्वर्णमाक्षिक आदि ताम्र-प्राप्ति का स्रोत खनिज; तथा भूनाग, मयूरपिच्छ आदि का स्रोत प्राणिज है। इनसे प्राप्त ताम्र शुद्ध एवं उत्तम कोटि का होता है।

चपल
(Bismuth ore)

वर्ग—महारस, उपरस एवं रसवर्ग।

नाम—संस्कृत : चपलः। हिन्दी : चपल। अंग्रेजी : Bismuth ore.

संकेत—Bi। **काठिन्य**—२ से २.५। **वि० गु०**—९.७।

घनत्व—७.८। **द्रवणांक**—२६७° सें० है।

उत्पत्ति (पौराणिक मान्यता)—

१. चपल ईश्वर के नासारन्ध्र का मल है। (र० का० धे०)

२. माक्षिक के खानों से इसकी प्राप्ति होती है।

३. जहाँ नाग-वंग उत्पन्न होता है वहीं चपल पाया जाता है। यथा—
'यत्र जातौ नागवङ्गौ चपलस्तत्र जायते।'

निरुक्ति—वंग की तरह शीघ्रता से अग्नि में द्रवित हो जाने के कारण इसे चपल कहते हैं।[4]

१. 'भूनागोद्भवसत्त्वमुत्तममिदं श्रीसोमदेवोदितं-
दत्तं पादमितं द्विशाणकनकेनैकं गतेनोर्मिकाम्।
तद्धौताम्बुविलेपितं स्थिरचरोद्भूतं विषं नेत्ररुक्-
शूलं मूलगदञ्च कर्णजरुजो हन्यात्प्रसूतिग्रहम्' ॥ (र० र० स० ५।२३१)

२. 'वज्राणां द्रावणार्थाय सत्त्वं भूनागजं ब्रुवे।
तदेव परमं तेजः सूतराजेन्द्रवज्रयोः' ॥ (र० र० स० ५।२१९)

३. 'मयूरपक्षमादाय ज्वालेयदाज्यसर्पिषा।
गुडगुग्गुलुमीनोर्णा टङ्कणं सज्जिका मधु ॥
गुञ्जापिप्पललाक्षा च घृतं चैकत्र कारयेत्।
धमेत्तं दग्धमूषायां नागताम्रं प्रजायते' ॥ (बृहदरसराजसुन्दर)

४. 'वङ्गवद्द्रवते वह्नौ चापलस्तेन कीर्तितः'। (र० र० स० २।१४३)

भेद—वर्ण के आधार पर इसके ४ भेद किये गये हैं—

प्रथम भेद—१. गौर, २. श्वेत, ३. अरुण एवं ४. कृष्ण।[1]

(रसार्णव एवं र० र० स०)

द्वितीय भेद—१. सित, २. असित (कृष्ण) ३. हरित और ४. शोण (रक्त)।[2]

इनमें गौर-श्वेत (हेमाभ एवं ताराभ) अथवा सित-असित भेद को रसवन्ध कर, देर से द्रवित होने वाला एवं गुणवान् बताया गया है। शेष अरुण-कृष्ण या हरित-शोण लाक्षा के सदृश शीघ्र द्रवित होनेवाला तथा निष्फल कहा गया है।[3]

रसराजलक्ष्मी एवं रसकामधेनु में चपल के छः भेद बताये गये हैं। यथा—१. स्वर्णचपल, २. तारचपल, ३. ताम्रचपल, ४. नागचपल, ५. वंगचपल तथा ६. तीक्ष्णचपल।

विस्मथ खनिज के वर्ण तथा इन तत्त्वों (धातुओं) की थोड़ी-बहुत उपस्थिति के कारण ही सम्भवतः इस प्रकार का भेद किया गया है।

प्राचीन समय में भी चपल एक दुर्लभ खनिज माना जाता था, अतः उसके कृत्रिम निर्माण का वर्णन उपलब्ध होता है; यथा—नागसम्भूत चपल एवं २. वङ्गसम्भूत चपल। नाग को सहस्र पुट दें, अन्त में जो अक्षीण नागभस्म बच जायेगा वही नागसम्भूत चपल है।[4] इसी प्रकार की प्रक्रिया वंग में भी करें। अन्त में जो अक्षीण वंगभस्म बचेगा वही वंगसम्भूत चपल है।[5]

चपल के जो विविध वर्ण शास्त्रों में बतलाये गये हैं, वे उसमें अल्पमात्रा में पाये जाने वाले गन्धक, एण्टीमनी, लोह, ताम्र तथा आर्सेनिक के तत्त्वों के कारण सम्भव हैं।

भौतिक स्वरूप—चपल स्फटिक की आभावाला, छः कोणों से युक्त, चिकना और भारी होता है।[6]

चपल-शोधन—चपल को चूर्णकर जम्बीरी नींबू, बन्ध्याकर्कोटकी तथा आर्द्रक स्वरस की सात-सात भावना दे देने से चपल शुद्ध हो जाता है।

१. 'गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु चतुर्विधः'। (र० र० स० २।१४५)

२. 'चत्वारश्चपलाः सितासितहरिच्छोणप्रभेदैः पुनः'। (रसपद्धति-महारसप्रकरण)

३. 'हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद्रसबन्धनः।
शेषौ तु मध्यौ लाक्षावच्छीघ्रद्रावौ तु निष्फलौ' ॥
(र० र० स० २।१४२-१४३)

४. 'त्रिंशत्पलमितं नागं भानुदुग्धेन मर्दितम्।
विमर्द्य पुटयेत्तावद्यावत्कर्षविशेषितम् ॥
न तत्पुटसहस्रेण क्षयमायाति सर्वथा।
चपलोऽयं समाख्यातो वार्त्तिकैर्नागसम्भवः' ॥ (र० र० स० ८।४१-४२)

५. 'इत्थं हि चपलः कार्यो वङ्गस्यापि न संशयः'। (र० र० स० ८।४३)

६. 'चपलः स्फटिकच्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरुः'। (र० र० स० २।१४५)

Scanned with CamScanner

चपल-मारण—शुद्ध चपल में समभाग गिरिसिन्दूर या रससिन्दूर या गन्धक अथवा निर्गुण्डी स्वरस की भावना देकर बालुकायन्त्र विधि से पका लेने पर सुन्दर लाल वर्ण का चपल भस्म बन जाता है।

चपल-सत्त्वपातन—चपल को चूर्णकर उसमें विष एवं उपविषों (भांग, धत्तूर, करवीर, वत्सनाभ आदि) के क्वाथ तथा धान्याम्ल (काञ्जी) की भावना देकर पिण्ड बना एवं सुखाकर अन्धमूषा में रखकर धमन करने से चपल का सत्त्व निकल आता है।[1]

चपल के गुण—चपल लेखन, स्निग्ध, देहलोहकर, पारद के गुणों को बढ़ाने वाला, रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण तथा विपाक में मधुर होता है।[2] यह त्रिदोष नाशक, अत्यन्त वृष्य तथा पारद का बन्धन करने वाला होता है। चपल को हाथ में मलकर उस हाथ से पारद को स्पर्श करने मात्र से पारद बन्ध जाता है। इस प्रकार का बद्ध पारद केवल धातुवाद में ही उपयोगी होता है, रसायन कार्य के लिए नहीं।[3]

वर्तमान समय में रसशास्त्रीय चपल व्यवहार में छूट-सा गया है तथा एक संदिग्ध द्रव्य के रूप में बना हुआ है। अधिकांश विद्वान् इसे विस्मथ का खनिज स्वीकार करते हैं। यहाँ उसी को लक्ष्य कर संक्षिप्त वर्णन के साथ उसके शास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत किया गया है।

रसक या खर्पर
(Zinc ore or Calamine)
(ZnO या ZnS या $ZnCO_3$)

वर्ग—महारस वर्ग।

नाम—संस्कृत : रसक। हिन्दी : खपरिया। अंग्रेजी : Zinc ore.

पर्याय—खर्पर, खर्परीयक, रसक, यशदकारण, रीतिकृत, ताम्ररञ्जक, नेत्ररोगारि[4], गोभट्ट, गोभद्र, क्षितिकिट्ट, रसोद्भव—ये सभी रसक के पर्याय हैं।[5]

१. 'शैलं तु चूर्णयित्वा तु धान्याम्लोपविषैर्विषैः।
पिण्डं बद्ध्वा तु विधिवत्पातयेच्चपलं तथा'॥ (र० र० स० २।१४८)

२. 'चपलो लेखनः स्निग्धो देहलोहकरो मतः।
रसराजसहायः स्यात्तिक्तोष्णमधुरो मतः॥
त्रिदोषघ्नोऽतिवृष्यश्च रसबन्धविधायकः'। (र० र० स० २।१४४-१४५)

३. 'तत्स्पृष्टहस्तसंस्पृष्टः केवलो बध्यते रसः।
स रसो धातुवादेषु शस्यते न रसायने'॥ (र० र० स० ८।४४)

४. 'खर्परः खर्परञ्चैव तदेव खर्परीयकम्।
रसको रसकञ्चैव मतं यशदकारणम्'॥ (र० त० २१।१८१)

५. 'गोभट्टो रसकस्तुत्थः क्षितिकिट्टो रसोद्भवः'। (रसार्णव)

इतिहास—रसक या खर्पर का ज्ञान अत्यन्त प्राचीन है। इससे प्राप्त होने वाले सत्त्व का खर्परसत्त्व के नाम से रसकाल में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस सत्त्व का यशद नामकरण १४वीं शताब्दी में आकर अरबी शब्द 'जस्ता' से प्रभावित प्रतीत होता है। इसके सत्त्व एवं ताम्र का मिश्रधातु पित्तल चरक के काल में 'रीति' के नाम से प्रचलित था। रसरत्नसमुच्चय में इसके रीतिकृत एवं ताम्ररञ्जक गुणों का भी स्पष्ट रूप में उल्लेख है, तथा मिश्रलोहवर्ग में पित्तल का उल्लेख भी रसक एवं रसकसत्त्व के ज्ञान एवं उपयोग को प्रमाणित करता है।

रसक के भेद—

रसार्णव के आधार पर[1]—

१. मृत्तिकाकार (पीतवर्ण एवं श्रेष्ठ : Zinc Oxide)।
२. गुडाभ (मध्यम : Zinc Sulphide or Zincite)।
३. पाषाणाभ (अधम : Zinc Silicate or Carbonate)।

रसरत्नसमुच्चय के आधार पर—

१. दर्दुर (Calamine) : दलयुक्त
२. कारवेल्लक (Smith Sonite) : दलरहित या निर्दल

$ZnCO_3$

सत्त्वपातन हेतु दर्दुर तथा औषधि कार्य हेतु कारवेल्लक को उत्तम माना गया है।[2]

प्राप्ति-स्थान—स्पेन, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, मेलबोर्न, फ्रांस, वर्मा तथा भारत में बिहार, पंजाब, राजस्थान एवं बंगाल आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

खर्पर-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध खर्पर के सेवन से वमन एवं भ्रम उत्पन्न होता है।[3] अतः शोधन करके ही भस्म निर्माण करें।

रसक (खर्पर) शोधन—कटुतुम्बी के रस में रसक को पका लेने से रसक शुद्ध, दोषों से रहित तथा पीतवर्ण का हो जाता है।[4]

अथवा—खर्पर को प्रतप्त कर बिजौरा नीम्बू के स्वरस में ७ बार निमज्जन करने

१. 'मृत्तिका गुडपाषाण-भेदतो रसकस्त्रिधा।
पीतस्तु मृत्तिकाकारो मृत्तिकारसको वरः॥
गुडाभो मध्यमो ज्ञेयः पाषाणाभः कनिष्ठकः'। (रसार्णव० ७।२८-२९)

२. 'रसको द्विविधः प्रोक्तो दर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः॥
सत्त्वपाते शुभः पूर्वो द्वितीयश्चौषधादिषु'॥ (र० र० स० २।१४९-१५०)

३. 'अशुद्धखर्परः कुर्याद्वान्ति भ्रान्ति विशेषतः।
तस्माच्छोध्यः प्रयत्नेन यावद्वान्तिविवर्जितः'॥ (आ० प्र० २।२८३)

४. 'कटुकालाबुनिर्यास आलोड्य रसकं पचेत्।
शुद्धं दोषविनिर्मुक्तं पीतवर्णं च जायते'॥ (र० र० स० २।१५४)

Scanned with CamScanner

से शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार नरमूत्र, अश्वमूत्र, तक्र अथवा काँजी—इनमें से किसी एक में रसक को प्रतप्त कर ७ बार बुझा लेने से रसक शुद्ध हो जाता है।[1]

रसक (खर्पर) का मारण—शुद्ध खर्पर एवं शुद्ध पारद समान भाग में लेकर अच्छी प्रकार मर्दनकर बालुकायन्त्र विधि से १ दिन तक पाचन करने से रसक का लालवर्ण का भस्म बन जाता है।[2]

अथवा—शुद्ध खर्पर को अच्छी प्रकार चूर्ण कर बालुकायन्त्र अथवा लवणयन्त्र द्वारा पाक करने से रसक का भस्म हो जाता है।[3]

खर्पर सत्त्व पातन—अभया, शिलाजतु, लाक्षा, केंचुआ, हल्दी, गृहधूम और टंकण सभी रसक से चतुर्थांश लेकर रसक के साथ घोंटकर अन्धमूषा में रखकर धमन करने से रसक का सत्त्व निकल आता है।[4]

रसक के गुण—रसक रस में कटु, कषाय तथा गुण में रूक्ष एवं लघु है। यह कफ-पित्तहर, वातवर्द्धक एवं श्लेष्महर है। इसका सत्त्व त्रिदोषहर है। यह नेत्ररोग, क्षय, सभी प्रकार के प्रमेह, मधुमेह, पाण्डु, वातव्याधि, योनिरोग, स्त्रीरोग, ज्वर, विषमज्वर, श्वास, कास, क्षवथु, गुल्म, हिक्का, रजःशूल, प्रदररोग, सोमरोग, रक्त-गुल्म एवं पैत्तिक रोगों को नष्ट करता है।[5] यह देह को लौह सदृश दृढ़ करता है। रसक लोह एवं पारद दोनों का रंजन करता है। इसे पित्तल बनाने वाला (रीतिकृत)

१. 'खर्परः परिसन्तप्तः सप्तवारं निमज्जितः।
बीजपूररसस्यान्तर्निर्मलत्वं समश्नुते॥
नृमूत्रे वाऽश्वमूत्रे वा तक्रे वा काञ्जिकेऽथवा।
प्रताप्य मज्जितं सम्यक् खर्परं परिशुद्धचति'॥
(र० र० स० २।१५५-१५६)

२. 'खर्परं पारदेनैव चूर्णयित्वा दिनं पचेत्।
बालुकायन्त्रमध्यस्थं शोणं भस्म प्रजायते'॥ (आ० प्र० २।२८९)

३. (क) 'कृत्वा खर्परपत्राणि पचेल्लवणयन्त्रके।
जायते शोभनं भस्म सर्वरोगापहं स्मृतम्'॥ (आ० प्र० २।२९०)
(ख) 'पञ्चाढकबालुकापूर्णे भाण्डे निक्षिप्य यत्नतः।
पच्यते रसगोलाद्यं बालुकायन्त्रमीरितम्॥
एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवणयन्त्रकम्'॥ (र० चू०)

४. 'साभयाजतुभूनागनिशाधूमजटङ्कणम्।
मूकमूषागतं ध्मातं सत्त्वं मुञ्चति खर्परम्'॥ (र० र० स० २।१६३)

५. (क) 'रसकः सर्वमेहघ्नः कफपित्तविनाशनः।
नेत्ररोगक्षयघ्नश्च लोहपारदरञ्जनः॥
नागार्जुनेन सन्दिष्टौ रसश्च रसकावुभौ।
श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलोहकरौ परम्'॥
(र० र० स० २।१५१-१५२)

तथा ताम्र रञ्जक कहा गया है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि रस (पारद) एवं रसक को जो व्यक्ति अग्निस्थायी कर लेता है, देहसिद्धि एवं लौहसिद्धि उसके अधीन हो जाती है।[1]

रसक भस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति—खर्पर भस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति के लिए एक सप्ताह पर्यन्त गोमूत्र पिलाना चाहिए।[2]

रसक के प्रमुख योग—१. कस्तूरीभैरव रस, २. महाज्वरांकुश रस, ३. लक्ष्मी-विलास रस, ४. वसन्तमालती रस तथा ५. प्रदरान्तक रस आदि।

गन्धक
(Sulphur)

नाम—संस्कृत : गन्धकः। हिन्दी : गन्धक। अंग्रेजी : Sulphur.
संकेत—S। **काठिन्य**—१·५ से २·५ तक।
द्रवणांक—११९° सें०। **क्वथनांक**—४४४·८° सें०। **वि० गु०**—१·९-२·१।
परमाणु भार—३२·०६६। **परमाणु क्र०**—१६। **परमाणु बन्धन क्षमता**—२ है।
यह जल में अविलेय तथा उष्ण जल में अल्प विलेय है।

पर्याय—गन्धक, गन्धपाषाण, गन्धी, रसगन्धक, सुगन्धिक, गन्धिक, गन्ध, सौगन्धिक, पूतिगन्ध, अतिगन्ध, पामारि, कीटनाशन, बलि, बलिवसा, कुष्ठारि, शर-भूमिज, गुल्वारि, नवनीत, दैत्येन्द्र, गन्धमादन, कीटघ्न, क्रूरगन्ध, (गौरीपुष्प) एवं ललीतक—ये सभी गन्धक के पर्याय हैं।

उत्पत्ति—१. रसग्रन्थों में क्षीरसागर के मन्थन से अमृत के साथ इसकी उत्पत्ति तथा २. देवी पार्वती के रज से इसकी उत्पत्ति ('देव्या रजो भवेद् गन्धो') बतलायी गयी है। तदनुसार यह पर्वतीय ज्वालामुखी, जलप्रपात अथवा गोदन्ती, माक्षिक आदि विविध खनिजों के साथ खानों से प्राप्त होता है।

(ख) 'निशेवितं निहन्त्याशु मधुमेहमपि ध्रुवम्।
पित्तं क्षयं च पाण्डुं च श्वयथुं गुल्ममेव च॥
रक्तगुल्मं च नारीणां प्रदरं सोमरोगकम्।
योनिरोगानशेषांश्च विषमांश्च ज्वरानपि॥
रजःशूलं च नारीणां कासं श्वासञ्च हिध्मिकाम्'।
(र० र० स० २।१७०-१७२)

(ग) 'खर्परो नेत्ररोगारिः रीतिकृत् ताम्ररञ्जकः'॥ (रसार्णव० ७।३७)

१. 'रसश्च रसकश्चोभौ येनाग्निसहनौ कृतौ।
देहलोहमयीं सिद्धिर्दासी तस्य न संशयः'॥

२. 'रसकनिषेवणतो यदि रोगाः प्रादुर्भवन्ति मनुजानाम्।
तेनाशमाप्नुवन्ति पीतं गोमूत्रसप्ताहात्'॥
(बृह० र० रा० सु०)

Scanned with CamScanner

यह जांगम प्राणियों के रक्त, दुग्ध, पित्त, अण्डों आदि में तथा राई, गाजर, लशुन, बीजों के तेल तथा वृक्षों के रस आदि औद्भिद स्रोत के द्रव्यों में भी पाया जाता है।

इतिहास—चिकित्सा में चरक के काल से इसका सतत प्रयोग होता चला आ रहा है। रसशास्त्र के विकास-क्रम में इसको विशेष महत्त्व का स्थान प्राप्त हुआ। यह प्रायः पारद के बाद दूसरे स्थान पर प्रतिष्ठित है। धातुकर्म में तथा अधिकांश निरापद पारदीय कल्पों में इसका खूब प्रयोग होता है। धातुओं विशेषकर ताम्र के मारण में इसका विशेष महत्त्व होने से इसे शुल्वारि संज्ञा से सूचित करते हैं।

प्राप्ति-स्थान—प्रकृति में गन्धक मुक्तावस्था तथा अन्य धातुओं के खनिज के रूप (संयुक्त अवस्था) में पाया जाता है। मुक्तावस्था में यह मिट्टी और कंकर आदि पदार्थों के साथ मिला हुआ पाया जाता है। सिसली (श्वेतद्वीप) में यह पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। जापान, ईरान, यूरोप के अनेक देशों में भी अल्पमात्रा में पाया जाता है। बिलोचिस्तान के कोहीसुल्तान नामक पहाड़ जो कुछ समय पूर्व ज्वालामुखी पर्वत था, इसके आस-पास गन्धक मुक्त अवस्था में पाया जाता है। उष्ण जल के स्रोतों से प्राप्त जल में गन्धक कुछ मात्रा में पाया जाता है।

संयुक्त अवस्था में यह विविध धातु के खनिजों के रूप में विश्व के अनेक स्थानों में प्रचुरता से पाया जाता है। इसके निम्न प्रमुख खनिज हैं—

१. स्वर्णमाक्षिक (Copper pyrite or Chelco pyrite)।
२. रौप्यमाक्षिक (Iron pyrite)।
३. विमल (Iron pyrite)।
४. सस्यक (Copper sulphate)।
५. कासीस (Ferrous sulphate)।
६. नीलाञ्जन (Galena)।
७. यशद खनिज (Zinc sulphate)।
८. स्रोतोञ्जन (Antimony sulphide)।
९. हरताल (Orpiment)।
१०. मनःशिला (Realgar)।
११. हिंगुल (Cinnabar)।

ये सभी खनिज भारत में भी पाये जाते हैं, परन्तु इनसे पृथक् करके शुद्ध गन्धक प्राप्त करना कठिन है।

गन्धक के खनिज से गन्धक की प्राप्ति—जिन खनिजों में गन्धक का प्रमाण अधिक होता है, ऐसे खनिजों को भट्ठे (ईंट के भट्ठे के समान) में जलाते हैं। भट्ठे का फर्श पक्का एवं ढलुवा बनाया जाता है। भट्ठे के बीचो-बीच नीचे से ऊपर की ओर एक खुला हुआ वायुद्वार होता है। नीचे पेंदे में आग जलाई जाती है, इससे कुछ गन्धक जल जाता है और उससे बनने वाला सल्फरडाइआक्साइड गैस भी निकास मार्ग से निकल जाता है। इस जलने की प्रक्रिया से जो ऊष्मा पैदा होती है, उससे

शेष गन्धक पिघलकर फर्श पर से बहता हुआ नीचे के ढलुए फर्श एवं नाली से होता हुआ लकड़ी के बने ढाँचे में पहुँच जाता है। ये ढाँचे बत्ती के आकार के बने होते हैं। यही गन्धक सामान्य व्यापारिक कार्यों के लिए पर्याप्त शुद्ध होता है और यही सस्ता भी पड़ता है। बिलकुल शुद्ध गन्धक प्राप्त करने के लिए इसी गन्धक को लोहे के बड़े भभके में उबाला जाता है तथा उसकी भाप को ईंट के बड़े-बड़े कमरों में ले जाते हैं, वहाँ भाप ठण्डी होकर शुद्ध गन्धक प्राप्त होता है। इसमें प्राप्त होने वाला गन्धक सुन्दर दानेदार होता है। कमरा पहले ठण्डा रहता है लेकिन कुछ समय के बाद कमरा भी गर्म हो जाता है और ताप से गन्धक द्रवीभूत होकर फर्श पर एकत्र हो जाता है, जिसे निकास मार्ग से साँचों में डालकर Roll के आकार का बना लिया जाता है। इसे Roll Sulphur के नाम से तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसे ही आँवलासार गन्धक कहते हैं। यह रासायनिक दृष्टया पर्याप्त शुद्ध होता है।

तापके कारण गन्धक अनेक रूपों का देखा जाता है। साधारणतः गन्धक के दाने अष्टफलकाकार होते हैं, किन्तु इसे द्रवित कर पुनः ठण्डा करने पर सूच्याकार दाने बन जाते हैं। द्रवित गन्धक को धार के रूप में जल में गिराने से रबर की तरह लचीला (Elastic), नम्य गन्धक बन जाता है। यह ज्वलनशील होता है। जलने पर तीव्र गन्ध निकलती है।

गन्धक का वर्ण विविध ताप पर परिवर्तित होता है, यथा—३५०° सें० पर गर्म कर जल में गिराने पर बना नम्य गन्धक कृष्णवर्ण का होता है। ५००° सें० पर इसका रंग लाल वर्ण का हो जाता है। कृष्णवर्ण गन्धक को दुर्लभ तथा रक्तवर्ण का गन्धक धातुवाद के लिए श्रेष्ठ बतलाया गया है।

गन्धक के प्रकार—रसार्णव में गन्धक के ३ प्रकार कहे गये हैं —

१. शुकचञ्चुनिभम् : रक्तवर्ण : श्रेष्ठ।
२. पीतवर्ण : मध्यम।
३. श्वेतवर्ण : अधम।

रसेन्द्रचूड़ामणि में इसके ४ भेद बतलाये गये हैं—

१. रक्त : शुकतुण्डनिभम् : धातुवादार्थ।
२. पीत : शुकपिच्छनिभम् : रसायन-कर्मार्थ।
३. श्वेत : खटिकाकार : लोहमारणार्थ।
४. कृष्ण : दुर्लभ : जरामृत्युनाशनार्थ।

१. 'स चापि त्रिविधो देवि ! शुकचञ्चुनिभो वरः।
मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छ्वेतवर्णोऽधमः स्मृतः॥
चतुर्धा गन्धको ज्ञेयो वर्णैः श्वेतादिभिः खलु।
श्वेतोऽत्र खटिका प्रोक्तो लेपने लोहमारणे॥
तथा चामलासारः स्याद्यो भवेत्पीतवर्णवान्।
शुकपिच्छः स एव स्याच्छ्रेष्ठो रसरसायने॥

सम्प्रति गन्धक दो प्रकार का उपलब्ध होता है—

१. हरित पीतवर्ण का आँवलासार गन्धक।

२. श्वेत पीतवर्ण का खटिका गन्धक।

इनमें आँवलासार गन्धक उत्तम एवं औषधकार्य के लिए (अन्तःप्रयोगार्थ) तथा खटिका गन्धक बाह्य प्रयोगार्थ लेना चाहिए।

ग्राह्य स्वरूप—शुकपिच्छ के समान (पीतहरिद्वर्ण) आभावाला, नवनीत के समान चिकना, कठिन, स्निग्ध गन्धक श्रेष्ठ होता है।[1]

गन्धक-शोधन की आवश्यकता—गन्धक में शिला चूर्ण (बालू, कंकर, पत्थर) तथा विष (शंखिया आदि)—ये दो प्रकार के मल होते हैं। अतः इसका यत्नपूर्वक शोधन करना चाहिए।[2]

अशुद्ध गन्धक के सेवन से कुष्ठ, ताप, भ्रम एवं पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं। यह रूप, सुख, एवं बल-वीर्य की हानि करता है। अतः शुद्ध करके ही इसे उपयोग में लाना चाहिए।[3]

पौराणिक कथानक के आधार पर समुद्र-मन्थन के समय वासुकि सर्प के मुख से निकलने वाली विष ज्वाला के संसर्ग से राजा बलि के शरीर से पिघलकर निकली वसा (गन्धक) विषयुक्त हो गई। इसी कारण गन्धक को बलिवसा कहते हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार गन्धक विषयुक्त होता है।[4]

गन्धक-शोधन—

पहली विधि—एक पात्र (हाँडी) में दूध भरकर उसके मुख को पतले वस्त्र से बाँध दें। अब एक लोहे की कड़ाही में गोघृत के साथ गन्धक को पिघला लें। इस पिघले गन्धक को कपड़े से छानते हुए दूधभरी हाँडी में गिरा दें। अब इस दूध एवं उसमें स्थित गन्धक सहित हाँडी को अग्नि पर-चढ़ाकर मन्द आँच से १ घड़ी (३

रक्तश्च शुकतुण्डाख्यो धातुवादविधौ वरः।
दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः' ॥ (र० र० स० ३।१२-१५)

१. 'शुकपिच्छसमच्छायो नवनीतसमप्रभः।
मसृणः कठिनः स्निग्धः श्रेष्ठो गन्धक उच्यते' ॥ (आ० प्र० २।२०)

२. 'गन्धे मलद्वयं दृष्टं शिलाचूर्णविषं तथा।
शोधितव्यस्ततो यत्नादभिज्ञेन यथाविधि' ॥ (रसजलनिधि)

३. 'अशुद्धगन्धः कुरुते च कुष्ठं तापं भ्रमं पित्तरुजं तथैव।
रूपं सुखं वीर्यबलं निहन्ति तस्माद्विशुद्धो विनियोजनीयः' ॥ (आ० प्र० २।१८)

४. 'बलिना सेवितः पूर्वं प्रभूतबलहेतवे।
वासुकिं कर्षतस्तस्य तन्मुखज्वालया द्रुता॥
वसा गन्धकगन्धाढ्या पर्वतो निःसृता तनोः।
गन्धकत्वं च सम्प्राप्ता गन्धोऽभूत्सविषः स्मृतः॥
तस्माद्बलिवत्सेत्युक्तो गन्धकोऽतिमनोहरः'। (र० र० स० ३।१७-१९)

घण्टे तक) स्विन्न करें (पकावें)। स्वेदन के पश्चात् गन्धक को हाँडी से निकाल स्वच्छ जल से धो-सुखाकर शुद्ध गन्धक प्राप्त करें।[1] इस प्रकार शुद्ध किया गया गन्धक पाषाण आदि न पिघलने वाले पदार्थों से कपड़े पर छनकर मुक्त हो जाता है। घृत में तुष के आकार के नुकीले दाने के रूप में, विष जो कपड़े से छनकर नीचे चला जाता है, पिण्ड रूप में दूध के ऊपर तैरता रहता है। इस प्रकार शुद्ध गन्धक अपथ्य-पूर्वक सेवन से भी विकार नहीं उत्पन्न करता है, अन्यथा अशुद्ध गन्धक सेवन की स्थिति में किया गया अपथ्य हलाहल विष के समान शरीर को नष्ट करने वाला बतलाया गया है।[2]

उपरोक्त शोधन के तीन लाभ होते हैं—

१. न पिघलने वाले कंकर-पत्थर-बालू आदि कपड़े पर छनकर गन्धक से पृथक् हो जाते हैं।

२. घृत विलेय पदार्थ घृत में (स्नेह में) घुलकर रह जाते हैं।

३. ताप एवं स्नेह से बचे द्रव्य दुग्ध के जलीयांश में विलीन होकर गन्धक से अलग हो जाते हैं। इस विधि के लिए कम-से-कम चतुर्थांश घृत अवश्य लें।

दूसरी विधि—गन्धक को द्रवित कर भृंगराज स्वरस से गिराकर तत्पश्चात् उसी रस में आधे घण्टे तक स्वेदन कर लेने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। ऐसा सात बार करना चाहिए।[3]

इस विधि में भी भृंगराज स्वरस युक्त पात्र के मुख पर कपड़ा बाँध कर द्रवित गन्धक को वस्त्र से छानते हुए पात्र में गिराना चाहिए।

तीसरी विधि—एक हाँडी में दूध भर कर उसके मुख पर कपड़ा बाँध दें। इस कपड़े पर गन्धक का चूर्ण बिछा दें। हाँडी के मुख को गन्धक सहित पूरी तरह ढक ले, ऐसे मिट्टी के ढक्कन (शराब) से ढक कर कपड़मिट्टी कर पात्र को मुख तक एक गड्ढे में डालकर मुख भाग पर उपलों की अग्नि जला दें। इससे गन्धक द्रवित होकर कपड़े से छनता हुआ दूध में चला जाता है। इस प्रकार गन्धक की शुद्धि हो जाती है। ऐसा सौ बार कर लेने से गन्धक गन्धरहित हो जाता है।[4]

पयःस्विन्नो घटीमात्रं वारिधौतौ हि गन्धकः।
गव्याज्यविद्रुतो वस्त्राद् गालितः शुद्धिमृच्छति' ॥ (र० र० स० ३।२०)

२. 'एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणानम्बरे त्यजेत्।
घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिडत्वमेव च॥
इति शुद्धो हि गन्धाश्मा नापथ्यैर्विकृतिं व्रजेत्।
अपथ्यादन्यथा ह्यात्पीतं हालाहलं तथा' ॥ (र० र० स० ३।२१-२२)

३. 'गन्धको द्रावितो भृङ्गरसे क्षिप्तो विशुध्यति।
तद्रसैः सप्तधा स्विन्नो गन्धकः परिशुध्यति' ॥ (र० र० स० ३।२३)

४. 'स्थाल्यां दुग्धं विनिक्षिप्य मुखे वस्त्रं निबध्य च।
गन्धकं तत्र निक्षिप्य चूर्णितं सिकताकृतिम्॥

Scanned with CamScanner

इनके अतिरिक्त आर्द्रकस्वरस, नोम्बूस्वरस, अजादुग्ध, उन्मत्त निर्यास, करंज तैल, एरण्ड तैल, मत्स्यपित्त, काँजी, जम्बुवारि, पलाण्डु स्वरस एवं उष्णोदक—इन द्रव्यों द्वारा स्वेदन, द्रव-निक्षेप, भावना, प्रच्छालन एवं कूर्मपुट पाक से गन्धक की शुद्धि होती है।

शुद्ध गन्धक की मात्रा—१ रत्ती से ८ रत्ती तक प्रयोग कर सकते हैं।

गन्धक के गुण[२]—गन्धक रस में कटु, तिक्त एवं कषाय; गुण में सर, वीर्य में उष्ण तथा विपाक में मधुर (र० चू०) होता है। (आयुर्वेदप्रकाशकार ने इसका विपाक कटु कहा है)।

यह दीपन, पाचन, विषघ्न, जन्तुघ्न, कृमिघ्न, अग्निकारक, आमोन्मोचक, शोषक, रसशोषक एवं रसायन है। यह पारद का वेधन करने वाला, मूर्च्छनाप्रद, पारद को जीतने वाला, पारद का बलवीर्यवर्द्धक, दीर्घायुष्यकर, दृष्टिशक्तिवर्द्धक, जन्तु, कण्डू एवं विसर्प नाशक है। यह गौरीपुष्पभव (रज से उत्पन्न) सत्त्वरूप होता है।

गन्धक पित्तवर्द्धक तथा कफवातहर है। व्याधियों में—कण्डू, कुष्ठ, पामा, दद्रु, विसर्प, त्वक्दोष, अग्निदोष, विषदोष, भूतदोष, कृमिदोष, प्लीहारोग, क्षय, जरा, नेत्ररोग, ज्वरादि रोग, मृत्यु, कास आमाजीर्ण, मन्दाग्नि, बलक्षय और ऊर्ध्वजत्रुगत सम्पूर्ण रोगों का नाश करता है। गन्धक की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि गन्धक से बढ़कर कोई दूसरा द्रव्य रस-उपरस में नहीं है।

शुद्ध गन्धक अशुद्ध पारद के खाने से उत्पन्न विकारों तथा अशुद्ध नाग-सेवन से होने वाले सिरोदाह, आन्त्रशूल आदि विकारों को शीघ्र नष्ट कर देता है।

छादयेत्पृथुदीर्घेण खर्परेणैव गन्धकम्।
ज्वालयेत्खर्परस्योर्ध्वं वनच्छाणैस्तथोपलैः॥
दुग्धे निपतितो गन्धो गलितः परिशुद्धचति।
शतवारं कृतश्चैव निर्गन्धो जायते ध्रुवम्' ॥ (र० र० स० ३।२४-२५)

१. 'रक्तिकातः समारभ्य रक्तिकाष्टकसम्मितम्।
प्राणाचार्यः प्रयुञ्जीत गन्धकं तु विशोधितम्' ॥ (र० त० ८।३९)

२. (क) 'गन्धाश्मातिरसायनः सुमधुरः पाके कटूष्णो मतः।
कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनो दीप्तानलः पाचनः॥
आमोन्मोचनशोषणो विषहरः सूतेन्द्रवीर्यप्रदः।
गौरीपुष्पभवस्तथा कृमिहरः सत्त्वात्मकः सूतजित्' ॥
(र० र० स० ३।१६)

(ख) 'शुद्धगन्धो हरेद्रोगान् कुष्ठमृत्युज्वरादिकान्।
अग्निकारी महानुष्णो वीर्यवृद्धिं करोति च' ॥
(र० र० स० ३।४५)

(ग) 'गृध्राक्षितुल्यं कुरुतेऽक्षियुग्मं करोति रोगोज्झितदीर्घमायुः' ॥
(र० र० स० ३।२६)

गन्धक सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति—यदि गन्धक सेवन से कोई विकार उत्पन्न हो जाय तो गोघृत युक्त गोदुग्ध का कुछ काल पर्यन्त सेवन कराना चाहिए। इससे गन्धकजनित विकार की शान्ति होती है।[१]

गन्धक सेवनकाल में पथ्य—जंगली पशु-पक्षी का मांस एवं क्षाग मांस का प्रयोग गन्धक सेवनकाल में पथ्य होता है।[२]

गन्धक सेवनकाल में अपथ्य—अधिक मात्रा में लवण, अम्ल, शाक, विदाही, द्विदल अन्न, स्त्री-सेवन तथा अधिक सवारी करना—ये गन्धक सेवनकाल में अपथ्य होते हैं।[३]

गन्धक रसायन—शुद्ध गन्धक में प्रथम गोदुग्ध की ३ भावना देकर सुखा लें। तत्पश्चात् इसमें चतुर्जातिक (दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, एवं नागकेशर) के प्रत्येक द्रव्य तथा गुडूची स्वरस, आमलकी, हरीतकी विभीतकी, सोंठ, भृंगराज और आर्द्रक स्वरस—इन प्रत्येक की आठ-आठ भावना देकर सुखा लें। अब भावित गन्धक के समान भाग शर्करा का चूर्ण मिलाकर सुरक्षित रख लें। इसे गन्धक रसायन कहते हैं।

गन्धक रसायन के गुण—यह गन्धक रसायन धातुक्षय, प्रमेह, मन्दाग्नि, शूल, उदररोग, सभी प्रकार के कुष्ठ तथा क्षय रोग को नष्ट करता है। यह बल्य, वृष्य एवं बृंहण है तथा अग्नि को बढ़ाता है।

गन्धक द्रुति—एक सवा फुट लम्बे और चौडे वस्त्रखण्ड पर १६वाँ भाग व्योष (सोंठ, पीपल एवं मरीच) मिला हुआ गन्धक का चूर्ण फैलाकर, लपेटकर बत्ती जैसा

(घ) 'गन्धकात् परतो नास्ति रसेषूपरसेषु वा'। (रसार्णव०)

(ङ) 'गन्धः शुद्धो गरविषहरः क्षुद्रकुष्ठेभसिंहः।
कासं श्वासं हरति नितरां दद्रुदावानलश्च॥
आधिव्याधिप्रशमनपटुः काममामं निहन्यात्।
दिव्यां दृष्टिं वितरतितरां जाठराग्निं प्रसूते॥
सुगन्धिकः सुनिर्मलः सरो रसायनोत्तमः।
कटूष्णवीर्यपाचनो रसेद्रवीर्यवर्द्धनः॥
विकारान्नाशयत्याशु दुष्टसूताशनोत्थितान्।
दुष्टाहिभक्षणोत्थांश्च शिरोदाहादिकानपि' ॥ (र० त० ८।३६-३८)

१. 'विकारो यदि जायेत गन्धकाच्चेत्तदा पिबेत्।
गोघृतेनान्वितं क्षीरं सुखी स्यात् स च मानुषः' ॥ (वृ० र० रा० सु०)

२. 'जाङ्गलानि तु मांसानि छागलानि प्रयोजयेत्'। (आ० प्र० २।४९)

३. (क) 'लवणाम्लानि शाकानि द्विदलानि तथैव च।
स्त्रियश्चारोहणं यानं तदा चैतानि वर्जयेत्' ॥ (आ० प्र० २।५०)

(ख) 'क्षाराम्लतैलसौवीरविदाहिद्विदलं तथा।
शुद्धगन्धकसेवायां त्याज्यं योगयुतेन हि' ॥ (र० र० स० ३।३६)

Scanned with CamScanner

बना लें। अब इसे सूत्र से वेष्टित कर १ प्रहर (३ घंटे) तक तिल-तैल में डुबोकर छोड़ दें। तत्पश्चात् इसे तेल से निकाल मध्य में सन्दंश से पकड़कर एक सिरे पर अग्नि सुलगा दें। नीचे एक पात्र रखकर वर्त्ती से टपकने वाली बूंदों को एकत्र करें। इसे गन्धक द्रुति कहते हैं।[1]

इस गन्धक द्रुति की ३ बूंद नागवल्ली (पान) पत्र पर रखकर उसी में शुद्ध पारद भी १ वल्ल रखकर अँगुली से भलीभाँति मिलाकर पारद सहित उस पान को खा लेने से अग्नि प्रदीप्त होती है। यह क्षय, पाण्डुरोग, कास, श्वास, शूल, भयंकर ग्रहणी तथा आम का भी शीघ्रता से नाश करता है एवं शरीर में लघुता प्रदान करता है।[2]

वर्तमान में प्रचलित गन्धक द्रुति (अनुभूत विधि)—तिल-तैल एवं गन्धक १६ : १ के अनुपात में लेकर दोनों को एकत्र मन्द आँच पर चलाते हुए गर्म करते हैं। क्रमशः गन्धक तैल में विलीन होता जाता है। तैल में पूरी तरह गन्धक के विलीन हो जाने पर (गन्धक गाढ़े रक्तश्यामवर्ण का हो जाता है) अग्नि पर से उतार लेते हैं। ठण्डा होने पर शीशी में भरकर रख लें। इसकी सिद्धि परीक्षा जल में डालकर करते हैं। जल में यदि इसकी बिन्दु न फैले तो द्रुति सिद्ध हुई जानते हैं।

व्यवहार में तिल, नारियल, कटु, निम्ब आदि तेल का इस द्रुति के लिए उपयोग किया जाता है। बाह्य प्रयोग से यह समग्र त्वक् विकारों को नष्ट करता है।

गन्धक के प्रमुख योग—१. कज्जली, २. रसपर्पटी, ३. रससिन्दूर, ४. रसगर्भ-पोट्टली तथा ५. मकरध्वज।

गैरिक
(Ochre)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : गैरिकः। हिन्दी : गेरू। अंग्रेजी : Ochre or Haematite.

रा० सू० – Fe_2O_3, वि० गु० – 4·5 से 5

१. 'कलांशव्योषसंयुक्तं गन्धकं श्लक्ष्णचूर्णितम्।
अरत्निमात्रे वस्त्रे तद्विप्रकीर्य विवेष्टच तत्॥
सूत्रेण वेष्टयित्वाऽथ यामं तैले निमज्जयेत्।
धृत्वा सन्दंशतो वर्तिमध्यं प्रज्वालयेच्च तम्॥
द्रुतो निपतितो गन्धो विन्दुशः काचभाजने'। (र० र० स० ३।२७-२९)

२. 'तां द्रुतिं प्रक्षिपेत्पत्रे नागवल्यास्त्रिबिन्दुकाम्।
वल्लेन प्रमितं स्वच्छं सूतेन्द्रं च विमर्दयेत्।
अङ्गुल्याऽथ सपत्रां तां द्रुतिं सूतं च भक्षयेत्॥
करोति दीपनं तीव्रं क्षयं पाण्डुं च नाशयेत्।
कासं श्वासं च शूलार्ति ग्रहणीमतिदुर्धराम्।
आमं विनाशयत्याशु लघुत्वं प्रकरोति च'॥ (र० र० स० ३।२९-३१)

पर्याय—गैरिक, गैरेय, गिरिमृद्, गिरिमृत्तिका, रक्तधातु, लोहधातु, गिरिमृद्भव ये सभी गैरिक के पर्याय हैं।[1]

परिचय—यह लाल वर्ण (इष्टिका वर्ण) का लोहे का प्रधान खनिज है। इसमें दो भाग लोहा तथा तीन भाग ऑक्सीजन होता है। शेष छः भाग जलीयांश होता है।

इतिहास—चिकित्सा में गैरिक का प्रयोग संहिताकाल से होता आ रहा है। रस-ग्रन्थों में इसे उपरस वर्ग में शामिल किया गया है। लोहे के प्रधान खनिज के रूप में इसे जाना जाता है।

गैरिक के भेद—रसेन्द्रचूड़ामणि एवं रसरत्नसमुच्चय में इसके दो भेद बताये गये हैं—

१. पाषाण गैरिक : कठिन : ताम्रवर्ण।
२. सुवर्ण गैरिक : स्निग्ध, मसृण : रक्तवर्ण।[2]

रसार्णव में वर्ण के आधार पर इसके ३ भेद किये गये हैं—

१. रक्त, २. हेम, ३. केवल[3]।

आयुर्वेदप्रकाशकार ने भी इसके ३ भेद किये हैं[4]—

१. स्वर्ण गैरिक, २. सामान्य गैरिक तथा ३. पाषाण गैरिक।

ग्राह्याग्राह्यत्व—स्वर्णगैरिक स्निग्ध, मसृण एवं अत्यन्त मृदु होता है। पाषाण गैरिक रूक्ष एवं कठिन तथा साधारण लालवर्ण का होता है।

औषध कार्य के लिए स्वर्ण गैरिक श्रेष्ठ माना जाता है। अतः सर्वत्र औषध कार्य के लिए स्वर्ण गैरिक ही लेना चाहिए।[5]

सुवर्ण गैरिक वर्णसूचक है। इसका सुन्दर लाल वर्ण स्वर्णकारों द्वारा रंग चढ़ाने के काम में लिया जाता है। स्वर्ण गैरिक इतना मृदु होता है कि हाथ में लेने पर हाथ लाल हो जाता है। पाषाण गैरिक को छूने से हाथ में रंग नहीं लगता। स्वर्ण गैरिक में पाषाण गैरिक की अपेक्षा लोहे की मात्रा कम होती है।

प्राप्ति-स्थान—भारत के लगभग सभी प्रान्तों में पाया जाता है। बिहार के सिंहभूमि में यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

१. 'गैरिकं त्वथ गैरेयं, गिरिमृद् गिरिमृत्तिका।
रक्तधातुर्लोहधातुस्तदेव गिरिमृद्भवम्'॥ (र० त० २२।११०)

२. 'पाषाणगैरिकं चैकं द्वितीयं स्वर्णगैरिकम्।
पाषाणगैरिकं प्रोक्तं कठिनं ताम्रवर्णकम्॥
अत्यन्त शोणितं स्निग्धं मसृणं स्वर्णगैरिकम्'। (र० र० स० ३।४६-४७)

३. 'गैरिकं त्रिविधं रक्तहेमकेवलभेदतः'॥ (रसार्ण० ७।८३)

४. 'द्विविधं गैरिकं प्राहुः स्वर्णं सामान्यगैरिकम्।
परैस्तृतीयमप्युक्तं पाषाणाख्यं हि गैरिकम्'॥ (आ० प्र० २।२६८-६९)

५. 'पाषाणगैरिकात् श्रेष्ठं कथितं स्वर्णगैरिकम्।
अतः सर्वत्र मतिमान् योजयेत्स्वर्णगैरिकम्'॥ (र० त० २२।११३)

Scanned with CamScanner

गैरिक-शोधन—१. गैरिक को गोदुग्ध की भावना देने से शुद्ध हो जाता है।[1] २. गोघृत में भर्जन कर लेने से गैरिक शुद्ध हो जाता है।[2]

गैरिक का मारण व्यवहार में प्रचलित नहीं है। इसके सत्त्वपातन से लोह (Iron) धातु की प्राप्ति होती है।

गैरिक का गुण—यह रस में मधुर एवं कषाय; गुण में स्निग्ध तथा वीर्य में शीत होता है। नेत्र के लिए हितकर, रक्तपित्त का नाश करने वाला तथा हिचकी, वमन और विष का नाश करता है।[3] यह कण्डूहर, रूक्ष तथा उदर्द का नाश करता है।[4]

गैरिक की मात्रा—२ से ४ रत्ती तक।[5]

गैरिक के प्रमुख योग—१. पुष्यानुग चूर्ण, २. विषमज्वरान्तक लौह, ३. ज्वरांकुश रस, ४. हरिसेदादि तैल, ५. गैरिकाद्य प्रलेप आदि।

कासीस (Ferrous Sulphate or Green Vitriol)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : कासीसम्। हिन्दी : कासीस।
अंग्रेजी : Ferrous Sulphate or Green Vitriol.

सूत्र—$FeSO_4 \cdot 7H_2O$, काठिन्य—२। वि० गु०—१·८–१·९।

वर्ण—हरित् वर्ण, आकृति—मणिभाकृति (Crystaline)।

पर्याय—काशीशक, कासीस, पुष्पकासीस, पांशुक, पांशुकासीस, धातुकासीस, खेचर एवं खग—ये सभी कासीस के पर्याय हैं।[6]

इतिहास—कसीस का प्रयोग चरकसंहिता में अनेक रोगों में किया गया है। वर्तमान में इसके १०० से भी अधिक योग चिकित्सा में प्रचलित हैं। प्राचीनकाल में लिखने के लिए स्याही का काम कासीस के घोल से ही किया जाता था।

परिचय—कासीस लोहे का यौगिक है। यह खनिज एवं कृत्रिम दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। कृत्रिम कासीस लौह चूर्ण पर सान्द्र गन्धकाम्ल की क्रिया से बनाते

१. 'गैरिकं तु गवां दुग्धैर्भावितं शुद्धिमृच्छति'। (र० र० स० ३।४९)
२. 'गैरिकं किञ्चिदाज्येन भृष्टं शुद्धं प्रजायते'। (आ० प्र० २।२७२)
३. 'स्वादु स्निग्धं हिमं नेत्र्यं कषायं रक्तपित्तनुत्।
हिध्मार्बामिविषघ्नं च रक्तघ्नं स्वर्णगैरिकम्'॥ (र० र० स० ३।४७)
४. 'अतिकण्डूहरं रूक्षं तथा प्रोक्तमुदर्दनुत्'। (आ० प्र० २।२११)
५. 'द्विगुञ्जतः समारभ्यः चतुर्गुञ्जमितं परम्।
सुवर्णगैरिकं शुद्धं युञ्जीत भिषजां वरः'॥ (र० त० २२।११९)
६. 'काशीशकञ्च कासीसं पुष्पकासीसकन्तथा।
पांशुकं पांशुकासीसं खगाख्यञ्च प्रकीर्तितम्'॥ (र० त० २१।२२७)

है। कासीस हरे रंग का मणिभ होता है। इसके मणिभ (Crystal) में ५ से ७ भाग तक जल का होता है। खुले वातावरण में कई बार इसका जल वाष्प बनकर उड़ जाता है, जिससे यह हल्के पीले वर्ण का चूर्ण के रूप में परिणत हो जाता है। इसके खनिज स्वरूप में कभी-कभी इसमें मैंग्नीज, मैग्नेशियम, कॉपर और जिंक भी अल्पांश मात्रा में पाया जाता है। वैसे इसमें FeO 25·9%, SO_3 29·8% तथा H_2O 63% होता है। यह जल में आसानी से घुल जाता है। इसका स्वाद खट्टा एवं कसैला होता है।

प्राप्ति-स्थान—कृत्रिम कासीस प्रयोगशालाओं से तथा खनिज कासीस सिंहभूमि (बिहार) के माक्षिक की खानों से प्राप्त होता है। विदेशों में जर्मनी, स्वीडेन, स्पेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों में पाया जाता है। खनिज रूप में प्राकृत कासीस आयरन सल्फाइड (Iron sulphide) के अपघटन (Decomposition) से बनता है।

भेद—रसार्णव में वर्ण के आधार पर इसके ३ भेद किये गये हैं; यथा—१. शुक्ल, २. कृष्ण एवं ३. पीत।[1]

वर्ण के ही आधार पर आनन्दकन्द में इसके ४ भेद मिलते हैं—१. पीत, २. कृष्ण, ३. सित (श्वेत) एवं ४. रक्त।[2]

रसजलनिधि में भी वर्ण के अनुसार इसके ४ भेद किये गये हैं—

१. श्वेत : बालुकासीस।
२. पीत : पुष्पकासीस।
३. हरित : कृत्रिम कासीस।
४. श्याम : धातुकासीस।

आयुर्वेदप्रकाशकार ने रचना के आधार पर इसके ३ भेद किये हैं; यथा—१. कासीस, २. धातुकासीस (पांशुकासीस) तथा ३. पुष्पकासीस (किंचित् पीत)।[3]

रुद्रयामल तन्त्र में—१. कासीस, २. पुष्पकासीस तथा ३. हीराकासीस—ये ३ भेद किये गये हैं।

सम्प्रति बाजारों में बहुत साफ और दानेदार (हरे रंग में बड़े-बड़े टुकड़ों में) हीराकासीस के नाम से मिलता है। बालुका के समान दानेदार होने से ही इसका नाम बालुकासीस पड़ा होगा। इसी को धातु कासीस या पांशुकासीस भी कहते

१. 'कासीसं त्रिविधं शुक्लं कृष्णं पीतमिति प्रिये!'। (रसार्णव० ७।८१)
२. 'पीतं कृष्णं सितं रक्तं चतुर्धेति परे जगुः'। (आ० क०)
३. 'कासीसं धातुकासीसं पांशुकासीसमित्यपि।
किञ्चित्तदेव पीतं तु पुष्पकासीसमुच्यते'॥
तत्तु भस्मवन्मृत्तिकाऽम्ला'। (आ० प्र० २।२७३)

Scanned with CamScanner

है। खुली हवा में कुछ काल तक रहने पर जब यह पीले रंग के चूर्ण में बदल जाता है, तब इसको पुष्पकासीस कहते है।

रसरत्नसमुच्चय में इसी प्रकार के दो भेद किये हैं गये हैं; यथा—१. बालुका कासीस और २. पुष्पकसीस।[1]

कासीस-शोधन—१. कासीस को भृंगराज स्वरस में एक बार भिगो देने से शुद्ध हो जाता है।[2]

२. इसी प्रकार प्राणियों के पित्तों अथवा स्त्री के रज (आर्त्तव) में एक बार भिगो देने से शुद्ध हो जाता है।[3]

३. आयुर्वेदप्रकाश तथा रसतरंगिणी में भृंगराज स्वरस में कासीस को ३ प्रहर तक स्वेदन करने का निर्देश दिया गया है।[4]

४. कासीस को जम्बीरी नीबू स्वरस में एक दिन तक भावित कर धूप में सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है।[5]

कासीस-मारण—१. शुद्ध कासीस को प्रथम काञ्जी में ७ भावना देकर सुखाकर लघु पुट की अग्नि में फूंक दें तो कासीस का रक्तवर्ण का भस्म बन जाता है। अब इसी भस्म को नीबू स्वरस की भावना देकर सुखाकर अम्लता नष्ट होने तक पुट देते रहें तो कासीस का सर्व दोषों से रहित भस्म बन जाता है।[6]

१. 'कासीसं बालुकाद्येकं पुष्पपूर्वमथापरम्' ॥ (र० र० स० ३।५१)
२. 'सकृद्भृङ्गाम्बुना क्लिन्नं कासीसं निर्मलं भवेत्' । (र० र० स० ३।४५)
३. 'कासीसं शुद्धिमाप्नोति पित्तैश्च रजसा स्त्रियाः' । (र० र० स० ३।४५)
४. (क) 'सकृद्भृङ्गाम्बुना स्विन्नं कासीसं निर्मलं भवेत्'। (आ० प्र० २।२७५)

(ख) 'कासीसं भृङ्गराजोत्थवारिणि घटिकात्रयम् ।
सकृत् स्विन्नं प्रयत्नेन शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २१।२३०)

५. 'कासीसं चूर्णयित्वाऽथ जम्बीरद्रवभावितम् ।
दिनैकं आतपे शुष्कं सर्वकार्येषु योजयेत्' ॥
(बृहद् रसराजसुन्दर)

६. 'काञ्जिकेन तु विभाव्य समधा शोषयेत्खगमिनांशुभिर्बुधः ।
सम्पुटेच्च लघुना पुटेन तत् स्याद्धि भस्म खलु लोहितप्रभम् ॥
समादायाथ तद्भस्म पेषयेन्निम्बुकद्रवैः' ।
चक्रिकाः कारयित्वा च पुटेल्लघुपुटे पुनः ॥
यावन्निरम्लं तद्भस्म तावदेवं पुनः पुनः ।
निम्बुकोत्थैः रसैर्वैद्यः पिष्ट्वा संशोष्य सम्पुटेत् ।
सुश्लक्ष्णं जायते भस्म सर्वदोषविवर्जितम् ॥
तत्साध्येषु विकारेषु वीतशङ्कः प्रयोजयेत्' ॥ (र० त० २१।२५५-५८)

२. इसी प्रकार स्नुहीपत्र स्वरस की भावना देकर अम्लरस नष्ट होने तक पुट देते जायें तो कासीस का उत्तम भस्म बन जाता है।[1]

कासीस भस्म के गुण—कासीस भस्म रस में अम्ल, तिक्त एवं कषाय तथा वीर्य में उष्ण है। यह वातश्लेष्महर, केश्य (केशरञ्जक), नेत्र्य, कण्डूघ्न एवं विषघ्न है तथा मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी एवं श्वित्र का नाश करता है।[2]

यह क्षय, व्रण, पाण्डुनाशक, ज्वरघ्न, रक्तसञ्जनन, रजःप्रवर्त्तक, बल्य, प्लीहा-रोगनाशक तथा बाह्य प्रयोग से यह संकोचकर होता है। लौह भस्म के सभी गुण इसमें पाये जाते हैं[3]।

कासीस भस्म की मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक कासीस भस्म की पूर्ण मात्रा है।[4]

कासीस द्रव का निर्माण—२½ तोले शुद्ध (परिश्रुत) जल में ५ रत्ती शुद्ध (निर्मल) कासीस डालकर घुला लें। यह आसानी से शीघ्र घुल जाता है। इसे कासीस द्रव कहते हैं।[5]

१. 'स्नुहीपत्ररसैर्यद्वा मार्दितं पुटितं मुहुः ।
निरम्लीभावपर्यन्तं कासीसं भस्मतामियात्' ॥ (र० त० २१।२५९)
२. (क) 'कासीसद्वयमम्लोष्णं तिक्तं च तुवरं तथा ।
वातश्लेष्महरं केश्यं नेत्र्यं कण्डूविषप्रणुत् ॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीश्वित्रनाशनं परिकीर्तितम्' ॥ (आ० प्र० २।२७४-७५)
(ख) 'क्षाराम्लागुरुधूमाभं सोष्णवीर्यं विषापहम् ।
वालुकापूर्वकासीसं श्वित्रघ्नं केशरञ्जनम् ।
पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं सोष्णं कषायाम्लमतीव नेत्र्यम् ।
विषानिलश्लेष्मगदव्रणघ्नं श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जनञ्च' ॥ (र० र० स० ३।५२-५३)
३. 'कासीसं तुवरं ग्राहि विपाकोष्णन्तु शीतलम् ।
श्वित्रघ्नं नेत्र्यमतुलं विषघ्नं कचरञ्जनम् ॥
वातश्लेष्मामयहरं मूत्रकृच्छ्रप्रणाशनम् ।
कण्डूपाण्डुकृमिघ्नञ्च रक्तसञ्जननं परम् ॥
रजःप्रवर्त्तकं बल्यं ज्वरघ्नं प्लीहनाशनम् ।
बाह्यप्रयोगे विज्ञेयं सङ्कोचनकरं परम्' ॥ (र० त० २१।२३१-३३)
४. 'गुञ्जार्द्धतः समारभ्य रक्तिकाद्वितयोन्मिता ।
कासीसकस्य कथिता पूर्णमात्रा भिषग्वरैः' ॥ (र० त० २१।२४२)
५. 'सार्द्धद्वितोलकमिते सलिले तु परिश्रुते ।
पञ्चगुञ्जोन्मितं शुद्धं कासीसं निक्षिपेद् बुधः ॥
द्रुतं जायते शीघ्रं कासीसद्रव उत्तमः' । (र० त० २१।२४०-४१)

Scanned with CamScanner

कासीस द्रव का गुण—कासीस द्रव गुदभ्रंश, विसर्प आदि विविध रोगों को बाह्य प्रयोग से नष्ट करता है।[1]

कासीस-सत्त्वपातन—शुद्ध कासीस में यवक्षार, टंकण तथा सज्जीक्षार तीनों सम्मिलित चतुर्थांश मिलाकर नीम्बू रस से घोंटकर चक्रिका बनाकर सुखाकर मूषा में रखकर धमन करने से सत्त्व निकाल आता है।[2] कासीस से सत्त्व रूप में लोहा प्राप्त होता है।

कासीस के प्रमुख योग—१. कासीसादि गुटिका, २. कासीसाद्य तैल, ३. रजःप्रवर्तिनी वटी, ४. लोहरसायन तथा ५. भ्रिंत्रारि रस।

स्फटिका (फिटकिरी)

(Alum or Alunite or Potash Alum)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : स्फटिका। हिन्दी : फिटकिरी। अंग्रेजी : Potash Alum.

सूत्र—$K_2SO_4\ Al_2[(SO_4)_3 \cdot 24\ H_2O$.

काठिन्य—३.५ से ४ तक। **वि० गु०**—२.६।

पर्याय—सुराष्ट्रजा, सौराष्ट्री, सौराष्ट्रमृतिका, तुवरी, स्फटिकारि, स्फुटी, स्फटिका, स्फुटिकारिका, स्फुटिका, फटिका, शुभ्रा, कांक्षी, रंगदा, दृढ़रंगा, रंगदृढ़ा, दृढ़रंगदा, पीतिका तथा रंगदात्री—ये सभी फिटकरी के पर्याय हैं।[3]

उत्पत्ति[4]—यह सौराष्ट्र देश के पत्थरों से पैदा होने वाली एक प्रकार की मिट्टी होती है, जिसे तुवरी कहते हैं। इसी मिट्टी को साफ करके फिटकिरी तैयार की जाती है। यह श्वेत रंग के टुकड़े के रूप में होती है। जिस स्थान की भूमि में एल्युमिनियम और गन्धक ये दो तत्त्व किसी विशेष रूप में विद्यमान रहते हैं, वहाँ की भूमि के ऊपर

१. 'गुदभ्रंशविसर्पादिविधामयनाशनः'। (र० त० २१।२४१)

२. 'क्षाराम्लैर्मर्दिता धमाता सत्त्वमुञ्चति निश्चितम्'॥ (र० र० स० ३।६५)

३. (क) 'सौराष्ट्रदेशसम्भूता मृत्तिका तुवरी मता।
सुराष्ट्रजा च सौराष्ट्री सैव सौराष्ट्रमृत्तिका॥
स्फटिकारिः स्फुटी चैव स्फटिका स्फुटिकारिका।
स्फुटिका फटिका चैव शुभ्रा काङ्क्षी च रङ्गदा॥
दृढरङ्गा रङ्गदृढा तथैव दृढरङ्गदा।
तुवरी रङ्गदात्री च कथिता भिषजां वरैः'॥
(र० त० ११।१७७-१७९)

(ख) 'सौराट्टी तुवरी काङ्क्षी मृत्तालकसुराष्ट्रजे।
आढकी सापि च ख्याता मृत्स्ना च सुरमृत्तिका'॥ (आ० प्र०)

४. 'सौराष्ट्राश्मनि सम्भूता मृत्स्ना सा तुवरी मता।
वस्त्रेषु लिप्यते यासौ मञ्जिष्ठारागबन्धिनी'॥ (र० र० स० ३।५९)

या पहाड़ पर एक प्रकार की मिट्टी मिलती है, जिसमें फिटकिरी का थोड़ा अथवा अधिक अंश रहता है। ऐसी मिट्टी भारत में सर्वप्रथम सौराष्ट्र में पायी गई। उपयोगिता के कारण यह सुदूर देशों को भेजी जाने लगी, जिससे यह सौराष्ट्री के नाम से विख्यात हो गयी। इसी मिट्टी से परिश्रमपूर्वक शुद्ध सफेद, दानेदार और बड़े-बड़े शुभ्र रंग के टुकड़ों के रूप में जो फिटकिरी बनाई जाती है, उसे घुल्लिका या फुल्ल तुवरी कहते हैं।

परिचय—इसका रासायनिक नाम डबल सल्फेट आफ पोटाशियम एण्ड एल्युमिनियम है। इसके कसैले स्वाद के कारण इसे तुवरी कहते हैं। स्फटिक के समान होने से स्फटिका कहते हैं। लोहा आदि अशुद्धियों के कारण सौराष्ट्री और फुल्लिका इन दोनों में कभी-कभी लाल, काला या नीला इत्यादि कुछ रंग दिखलाई देता है। लोहे के कारण उसमें लाल रंग दिखलाई देता है।

इतिहास—फिटकिरी का ज्ञान एवं चिकित्सा में उपयोग अतिप्राचीन है। चरक में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है।

निर्माण-विधि—

१. पोटैशियम सल्फेट तथा एल्युमीनियम सल्फेट के सम अणुक मिश्रण के विलयन को गर्म कर जलीयांश को उड़ा देने पर फिटकिरी के मणिभ (Crystal) बनते हैं।

२. एलुनाइट (Aulnite) $K_2SO_4\ Al_2(SO_4)_3,\ 4Al(OH)_3$ का निस्तापन (Culcination) करके ठण्डे पदार्थ को जल में घोल लेते हैं। विलयन को छानकर वाष्पन करने से पोटाश एलम के मणिभ (Crystal) पृथक् होते हैं।

३. बाक्साइट (Bauxite) इसका एक प्रमुख खनिज है। इसे सान्द्र (Concentrated) H_2SO_4 में घोलकर इसमें पोटेशियम सल्फेट का विलयन मिलाते हैं। तत्पश्चात् इसका वाष्पन करते हैं, जिससे पोटाश एलम के क्रिस्टल प्राप्त होते हैं।

यह एक रंगहीन मणिभीय (Crystaline) ठोस पदार्थ है। इसके क्रिस्टल में जल के २४ अणु होते हैं। यह जल में विलेय है तथा गर्म करने पर पिघलता है। २००° सें० पर यह जलरहित हो जाता है।

यह जल के शोधन, चमड़ा उद्योग, रंग को पक्का करने तथा औषधि कार्य के लिए उपयोग में लिया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र से, पंजाब, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र के बम्बई क्षेत्र से इसकी प्राप्ति होती है। द्वारका के पास से प्राप्त होने वाली (गोपी तालाब के पास) मिट्टी 'गोपीचन्दन' को भी तुवरी के नाम से रसजलनिधिकार ने सूचित किया है।

भेद[1]—१. रसार्णवकार ने वर्ण एवं स्वरूप के आधार पर इसके दो भेद किये हैं—१. सित (खण्डात्मिका) तथा २. कृष्ण (चूर्णरूपा)।

१. 'फटकी फुल्लिका चेति द्वितीया परिकीर्तिता'। (र० र० स० ३।६०)

Scanned with CamScanner

२. रसेन्द्रचूड़ामणिकार ने स्फटिका एवं फुल्लिका ऐसे दो भेद किये हैं—१. ईषत्पीत : गुरु-स्निग्ध-स्फटिका तथा २. शुभ्रवर्ण : निर्भार-स्निग्ध-समल-फुल्लिका।

३. रसरत्नसमुच्चयकार ने भी दो भेद किये हैं; यथा—१. फटकी : ईषत्पीत तथा २. फुल्लिका : शुभ्रवर्ण।

ग्राह्य स्फटिका[1]—ईषत्पीत वर्ण वाला भार में गुरु एवं स्निग्ध उत्तम रोगनाशक होता है।

क्षार में हलका, श्वेतवर्ण का स्निग्ध एवं स्वाद में अम्ल फुल्लिका कहलाती है और यह ताम्र पर लेप करने से आसानी से ताम्र का भस्म कर डालती है।

स्फटिका-शोधन—

१. स्फटिका को अग्नि पर फुला लेने से यह शुद्ध हो जाती है।[2]

२. फिटकिरी को तीन दिन तक काञ्जी में डुबोकर छोड़ दें तो यह शुद्ध हो जाती है।[3]

शोधन की प्रचलित विधि—स्फटिका-शोधन हेतु इसे एक मिट्टी या लोहे के तवे या मृत्तिका शराव में यवकुट कर रखकर अग्नि पर चढ़ा दें। इसमें तब तक अग्नि देते रहें जब तक इसका सम्पूर्ण जलीयांश निकल न जाय। यह फूलकर बताशे के जैसी हो जाती है। इसे चूर्णकर उपयोग के लिए रख लें।

स्फटिका-मारण—स्फटिका को शरावसम्पुट में बन्द कर लघु पुट की एक अग्नि दे देने से इसका श्वेतवर्ण का भस्म हो जाता है।[4]

स्फटिका के गुण[5]—यह रस में कषाय, कटु, अम्ल एवं मधुर; गुण में गुरु एवं स्निग्ध तथा वीर्य में उष्ण होती है। वाह्य प्रयोग से यह संकोचक प्रभाव करती है।

यह कण्ठ्य, केश्य, व्रणघ्न, विषघ्न, नेत्र्य, गरविषनाशक, व्रणशोधक, रक्त-स्तम्भक है। साथ ही यह श्वित्र, कुष्ठ, कफज रोग, नेत्ररोग, उरःक्षत, क्षय, शूल, विसर्प, विषमज्वर, पित्तज रोग, त्रिदोषज, रोगनाशक एवं रक्तस्राव-रोधक है। यह

---

१. 'ईषत्पीता गुरुः स्निग्धा पीतिका विषनाशिनी'।
निर्भारा शुभ्रवर्णा च स्निग्धा साम्लाऽपरा मता।
सा फुल्लतुवरी प्रोक्ता लेपात्ताम्रं चरेद्यिम्' ॥ (र० र० स० ३।६१-६२)

२. न दृष्टं शास्त्रतो लोका वह्नावुत्फुल्लयन्ति हि। (आ० प्र० २।२५८)

३. तुवरी काञ्जिके क्षिप्ता त्रिदिनाच्छुद्धिमृच्छति। (र० र० स० ३।६४)

४. 'वह्नौ प्रोत्फुल्लयेत् किं वा सम्यग् लघुपुटे पचेत्।
(कुन्दवज्जायते) भस्म सर्वरोगेषु योजयेत्' ॥ (पारदसंहिता)

५. 'काङ्क्षी कषाया कटुकाम्लकण्ठ्या केश्या व्रणघ्नी विषनाशिनी च।
श्वित्रापहा नेत्रहिता त्रिदोषशान्तिप्रदा पारदजारिणी च' ॥
(र० र० स० ३।६३)

योनिसंकोचक, ग्राही, लेखन, मुखरोगनाशक तथा दाँतों को दृढ़ करने वाली है। विशेष रूप से यह लोहों का मारण करने वाली तथा पारद का जारण करने वाली होती है।

स्फटिका की मात्रा—२ से ४ रत्ती। आभ्यन्तर प्रयोगार्थ।

स्फटिका सत्त्वपातन—

१. क्षार और अम्ल द्रव्यों के साथ मर्दनकर धमन करने से इसका सत्त्व निकल आता है।

२. गाय के पित्त से सौ भावना देकर धमन करने से इसका सत्त्व निकल आता है और यह सत्त्व पारद का क्रामण करता है।[1]

विशेष—फिटकिरी का ५% का जलीय विलयन व्रणशोधन के लिए, मुख-प्रच्छालन के लिए तथा गुदा एवं योनि-प्रच्छालन के लिए उपयोग में लिया जाता है। इससे व्रणशोधन, मुखशोधन तथा गुद-योनि के भ्रंश (Prolapse) में लाभ होता है। यह अत्यन्त संकोचक प्रभाव करती है।

स्फटिका के प्रमुख योग—१. शंखद्राव, २. एलादि मन्थ एवं ३. चतुःसुधादि रस आदि।

हरताल (Orpiment)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : हरितालम्। हिन्दी : हरताल।
अंग्रेजी : Orpiment or Arsenical gold ore or Yellow arsenic.

सूत्र—As_2S_3 (Arsenic trisulphide)।

काठिन्य—१·५ से २ तक। **वि० गु०**—३·४ से ३·५ तक।

पर्याय—हरिताल, ताल, तालक, नटभूषण, नटमण्डनक, शैलूषभूषण, विडालक, चित्रगन्धक, पिञ्जर, वंशपत्रक, आल, पीतनक, वंगारि, लोमहृत, खर्जूर, वंशपत्रक एवं मल्लगन्धज—ये सभी हरताल के पर्याय हैं।[2]

इतिहास—भारतीयों को अत्यन्त प्राचीनकाल से इसका ज्ञान है। चरक एवं

१. 'क्षाराम्लैर्मदिता ध्माता सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम्।
गोपित्तेन शतं वारान् सौराष्ट्रीं भावयेत् ततः।
धमित्वा पातयेत्सत्त्वं क्रामणं चातिगुह्यकम्' ॥ (र० र० स० ३।६५)

२. (क) 'हरितालं मतं तालं तालकं नटभूषणम्।
नटमण्डनकञ्चापि मतं शैलूषभूषणम् ॥
विडालकं चित्रगन्धं पिञ्जरं वंशपत्रकम्।
आलं पीतनकञ्चापि कथितं मल्लगन्धजम्' ॥ (र० त० ११।१-२)
(ख) 'हरितालं तु तालं स्यादालं तालकमित्यपि'। (आ० प्र० ३।१७३)
(ग) 'आलं विरालं गोदन्तं वङ्गारि नटमण्डनम्'।

सुश्रुत में इसके अनेक प्रयोग उपलब्ध हैं। रसकाल में इसका विस्तृत विवरण (शोधन एवं उनके अनेक उपयोगों का) प्रस्तुत किया गया है।

परिचय—यह एक खनिज द्रव्य है। वर्तमान में यह कृत्रिम रूप से भी बनाया जाता है। यह पीले रंग के चमकीले परतों वाले ढेले के रूप में प्राप्त होता है।

(इसमें आर्सेनिक के दो परमाणु तथा गन्धक के तीन परमाणु होते हैं। जलाने पर गन्धक एवं लहसुन की सी गन्ध आती है।) आग पर यह उड़ जाता है। यह यवक्षार एवं नौसादर के घोल तथा सान्द्र अम्ल में घुलनशील है।

प्राप्ति-स्थान—यह विदेशों से भारत में आता है। इटली एवं ईरान इसके प्रमुख उत्पादक देश है। सम्प्रति कृत्रिम हरताल का निर्माण भारत में भी होता है।

हरताल के भेद[1]—यह दो प्रकार का होता है—

१. पत्रताल : उत्तम।
२. पिण्डताल : अधम।

पत्रताल—यह सुवर्ण के समान सुन्दर पीली चमक वाला, भारी, स्निग्ध, छोटे-छोटे पत्रों से युक्त और चमकार होता है। इसमें अत्यल्प प्रमाण में अशुद्धि होती है।

पिण्डताल—यह पत्ररहित, पिण्ड (ढेले) के समान, अल्पसत्त्व वाला, चमकरहित तथा भारी होता है। इसे अधम (अल्पगुण वाला) माना जाता है। इसमें अशुद्धि अधिक होती है। इसे स्त्रीपुष्पहर कहा गया है।

हरताल-शोधन की आवश्यकता—अशोधित हरताल के सेवन से दाह, क्षोभ, शरीर में कम्प, तोद, रक्तविकार एवं कुष्ठरोग की आशंका रहती है। यह शरीर की सुन्दरता को नष्ट करता है। यह मृत्युकारक तथा वात एवं कफज रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है। अतः बिना शोधन किये इसका औषधि कार्य के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए।[2]

---

१. 'हरतालं द्विधा प्रोक्तं पत्राद्यं पिण्डसंज्ञकम्।
स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं तनुपत्रञ्च भासुरम्॥
तत्पत्रतालकं प्रोक्तं बहुपत्रं रसायनम्।
निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पसत्त्वं तथा गुरु॥
स्त्रीपुष्पहरणं तत्तु गुणाल्पं पिण्डतालकम्'। (र० र० स० ३।६६-६७)

२. 'अविशोधितं तु तालं परिशीलितं प्रकामम्।
जनयन्त्यनल्पदाहक्षोभप्रकम्पतोदान् ॥
मलिनीकरोति गात्रं प्रकरोति कुष्ठभीतिम्।
कमनीयतां प्रकामं दिनिहन्ति कायजाताम्॥
अशुद्ध तालकं कुर्याद् रोगान् वातकफोद्भवान्।
मृत्युशङ्काकरान् यस्माद् भिषक् तस्माद्विशोधयेत्'॥
(र० त० ११।१३-१५)

अशुद्ध तालक आयु का नाश करने वाला, कफज एवं वातज रोग तथा प्रमेह को उत्पन्न करने वाला, शरीर में ताप, स्फोट एवं अंगसंकोच (शिरा-स्नायु आदि में संकोच) उत्पन्न करता है, अतः इसकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए।[1]

हरताल का शोधन—

१. कूष्माण्ड स्वरस या तिलक्षार जल या चूर्णोदक में दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करने से हरताल शुद्ध हो जाता है।[2]

२. हरताल के छोटे-छोटे टुकड़े कर उसमें दसवाँ भाग टंकण डालकर जम्बीरी नींबू स्वरस तथा काञ्जी से प्रच्छालन कर उसे चतुर्गुण वस्त्र की पोटली में बाँधकर चूर्णोदक या काञ्जी में या कूष्माण्ड स्वरस अथवा शाल्मली स्वरस में १ दिन स्वेदन कर लेने से हरताल शुद्ध हो जाता है।[3] इसी प्रकार त्रिफला क्वाथ या तिल-तैल में चार प्रहर तक दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करने से भी हरताल शुद्ध हो जाता है।[4]

हरताल-मारण—

१. शुद्ध हरताल में गाढ़े (मधु सदृश) पलाशमूल त्वक् के क्वाथ की ३ भावना देकर पुनः उसे महिषी मूत्र की भावना देकर चक्रिका बना-सुखाकर शराव-सम्पुट में बन्दकर १० उपलों की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार १२ पुट देने से हरताल का उत्तम भस्म बन जाता है।[5]

२. शुद्ध पत्रताल को पुनर्नवा के स्वरस में १ दिन मर्दन कर १ गोलाकार चक्रिका बनाकर सुखा लें। अब इसे एक स्थाली (भाण्ड) में आधाभाग पुनर्नवा क्षार भरकर उसके बीचोबीच हरताल की चक्रिका को रखकर शेष भाग (आधे भाग) को पुनः

---

१. 'अशुद्धं तालमायुघ्नं कफमारुतमेहकृत्। तापस्फोटाङ्गसङ्कोचं कुरुते तेन शोधयेत्'॥ (र० र० स० ३।६९)

२. 'स्विन्नं कूष्माण्डतोये वा तिलक्षारजलेऽपि वा।
तोये वा चूर्णसंयुक्ते दोलायन्त्रेण शुद्धयति'॥ (र० र० स० ३।७०)

३. 'तालकं कणशः कृत्वा दशांशेन च टङ्कणम्।
जम्बीरोत्थद्रवैः क्षाल्यं काञ्जिकैः क्षालयेत्तथा॥
वस्त्रे चतुर्गुणे बद्ध्वा दोलायन्त्रे दिनं पचेत्।
सचूर्णेनारनालेन दिनं कूष्माण्डजे रसे॥
स्वेद्यं वा शाल्मलीतोयैस्तालकं शुद्धिमाप्नुयात्'। (र० र० स० ३।७१-७३)

४. 'तिलतैले पचेद् यामं यामं च त्रैफले जले।
दोलायन्त्रे चतुर्यामं पक्वं शुद्धयति तालकम्'॥ (आ० प्र० २।१८३)

५. 'मधुतुल्ये घनीभूते कषाये ब्रह्ममूलजे।
त्रिवारं तालकं भाव्यं पिष्ट्वा मूत्रेऽथ माहिषे॥
उपलैर्दशभिर्देयं पुटं रुद्ध्वाऽथ पेषयेत्।
एवं द्वादशधा पाच्यं शुद्धं योगेषु योजयेत्'॥ (र० र० स० ३।७४-७५)

Scanned with CamScanner

पुनर्नवा क्षार से भर दें। अब इस भस्मयन्त्र को चूल्हे पर चढ़ाकर अग्नि प्रज्वलित करें। अग्नि को क्रमशः बढ़ाते जायें तथा लगातार ५ दिन तक अग्नि देकर पाक करें। तत्पश्चात् स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक हरताल भस्म को प्राप्त कर लें।[१]

३. इसी प्रकार पीपल त्वक् क्वाथ की २१ भावना देकर चक्रिका बना पीपल त्वक् भस्म के मध्य रखकर चार याम तक अग्नि पर पाक करने से हरताल का भस्म बन जाता है।[२]

४. अर्कदुग्ध से भावित कर चक्रिका बना पलाश भस्म के मध्य रखकर भस्म-यन्त्र विधि से ४ याम तक पाक करने से हरताल का भस्म बन जाता है।[३]

५. शुद्ध हरताल के समान भाग शुक्ति भस्म लेकर कुमारी स्वरस की भावना देकर चक्रिका बना-मुखा एवं शराव-सम्पुट में बन्दकर लघु पुट की अग्नि देने से हरताल का भस्म बन जाता है।[४]

हरताल भस्म की परीक्षा—हरताल भस्म को अग्नि में डालने पर यदि उसमें से धुंआ न निकले तो भस्म बन गया है, ऐसा जानना चाहिए। धुंआ निकलने पर ठीक मारण नहीं हुआ है, ऐसा जानें।[५]

हरताल के गुण—यह रस में कटु, तिक्त एवं कषाय; गुण में स्निग्ध एवं गुरु तथा वीर्य में उष्ण होता है।

हरताल कफ एवं रक्त विकृति को दूर करता है, विष तथा भूतबाधा को नष्ट करता है। केवल हरताल का सेवन करने से स्त्रियों का आर्तवदोष नष्ट हो जाता है। यह अग्निदीपक, बलकारक, कान्तिकर, वृष्य, पुष्टिकर, ओजकर, रसायन एवं मृत्युहर है।

व्याधियों में विशेषरूप से यह वातव्याधि, श्लेष्मज व्याधि, रक्तपित्त, वातरक्त, कुष्ठ, कण्डु, विसर्प, दद्रु, पामा, श्लीपद, श्वास, कास, विषजन्य व्याधि, ज्वर, कटि-

१. 'पत्राख्यं तालकं शुद्धं पौनर्नवरसेन तु।
खल्वे विमर्दयेदेकं दिनं पश्चाद्विशोषयेत्॥
संशोष्य गोलकं कृत्वा चक्राकारमथापि वा।
ततः पुनर्नवाक्षारैः स्थाल्यामर्धं प्रपूरयेत्॥
तत्र तद्गोलकं कृत्वा पुनस्तेनैव पूरयेत्।
स्थालीं चुल्ल्यां समारोप्य क्रमाद्वह्निं विवर्धयेत्॥
दिनान्यन्तरशून्यानि पञ्च वह्निं प्रदीपयेत्।
एवं तन्म्रियते तालं मात्रा तस्यैकरक्तिका'॥ (आ० प्र० २।१८४-८७)

२. द्रष्टव्य—रसतरंगिणी ११।३०-३४।

३. द्रष्टव्य—रसतरंगिणी ११।३५-३८।

४. द्रष्टव्य—रसतरंगिणी ११।३९-४१।

५. तालं मृतं तदा ज्ञेयं वह्निस्थं धूमवर्जितम्।
सधूमं न मृतं प्राहुर्द्रवैद्या इति स्थितिः॥ (आ० प्र० २।१८०)

ग्रह, गुदरोग, क्षय, प्रमेह, मुखरोग, व्रण, रक्तविकार तथा कफपित्तज रोगों को नष्ट करता है।[१]

हरताल भस्म अत्यधिक पुराना फिरंग रोग, वातरक्त, विसर्प, विचर्चिका, सभी प्रकार के कुष्ठ, अर्श, विषमज्वर, विपादिका, विविध प्रकार के कुष्ठ, अपस्मार, भगन्दर, व्रण, नाड़ीव्रण, कष्टकारी स्फोट एवं वातरक्तजन्य अन्य रोगों का नाश करता है।[२]

हरताल भस्म की मात्रा—¼ रत्ती से ½ रत्ती तक इस भस्म का उपयोग करें।[३]

हरताल सेवन में अनुपान—गुडूची कषाय, शहद एवं घृत आदि से।[४]

हरताल सेवन में पथ्य—हरताल सेवन करने वाले को लवण, अम्ल एवं कटु रस वाले पदार्थों तथा आतप सेवन आदि का त्याग कर देना चाहिए। यदि लवण का त्याग सम्भव न हो तो सैन्धव लवण का सेवन करें।[५]

१. (क) 'श्लेष्मरक्तविषवातभूतनुत्केवलञ्च खलु पुष्पहृत्स्त्रियाः।
स्निग्धमुष्णकटुकञ्च दीपनं कुष्ठहारि हरतालमुच्यते'॥ (र० र० स० ३।६८)

(ख) 'स्यात्तालकः कटु गुरूष्णकषायतिक्तः,
स्निग्धोऽङ्गदीप्तिबलपुष्टिवृषाग्निकारी।
श्लेष्मासपित्तपवनामयकुष्ठकण्डू-
सश्वासकासविषरोगकटिग्रहघ्नः'॥ (र० का० धे० २।४।७८)

(ग) 'हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम्।
कण्डूकुष्ठादिरोगास्रकफपित्तकचव्रणान्'॥ (आ० प्र० २।१७६)

(घ) 'हरितालं कटु स्निग्धं कषायञ्च विसर्पनुत्।
तालकं हरते रोगान् कुष्ठमृत्युज्वरादिकान्।
संशुद्धं कान्तिवीर्यौजः कुरुते मृत्युनाशनम्'। (र० सा० सं० १।१८७)

२. 'मृतं तालं हरेद्घोरं फिरङ्गं सुचिरोत्थिम्।
वातरक्तं विसर्पञ्च विपादीञ्च विचर्चिकाम्॥
विविधानि च कुष्ठानि ह्यर्शांसि विषमज्वरम्।
रोगं फिरङ्गजं हन्यादपस्मारं भगन्दरम्॥
व्रणं नाडीव्रणञ्चापि विस्फोटमतिदारुणम्।
वातरक्तभवान् रोगानन्यानपि हरेद् भृशम्'॥ (र० त० ११।५२-५४)

३. 'पादांशतो रक्तिकायाः रक्तिकोर्ध्वमितं परम्।
विमलं च मृतं तालं प्रयुञ्जीत भिषग्वरः'। (र० त० ११।५६)

४. 'गुडूच्यादि कषायेण गदानेतान् व्यपोहति'।

५. 'एतद्भेषज सेवी तु लवणाम्लौ विवर्जयेत्।
तथा कटुरसं वह्निमातपं दूरतस्त्यजेत्॥

Scanned with CamScanner

हरताल-सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति—हरताल-सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति के लिए शर्करायुक्त जीरक का तीन दिन तक सेवन करायें।[1] इसके अतिरिक्त जीरक, मधु एवं कूष्माण्ड स्वरस का दिन में तीन बार सेवन करायें।

हरताल-सत्त्वपातन—१ पल हरताल लेकर उसे अर्कदुग्ध की १ दिन तक भावना देकर सुखा लें। फिर उसमें एक तोला तिल-तैल मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन कर काँचकूपी में भर बालुकायन्त्र विधि से खुले स्थान पर ७ प्रहर तक पाचन करें। स्वांगशीत होने पर कूपी के तल भाग में स्थित श्वेत वर्ण का हरताल सत्त्व प्राप्त करें।[2]

रसमाणिक्य-निर्माण—शुद्ध हरताल चूर्ण को दो अभ्रकपत्रों के बीच रखकर मन्द अग्नि पर पकायें। हरताल का वर्ण गाढ़ा रक्तवर्ण (माणिक्य वर्ण) का हो जाने पर अग्नि से पृथक् कर स्वांगशीत होने दें। पश्चात् सावधानीपूर्वक रसमाणिक्य प्राप्त कर लें।[3] इसमें शुद्ध हरताल का चूर्ण द्रवित होकर गाढ़ा लालवर्ण के पत्र-सदृश बन जाता है, जिसे अभ्रक पत्र के बीच से सावधानीपूर्वक प्राप्त कर लेना चाहिए।

यह वातश्लेष्म ज्वर के लिए प्रशस्त होता है। इस रसमाणिक्य का उपयोग जहाँ-जहाँ हरताल का उपयोग अपेक्षित हो वहाँ करना चाहिए।

हरताल के प्रमुख योग—१. कस्तूरीभैरव रस, २. तालकेश्वर रस, ३. ताल सिन्दूर, ४. नित्यानन्द रस, ५. वातगजांकुश रस तथा ६. समीरपन्नग रस आदि।

मनःशिला (Realgar)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : मनःशिला। हिन्दी : मैनसिल
अंग्रेजी—Realgar या Red arsenic.

लवणं यः परित्यक्तुं न शक्नोति कथञ्चन।
स तु सैन्धवमश्नीयान्मधुरोपरसः हि सः' ॥ (भा० प्र०)

१. (क) 'अजाजीं शर्करायुक्तां सेवते यो दिनत्रयम्।
विकृतिं तालजां हन्याद् यथा दारिद्र्यमुद्यमः' (र० रा० सु०)

(ख) 'ससितं जीरक क्षौद्रं कूष्माण्डं स्वरसं तु वा।
अश्नीयात्तालविकृतौ त्रिवारं त्वेकवासरे' ॥ (र० ज० नि०)

२. 'पलालकं रवेर्दुग्धैर्दिनमेकं विमर्दयेत्।
क्षित्वा पोडशिका तैले मिश्रयित्वा ततः पचेत्॥
अनावृतप्रदेशे च सप्तयामावधिध्रुवम्'।
स्वाङ्गशीतमधःस्थञ्च सत्त्वं श्वेतं समाहरेत्' ॥ (र० र० स० ३।८०-८१)

३. 'अभ्रसम्पुटगं तालं किञ्चिदङ्गारसाधितम्।
वातश्लेष्मज्वरे शस्तं माणिक्यरससन्निभम्' ॥ (सि० भै० म० मा०)
(अभ्रपटलद्वयमध्यस्थितं सूक्ष्मपटलीकृतं पीततालम्)

सूत्र—As_2S_2 रासायनिक नाम—Arsenic disulphide.
काठिन्य—१.५ से २। वि० गु०—३.५।

पर्याय—मनःशिला, रोगशिला, शिला, नैपालिका, मनोगुप्ता, मनोह्वा, मनोज्ञा, नागजिह्विका, कुनटी, कुलटी, गोला, नागमाता, कल्याणिका, रसनेत्रिका आदि—ये सभी मनःशिला के पर्याय हैं।[1]

इतिहास—चरक के काल से यह चिकित्सा में प्रयुक्त होता आ रहा है।

परिचय—यह सुन्दर लाल वर्ण का यौगिक है जो घिसने पर नारंगी के वर्ण का होता है। जलाने पर लाल रंग की ज्वाला तथा लहसुन एवं गन्धक की गन्ध देता है। यह अम्ल एवं क्षार में घुलनशील होता है। यह खनिज द्रव्य के रूप में प्राप्त होता है तथा कृत्रिम भी बनाया जाता है।

हरताल एवं मनःशिला में कोई विशेष अन्तर नहीं है—इस बात का ज्ञान प्राचीन आयुर्वेदज्ञों को था। मैनसिल तालक का ही एक भेद है। दोनों में मात्र इतना ही अन्तर है कि हरताल अत्यन्त पीला होता है और मैनसिल नारंगी के रंग (लाल रंग) का होता है।[2]

मनःशिला में प्रत्येक दो परमाणु आर्सेनिक के लिए गन्धक के दो ही परमाणु होते हैं। अतः इसका रासायनिक नाम 'Arsenic disulphide' है। यह सुन्दर नारंगी के रंग का दानेदार पदार्थ होता है। खुली हवा में रखने से यह विकृत हो जाता है।

प्राप्ति-स्थान—यह चीन, यूनान, स्पेन तथा भारत के कुमाऊ तथा चित्राल क्षेत्र में पाया जाता है।

मनःशिला के भेद—इसके निम्न ३ भेद कहे गये हैं—

१. श्यामांगी	: रक्तवर्ण	: उत्तम।
२. कणवीरका	: पीतवर्ण	: मध्यम।
३. खण्डाख्य	: अतिरक्तवर्ण	: अधम।

रसरत्नसमुच्चय में उपरोक्त तीनों के लक्षण इस प्रकार से दिये गये हैं[3]—

---

१. 'मनःशिला रोगशिला शिला नैपालिका तथा।
मनोगुप्ता मनोज्ञा च मनोह्वा नागजिह्विका॥
कुनटी कुलटी गोला नागमाता च सा मता।
कल्याणिका च सैवेह कथिता रसनेत्रिका' ॥ (र० त० ११।१०४-५)

२. 'तालकस्यैव भेदोऽस्ति मनोह्वा च तदन्तरम्।
तालकं त्वतिपीतं स्याद्रूपवेद्रक्ता मनःशिला' ॥ (आ० प्र० २।२१४)

३. 'मनःशिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरका।
खण्डाख्या चेति तद्रूपं विविच्य परिकथ्यते॥
श्यामा रक्ता सगौरा च भाराढ्या श्यामिका मता।
तेजस्विनी च निर्गौरा ताम्राभा कणवीरका॥

Scanned with CamScanner

श्यामाङ्गी—जो मनःशिला वर्ण में काली, लाल और किंचित् पीली तथा भारपूर्ण हो, उसे श्यामांगी कहते हैं। यह श्रेष्ठ होती है।

कणवीरका—जो मनःशिला ताम्र सदृश लाल वर्ण की, चमकदार (तेजस्वी) तथा पीलेपन से रहित हो, उसे कणवीरका कहते हैं। यह श्रेष्ठतर है।

खण्डाख्य—जो मनःशिला आसानी से चूर्ण हो जाय, अत्यन्त रक्तवर्ण की तथा भारी हो, उसे खण्डाख्य कहते है। यह सर्वश्रेष्ठ होती है।

ये तीनों उत्तरोत्तर अधिकाधिक सत्त्व वाली होती हैं। सत्त्व के आधार पर ही इसकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठता बतलाई गई है।

रसकामधेनु में रक्त, पीत और खण्डाख्य—ये तीन भेद कहे गये हैं तथा इसमें भी खण्डाख्य से पीत को तथा पीत से रक्त को श्रेष्ठ कहा गया है।[1]

आयुर्वेदप्रकाशकार ने १. श्यामा—हिंगुल के समान रक्तवर्ण किंचित् पीतवर्ण तथा अति तेजस्वी; २. कणवीरा—रक्तवर्ण की चूर्णरूप में तथा अत्यन्त भारवान्; तथा ३. द्विखण्डा—किंचित् रक्त एवं गौर वर्ण तथा भारी—इन तीनों में कणवीरा को श्रेष्ठ कहा है।[2]

ग्राह्य मनःशिला—कंकर-पत्थर से रहित, लाल कमल के समान वर्ण वाली, वजन में भारी और चमकीली मनःशिला शोधन कार्य के लिए उत्तम होती है।[3]

मनःशिला शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध मनःशिला के सेवन से अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मन्दाग्नि तथा मलबद्धता उत्पन्न होती है एवं शोधित मनःशिला सम्पूर्ण रोगों को दूर करती है। अतएव इनका उपयोग शोधन के पश्चात् ही करना चाहिए।[4]

चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा खण्डपूर्विका।
उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा भूमिस्त्वा प्रकीर्तिताः' ॥ (र० र० स० ३।८८-९०)

१. 'रक्ता पीता तु खण्डाख्या पूर्वपूर्वा स्मृतोत्तमा'। (र० का० धे०)

२. 'श्यामा हिङ्गुलवद् रक्ता किञ्चित्पीताऽतिदीप्तिका।
कणवीरा रक्तवर्णा चूर्णरूपाऽतिभारयुक् ॥
किञ्चिद्रक्ता च गौरा च द्विखण्डा भारवत्तरा।
त्रिविधासु च श्रेष्ठा स्यात् कणवीरमनःशिला' ॥ (आ० प्र० २।२१६)

३. 'मनःशिला शिलाखण्डशून्या रक्तोत्पलप्रभा।
भारे गुरुतरा दीप्ता शोधनार्हा मता बुधैः' ॥ (र० त० ११।१०६)

४. (क) 'अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रञ्च अशुद्धा कुरुते शिला।
मन्दाग्निं मलबन्धं च शुद्धा सर्वरुजापहा' ॥ (र० र० स० ३।९२)

(ख) 'मनःशिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण।
मलस्य बन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदं च कुर्यात्' ॥
(आ० प्र० २।२१९)

(ग) 'मनःशिला त्वशोधिता प्रमादतस्तु शीलिता।
हरेद् बलं ही चारुता विनश्यतीह त्वग्गता ॥

मनःशिला का शोधन—

१. मनःशिला को अगस्तपत्र स्वरस अथवा आर्द्रक स्वरस की ७ भावना देने से यह शुद्ध हो जाती है।[1]

२. भृंगराज स्वरस तथा रक्त अगस्त्य रस के मिश्रित स्वरस में १ प्रहर तक मनःशिला का दोलायन्त्र विधि से स्वेदन करना, तत्पश्चात् पुनः बकरी के मूत्र में १ प्रहर स्वेदन कर काञ्ची आदि अम्लद्रव्यों से धो लेने के पश्चात् मनःशिला सभी रोगों में प्रयोग करने योग्य बन जाती है।[2]

३. चूने के जल में मनःशिला को तीन दिन तक रखने से शुद्ध हो जाती है।[3]

४. बिजौरा नींबू स्वरस की सात भावना देने से मनःशिला शुद्ध हो जाती है।[4]

मनःशिला के गुण—मनःशिला रस में तिक्त एवं कटु; गुण में स्निग्ध, गुरु, एवं सर तथा वीर्य में उष्ण होती है। कर्म की दृष्टि से यह सभी रसायनों में श्रेष्ठ, लेखन, विषघ्न, शोषण, वर्णकर, रक्तविकार तथा भूतोपद्रव (जीवाणुजन्य उपद्रव) नाशिनी है। यह कफवातजन्य रोगनाशक एवं विशेषरूप से कफज व्याधिनाशक है।[5]

यह श्वास-कास, अग्निमान्द्य, क्षय, आनाह, कण्डू, ज्वर, क्रिमि एवं विषरोग नाशक है।[6]

अशोधिता रोगशिला मलविष्टम्भकारिणी।
मूत्ररोधकरी कामं मूत्रकृच्छ्रप्रवर्तिनी' ॥
(र० त० ११।१०७-१०८)

१. 'अगस्त्यपत्रतोयेन भाविता सप्तवारकम्।
शृङ्गवेररसैर्वाऽपि विशुद्धचति मनःशिला' ॥ (र० र० स० ३।९३)

२. 'जयन्ती भृङ्गराजोत्थरक्तागस्त्यरसैः शिलाम्।
दोलायन्त्रे पचेद्यामं यामं छागोत्थमूत्रकैः ॥
क्षालयेदारनालेन सर्वरोगेषु योजयेत्'। (र० र० स० ३।९४)

३. 'सुधोदके निपातिता मनःशिला तु चूर्णिता।
दिनत्रयाद्विनिर्गता भवेत्तु दोषवर्जिता' ॥ (र० त० ११।१०९)

४. 'बीजपूररसेनेह भाविता तु मनःशिला।
सप्तवारं विधानेन विशुध्यति न संशयः' ॥ (र० त० ११।१११)

५. (क) 'मनःशिला सर्वरसायनाग्र्या तिक्ता कटूष्णा कफवातहन्त्री।
सत्त्वात्मिका भूतविषाग्निमान्द्यकण्डूतिकासक्षयहारिणी च' ॥
(र० र० स० ३।९१)

(ख) 'मनःशिला गुरुवर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः।
तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत्' ॥ (आ० प्र० २।२१८)

६. 'मनःशिला कटुस्तिक्ता स्निग्धोष्णा लेखनी गुरुः।
कासश्वासहरा कामं भूतोपद्रवनाशिनी ॥

Scanned with CamScanner

मनःशिला की मात्रा—रत्ती के ३२वें भाग से लेकर १६वें भाग तक ($\frac{1}{32}$ रत्ती से $\frac{1}{16}$ रत्ती तक) रोगी के बलाबल को देखते हुए प्रयोग करें।[1]

मनःशिला सेवनजन्य विकार की शान्ति—यदि मनःशिला सेवन करते हुए कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाये तो रोगी को ३ दिन तक मधु मिश्रित गोदुग्ध का सेवन करावें। यदि रोगी पथ्य का सेवन करता रहे तो वमन, तृष्णा आदि विकार की शान्ति हो जाती है।[2]

मनःशिला सत्त्वपातन—मनःशिला में गुड़, गुग्गुलु, लौहकिट्ट और घी—ये चारों द्रव्य मनःशिला से अष्टमांश मिलाकर एकत्र घोंट लें, पश्चात् मूषा में रखकर धमन करने से सत्त्व निकल आता है।[3] मनःशिला से सत्त्व रूप में शंखिया (Arsenic) प्राप्त होता है।

मनःशिला के प्रमुख योग—१. श्वासकुठार रस, २. कालानल रस, ३. त्रैलोक्य-चिन्तामणि रस, ४. क्षयकेशरी रस, ५. रसराज रस, तथा ६. मनःशिलादि धूम आदि।

अञ्जन

(Lead & Antimony ore or compound)

वर्ग—उपरस वर्ग।

नाम—संस्कृत : अञ्जनम्। हिन्दी : अञ्जन। अंग्रेजी : Collyrium.

पर्याय—मेचक एवं लोचक—ये अञ्जन के पर्याय हैं।[4]

इतिहास—अञ्जन का ज्ञान एवं उपयोग भारतीयों द्वारा वैदिक काल से होता आ रहा है। चरक एवं सुश्रुत में अञ्जन, स्रोतोञ्जन, सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, पुष्पाञ्जन (च० सू० १।७०; च० चि० १७।१२५, च० चि० २६।२५२, सु० उ० त० १८।८५ आदि) आदि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। साथ ही एशिया महाद्वीप के अनेक देशों में स्त्री-पुरुषों द्वारा नेत्र की शोभा-वृद्धि तथा रोग-निवारणार्थ इसका प्रयोग अति प्राचीनकाल से होता रहा है। रसशास्त्र के विकास के साथ इसके लक्षण, भेद-प्रभेद, शोधन, सत्त्वपातन एवं उपयोग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होने लगा।

अग्निमान्द्यक्षयानाहहृन्त्री कण्डूतिनाशिनी।
रसायनी ज्वरहरा वर्ण्या कामं विषपहा'॥ (र० त० ११।११६)

१. 'तत्त्वांशतो रक्तिकायाः कलांशप्रमितां तथा।
शिला मात्रा विनिर्दिष्टा काशीनाथभिषक्तमैः'॥ (र० त० ११।११७)

२. 'शिलाविकारोपहतः पिबेत्क्षीरं दिनत्रयम्।
मधुना पथ्यसंयुक्तो वान्त्यादिभ्यो विमुच्यते'॥ (र० त० ११।१२५)

३. 'गुडगुग्गुलुकिट्टाज्यैस्त्वष्टमांशेन वै पृथक्।
शिला मूषागता कोष्ठ्यां ध्माता सत्त्वं विमुञ्चति'॥ (र० त० ११।१२९)

४. 'अञ्जनं तु समाख्यातं मेचकं लोचकं तथा'। (र० त० २२।३५)

उत्पत्ति—रसकामधेनु के अनुसार सभी अञ्जनों की उत्पत्ति एवं प्राप्ति पर्वतों तथा नदियों से बतलाई गई है ('नदी शैलभवानि')।

वर्तमान में अञ्जन खनिज एवं कृत्रिम दो रूपों में प्राप्त होता है। इनमें सौवीराञ्जन, स्रोतोञ्जन एवं नीलाञ्जन खनिज के रूप में तथा पुष्पाञ्जन एवं रसाञ्जन कृत्रिम विधि से प्राप्त किया जाता है।

निरुक्ति—जिस पदार्थ का नेत्र में अञ्जन किया जाता है, उसे अञ्जन कहते है।[1]

अञ्जन के भेद—रसेन्द्रचूड़ामणि तथा रसरत्नसमुच्चय में अञ्जन के ५ भेद बताये गये हैं[2]—

१. सौवीराञ्जन।
२. रसाञ्जन।
३. स्रोतोञ्जन।
४. पुष्पाञ्जन।
५. नीलाञ्जन।

रसजलनिधि में इसका एक छठा भेद—कुलत्थाञ्जन भी बतलाया गया है।

आयुर्वेदप्रकाशकार ने श्वेत एवं कृष्ण के रूप में अञ्जन के दो भेद किये हैं।[3] यथा—श्वेत : सौवीराञ्जन तथा कृष्ण : स्रोतोञ्जन।

अञ्जन के भेदानुसार लक्षण[4]—

१. सौवीराञ्जन—यह धूम्रवर्ण (धुँए के रंग का) का, पाण्डुर अथवा श्वेतवर्ण (आ० प्र०) का होता है।

२. रसाञ्जन—यह पीले रंग का होता है।

३. सोतोञ्जन—यह वल्मीक-शिखराकार (बाँबी-दीमक की मिट्टी के ढेर सदृश शिखराकार) तोड़ने पर नीलोत्पल की आभा वाला (नीले रंग का) तथा घिसने पर गैरिक के समान लालवर्ण की रेखा बनाता है।

४. पुष्पाञ्जन—यह सफेद रंग का होता है।

५. नीलाञ्जन—यह भारी होता है।

---

१. 'अञ्जनं क्रियते येन तद्द्रव्यं चाञ्जनं स्मृतम्'।
२. 'सौवीरमञ्जनं प्रोक्तं रसाञ्जनमतः परम्।
स्रोतोऽञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च।
नीलाञ्जनं च तेषां हि स्वरूपमिह वर्ण्यते'॥ (र० र० स० ३।९८)
३. 'तत्र स्रोतोऽञ्जनं कृष्णं सौवीरं श्वेतमीरितम्'। (आ० प्र० २।२२६)
४. 'सौवीरमञ्जनं धूम्रं पीताभं च रसाञ्जनम्।
वल्मीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युति॥
घृष्टं तु गैरिकच्छायं स्रोतोजं लक्षयेद्ध्रुवम्।
पुष्पाञ्जनं सितं चैव विद्यान्नीलाञ्जनं गुरु'॥ (र० र० स० ३।९८-९९)

Scanned with CamScanner

परिचय—सौवीराञ्जन एवं स्रोतोञ्जन—अञ्जन के अन्तर्गत आने वाले इसके विविध भेद सभी अलग-अलग प्रकार के खनिज हैं, यथा—१. सौवीराञ्जन एवं २. स्रोतोञ्जन—ये दोनों एण्टीमनी कम्पाउण्ड (Stibnite या Antimony sulphide : Sb_2S_3) हैं। अर्थात् सौवीराञ्जन एवं स्रोतोञ्जन दोनों एक ही द्रव्य के दो भेद हैं। दोनों में रंग की भिन्नता है। स्रोतोञ्जन कृष्णवर्ण का तथा सौवीराञ्जन पाण्डुर अथवा धूम्रवर्ण का होता है। उत्तम स्रोतोञ्जन के जो लक्षण रसरत्नसमुच्चय में कहे गये हैं वे सभी सौवीराञ्जन में भी मिलते हैं। दोनों की प्रकृति, स्वरूप एवं अन्य सभी लक्षण लगभग एक जैसे हैं। जैसे वल्मीक-शिखर के आकार का गड्ढे के रूप का तोड़ने पर अञ्जन की तरह चमकदार काला, घिसने पर गैरिक के वर्ण (लाल वर्ण की) की रेखा खींचना तथा सत्त्वपातन से प्राप्त होने वाले सत्त्व—ये सभी बातें एक जैसी हैं।

रासायनिक दृष्टि से ये दोनों स्टिबनाइट (Stibnite) या एण्टीमनी ट्राइसल्फाइड (Antimony trisulphide) हैं तथा यह एण्टीमनी का प्रमुख खनिज है। स्रोतोञ्जन प्रायः कपोती (Gray) वर्ण का होता है। खानों में यह स्रोतों (सिरा) के रूप में पत्थरों के बीच में प्राप्त होता है। इसी कारण सम्भवतः इसे स्रोतोञ्जन कहते हैं। एण्टीमनी तत्त्व कहीं-कहीं अल्प मात्रा में, किंचित् सीसा (Lead), चाँदी (Silver) और संखिया (Arsenic)—इन तत्त्वों के साथ भी मिला हुआ पाया जाता है। इसका वर्ण वंग सदृश सफेद होता है। सम्भवतः यह खनिज सौवीराञ्जन है। जिस खनिज में केवल एण्टीमनी और सल्फर होता है, वह उत्तम कोटि का शुद्ध स्रोतोञ्जन होता है।

नीलाञ्जन (Galena)—इसका रासायनिक नाम Lead sulphide है तथा संकेत—PbS है। इसमें लगभग Lead 86.6% तथा Sulphur 13.4% होता है। कई बार इसमें अल्प मात्रा में Silver sulphide, Zinc, Cadmium, Copper और Bismuth भी पाया जाता है। गेलेना का रंग नीलवर्ण या Lead gray colour तथा आकृति चतुष्कोणाकार (Cubic faces) धात्वीय चमक युक्त होता है। तपाने पर यह शीघ्र नहीं पिघलता। वजन में यह विशेष भारी होता है। क्षारों के साथ धमन करने पर इसमें से सीस धातु निकलती है। यह सीस धातुका (Lead) एक प्रमुख खनिज है। चूर्ण करने पर यह काला होता है।

पुष्पाञ्जन (Zinc oxide : ZnO)—वर्तमान में पुष्पाञ्जन नाम से Zinc oxide ही व्यवहार में प्रचलित है। यादवजी आदि कुछ विद्वानों के मत से यही स्वीकृत भी है। तथापि शास्त्रीय दृष्ट्या इसमें काफी संदिग्धता भी है। रसरत्नसमुच्चय में इसे 'पुष्पाञ्जनं सितम्' अर्थात् पुष्पाञ्जन सफेद होता ऐसा कहा गया है। यथा—

१. चरक-चिकित्सास्थान (२६।२५२) में पौष्पमञ्जनम्—तदनुसार यह पुष्प से प्राप्त होने वाला कोई अञ्जन होना चाहिए।

२. पुष्पकासीस के पर्याय में 'नयनौषधम्' कहा गया है। अंजन की तरह इसके प्रयोग से नेत्रकण्डू का नाश होता है।

३. आयुर्वेदप्रकाशकार ने 'पुष्पाञ्जनं रीतिकिट्टमिति केचिद्वदन्ति हि' कह कर शंका व्यक्त की है कि यह रीतिकिट्ट होना चाहिए। रीति—पित्तल, ताम्र और यशद का यौगिक है और इसके किट्ट में दोनों (Copper एवं Zinc) की उपस्थिति की सम्भावना हो सकती है। नेत्ररोगों में ये दोनों उपयोगी भी हैं।

४. शुद्ध स्फटिका या फुल्ल तुवरी—अग्नि में तपाकर फिटकिरी को शुद्ध कर लिया जाता है, जो सफेद वर्ण की होती है। इसका भी नेत्ररोगों में सर्वत्र उपयोग किया जाता है।

रसाञ्जन (Extract of Barberis ~~Aristata or~~ Indian Barberis)—रसाञ्जन के नाम से वर्तमान में दारुहरिद्रा काष्ठ से तैयार किया गया क्वाथ घन है। तदनुसार दार्वी क्वाथ के समान भाग में गोदुग्ध अथवा अजादुग्ध मिलाकर पाक किया जाता है। यह जब पादशेष (चतुर्थांश अवशिष्ट) रह जाय अथवा घन हो जाय तो उसे उतार कर ग्रहण कर लेते हैं। इसे रसाञ्जन कहा जाता है। यह नेत्र के लिए अत्यन्त हितकर होता है।[1]

उपर्युक्त रसाञ्जन का व्यवहार में प्रचलन होते हुए भी इसके सम्बन्ध में अनेक शास्त्रीय मतभेद प्रचलित हैं। यथा—

१. रसाञ्जन के पर्याय में—रसगर्भम्, रसाग्रजन्, रसोद्भवम्, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यशैलम्, बालभैषज्यम्, दार्वीक्वाथोद्भवम् आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें रसोद्भव, रसाग्रज, रसगर्भ आदि पर्याय पारद की ओर ध्यान आकृत करते हैं। तदनुसार यह पारद से सम्बन्धित या निर्मित होना चाहिए।

२. रीति (पित्तल) के धमन करने से जो किट्ट प्राप्त होता है वही रसाञ्जन है। इसके अभाव में दार्वीक्वाथ घन लेना चाहिए।[2]

३. इसे शैलजा (खानों से प्राप्त होने वाला) तथा कृत्रिम—ऐसे दो प्रकार का बताया गया है। कृत्रिम के अन्तर्गत पीतचन्दन क्वाथज या निर्यासज या दार्वीक्वाथोद्भव कहा है।

अञ्जन के पर्याय—

१. सौवीराञ्जन—सौवीर, सुवीरज, कृष्णाञ्जन एवं कालाञ्जन आदि[3]।

१. 'दार्वीक्वाथसमं क्षीरं (अजाक्षीरं) पादपक्वं यदा घनम्।
तदा रसाञ्जनं ख्यातं तन्नेत्रयोः परमं हितम्'॥ (आ० प्र० २।२३४)

२. 'रीत्या तु ध्मातमानायां तत्किट्टन्तु रसाञ्जनम्।
तद्भावे तु कर्त्तव्या दार्वीक्वाथसमुद्भवम्'॥

३. 'सौवीराञ्जनकं ख्यातं सौवीरं तु सुवीरजम्।
कृष्णाञ्जनं तथा कालाञ्जनञ्चापि प्रकीर्तितम्'॥ (र० त० २२।३७)

Scanned with CamScanner

२. स्रोताञ्जन—स्रोतोज, यामुनेय तथा यामुन आदि[1] ।

३. नीलाञ्जन—शक्रभूमिज, वारिसम्भव, सुवर्णघ्न तथा लौहमार्दवकर आदि ।

४. पुष्पाञ्जन—कुसुमाञ्जन, पुष्पकेतु, कौस्तुभ, रीतिज तथा रीतिपुष्पक आदि ।

५. रसाञ्जन—रसगर्भ, रसाग्रज, रसोद्भव, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यशैल, कतक, बालभैषज्य, दार्वीक्वाथोद्भव, वर्याञ्जन तथा अग्निसार आदि ।

प्राप्ति-स्थान—सौवीराञ्जन एवं स्रोतोञ्जन—अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, बोर्नियो, मलाया तथा भारत के जम्मू (काश्मीर), हजारीबाग, सिंहभूमि (बिहार), गोदावरी के निकट (आन्ध्र) कथा पंजाब आदि प्रान्तों में पाया जाता है ।

नीलाञ्जन—वर्मा, काश्मीर तथा बिहार के हजारीबाग क्षेत्र में पाया जाता है ।

रसाञ्जन—दारुहरिद्रा के पाये जाने वाले पहाड़ी क्षेत्रों में विशेषरूप में इसका निर्माण किया जाता है । कुमाऊँ, गढ़वाल, ऊटकमंड आदि क्षेत्रों तथा प्रयोगशाला से प्राप्त होता है ।

पुष्पाञ्जन—प्रयोगशाला से ।

अञ्जन का शोधन—

१. भृंगराजपत्र स्वरस की भावना दे देने से सभी प्रकार के अञ्जन शुद्ध हो जाते हैं ।[2]

२. रसाञ्जन की शुद्धि सूर्यावर्तादि योग (यथा—सूर्यावर्तक, कदली, बंध्या, कोषातकी, सुरदाली, शिग्रु, वज्रकन्द, नीरकणा तथा काकमाची—इन सबकी भावना) से हो जाती है ।[3]

३. स्रोतोञ्जन एवं रसाञ्जन त्रिफला जल में स्वेदन करने से शुद्ध हो जाता है ।[4]

४. नीलाञ्जन को चूर्णकर जम्बीरी नींबू के रस की भावना देकर एक दिन तक आतप शुष्क कर लेने से शुद्ध हो जाता है ।[5]

अञ्जन का मारण अपेक्षित नहीं है—ऐसा माना गया है ।

अञ्जन के गुण—**सौवीराञ्जन**—यह रस में तिक्त, कटु एवं कषाय; वीर्य में शीत; विपाक में मधुर तथा गुण में स्निग्ध है । यह व्रणशोधन एवं रोपण, दृष्टि-प्रसादन, संग्राही, वयस्था, नेत्र्य एवं लेखन है । यह पित्तघ्न एवं त्रिदोषघ्न है । रोगों में यह

१. 'स्रोतोऽञ्जनं तु स्रोतोजं यामुनेयञ्च यामुनम्' । (र० त० २२।३६)
२. 'अञ्जनानि विशुद्धयन्ति भृङ्गराजनिजद्रवैः' । (र० र० स० ३।१०५)
३. 'सूर्यावर्तादियोगेन शुद्धिमेति रसाञ्जनम्' । (र० र० स० ३।१०५)
४. 'त्रिफलावारिणी स्वेद्यं तद्द्वयं शुद्धिमृच्छति ।
भृङ्गराजरसेवाऽपि स्रोतः सौवीरकं शुचिः' ॥ (आ० प्र० २।२३२)
५. 'नीलाञ्जनं चूर्णयित्वा जम्बीररसभावितम् ।
दिनैकमातपे शुद्धं भवेत्कार्येषु योजयेत्' ॥ (आ० प्र० २।२३८)

रक्तपित्त, वमन, हिक्का, अक्षिरोग, व्रण, क्षय, रक्तार्श, कर्णरोग एवं विषरोग का नाश करता है ।[1]

स्रोतोञ्जन—यह रस में कषाय एवं मधुर; वीर्य में शीत तथा गुण में स्निग्ध है । यह लेखन, ग्राही एवं नेत्र्य है । यह हिक्का, विषोद्भव रोग, वमन, कफपित्त एवं रक्त के रोगों को दूर करता है ।[2]

रसाञ्जन—यह रस में मधुर, तिक्त एवं कटु; वीर्य में शीत; विपाक में मधुर तथा गुण में शीत है । यह विष से उत्पन्न रोग, मुख के रोग, श्वास एवं हिक्का को नष्ट करता है । यह शरीर के वर्ण को बढ़ाता है तथा वातरक्त एवं रक्तपित्तनाशक है ।[3] चरक ने नेत्रस्राव कराने के लिए रसाञ्जन का उपयोग बताया है (यथा—'श्रावणार्थे रसाञ्जनम्') ।

पुष्पाञ्जन—यह रस में क्षारीय, वीर्य में शीत तथा गुण में स्निग्ध एवं शीत है । यह सब प्रकार के नेत्ररोग, भयंकर हिक्का, विष से उत्पन्न रोग तथा ज्वर को नष्ट करता है ।[4]

नीलाञ्जन—यह गुण में स्निग्ध एवं गुरु, नेत्र के लिए हितकर, तीनों दोषों का नाशक, रसायन गुण युक्त, सुवर्ण का मारण करने वाला तथा लोहों (धातुओं) में मृदुता उत्पन्न करने वाला होता है ।[5]

अञ्जन का सत्त्वपातन—मनःशिला तथा राजावर्त के सत्त्वपातन की तरह इसका भी सत्त्वपातन करना चाहिए ।

अञ्जन के प्रमुख योग—१. पुष्यानुग चूर्ण, २. पियूषवल्ली, ३. पत्रांगासव तथा ४. चन्दनादि चूर्ण आदि ।

कंकुष्ठ (Ruhbarb)

वर्ग—उपरस वर्ग ।

नाम—संस्कृत : कङ्कुष्ठम् । हिन्दी : कंकुष्ठ । अंग्रेजी : Ruhbarb.

१. 'सौवीरमञ्जनं धूम्रं रक्तपित्तहरं हिमम् ।
विषहिध्माक्षिरोगघ्नं व्रणशोधनरोपणम्' ॥ (र० र० स० ३।१००)
२. 'स्रोतोऽञ्जनं हिमं स्निग्धं कषायं स्वादु लेखनम् ।
नेत्र्यं हिध्माविषच्छर्दिकफपित्तास्रनुत्' ॥ (र० र० स० ३।१०२)
३. 'रसाञ्जनञ्च पीताभं विषवक्त्रगदापहम् ।
श्वासहिध्मापहं वर्ण्यं वातपित्तास्रनाशनम्' ॥ (र० र० स० ३।१०१)
४. 'पुष्पाञ्जनं सितं स्निग्धं हिमं सर्वाक्षिरोगनुत् ।
अतिदुर्धरहिध्माघ्नं विषज्वरगदापहम्' ॥ (र० र० स० ३।१०३)
५. 'नीलाञ्जनं गुरु स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहम् ।
रसायनं सुवर्णघ्नं लोहमार्दवकारकम्' ॥ (र० र० स० ३।१०४)

Scanned with CamScanner

पर्याय—काककंकुष्ठ, कोलबालक, तालकुष्ठ, तीक्ष्णदुग्धिका, रंगदायक, रेचक, वरांग, विरंग, स्वर्णक्षीरीनिर्यास, हेमवती।

इतिहास—कंकुष्ठ एक सन्दिग्ध द्रव्य है। प्राचीन काल से इसके सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ लोग काञ्चनक्षीरी अर्थात् स्वर्णक्षीरी को कंकुष्ठ मानते हैं—ऐसा डल्हण ने लिखा है। रसशास्त्र के ग्रन्थ रसार्णव नाम रसतन्त्रम्, रसरत्नसमुच्चय, तथा भालुकितन्त्र आदि में कंकुष्ठ के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों के विचार पढ़ने को मिलते हैं। तदनुसार—

१. 'डल्हण' द्वारा कथित अन्य लोगों के मत में स्वर्णक्षीरी या उसका निर्यास ही कंकुष्ठ है।

२. 'भालुकी' के मत से यह वंग का एक खनिज है।

३. 'रसार्णव' के अनुसार यह विद्रुम (प्रवाल) की छाया वाला लालवर्ण का कोई द्रव्य है।

४. रसरत्नसमुच्चय के अनुसार हिमालय पर्वत की छोटी पर्वत श्रृंखलाओं पर उत्पन्न होने वाला द्रव्यविशेष है।[1]

५. रसरत्नसमुच्चयकार ने कंकुष्ठ के सम्बन्ध में अन्य लोगों के मत को व्यक्त करते हुए कहा है कि—

(क) सद्योजात (तुरन्त पैदा हुए) हाथी के बच्चे का मल कंकुष्ठ है। यह श्याम-पीत वर्ण का होता है।

(ख) घोड़े के बच्चे का नाभिनाल ही कंकुष्ठ है। यह श्वेत पीत वर्ण का तथा अत्यन्त रेचक होता है।[2]

६. कुछ अन्य लोगों के मत से (वैद्य पं० शालिग्राम शास्त्री, लखनऊ) मुर्दाशंख (मृद्दारशृंग) ही कंकुष्ठ है।

७. यादवजी के मत से बाजार में मिलने वाला द्रव्य उसारेरेवन्द (रेवन्दचीनी) अर्थात् गेम्बोज ट्री (मैसूर गेम्बोज वृक्ष) के मूल का घनसत्त्व ही कंकुष्ठ है।

वर्तमान में उपलब्ध कंकुष्ठ—सम्प्रति बाजार में उपलब्ध कंकुष्ठ तमाल वृक्ष (Mysor gambose tree लै० नाम—Garcinia Morella) के तने को तिरछा काटकर उसमें एक बाँस की नली लगा दी जाती है, जिससे तने से स्रवित पीतवर्ण का स्राव उसमें एकत्र होता रहता है। उसके भर जाने पर उसी स्थान पर दूसरी नली

१. 'हिमवत्पादशिखरे कङ्कुष्ठमुपजायते'।

२. 'केचिद्वदन्ति कङ्कुष्ठं सद्योजातस्य दन्तिनः।
वर्चश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते॥
कतिचित्तेजिवाहानां नालं कङ्कुष्ठसंज्ञकम्।
वदन्ति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम्।
रसे रसायने श्रेष्ठं निःसत्त्वं बहु वैकृतम्'॥ (र० र० स० ३।१११-११२)

लगा देते है। बाँस की नली में एकत्रित रस सूखकर सुन्दर रक्तपीत वर्ण का ठोस नलिकाकार बन जाता है, जिसे बाँस की नली को तोड़ कर प्राप्त कर लेते हैं। यदि इसी तने के रस को किसी खुले पात्र में एकत्र करते हैं तो वह सूखने पर चूर्ण रूप का हो जाता है। सम्प्रति यह विशेषकर सिंगापुर, मलेशिया, बर्मा, इण्डोनेशिया आदि देशों से भारत में आता है।

कंकुष्ठ के भेद[1]—यह दो प्रकार का होता है—

१. नालिकाख्य (नलिका कंकुष्ठ)।

२. रेणुक (रेणुक कंकुष्ठ)।

इनमें—१. नलिका कंकुष्ठ पीले वर्ण का, चमकदार, भारी, स्निग्ध तथा श्रेष्ठ होता है। एवं २. रेणुका कंकुष्ठ कुछ काला-पीला, वजन में हलका निःसत्त्व तथा निरुपयोगी होता है।

कंकुष्ठ का शोधन—कंकुष्ठ में शुण्ठी के क्वाथ की तीन भावना देने से यह शुद्ध हो जाता है। यह स्वयं सत्त्व रूप होता है। अतः इसका सत्त्वपातन आदि नहीं किया जाता।[2]

कंकुष्ठ के गुण—यह रस में तिक्त, कटु एवं अम्ल; वीर्य में उष्ण तथा गुण में तीक्ष्ण और उष्ण है। यह अत्यन्त रेचक है। यह व्रण, उदावर्त, शूल, प्लीहा, गुल्म, अर्श (गुदगीड़ा) आदि रोगों का नाश करता है।

यह आमवात को नष्ट करता है तथा क्षणमात्र में रेचन कराता है। कंकुष्ठ कठोदर (उदरकाठिन्य) तथा जलोदर का भी नाश करता है।[3]

कंकुष्ठ का प्रयोग[4]—विरेचन के लिए कंकुष्ठ १ यव की मात्रा में ग्राही द्रव्यों (शुण्ठी, जीरक, गुजपिप्पली आदि) के साथ प्रयोग करना चाहिए। यह शीघ्र विरेचन कराकर आमजन्य रोगों को शान्त करता है।[5]

१. 'तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम्।
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कङ्कुष्ठमादिकम्।
श्यामपीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम्'॥ (र० र० स० ३।१०९-११०)

२. 'कङ्कुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यम्बुभावितम्।
सत्त्वाकर्षोऽस्य न प्रोक्तो यस्मात्सत्त्वमयं हि तत्'॥ (र० र० स० ३।११४)

३. 'कङ्कुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम्।
व्रणोदावर्तशूलार्तिगुल्मप्लीहगुदार्दिनुत्'॥ (र० र० स० ३।११३)

४. 'नाशयेदामवातं च रेचयेत् क्षणमात्रतः।
कङ्कुष्ठं नाशयेत् शीघ्रं कठोदरजलोदरम्'॥ (र० ज० नि०)

५. 'भजेदेनं विरेकार्थं ग्राहिभिर्यवमात्रया।
नाशयेदामजातिं च विरेच्य क्षणमात्रतः'॥ (र० र० स० ३।११५)

अत्यधिक एवं शीघ्र विरेचन के लिए कंकुष्ठ को ताम्बूल के साथ सेवन करायें। कई बार अत्यधिक विरेचन से प्राण संकट में पड़ जाता है।[1]

कंकुष्ठ के दुष्प्रभाव की शान्ति—कंकुष्ठ जनित विष के प्रभाव (दुष्प्रभाव–अति-विरेचन) को शान्त करने के लिए बब्बूलमूल के क्वाथ में समान भाग जीरा एवं टंकण का प्रक्षेप डालकर बराबर सेवन करना चाहिए।[2]

कंकुष्ठ के प्रमुख योग—१. धन्वन्तरि घृत, २. धन्वन्तरि रस, ३. मृतसंजीवनी रस, ४. शोथोदरारि रस तथा ५. उदावर्तहर घृत आदि।

कम्पिल्लक

(Mallotus phillippinensis Muell–arg.)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : कम्पिल्लकः। हिन्दी : कबीला।

लैटिन : Mallotus phillippinensis Muell–arg.

पर्याय—कम्पिल्लक, रक्तचूर्णक, रेचन, कर्कश, रोचन, रक्ताङ्ग तथा चन्द्र आदि।

इतिहास—यह एक वानस्पतिक द्रव्य है। चिकित्सा में इसका उपयोग चरक, सुश्रुत तथा अष्टांगहृदय आदि ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर देखा जाता है। पारदीय प्रक्रियाओं में इसकी उपयोगिता के कारण इसे रस-ग्रन्थों में साधारण रस वर्ग के अन्तर्गत शामिल किया गया है।

उत्पत्ति एवं प्राप्ति-स्थान—यह वानस्पतिक फलरज है, जो प्राचीन समय में सौराष्ट्र देश में पाया जाता था। इस समय यह भारत के अनेक भू-भागों में पाया जाता है। विशेषकर हिमालय के दक्षिण-पूर्व क्षेत्र, पूर्वी बंगाल, दक्षिण कर्नाटक, मालाबार एवं मद्रास तथा विदेशों में वर्मा (म्यानमार), सिंगापुर एवं मलाया आदि देशों में पाया जाता है।

वानस्पतिक परिचय—कम्पिल्लक का सदा हरित २५ से ३० फीट ऊँचा वृक्ष होता है। पत्तियाँ ३" से ४" इंच लम्बगोल और ऊपर से चमकीली होती है। इसका नीचे का भाग फीका होता है। वर्षा ऋतु के अन्त में (भादो-आश्विन में) इसमें पुष्प तथा शीत ऋतु में फल लगता है। फूल छोटा तथा गुच्छों के रूप में निकलता है। फल छोटे बेर अथवा मटर के आकार का होता है, जो वसन्त के आरम्भ में पक जाता है। फल के छिलकों के ऊपर लाल रंग का चमकीला महीन रजकण लगा होता है। फल के पकने पर तोड़कर इसे सुखाते हैं और सूखने पर छिलकों को रगड़ कर रजकण प्राप्त करते हैं। इसे ही कम्पिल्लक कहते हैं।

---

१. 'मक्षितः सह ताम्बूलैर्विरिच्यासून्विनाशयेत्'। (र० र० त० ३।११)

२. 'बर्बूरिमूलिकाक्वाथो जीरसौभाग्यकं समम्।
कङ्कुष्ठविषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः'॥ (र० र० स० ३।११७)

कम्पिल्लक की परीक्षा—कम्पिल्लक की परीक्षा निम्न विधियों से की जाती है—

१. यह ठण्डे जल में नहीं घुलता है। गर्म जल में अत्यल्प घुलनशील है।

२. जल में डालने पर जल के ऊपर तैरता है।

३. भींगी अंगुली में कम्पिल्लक को लेकर कागज पर रगड़ने पर पीला रंग उत्पन्न करता है। कागज को पीला रंग देता है।

४. आग पर डालने पर बारूद की तरह भड़ककर जलता है।

५. स्पर्श में मृदु होता है।

अशुद्ध कम्पिल्लक—कम्पिल्लक का वर्ण लाल इष्टिका चूर्ण के समान होता है। यह अत्यन्त लघु होता है। इसमें ईंट का चूर्ण मिला देने से इसे देखकर आसानी से इसकी शुद्धि का पहचान नहीं की जा सकती। व्यापारी अधिक धन प्राप्त करने के लिए इसमें ईंट का चूर्ण मिलाकर इसका वजन बढ़ा देते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान में लकड़ी का लाल बुरादा आदि भी मिला दिया जाता है। इन कृत्रिम अशुद्धियों के सिवा इसमें अन्य कोई अशुद्धि नहीं होती है। मिलावटी कम्पिल्लक स्पर्श में कठिन, रूक्ष और भारी होता है।

शोधन—इष्टिका चूर्ण रूपी कृत्रिम अशुद्धि को दूर करने के लिए इसे जल में डाल देते हैं। कम्पिल्लक ऊपर तैरता है तथा इष्टिका चूर्ण जल के नीचे बैठ जाता है। ऊपर तैरते हुए कम्पिल्लक को छानकर सुखाकर प्राप्त कर लेते हैं। यह शुद्ध होता है।

रासायनिक संगठन—कम्पिल्लक में रोलेटीन नामक पीत मणिभीय द्रव्य होता है। इसमें रक्तपीत वर्ण का रेजीन, मोमसदृश पदार्थ, उड़नशील तैल, शर्करा, टैनीन, तथा आग्जेलिक एवं साइट्रिक एसिड का कुछ भाग होता है।

शास्त्रीय विवरण—कम्पिल्लक ईंट के चूर्ण के समान लाल रंग का चमकदार होता है, जो अत्यन्त रेचक होता है। कम्पिल्ल (सौराष्ट्र या काठियावाड़) देश में उत्पन्न होने से इसे कम्पिल्लक कहते हैं।[1]

कम्पिल्लक के गुण—यह कटु एवं किञ्चित् अम्लरस युक्त तथा वीर्य में उष्ण होता है। यह कर्म में रेचक, विड्भेदक, रक्तपित्तघ्न, कृमिघ्न एवं आमपाचक है। यह दूषित पित्त, व्रण, आध्मान, विबन्ध, मलमूत्र का अवरोधक, दूषित कफ, उदर-रोग, कृमिरोग, गुल्म, अर्श, शोथ, आमदोष, ज्वर, शूलनाशक तथा विरेचन से शान्त होने वाले समग्र विकारों को नष्ट करता है।[2]

कम्पिल्लक उत्तम कृमिघ्न, त्वक्दोषनाशक और व्रणरोपक है। यह सभी प्रकार की उदरस्थ कृमि के लिए उत्तम औषधि है। इसके उपयोग से सभी प्रकार के कृमि

---

१. 'ईष्टिकाचूर्णसङ्काशश्चन्द्रिकाढ्योऽतिरेचनः'। सौराष्ट्रदेशे चोत्पन्नः स हि कम्पिल्लकः स्मृतः'॥ (र० र० स० ३।१२२)

२. 'पित्तव्रणाध्मानविबन्धहारी श्लेष्मोदरातिकृमिगुल्महारी।
मूलामशोफज्वरशूलहारी, कम्पिल्लको रेच्यगदापहारी'॥
(र० र० स० ३।१२३)

Scanned with CamScanner

मर जाते हैं तथा रेचक होने से मल प्रवृत्ति के साथ बाहर आ जाते हैं। तेल में घोंट-कर खुजली पर लगाने से शीघ्र लाभ होता है।

मात्रा—४ से ६ गुञ्जा तक। रेचने के लिए—३ से ६ माशा तक।

कम्पिल्लक के प्रमुख योग—१. कम्पिल्लक मल्लहर, २. क्रिमिघातिनी गुटिका, ३. त्रिफलादि घृत, ४. पटोलादि चूर्ण, ५. ब्रह्मघृत तथा ६. विन्दुघृत आदि।

संखिया (गौरीपाषाण)
(Vitreous or White Arsenic)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : शंखविष या गौरीपाषाण। हिन्दी : संखिया।
अंग्रेजी : White Arsenic or Vitreous.

रासायनिक नाम—Arsenious Oxide। सूत्र As_2O_3

काठिन्य—३ से ४। वि० गु० ५.६ से ५.८।

पर्याय[1]—शंखविष, शंखभूष, गौरीपाषाण, दारुभूष, दारुमोच, मल्ल, मल्लक, फेनाश्म, सम्बल, आखुपाषाण, सम्बुलखार, विकट, हतचूर्णक तथा व्यक्त देह आदि इसके अनेक पर्याय हैं।

इतिहास—सुश्रुत-कल्पस्थान (अ० १) में सर्वप्रथम इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'फेनाश्महरितालं च द्वे धातुविषे'। यह पारद के बन्धन आदि कार्यों के लिए रसशास्त्र में अत्यन्त उपयोगी होने से साधारण रस वर्ग के अन्तर्गत माना गया है।

परिचय—संखिया में रासायनिक दृष्टि से आर्सेनिक और ऑक्सीजन—ये दो तत्त्व पाये जाते हैं। देखने में यह स्फटिक या काँच के समान पारदर्शक होता है। इसका रंग अत्यन्त शुभ्र होता है। खनिज रूप में इसकी प्राप्ति बहुत कम होती है। बाजारों से विशेषकर यह कृत्रिम प्रकार का ही उपलब्ध होता है। यह प्रायः गन्धक, लोहा एवं ताम्र आदि धातुओं के खनिज में मिला होता है, जिसे भट्ठियों में गर्म करने पर यह ऑक्साइड (AS_2O_3) बनकर धुँए के रूप में उड़कर भट्ठी की चिमनियों में जमा हो जाता है। इसे खुरचकर प्राप्त करते हैं तथा उर्ध्वपातित कर शुद्ध कर लेते हैं। यह गर्म करने पर बिना द्रव में परिवर्तित हुए धुँआ बनकर उड़ जाता है। पानी में बहुत कम घुलता है। ताजा बनाया हुआ पारदर्शक किन्तु कुछ काल पश्चात् हल्के पीले-काले रंग का अपारदर्शक हो जाता है। यह स्वाद रहित होता है। खनिज रूप में प्राप्त होने वाले गौरीपाषाण में कई बार अल्प प्रमाण में एण्टीमनी, बिस्मथ, कोबाल्ट, निकिल, सिल्वर, आयरन एवं गोल्ड की भी उपस्थिति देखी जाती है। खनिज

१. 'शङ्खभूषं शङ्खविषं गौरीपाषाणकं तथा।
दारुभूषं दारुभूषा दारुमोचश्च मल्लकः॥
फेनाश्मभस्मसंज्ञश्च सोमलः सम्बलं तथा।
आखुपाषाणकं चैव रसज्ञैः परिकीर्तितम्'॥ (र० त० ११।१३०-१३१)

गौरीपाषाण मुख्यरूप से सिल्वर (रजत), कोबाल्ट और निकिल आदि के अयस्कों में सिरा के रूप में पाया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—खनिज के रूप में चीन, यूरोप आदि देशों से, तथा भारत में हजारीबाग (बिहार), चित्राल (कश्मीर) के आस-पास के क्षेत्रों में माक्षिक आदि खनिजों के साथ पाया जाता है।

कृत्रिम—कारखानों की चिमनी से, जहाँ आर्सेनोपायराइट (माक्षिक) आदि खनिज जलाया जाता है, प्राप्त होता है।

गौरीपाषाण के भेद—

(१) उत्पत्ति-भेद से यह दो प्रकार का होता है—१. खनिज, २. कृत्रिम।

(२) आकृति-भेद से यह तीन प्रकार का होता है—१. स्फटिकाभ : श्वेतवर्ण (श्रेष्ठतम), २. शंखाभ : पाण्डुरवर्ण (श्रेष्ठतर), ३. हरिद्राभ : पीतवर्ण[1] (श्रेष्ठ)।

(३) वर्ण-भेद से यह दो प्रकार का होता है—१. श्वेत (शंखाभ) : कृत्रिम। २. पीत (दाडिमाभ) : पर्वतसम्भव।

रसतरंगिणीकार ने वर्ण की दृष्टि से इसके दो भेद किये हैं;[2] यथा—१. श्वेत (कृत्रिम) तथा २. रक्त (खनिज)।

गौरीपाषाण का शोधन—

१. उत्तम कोटि के गौरीपाषाण को एक बड़े करैले को चीरकर उसके मध्य रख-कर दोलायन्त्र विधि से १ प्रहर तक स्वेदन करने से गौरीपाषाण शुद्ध हो जाता है।[3]

२. शंखविष (गौरीपाषाण) के मोटे चूर्ण को वस्त्र में बाँधकर दोलायन्त्र विधि से मेघनाद (तण्डुलीयक—चौलाई) के रस में १ दिन तक स्वेदन करने से शंखविष शुद्ध हो जाता है।[4]

१. (क) 'गौरीपाषाणकः पीतो विकटो हतचूर्णकः।
स्फटिकाभश्च शङ्खाभो हरिद्राभस्त्रयः स्मृताः॥
पूर्वः पूर्वो गुणैः श्रेष्ठः'। (र० र० स० ३।१२४)
(ख) 'गौरीपाषाणकः प्रोक्तो द्विविधः श्वेतपीतकः।
श्वेतः शङ्खसदृक्पीतो दाडिमाभः प्रकीर्तितः॥
श्वेतः कृत्रिमकः प्रोक्तः पीतः पर्वतसम्भवः।
विषकृत्यकरौ तौ हि रसकर्मणि पूजितौ'॥ (आ० प्र० २।३३६-३७)

२. 'मल्लस्तु द्विविधः प्रोक्तः श्वेतोऽन्यो रक्तकस्तथा।
कृत्रिमः श्वेतमल्लस्तु रक्तश्चाकरसम्भवः'॥ (र० त० ११।१३२)

३. '(गौरीपाषाणकं श्रेष्ठं) कारवल्लीफले क्षिपेत्।
स्वेदयेद्भण्डिकामध्ये शुद्धो भवति मूषकः'॥ (र० र० स० ३।१२५)

४. 'सुचूर्णितं शङ्खविषं दृढं वस्त्रेण रोधयेत्।
मेघनादरसेनैव दोलायन्त्रे विपाचयेत्॥
मृद्वग्निना दिनैकन्तु शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'। (र० त० ११।१३३-३४)

Scanned with CamScanner

३. बकरी के दूध या मांस रस में दोलायन्त्र विधि से १ दिन तक स्वेदन कर लेने से शंखविष शुद्ध हो जाता है।[1]

४. गोदुग्ध में १ प्रहर तक स्वेदन कर लेने से शंखविष शुद्ध हो जाता है।[2]

५. टंकण जल में शंखविष का स्वेदन कर लेने से शंखविष शुद्ध हो जाता है।[3]

गौरीपाषाण के गुण—गौरीपाषाण रस में तिक्त तथा गुण में स्निग्ध है। इसे क्लेदन, दोषघ्न, विषतुल्य, रसबन्धकर एवं रसवीर्यकर कहा गया है।[4] यह त्रिदोषघ्न है। यह शोथ, गुल्म, पाण्डु, उदररोग, कफ एवं वात के रोग, एक मास के प्रयोग से दारुण श्वासरोग, अनेक प्रकार के कुष्ठ, श्लीपदोत्थ ज्वर, सन्धिवात, फिरंग, अग्निमान्द्य, विषमज्वर, जीर्ण पाण्डुरोग, प्रतमकश्वास, यक्ष्मा (आरम्भिक अवस्था में), हृच्छूल, ज्वरोत्थ हृद्दौर्बल्य तथा भोजन के तुरन्त बाद होने वाले अतिसार को नष्ट करता है। यह उत्तम कामोद्दीपक है। बाह्य प्रयोग से यह क्षारकर्म करता है तथा शोथ एवं सन्ताप को शीघ्र कम करता है।[5]

मात्रा—$\frac{1}{16}$ रत्ती (६ मिग्रा०) से $\frac{1}{8}$ रत्ती (१ मिग्रा०) तक की मात्रा में प्रयोग निरापद होता है।[6]

१. 'मल्लचूर्णं त्वाजरसैर्दोलायन्त्रे विपाचयेत्।
दिनैकन्तु विधानज्ञो मल्लः शुद्धिमवाप्नुयात्' ॥ (र० त० ११।१३५)
२. 'गव्यदुग्धेन वा यामं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'। (र० त० ११।१३७)
३. 'विपाचितं शङ्खविषं यत्नतष्टङ्कणाम्भसा'। (र० त० ११।१३७)
४. 'रसबन्धकरः स्निग्धो दोषघ्नो रसवीर्यकृत्'। (र० र० स० ३।१२६)
५. 'गौरीपाषाणकः स्निग्धो दोषघ्नो रसबन्धकृत्।
कफवातामयहरः वृश्चिकादिविषप्रणुत् ॥
मासमात्रप्रयोगेन श्वासं परमदारुणम्।
विविधानि च कुष्ठानि नाशयेन्नैव संशयः ॥
श्लीपदोत्थज्वरध्वंसी प्रकामं कामवर्द्धनः।
सन्धिवातगदद्वेषी फिरङ्गकरिकेशरी ॥
अग्निमान्द्यहरः कामं विषमज्वरनाशनः।
कान्तिप्रदः परं जीर्णपाण्डुरोगनिषूदनः ॥
श्वासं प्रतमकं हन्ति चिरोत्थं त्वतिदारुणम्।
द्रुतमारम्भवेलायां यक्ष्माणमपि नाशयेत् ॥
हृच्छूलजं ज्वरोत्थञ्च हृद्दौर्बल्यं द्रुतं हरेत्।
अतीसारं निहन्त्याशु भुक्तमात्रसमुत्थितम् ॥
मल्लो बाह्यप्रयोगेण क्षारकर्मकरः परम्।
शोथसन्तापशैथिल्यकरश्च परकीर्तितः' ॥ (र० त० ११।१३८-४४)
६. 'खनेत्रेन्दुमिताद् भागाद् रक्तेरारभ्य यत्नतः।
खवह्निभागप्रमितं शङ्खभूपं नियोजयेत्' ॥ (र० त० ११।१४५)

गौरीपाषाण की मात्रा का निर्माण—एक रत्ती शुद्ध शंखविष में १५ माशा काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर अदरक के रस से खरल में अच्छी तरह तीन दिन तक मर्दन करके १-१ रत्ती की गोलियाँ बना लें। इन गोलियों में से एक-एक गोली प्रातः-सायं ततद्दोष की शान्ति के लिए निःशंक होकर प्रयोग करें।[1]

सावधानी—शंखविष एक तीव्र विष है। शंखविष की १ रत्ती की मात्रा खा लेने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसकी एक रत्ती (१२५ मिग्रा०) की मात्रा मारक है।[2]

गौरीपाषाण विष के प्रभाव की शान्ति हेतु—
१. गोदुग्ध में गोघृत एवं मिश्री मिलाकर पिलायें।
२. टंकण का जलीय विलयन पिलायें।
३. मक्खन एवं मिश्री के साथ तिल चूर्ण मिलाकर खिलायें।
४. करैले का स्वरस पिलायें।

गौरीपाषाण का सत्त्वपातन—हरताल सत्त्वपातन की तरह इसका भी सत्त्वपातन करें।[3] इसका सत्त्व शुभ्र होता है। यथास्थान उसका प्रयोग करें।

शंखविष के प्रमुख योग—१. मल्लवटी, २. मल्लसिन्दूर, ३. समीरपन्नग, ४. चण्डेश्वर रस एवं ५. मल्लगर्भ पोट्टली आदि।

नवसादर
(Ammonium Salts)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : नवसादर। हिन्दी : नौसादर। अंग्रेजी : Ammonium salt.

रासायनिक नाम—अमोनियम क्लोराइड (Ammonium chloride)

संकेत—NH_2Cl.

पर्याय—नवसार, नव्यसार, नवसादर, नृसादर, नृसार, नरसार, किट्टक्षार, नरसादर, चूलिका लवण तथा चुल्लिका लवण[4]।

१. 'गुञ्जोन्मितं शङ्खविषं तिथिमाषकसम्मिते।
मरिचचूर्णे निक्षिप्य शृङ्गवेराम्भसा ततः ॥
खल्वमध्ये निधायाथ मर्दयेत्तु दिनत्रयम्।
निर्मापयेत्ततो युक्त्या वटिका रक्तिकोन्मिताः ॥
एकैकां वटिकाञ्चाथ सायम्प्रातस्ततो भिषक्।
वीतशङ्कः प्रयुञ्जीत तत्तद्दोषापनुत्तये' ॥ (र० त० ११।१४७-४९)
२. 'रक्तिसम्मितमल्लस्य भक्षणात् पुरुषा यतः।
यमालयं प्रयातीह सावधानतया ततः' ॥ (र० त० ११।१५१)
३. 'तालवद्ग्राहयेत्सत्त्वं शुद्धं शुभ्रं प्रयोजयेत्'। (र० र० स० ३।१२६)
४. 'नवसारो नव्यसारस्तथैव नवसादरः।
नृसादरो नृसारश्च नरसारश्च कीर्तितः ॥

Scanned with CamScanner

इतिहास—प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। ८वीं शताब्दी के रस-ग्रन्थों में ही इसका वर्णन एवं उपयोग उपलब्ध होता है।

परिचय—यह सफेद रंग का दानेदार लवण होता है। इसका स्वाद नमकीन, चरपरा तथा शीत की अनुभूति कराता है। पानी में यह शीघ्रता से घुल जाता है तथा पानी को ठण्डा कर देता है। क्षार या चूने के साथ मिलाने तथा गर्म करने पर अमोनिया गैस की तीव्र गन्ध उत्पन्न करता है। इसे गर्म करने पर उर्ध्वपातित हो जाता है।

प्राप्ति-स्थान—खनिज के रूप में इटली में सिसली के ज्वालामुखी पहाड़ के आसपास तथा मध्य एशिया के अनेक स्थानों से प्राप्त होता है।

कृत्रिम रूप में ऊँट की लीद को जलाकर, ऊँट के मूत्र से, मानव मूत्र से, ईंट पकाने पर ईंट के भट्ठों से (भट्ठों में लीद-गोबर, लकड़ी आदि जलाने पर) प्राप्त होता है। भट्ठे के जिस भाग में अग्नि कम होती है, उस भाग में नवसादर एकत्र हो जाता है।

रसग्रन्थों में निम्न वर्णन उपलब्ध होता है—करीर और पीलु वृक्षों के काष्ठों को जलाने से जो क्षार प्राप्त होता है, वही नवसादर है। उसी को चुल्लिका लवण भी कहते हैं। ईंटों को जलाने पर जो पीला-सा सफेद और हल्का-सा लवण प्राप्त होता है, उसको नवसादर तथा चुल्लिका लवण भी कहते हैं।[1]

ग्राम्य चूल्हों में अनेक प्रकार की लकड़ियाँ जलाई जाती हैं। चूल्हे के अन्तःभाग की मिट्टी का स्वाद नमकीन होता है। इसे जल में घोल-छानकर जल को सुखा लेने पर नवसादर प्राप्त होता है। चूल्हे से प्राप्त होने के कारण ही इसे चुल्लिका लवण कहते हैं।

नवसादर का शोधन—१. तीन गुने जल में घोलकर वस्त्र से छानकर जल को गर्मकर शुष्क कर लेने पर नवसादर प्राप्त होता है।[2] अथवा गर्म या उबलते जल में

किट्टक्षारो निगदितस्तथैव नरसादरः।
चूल्लिकालवणं ख्यातं चुल्लिकालवणञ्च तत्' ॥ (र० त० १४।१-२)

१. 'करीरपीलुकाष्ठेषु पच्यमानेषु चोद्भवः।
क्षारोऽसौ नवसारः स्याच्चुल्लिकालवणाभिधः ॥
(इष्टिकादहने जातं पाण्डुरं लवणं लघु।) PGQ.
तदुक्तं नवसाराख्यं चुल्लिकालवणञ्च तत्' ॥
(र० र० स० ३।१२७-२८)

२. 'नवसारन्तु सलिले त्रिगुणे द्रावयेद्भिषक्।
वस्त्रपूतं ततः कृत्वा भाजने स्थापयेत्ततः ॥
चुल्लिकायां निधायाथ पचेत्तीव्राग्निना भृशम्।
जले शुष्के तलस्थञ्च नृसारं विमलं हरेत्' ॥ (र० त० १४।३-४)

नवसादर को घोलकर वस्त्र से छानकर पुनः उसे सुखाकर शुद्ध नवसादर दाने के रूप में प्राप्त किया जाता है।

२. डमरूयन्त्र द्वारा उर्ध्वपातन करके श्वेत पीले रंग का शुद्ध नवसादर प्राप्त किया जाता है।

नवसादर के गुण—यह रस में अम्ल, लवण एवं क्षारीय तथा गुण में स्निग्ध एवं शीत है। यह जठराग्नि दीप्तिकर, सारक, भुक्त मांस को पचाने वाला, गुल्म, आध्मान, प्लीहा और मुखशोष को नष्ट करने वाला तथा त्रिदोषघ्न है। यह पारद के जारण संस्कार में तथा धातुओं के द्रावण में उपयोगी है। इसको विडलवण भी कहते हैं।[1] यह उत्तम कफनिस्सारक, वृश्चिक-विषनाशक, हृद्रोगनाशक, नेत्र्य तथा श्वित्र एवं कुष्ठरोग नाशक है।[2] १ मासे की मात्रा में यह सिरदर्द एवं गिनीवर्म रोग में दिया जाता है।

मात्रा—दो से आठ रत्ती तक, बल एवं काल का विचार करते हुए इसका अन्तःप्रयोग करें।[3]

नवसादर के प्रमुख योग—१. श्वेतपर्पटी, २. शंखद्राव तथा ३. वृश्चिकदंशहर लेप आदि।

कपर्द

(Cowry or Marine Shell)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : कपर्द या वराटिका। हिन्दी : कौड़ी। अंग्रेजी : Marine shell.

पर्याय—वराटक, वराट, वराटी, वराटिका, कपर्दक, कपर्द, कपर्दी, कपर्दिका, बालक्रीडनक, चर, चराचर आदि इसके पर्याय हैं।[4]

---

१. 'रसेन्द्रजारणं लोहद्रावणं जठराग्निकृत्।
गुल्मप्लीहास्य शोषघ्नं भुक्तमांसादिजारणम्।
विडाख्यञ्च त्रिदोषघ्नं चुल्लिकालवणं मतम्' ॥ (र० र० स० ३।१२९)

२. 'नवसारस्त्रिदोषघ्नः स्निग्धः सूक्ष्मो लघुस्तथा।
पाचकः सारकस्तीक्ष्णो जठराग्निप्रदीपनः ॥
उष्णः प्लीहप्रशमनो मांसाजीर्णनिवारणः।
गुल्माध्मानप्रहरणः कफविश्लेषणः परम् ॥
वृश्चिकोत्थविषघ्नश्च लोहद्रावणकस्तथा।
हृदामयहरो नेत्र्यः श्वित्रकुष्ठहरस्तथा' ॥ (र० त० १४।५-७)

३. 'द्विगुञ्जतश्चाष्टगुञ्जमितं तु नवसादरम्।
प्राणाचार्यः प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० १४।८)

४. 'वराटको वराटश्च वराटी च वराटिका।
कपर्दकः कपर्दश्च कपर्दी च कपर्दिका ॥

Scanned with CamScanner

इतिहास—भारतीयों को अतिप्राचीन काल से कपर्दिका का ज्ञान है। चिकित्सा कार्य में इसका उपयोग चरक के काल से होता चला आ रहा है। पारद के जारण कर्म में इसकी उपादेयता के कारण इसे साधारण रस वर्ग में शामिल किया गया है।

परिचय—यह मोलस्का (Moluska) जाति के समुद्री प्राणी का कवच (Shell) है। जीव इस कवच के अन्दर पलता है। मछुओं के जाल से तथा समुद्री लहरों से यह किनारे तक चला आता है, जिसे लोग इकट्ठा कर लेते हैं। जल में उबालने से अन्दर का प्राणी सिकुड़ जाता है जिसे निकाल कर मछुए लोग खा जाते हैं तथा उसके कवच (Shell) को कौड़ी के नाम से व्यवहार में लाया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—समुद्र से।

वराटिका के भेद—इसके वर्ण के आधार पर तीन भेद किये गये हैं; यथा[1]—

१. पीत : उत्तम।
२. श्वेत : मध्यम।
३. धूसर : अधम।

रसरत्नसमुच्चय में इसके दो भेद किये गये हैं—

१. वराटिका।
२. वराट।

लक्षण[2]—

वराटिका—पीत आभावाली, पृष्ठ भाग पर ग्रन्थि तथा लम्बगोल वराटिका कहलाती है। इसे रसवैद्य चराचर के नाम से भी सूचित करते हैं। यह—१. डेढ़ निष्क वजन वाली श्रेष्ठ, २. एक निष्क वजन वाली मध्यम तथा ३. पौन (पादोन) निष्क भार वाली कनिष्ठ मानी जाती है।

वराट—कम वजन वाली होती है। यह गुरु स्वभाव वाली तथा श्लेष्म पित्त को बढ़ाने वाली होती है। इसे किसी काम का नहीं माना जाता है।

ग्राह्य वराटिका—लम्बे वृन्त (डण्ठल के आकार) की, स्वर्ण की आभा वाली, पृष्ठभाग पर छोटी-छोटी गाँठों वाली और डेढ़ शाण (६ माशा) भार

बालक्रीडनकश्चापि चरो वर्यश्चराचरः।
वराटकं वराटं च कपर्दं च निगद्यते'॥ (र० त० १२।८२-८३)

१. 'वराटिका त्रिधा प्रोक्ता पीता श्वेता च धूसरा।
पीतोत्तमा मध्यमा तु श्वेतान्या त्वधमा मता'॥ (र० त० १२।८४)

२. 'पीताभा ग्रन्थिका पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका।
रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचर संज्ञिका॥
सार्धनिष्कभरा श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा।
पादोननिष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता॥
तदन्ये तु वराटाः स्युर्गुरवः श्लेष्मपित्तलाः'॥
(र० र० स० ३।१३०-१३२)

वाली वराटिका उत्तम होती है। एक शाण वाली मध्यम तथा आधा शाण वाली अधम मानी जाती है। भस्म कार्य के लिए १½ शाण वाली वराटिका उत्तम होती है।[1]

वराटिका शोधन—काञ्जी,[2] कुलत्थ क्वाथ,[3] निम्बू स्वरस[4] या साइट्रिक एसिड (Sitric acid) अथवा किसी भी अम्ल[5] द्रव में १ याम (३ घण्टे) तक दोलायन्त्र विधि से स्वेदन कर उष्ण जल से प्रच्छालन कर लेने से वराटिका शुद्ध हो जाती है।

वराटिका का मारण—१. धधकते अंगारे पर कौड़ी को रखकर धमन कर फुल्लित कर लेना तथा स्वांगशीत होने पर चूर्णकर रख लेना चाहिए। यही कपर्दिका भस्म होता है।[6]

२. शुद्ध कपर्दिका को शरावसम्पुट में बन्दकर इसे पुट (गजपुट) में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर सम्पुट से कौड़ी को निकाल कर चूर्ण कर रख लें। कौड़ी का भस्म सफेद होता है। इसे सभी योगों में उपयोग कर सकते हैं।[7]

१. 'दीर्घवृन्ता स्वर्णवर्णा पृष्ठे च ग्रन्थिला तथा।
सार्द्धैकशाणप्रमिता वराटी कथितोत्तमा॥
शाणोन्मिता मध्यमा स्याच्छाणार्द्धप्रमिताधमा।
रसज्ञैरुक्तमैवेह भस्मकर्मणि शस्यते'॥ (र० त० १२।८५-८६)

२. (क) 'वराटः काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः'।
(र० र० स० ३।१३४)

(ख) 'दोलायन्त्रे तु यामैकं काञ्जिकेन वराटिका।
स्विन्ना प्रच्छालिता चोष्णवारिणा शुद्धिमाप्नुयात्'॥
(र० त० १२।८७)

३. 'दोलायन्त्रे यामैकं कुलत्थक्वथिताम्भसा।
स्विन्ना वराटिका शीघ्रं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० १२।८८)

४. 'निम्बुकाम्लद्रवोपेता दोलायन्त्रे वराटिका।
परिस्विन्ना तु यामैकं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० १२।९०)

५. 'अम्लेन केनचिद्वापि दोलायन्त्रे विपाचिता।
वराटी याममात्रेण विशुद्धचति न संशयः'॥ (र० त० १२।८९)

६. (क) 'अङ्गाराग्नौ स्थिता ध्माता सम्यक् प्रोत्फुल्लिता यदा।
स्वाङ्गशीता मृता तां तु पिष्ट्वा सम्यक् प्रयोजयेत्'॥
(आ० प्र० २।३००)

(ख) 'वराटिका विशोधिता त्वलातकानले स्थिता।
यदाभवेत्तु फुल्लिता मृता तदाशनोचिता'॥ (र० त० १२।९४)

७. 'वराटकांस्तु विमलान् शरावे स्थापयेद्भिषक्।
शरावेणापरेणाथ सम्यगाच्छादयेत्ततः।
सन्धिलेपं ततः कृत्वा शोषयेदातपे पुनः।
करीषाग्नौ पचेत्कामं यत्नतस्तु भिषग्वरः॥

Scanned with CamScanner

वराटिका के गुण—यह रस में कटु एवं तिक्त; गुण में गुरु एवं उष्ण तथा वीर्य में उष्ण है।

यह दीपन एवं वृष्य है। नेत्ररोग, कर्णस्राव, अग्निमान्द्य, परिणामशूल, ग्रहणी, क्षय, स्फोट आदि को नष्ट करता है। यह वातकफनाशक है। रसेन्द्र (पारद) के जारण के लिए श्रेष्ठ तथा विड्द्रव्य के निर्माण में उपयोगी है।[1]

वराटिका की मात्रा—वाराटिका भस्म २ रत्ती की मात्रा में प्रयोग करें। इसकी पूर्ण मात्रा दो रत्ती है।[2]

अनुपान—जल।

वराटिका के प्रमुख योग—१. अग्निकुमार रस, २. ग्रहणीकपाट रस, ३. प्रवाल पञ्चामृत रस, ४. रत्नगर्भ पोट्टली रस, ५. प्रदारान्तक लौह, ६. लवंगादि वटी तथा ७. राजमृगाङ्क रस आदि।

अग्निजार
(Ambargris)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : अग्निजार। हिन्दी : अम्बर। अंग्रेजी : Ambargris.

पर्याय—अग्निज, अग्निगर्भ, अग्निनिर्यास, सामुद्रजरायु, अग्निज्वालू, वड़वाग्निमल, सिन्धुफला, अर्णवोद्भव, वह्निजार आदि।

इतिहास—रसार्णव में सर्वप्रथम अभ्रकद्रावण[1] के लिए इसका उपयोग देखा जाता है। प्राचीन संहिता ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

परिचय—१. स्पर्म ह्वेल जाति की बड़ी मछली के आँतों में स्रवित होने वाला मोम सदृश पदार्थ होता है। यह अत्यन्त सुगन्धित द्रव्य होता है तथा सुगन्धित द्रव्यों के उत्पादन में विशेष उपयोगी है।

स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य खल्वे सञ्चूर्णयेत्ततः।
शरदिन्दुनिभं भस्म सर्वयोगेषु योजयेत्' ॥ (र० त० १२।९१-९३)

१. (क) 'परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशनी।
कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा।
रसेन्द्रजारणे प्रोक्ता विड्द्रव्येषु शस्यते'। (र० र० स० ३।१३३)
(ख) 'वराटी दीपनी चोष्णा नयनातङ्कहारिणी।
कर्णस्रावहारार्त्यर्थं वह्निमान्द्यविनाशनी ॥
पक्तिशूलादिशमनी ग्रहणीगजसिंहिका।
क्षयस्फोटापहा वृष्या···' ॥ (र० त० १२।९५-९६)

२. '···मात्रा रक्तियद्वयोन्मिता' ॥ (र० त० १२।९६)

३. 'अग्निजारं नवे कुम्भे स्थापयित्वा धरोत्तरम्।
गगनं द्रवति क्षिप्रं मुक्ताफलसमप्रभम्' ॥ (रसार्णव० ५।१९)

२. कुछ लोगों के मत से यह ह्वेल मछली का शुष्क मल है जो मृत ह्वेल मछली के आँत से प्राप्त होता है। मलबद्धता के कारण मछली मर जाती है तथा कुछ काल के पश्चात् आँत का वह भाग मछली के शरीर से पृथक् होकर समुद्री सतह पर पिण्ड के रूप में तैरता रहता है और मछुआरों द्वारा उसे एकत्र किया जाता है। आरम्भ में इसमें सुगन्धि नहीं होती, किन्तु सूखने पर यह उत्तेजक उग्र सुगन्ध देने लगता है। यह राख के समान काले-सफेद रंग का होता है। भार में हलका, जल में अघुलनशील, अग्नि में ज्वलनशील तथा गर्म करने पर सम्पूर्ण रूप से उड़ जाता है। इसमें काले-काले बिन्दुयुक्त अपारदर्शक घनपदार्थ होते हैं।

प्राचीन मत में यह अग्निनक्र नाम के समुद्री जन्तु का जरायु (गर्भकोष) है। यह सूर्य-रश्मियों से शुष्क होकर समुद्र के किनारे रहने वाले मछुओं को प्राप्त होता है।[1] इसे अग्निजार कहते हैं।

प्राप्ति-स्थान—यह पृथ्वी के उष्णकटिबन्धीय समुद्री भागों में विशेषकर मन्नार (सिलोन), अफ्रीका, भारतीय समुद्री तट—लक्षद्वीप और निकोबार द्वीप के किनारों पर प्राप्त होता है।

शोधन—अग्निजार समुद्र के क्षारीय जल और क्षारीय किनारों में बहुत दिनों तक पड़ा रहने के कारण औषधि की दृष्टि से इसमें कोई अशुद्धि नहीं आती है। अतः इसकी पृथक् से शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती है।[2]

अम्बर के गुण—रस में इसे कटु तथा गुण में लघु एवं उष्ण माना गया है। यह दीपन, ग्राही, त्रिदोषघ्न एवं विशेषकर वात-कफनाशक है। यह पित्त को बढ़ाता है। यह रक्तरोग, धनुर्वात तथा सम्पूर्ण वातव्याधि का नाश करता है। यह कस्तूरी के समान गुणधर्म वाला माना जाता है।[3] यह मेदोरोग नाशक है।

यह पारद के वीर्य एवं बुभुक्षा को बढ़ाने वाला तथा जारण कर्म में उपयोगी होता है।[4] इसके उपयोग से पारद स्पर्शवेधी हो जाता है।[5]

मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, घृत, मक्खन तथा अन्य योगों के साथ।

---

१. 'समुद्रस्याग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः।
संशुष्को भानुतापेन सोऽग्निजार इति स्मृतः' ॥ (र० र० स० ३।१३५)

२. 'यदब्धिक्षारसंशुद्धस्तस्माच्छुद्धिर्न ह्योष्यते'। (र० र० स० ३।१३५)

३. 'स्यादग्निजारः कटुकोष्णवीर्यः तुन्दामयघ्नः कफवातहारी।
पित्तप्रदः शोणितसन्निपातशूलादिवातामयनाशकश्च' ॥ (आ० कं० क्रि० १।२३३)

४. 'अग्निजारस्त्रिदोषघ्नो धनुर्वातादिवातनुत्।
वह्नेर्नो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा' ॥ (र० र० स० ३।१३६)

५. 'अग्निजारुरिति ख्यातं स्पर्शवेधी भवेद्रसः'। (रसोपनिषत्)

Scanned with CamScanner

अग्निजार के प्रमुख योग—१. वृहत् वातचिन्तामणि रस, २. चिन्तामणि रस, ३. जवाहरमोहरा वटी ४. याकूती तथा ५. धात्रीरसायन आदि।

गिरिसिन्दूर
(Red Oxide of Mercury)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : गिरिसिन्दूर। हिन्दी : गिरिसिन्दूर।

रासायनिक नाम—Red oxide of mercury.

संकेत—HgO।

पर्याय—रक्तरेणु।

इतिहास—रस-ग्रन्थों से ही इसका परिचय मिलता है। अतः यह कह सकते हैं कि ८वीं शताब्दी के बाद यह परिचय में आया।

परिचय—गिरिसिन्दूर सिन्दूर सदृश लालवर्ण का चमकदार चूर्ण है। यह वजन में भारी होता है। यह पारद और ऑक्सीजन का यौगिक है, जो खुले वातावरण में पारद ऑक्सीजन तथा ऊष्मा से प्रतिक्रिया कर प्रकृति में बनता है तथा पत्थरों के बीच पाया जाता है। यह खनिज के रूप में अत्यल्प मात्रा में कहीं-कहीं अन्य खनिजों के साथ पाया गया है। इसे रक्तवर्ण का पारद चूर्ण कह सकते हैं।

गिरिसिन्दूर पारद का एक खनिज है जो शुष्क और लाल होता है। इसे पारद के मौण्ट्रेडाइट (Montroydite) के समान मानते हैं। इसमें कुछ पारद के कण भी विद्यमान रहते हैं।

रसरत्नसमुच्चय में इसे निम्न रूप में कहा गया है—

बड़े-बड़े पर्वतों के पत्थरों के बीच में कभी-कभी थोड़ा सा पारद शुष्क और लाल रंग की अवस्था में पाया जाता है। इसको गिरिसिन्दूर कहते हैं।[1]

प्राप्तिस्रोत—पर्वत से।

गिरिसिन्दूर के गुण—यह रस में कटु एवं तिक्त तथा वीर्य में उष्ण है।

यह त्रिदोष शामक तथा भेदी है। देहलोहकर, नेत्र के लिए हितकर तथा रस-बन्धन करने में अग्रगण्य है।[2] यह भग्नसन्धानकर, व्रणशोधन और रोपण, विसर्प, कुष्ठ, कण्डू, विस्फोट तथा विषरोगशामक है।

कुछ विद्वान् गिरिसिन्दूर को ही नागसिन्दूर मानते हैं। रसजलनिधिकार ने सिन्दूर कहकर इसके दो भेद किये हैं। यथा—

१. 'महागिरिषु चाल्पीयः पाषाणान्तःस्थितो रसः।
शुष्कशोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया'॥ (र० र० स० ३।१३७)

२. 'त्रिदोषशमनं भेदि रसबन्धनमग्रिमम्।
देहलोहकरं नेत्र्यं गिरिसिन्दूरमीरितम्'॥ (र० र० स० १।१३८)

१. गिरिसिन्दूर (स्वभावज)।

२. नागसिन्दूर (कृत्रिम)।

नागसिन्दूर—इसे Red oxide of lead कहते हैं, जो कृत्रिम रूप से बनाया जाता है।

हिंगुल
(Cinnabar)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

महारस वर्ग (रसार्णव, रसहृदयतन्त्र एवं रसकामधेनु)।

प्राप्ति-स्रोत—खनिज एवं कृत्रिम।

नाम—संस्कृत : हिंगुल। हिन्दी : सिंगरफ। अंग्रेजी : Cinnabar.

रासायनिक नाम—Red sulphide of mercury.

संकेत—HgS.

काठिन्य—२ से २·५। **वि० गु०**—८·१।

पर्याय—हिंगल, हिंगुल, हिंगूल, इंगुल, म्लेच्छ, रक्त, सुरंग, चित्रांग, चूर्ण पारद, रसोद्भव, रसस्थान, शुकतुण्ड, रञ्जन, कपिशीर्षक, रक्तकाय, हंसपाद और दरद।[1] इसे लोहघ्न भी कहते हैं।

इतिहास—हिंगुल का सर्वप्रथम उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। यहाँ सोने की परीक्षा तथा हिंगुल द्वारा उसके विकृत होने का उल्लेख मिलता है। रसशास्त्र का प्रधान द्रव्य पारद का मूल खनिज हिंगुल ही है। विदेशों से पारद की प्राप्ति होती थी, अतः पारद का ज्ञान एवं उल्लेख संहिताकाल में मिलता है, किन्तु हिंगुल बाद में भारतीयों के परिचय में आया।

परिचय—यह गुड़हल पुष्प के सदृश वर्ण का, पीसने पर कोमल, देखने में चमकीला लाल और भारयुक्त होता है।[2] यह पारद एवं गन्धक का यौगिक है। इसमें ८६·२%, पारद तथा १३·८% गन्धक होता है। यह स्वाभाविक खनिज के रूप में तथा कृत्रिम दोनों रूपों में प्राप्त होता है। सम्प्रति बाजारों में कृत्रिम हिंगुल ही उपलब्ध होता है। जो छोटी-बड़ी डली के रूप में मिलता है। यह पारद का सबसे सस्ता एवं सुलभ स्रोत है।

कृत्रिम हिंगुल—पारद एवं गन्धक को ६ और १ के अनुपात में लेकर एकत्र घोंट-कर लोहे के ढक्कनदार बड़े पात्र में बन्दकर तीव्र अग्नि पर पकाते हैं। ऐसा करने से

१. हिङ्गुलो हिङ्गुलञ्चैव हिङ्गुलं चेङ्गुलाह्वयम्।
म्लेच्छं रक्तं सुरङ्गञ्च चित्राङ्गं चूर्णपारदम्॥
रसोद्भवो रसस्थानं रञ्जनं कपिशीर्षकम्।
रक्तकायो हंसपादो दरदश्च प्रकीर्तितम्'। (र० त० ९।१-२)

२. 'जपाकुसुमवर्णाभः पेषणे सुमनोहरः।
महोज्ज्वलो भारपूर्णो हिङ्गुलः श्रेष्ठ उच्यते'॥ (र० त० ९।३)

Scanned with CamScanner

सुन्दर लाल रंग का यौगिक बन जाता है और उर्ध्वपातित होकर ऊपर के ढक्कन पर जमा हुआ पाया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—स्पेन, इटली, फ्रांस, जर्मनी, चीन, जापान, रूस, अमेरिका तथा ईरान आदि देशों में प्राप्त होता है। यह भारत में नहीं पाया जाता। कृत्रिम हिंगुल इस समय सूरत, कलकत्ता आदि स्थानों में बनाया जाता है।

भेद—उत्पत्ति-भेद से हिंगुल दो प्रकार का होता है—

१. खनिज।

२. कृत्रिम।[1]

खनिज—हिंगुल के ३ भेद होते हैं[2]—

१. चर्मार—कृष्णवर्ण अथवा रक्तवर्ण (शैवाल भक्ष्य मत से)

२. शुकतुण्ड—पीतवर्ण (सुपीतः)।

३. हंसपाद—जपाकुसुम वर्ण। इसमें हंसपाद को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

रसरत्नसमुच्चय में हिंगुल के २ भेद बतलाये गये हैं[3]—१. शुकतुण्ड और २. हंसपाद।

यहाँ शुकतुण्ड को ही चर्मार भी कहा गया है तथा यह अल्प गुण वाला होता है। हंसपाद हिंगुल श्वेत रेखाओं से युक्त तथा प्रवाल की आभा वाला होता है और गुणों में यह सबसे उत्तम होता है।

हिंगुल को एक अन्य स्थान पर—१. चूर्णरूप तथा २. पारदरूप ऐसे दो भेद किये गये हैं।

हिंगुल-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध हिंगुल का सेवन अन्धता, क्षीणता, क्लम, भ्रम, मोह और प्रमेह आदि विकारों को उत्पन्न करता है। अतः शोधन के बाद ही इसका औषध कार्य के लिए उपयोग करना चाहिए।[4]

---

१. 'प्रथमः खनिजोज्यस्तु कृत्रिमो हिङ्गुलो मतः।
खनिजः खनितो जातः कृत्रिमो रसगन्धजः' ॥ (र० त० ९।४)

२. (क) चर्मारः कृष्णवर्णः स्यात् सुपीतः शुकतुण्डकः।
जपाकुसुमसङ्काशो हंसपादो महोत्तमः' ॥ (पुरन्दररहस्य)।

(ख) 'दरदस्त्रिविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः।
हंसपादस्तृतीयः स्याद् गुणवानुत्तरोत्तरः।
चर्मारः शुकवर्णः स्यात्सपीतः शुकतुण्डकः।
जपाकुसुमसङ्काशो हंसपादो महोत्तमः। (आ० प्र० २।७१)

३. 'हिंगुलः शुकतुण्डाख्यो हंसपादस्तथाऽपरः।
प्रथमो अल्पगुणस्तत्र चर्मारः स निगद्यते ॥
श्वेतरेखः प्रवालाभो हंसपादः स इरितः'।

४. (क) 'अशुद्धो दरदः कुर्यादान्ध्यं क्षैण्यं क्लमं भ्रमम्।
मोहं मेहं च संशोध्यस्तस्माद् वैद्यैस्तु हिङ्गुलः' ॥ (आ० प्र० २।७३)

हिंगुल-शोधन—

१. हिंगुल में भेड़ के दूध की एक, तत्पश्चात् नींबू के रस की सात भावना देकर सुखा लेने से हिंगुल शुद्ध हो जाता है।[1]

२. नींबू के स्वरस की सात भावना देकर अनेक बार जल से प्रक्षालित कर हिंगुल को सुखा कर रख लें। इस प्रकार हिंगुल शुद्ध हो जाता है तथा इसकी अम्लता भी धुल कर निकल जाती है।[2]

३. हिंगुल को आर्द्रक स्वरस अथवा लकुच स्वरस की सात भावना देने से हिंगुल शुद्ध हो जाता है।[3]

हिंगुल के गुण—हिंगुल रस में तिक्त, कटु और कषाय; वीर्य में उष्ण; तथा गुण में उष्ण होता है।[4] यह दीपन, रसायन, वृष्य, बल्य, वाजीकर, मन्तिकर, सुखायुकर, श्रीकर, मेधाकान्तिवर्धक, अग्निवर्द्धक, सर्वदोषघ्न, रुचि, हृदुत्साहकर और नेत्र्य है। शुद्ध हिंगुल प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर, मन्दाग्नि, हृद्रोग, अरुचि, अम्लपित्त, हृल्लास, कामला, प्लीहा रोग, आमवात एवं गरविष को नष्ट करता है।[5]

यह पारद के द्वारा धातु-मारण तथा जारण-संस्कार में अत्यन्त उपयोगी है। हिंगुल से निकाला गया पारद गन्धकजारण किये हुए पारद के समान लाभकारी होता है।[6]

(ख) 'अशुद्धो हिङ्गुलो मोह प्रमेहं चित्तविभ्रमम्।
आन्ध्यं क्लमं तथा क्षैण्यं कुर्यात्तस्माद्विशोधयेत्' ॥ (र० त० ९।११)

१. (क) 'मेषीक्षीरेण दरदं निम्बूनीरेण (अम्लवर्गेश्च) भावितम्।
सप्तवारं प्रयत्नेन शुद्धिमायाति निश्चितम्' ॥ (आ० प्र० २।७४)

(ख) 'किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः क्षीरेणमेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
एवं सुवर्णं बहुधर्मतापितं करोति साक्षाद्धरकुङ्कुमप्रभम्' ॥ (र० र० स० ३।१४३)

२. 'निम्बूकस्वरसेनेह हिङ्गुलं श्लक्ष्णचूर्णितम्।
विभावयेत्सप्तवारं क्षालयेद् बहुशोऽम्भसा ॥
ततः संशोषयेद् घर्मे रसतन्त्रविधानवित्।
एवं विशोधितं रक्तं वीतशङ्कः प्रयोजयेत्' ॥ (र० त० ९।१६-१७)

३. 'सप्तकृत्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्लकुचस्याम्बुनाऽथवा।
शोषितो भावयित्वाऽथ निर्दोषो जायते खलु' ॥ (र० र० स० ३।१४२)

४. 'तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्र्यामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकुष्ठज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति' ॥ (आ० प्र० २।७२)

५. 'हिङ्गुलः सर्वदोषघ्नो दीपनोऽतिरसायनः।
सर्वदोषहरो वृष्यो जारणायातिशस्यते ॥
एतस्मादाहृतः सूतो जीर्णगन्धसमो गुणैः'। (र० चू० ११।१०८-१०९)

६. 'लोचनामयहरः कफापहः पित्तजामयनिषूदनः परम्।
प्लीहकुष्ठगरकामलाहरो जाठराग्निजननोऽथ पाचनः ॥

Scanned with CamScanner

मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

अनुपान—मरिच और गुड़ अथवा पिप्पली एवं गुडूची स्वरस से अथवा मधु से।

हिंगुल सत्त्वपातन—पातनायन्त्र विधि से हिंगुल का अधःपातन करने से पारद सदृश सत्त्व (पारद) नीचे के जलयुक्त पात्र में आ जाता है।[1]

हिंगुल के प्रमुख योग—१. हिंगुलेश्वर रस, २. आनन्दभैरव रस, ३. कनकसुन्दर रस, ४. ज्वरमुरारि रस, ५. वसन्तमालती रस, ६. रसगर्भ पोट्टली, ७. दरद वटी, ८. त्रिभुवनकीर्ति रस, ९. कस्तूरीभैरव रस तथा १०. अतिसारहरी वटी आदि।

मुर्दाशंख
(Litharge)

वर्ग—साधारण रस वर्ग।

नाम—संस्कृत : मृद्दारशृङ्गम्। हिन्दी : मुर्दाशंख। अंग्रेजी : Litharge.

संकेत—PbO.

रासायनिक नाम—Lead oxide।

पर्याय—मृद्दारशृंगक, बोदारशृंग, मुर्दाशंख एवं मुर्दाशंखक आदि।[2]

इतिहास—आठवीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। रसेन्द्र-चूड़ामणि (१२-१३वीं शताब्दी) में इसे वर्गीकृत कर साधारण रसवर्ग में रखा गया और तब से सभी रसग्रन्थों में इसका वर्णन उपलब्ध होता है।

परिचय—यह नाग (Lead) और ऑक्सीजन का यौगिक है। यह पीताभ, चमकदार, दानेदार, आठ पहल वाला, नागसिन्दूर मिला होने पर किञ्चित् लालवर्ण का रूक्ष तथा वजन में भारी होता है।[3] यह प्राकृतिक अवस्था में पाया जाता है तथा कृत्रिम भी बनाया जाता है। नाग को खुली हवा में गर्म करने पर द्रवित नाग के ऊपरी सतह पर मलाई के रूप में पीले वर्ण का चूर्ण जमने लगता है। इस चूर्ण को पृथक् कर कड़ी आँच पर पिघला कर ठण्डा करने पर गट्ठा बन जाता है। यही मृद्दारशृंग है। अन्य विधि में नाग को शोरे के साथ हाँडी में गर्म करने पर शोरे में

मेहवर्गपरितापनाशनो देहकान्तिबलबुद्धिवर्द्धनः।
आमवातगजदर्पखण्डनो हिङ्गुलो विजयते ज्वरापहः' ॥ (र० त० ९।१८-१९)

१. 'दरदः पातनायन्त्रे पातितश्च जलाश्रये।
तत्सत्त्वं सूतसङ्काशं जायते नात्र संशयः' ॥ (र० र० स० ३।१४४)

२. 'मृद्दारशृङ्गकञ्चैव मतं बोदारशृङ्गकम्।
मुर्दाशङ्खं तथा मुद्रशङ्खकञ्च निगद्यते' ॥ (र० त० २१।१६५)

३. 'मृद्दारशृङ्गं पीताभं सदलं निर्दलं तथा।
सीसगर्भं खरस्पर्शं गुरु चैव प्रकीर्तितम्' ॥ (र० त० २१।१६६)

का ऑक्सीजन सीस धातु के साथ मिलकर सुन्दर पीले रंग का दानेदार मृद्दारशृंग बन जाता है।

प्राप्ति-स्थान—खनिज मुर्दाशंख आबू तथा अरावली की पहाड़ियों (राजस्थान एवं गुजरात) से एवं बिहार, मध्यप्रदेश तथा विदेशों में वर्मा आदि देशों से प्राप्त होता है। इसके सत्त्वपातन से सीस धातु प्राप्त होती है।[1]

मुर्दाशंख के भेद—

१. उत्पत्ति-भेद से यह दो प्रकार का होता है—१. खनिज (प्राकृत) और २. कृत्रिम।

२. वर्ण-भेद से यह दो प्रकार का होता है—१. पीत और २. पाण्डुर। (आ० प्र०)

३. रचना की दृष्टि से यह दो प्रकार का होता है—१. सदल और २. निर्दल। (आ० प्र०)

मुर्दाशंख का शोधन—मृद्दारशृंग को अच्छी तरह कूटकर प्रस्तर आदि का अंश पृथक् कर बारीक कपड़छन चूर्ण बना लें। अब इस चूर्ण को १५ दिनों तक स्वच्छ जल से मर्दन करें तत्पश्चात् धूप में रखकर सुखा लें। इस प्रकार मुर्दाशंख शुद्ध हो जाता है। क्षत आदि में अवचूर्णन के लिए इसका उपयोग करते हैं।[2]

मृद्दारशृंग का गुण—इसका आभ्यन्तर प्रयोग नहीं देखा जाता है। बाह्य प्रयोग ही प्रचलित है। शास्त्रों में इसे शीत, गुरु, केशरंजक, केश्य, फिरंग-व्रणनाशक, भग्नसन्धानकर, रसबन्धक, त्वक्दोषनाशक एवं संकोचकर कहा गया है। यह कफ एवं वात-कफनाशक है। यह पामा-कण्डूनाशक एवं व्रणरोपक है।[3]

---

१. 'बोदारशृङ्गकं प्रोक्तं द्विविधं पीतपाण्डुरम्।
सदलं निर्दलं तस्य जनिगुर्जरमण्डले ॥
अर्बुदाख्यगिरेः पार्श्वे सीससत्त्वं स्मृतं परम्'। (आ० प्र० २।३४३-४४)

२. 'मृद्दारशृङ्गमानीय कुट्टयेत् खल्वमध्यगम्।
प्रस्तरांशं परित्यज्य पेषयेदतियत्नतः ॥
वस्त्रपूतं ततः कृत्वा पुनः सुविमलाम्भसा।
पेषयेत्पक्षमेकं तु ततो धर्मे विशोषयेत् ॥
मृद्दारशृङ्गकं काममेतद्विधिविशोधितम्।
क्षतेऽवचूर्णनाद्यर्थं युञ्जीत भिषजां वरः' ॥ (र० त० २१।१६७-६९)

३. 'मृद्दारशृङ्गं शिशिरं परं वातकफापहम्।
फिरङ्गव्रणहृत्केश्यं व्रणरोपणमुत्तमम् ॥
भग्नसन्धानजननं पामाकण्डूतिकादिनुत्।
सङ्कोचकं विशेषेण त्वग्दोषशमनं मतम्' ॥ (र० त० २१।१७०-७१)

यह पुरुषों में होने वाले फिरंग रोग को नष्ट करने वाला होता है। पारद का बन्धन करने में यह उत्कृष्ट तथा उत्तम केशरंजक है।[1] रसरत्नसमुच्चय में मृद्वारशृंग को सीसक का सत्त्व (सीस सत्त्व) कहा गया है।

मृद्वारशृंग का सत्त्वपातन—मृद्वारशृंग को चूर्णकर उसमें चतुर्थांश टंकण एवं उतना ही कोयले का चूर्ण मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन कर मूषा में रखकर धमन-पूर्वक तीव्र अग्नि देने से मृद्वारशृंग का सत्त्व निकल आता है। मृद्वारशृंग से सत्त्व के रूप में नाग प्राप्त होता है।

साधारण रसों का सामान्य शोधन—

साधारण रस के किसी भी द्रव्य को मातुलुंग और आर्द्रक स्वरस की तीन दिन तक भावना देकर सुखा लेने से यह शुद्ध हो जाता है।[2] इसी प्रकार समस्त सत्त्वों का भी शोधन हो जाता है।

---

१. 'सीससत्त्वं गुरुश्लेष्मशमनं पुङ्गदापहम्।
(रसबन्धनमुत्कृष्टं) केशरञ्जनमुत्तमम्'॥ (र० र० स० ३।१४६)

२. 'साधारणरसाः सर्वे मातुलुङ्गार्द्रकाम्बुना।
त्रिरात्रं भाविताः शुष्का भवेयुर्दोषवर्जिताः'॥ (र० र० स० २।१४७)

सप्तम अध्याय

लौहादि धातु-उपधातु प्रकरण

धातु
(Metal)

लोह—स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोहा, नाग, वंग और यशद—इन सात धातुओं के समूह को लोहवर्ग कहते हैं। पित्तल, कांस्य और वर्त—ये मिश्रलोह हैं। प्राचीनकाल में स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि द्रव्यों को 'लोह' शब्द से सूचित किया जाता था। इसे वर्तमान में धातु (Metal) कहकर सूचित किया जाता है। आजकल लोह और धातु दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं। लोह शब्द 'लुह्' धातु से निष्पन्न है[1] जिसका अर्थ होता है खींचकर निकालना। प्रत्येक धातु अपने-अपने खनिजों (Ore) से खींचकर निकाले जाते हैं। इसी से इनको लोह की संज्ञा दी गई है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि जो शरीर के दोषों और रोगों को खींचकर बाहर कर दे, उसको लोह कहते हैं।

इसी प्रकार प्राचीन समय में जिन खनिजों में किसी प्रकार का लोह विद्यमान होता था, तो उन्हें धातु (लोह धारण करने वाला–Ore) कहते थे। इसका उत्तम उदाहरण कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। इसमें सुवर्ण, रूप्य, ताम्र, तीक्ष्ण (अयस्), त्रपु (वंग), सीस (नाग) और वैकृन्तक—इन सात लोहों के खनिजों का स्वरूप बतलाकर उनको क्रमशः स्वर्णधातु, रूप्यधातु, ताम्रधातु, तीक्ष्णधातु, त्रपुधातु, सीसधातु और वैकृन्तकधातु—ये नाम दिये गये हैं। वर्तमान में 'धातु' शब्द 'Metal' के लिए रूढ़ हो गया है। आजकल लोह शब्द लोहे (Iron) के लिए ही प्रयुक्त होता है।

धातुओं का इतिहास—धातुओं का इतिहास अति प्राचीन है। अथर्ववेद में स्वर्ण को 'हरित' और चाँदी को 'रजत' तथा लोहे को श्याममयलोह, ताम्र को लोहितमय लोह कहा है।[2]

---

१. 'लुह् अपकर्षणे' अथवा 'लुह् अपकर्षार्थवाची'।

२. (क) 'हरिते त्रीणि रजते त्रीण्यसि त्रीणि तपसा विष्टितानि'।
(अथर्व० ४।२८।१)

(ख) 'श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्।
त्रपुभस्महरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः'॥
(अथर्व० ११।३।७८)

Scanned with CamScanner

यजुर्वेद में छः धातुओं का उल्लेख आया है, यथा—स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोहा, सीसा एवं त्रपु (वंग)।[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति[2] में छः धातु तथा प्रत्येक धातु को अग्नि पर गलाने पर उनमें होने वाली क्षीणता का अनुपात भी बतलाया गया है। इसमें स्वर्ण को अक्षीण बतलाया गया है, अर्थात् अग्नि पर तपाने-पिघलाने से उसमें कोई क्षीणता नहीं आती, जबकि अन्य धातुओं को गलाने पर वातावरण के ऑक्सीजन आदि से प्रतिक्रिया कर उनके कुछ भाग स्लैग या ऑक्साइड के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और उनके भार में कमी आ जाती है।

मनुस्मृति में आठ धातुओं का उल्लेख किया गया है तथा उनका शोधन जल, क्षार, अम्ल आदि द्रव्यों द्वारा करने का निर्देश भी किया गया है। इनके द्वारा कहे गये आठ धातु हैं—स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, कांस्य, रीति, नाग और वंग।[3]

धातुओं की औषधीय उपयोगिता का ज्ञान होने पर चिकित्सा-ग्रन्थों में इन सभी का क्रमशः समावेश हुआ है।

चरक एवं सुश्रुतसंहिता में विविध स्थानों पर आठ लोहों का वर्णन उपलब्ध होता है। ये हैं—स्वर्ण, रौप्य, त्रपु, ताम्र, पित्तल, कांस्य, सीस और अयस् (लोहा)।[4] इन सबका औषध, शस्त्र एवं विविध उपकरण (वस्तिनेत्र, जिह्वा-निर्लेखन आदि) के रूप में देखा जाता है। सुश्रुत ने लोहे को कृष्णलोह की संज्ञा से सूचित किया है।

आठवीं शताब्दी के बाद रसशास्त्र के विकास के क्रम में पारद (द्रवधातु) एवं

---

१. 'अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकता च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपुञ्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्'। (यजुर्वेद १८।१३)

२. 'अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि' ॥ (याज्ञवल्क्य० व्यव० १७८)

३. 'अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ।
... ...
ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ॥
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः' ॥ (मनु० ५।११३-१४)

४. (क) 'सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः ।
नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैः कार्याणि नेत्राणि त्रिकर्णिकानि' ॥
(च० सि० ३।५)

(ख) 'सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुसीसमयानि च।
जिह्वानिर्लेखनानि स्यु.....' ॥ (च० सू० ५।७०)

(ग) 'त्रपुसीसताम्ररजतकृष्णलोहसुवर्णानि लोहमण्डलश्चेति'।
(सु० सू० ३८।६२)

सुवर्ण-रजतादि धातुओं पर विशद अनुसन्धान कार्य हुआ। फलस्वरूप पर्याप्त साहित्य भी उपलब्ध होने लगे। धातुओं का औषधीकरण एवं रोगनाशक विशिष्ट क्षमताओं का निर्धारण कर औषधियों में इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया।

रसार्णव में—स्वर्ण, रजत, ताम्र, तीक्ष्णलोह, वंग एवं सीस—इन छः धातुओं का षड्विध लोह कहकर उल्लेख मिलता है। इन्होंने इन छः धातुओं को अग्नि पर अक्षयी कहा है।[1] इसके अतिरिक्त कांस्य एवं पित्तल इन दो मिश्रलोहों का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख किया गया है।

रसहृदयतन्त्र में ८ लोहों को सत्त्व, सार एवं पूति लोह भेद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सुवर्ण एवं रौप्य को सार लोह; ताम्र, तीक्ष्ण, कान्त, अभ्रकसत्त्व और पित्तल को सत्त्व लोह तथा नाग एवं वंग को पूति लोह के अन्तर्गत रखा गया है।[2] Trick PNB

रसेन्द्रचूड़ामणि तथा रसरत्नसमुच्चय में भी ३ भेद (शुद्धि, पूति और मिश्र लोह) करके कुल ९ धातुओं को प्रस्तुत किया गया है। इनमें स्वर्ण, रजत, ताम्र और लोह की शुद्ध लोह में; सीस एवं वंग की पूति लोह में; तथा पित्तल, कांस्य और वर्त लोह की मिश्रलोह में गणना की गयी है।[3]

रस-ग्रन्थों में छः ही मूल धातुओं का शोधन-मारण एवं उपयोग काफी समय तक होता रहा है। आयुर्वेदप्रकाशकार ने यशद को सातवें धातु के रूप में सर्वप्रथम रसग्रन्थ में शामिल किया।[4] वैसे इस यशद की गणना यशद के नाम से इससे पूर्व भावप्रकाश में की जा चुकी थी।[5] 15+ described

लोहवर्ग
(Metal : S)

लोह वर्ग—स्वर्ण, रजत, ताम्र, अयस् (लोहा), नाग, वंग और यशद—इन सात मूल धातुओं को तथा पित्तल, कांस्य एवं वर्त—इन तीन मिश्रलोह को लोहवर्ग के नाम से सूचित करते हैं।

---

१. सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वङ्गं भुजङ्गकम्।
लोहन्तु षड्विधं तच्च यथा पूर्वं तदक्षयम्' ॥ (रसार्णव० ७।९७)

२. '... ... शिखिशशिनौ सारलोहाख्यौ।
ताम्रारतीक्ष्णकान्ताभ्र सत्त्वलोहानि वङ्गनागौ च ॥
कथितास्तु पूतिसंज्ञास्तेषां संशोधनं कार्यम्'। (र० हृ० ९।५-६)

३. 'शुद्धलोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम्।
पूतिलोहं द्वितयमुदितं नागवङ्गाभिधानम् ॥
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्तम्'। (र० र० स० ५।१)

४. 'स्वर्णरूप्यकं ताम्रं वङ्गं यशदसीसकम्।
लोहं चैते मताः सप्त धातवो गिरिसम्भवाः' ॥ (आ० प्र० ३।१)

५. 'स्वर्णं रूप्यं च ताम्रं च रङ्गं यशदमेव च।
सीसं लोहञ्च सप्तैते धातवो गिरिसम्भवः' ॥ (भावप्र० पूर्वार्द्ध धातु० १)

Scanned with CamScanner

प्राचीन समय में सोना, चाँदी आदि जिन द्रव्यों को जिन्हें आज प्रचलित भाषा में धातु तथा अंग्रेजी में मेटल (Metal) कहा जाता है, उसे लोह तथा जिन खनिजों में किसी प्रकार का लोह विद्यमान होता था, उनको धातु कहते थे। कालान्तर में धातु शब्द मेटल (Metal) के लिए रूढ़ हो गया तथा लोह कहने से लोहा धातु (Iron) का अर्थ व्यवहार में लिया जाने लगा। वर्तमान में वैसे लोह और धातु एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

लोह शब्द 'लुह' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है खींचना।[1] 'लुह् अपकर्षणे' अथवा 'लुह अपनयने' अर्थात् जिसे खींचा जाय अथवा निकाला जाय। विविध खनिजों (अयस्कों) से धातु-लोह को खींच कर (पिघलाकर अथवा सत्त्वपातन विधि द्वारा) प्राप्त किया जाता है।

एक अन्य अर्थ में —सेवन करने पर जो दोषों को अथवा रोगों को खींच कर बाहर कर देता है, उसे लोह कहते हैं। धातु के अर्थ में यह शरीर को धारण करता है, अतः धातु कहलाता है।

अन्य अर्थ में —व्यावहारिक जगत् की वस्तुओं को धारण करने का भी धातु शब्द से अर्थ किया जाता है, यथा—तुला, स्तम्भ, पात्र आदि।

धातु शब्द की निरुक्ति—जो वली, पलित, खालित्य, कृशता, दुर्बलता, जरा (वृद्धावस्था) तथा रोगों का निवारण कर शरीर का धारण (शरीर को स्थिर) करे, उसे धातु कहते हैं।[2]

धातुओं की विशेषता —

१. धातुओं की सतह प्रायः चमकीली होती है, जिससे इसे Metalic lusture कहते हैं। यह चमक अधातुओं में प्रायः नहीं होती।

२. धातु प्रायः भारी होता है।

३. धातु ताप और विद्युत् का अच्छा चालक होता है।

४. ठोक-पीट अथवा खींचकर धातुओं की चद्दर तथा तार बनाये जा सकते हैं।

५. धातुओं को अग्नि पर तपाने से जो पदार्थ बनता है, वह प्रायः क्षार स्वभावी (Alkaline substances) पदार्थ बनता है, जबकि अधातु प्रायः जल में घुलकर अम्ल बनाते हैं।

धातुओं की संख्या अब तक जिन तत्त्वों की संख्या (जो वर्तमान में करीब ९२ है) ज्ञात हो सकी है, उनमें लगभग ६५ तत्त्व धातुतत्त्व (Metallic elements) हैं। स्वर्ण, ताम्र आदि धातुतत्त्व हैं। धातुओं का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु धातुओं के औषधीय गुणों का ज्ञान उसके बाद ही हो पाया। इस ज्ञान के विकास का

---

१. 'धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽपि कर्षार्थवाची'। (र० र० स० ५।१)

२. 'वलीपलितखालित्यकार्श्यबाल्यजरामयान्।
निवार्य दधते देहं नृणां तद्धातवो मताः'॥ (आ० प्र० ३।२)

क्रम लगभग १३वीं शताब्दी के बाद मन्द अथवा अवरुद्ध-सा रहा, जो इस बात से प्रमाणित होता है कि १३वीं शताब्दी के बाद से १७वीं शताब्दी में आयुर्वेदप्रकाशकार के द्वारा यशद मात्र को ७वें धातु के रूप में स्वीकार किया गया। आज भी आयुर्वेदीय चिकित्सा में प्रायः स्वर्ण, रजत, ताम्र, लोह, नाग, वंग और यशद—ये ही मूल सात धातु औषधि के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। कांक्षी सत्त्व (Aluminium) का ज्ञान भी हुआ, किन्तु उसकी औषधीय उपयोगिता आयुर्वेद के क्षेत्र में अभी तक सुनिश्चित नहीं हो पायी है।

लोहों (धातुओं) की औषधीय उपयोगिता—धातुओं का उपयोग शोधन एवं मारण के पश्चात् प्रायः भस्म के रूप में किया जाता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि सभी प्रकार के मृत (भस्मीभूत) लोह शीघ्र ही रस (पारद अथवा रस, रक्त आदि शारीरिक रस) में मिल जाते हैं। इनका युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से ये बड़े-बड़े रोगों को भी दूर कर देते हैं और लम्बे समय तक इनके सेवन का अभ्यास करने से यह शरीर को सशक्त बनाकर रोगों की उत्पत्ति को तथा वृद्धावस्था को भी रोक देते हैं।[1]

लोहों का वर्गीकरण—रस-ग्रन्थों में लोहों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

१. सारलोह या शुद्ध लोह।
२. साधारण लोह।
३. पूतिलोह।
४. मिश्रलोह या कृत्रिम लोह या उपलोह।

(१) रसार्णवकार ने स्वर्ण, रजत, ताम्र, तीक्ष्ण, नाग एवं वंग—ये छः षड्विध लोह कहे हैं। इन्होंने १. सारलोह में—स्वर्ण एवं रजत; २. साधारण लोह में—तीक्ष्ण एवं शुल्व तथा ३. पूतिलोह में—नाग एवं वंग इस प्रकार वर्गीकृत किया है।[2]

(२) रसेन्द्रचूड़ामणि,[3] रसप्रकाशसुधाकर तथा रसरत्नसमुच्चय में शुद्ध, पूति एवं मिश्र लोह के भेदपूर्वक लोहों को वर्गीकृत किया है; यथा—

---

१. 'मृतानि लोहानि रसीभवन्ति निघ्नन्ति युक्तानि महामयांश्च।
अभ्यासयोगाद् दृढदेहसिद्धिं कुर्वन्ति रञ्जन्मजराविनाशम्' ॥
(र० र० स० ५।१३९-४०)

२. 'सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वङ्गो भुजङ्गमः।
लोहं तु षड्विधं प्रोक्तं यथा पूर्वं तदक्षयम्॥
तत्रादितः सुरेशानि सारं लोहद्वयं स्मृतम्।
साधारणे तीक्ष्णशुल्वे नागवङ्गौ तु पूतिकौ'॥ (रसार्णव० ७।७-९८)

३. 'शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम्
पूतीलोहं द्वितयमुदितं नागवङ्गाभिधानम्।
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्तम्' ॥ (र० र० स० ५।१)

Scanned with CamScanner

१. शुद्ध लोह में स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं लोहा।
२. पूतिलोह में नाग एवं वंग।
३. मिश्रलोह में पित्तल, कांस्य एवं वर्त।

रसपद्धतिकार ने मिश्रलोह को 'उपलेह' की संज्ञा से सूचित किया है।

(३) शार्ङ्गधरसंहिता में धातु शब्द से ७ लोहों को गिनाया गया है, यथा—स्वर्ण, तार (चाँदी), आर (पित्तल), ताम्र, नाग, वंग तथा तीक्ष्ण लोह।[1]

इन्होंने 'उपधातु' संज्ञा से ७ द्रव्य गिनाये हैं, जो कि धातु से भिन्न हैं; यथा—माक्षिक, तुत्थ, अभ्रक, नीलाञ्जन, शिला, हरताल एवं रसक।[2]

वर्तमान समय में रसरत्नसमुच्चय का वर्गीकरण ही विशेषरूप से अध्ययन-अध्यापन में प्रचलित है। तदनुसार पूर्वोक्त सारलोह अथवा शुद्ध लोह, पूति लोह एवं मिश्र लोह हैं।

शुद्ध पूति एवं मिश्रलोह—सार या शुद्ध लोह में कोई मिलावट नहीं होती। यह तपाने पर विकृत नहीं होता, बल्कि और सुन्दर एवं मजबूत बन जाता है। यथा—स्वर्ण, रजत, ताम्र एवं लोह।

पूति लोह—यह तपाने पर शीघ्र द्रवित होता है तथा शीघ्रता से भस्मीभूत भी हो जाता है और उसमें से पूतिगंध (दुर्गन्ध) भी निकलती है। वातावरण के प्रभाव (खुली हवा के प्रभाव) से उसकी तह मैली हो जाती है, यथा—नाग, वंग एवं यशद।

मिश्रलोह—दो या अधिक धातु को एकत्र गला देने से जो धातु का मिश्रण (Mixture) या नई धातु (Alloy) बनती है, उसे मिश्र धातु कहते हैं। यथा—पित्तल, कांस्य एवं वर्त लोह।

★ १. पित्तल में २ भाग ताम्र एवं १ भाग यशद।
★ २. कांस्य में ४ भाग ताम्र एवं १ भाग वंग।
★ ३. वर्त लोह में कांस्य, ताम्र, पित्तल, लोहा और नाग—इन्हें समान भाग मिलाकर एकत्र गलाया जाता है।

धातुओं की उत्पत्ति में पौराणिक मान्यता[3]—पौराणिक मान्यता में धातुओं की उत्पत्ति को विविध देवताओं एवं उनके अंशों से जोड़ा गया है; यथा—

१. 'स्वर्णतारारताम्राणि नागवङ्गौ च तीक्ष्णकम्।
धातवः सप्त विज्ञेयास्ततस्ताम्रोधयेद् बुधः'॥ (शार्ङ्ग० म० ११।१)
२. 'माक्षिकं तुत्थकाभ्रे च नीलाञ्जनशिलालकाः।
रसकश्चेति विज्ञेया एते सप्तोपधातवः'॥ (शार्ङ्ग० म० ११।५३)
३. 'स्वर्णं तु विद्धचग्निभवं हि वीर्यं चन्द्रस्य रौप्यं परमेश्वराच्च।
शुल्वं सुजातं हि सहस्ररश्मेर्वङ्गं च शक्राद्वपुराददेऽपि॥
सीसं च नागं खलु वासुकेर्हि लोहं यमादेव हि कालमूर्तेः'॥
(र० का० धे० २।१।४)

१. सुवर्ण की उत्पत्ति अग्नि से (स्वर्ण को अग्नि का वीर्य माना जाता है)।
२. (क) रजत की उत्पत्ति चन्द्रमा से।
(ख) रजत की उत्पत्ति परमेश्वर (शिव) से।
३. ताम्र की उत्पत्ति सूर्य से।
४. वंग की उत्पत्ति इन्द्र के शरीर से।
५. सीसे की उत्पत्ति वासुकी नाग से।
६. (क) लोहे की उत्पत्ति यम (कालमूर्ति) से।
(ख) लोहे की उत्पत्ति लोहासुर दैत्य के शरीर के अंग से। (भविष्यपुराण)

ग्रहों का धातुओं से सम्बन्ध[1]—

सूर्य के लिए	ताम्र
चन्द्र ,,	रजत
मंगल ,,	पित्तल
बुद्ध ,,	नाग
गुरु ,,	स्वर्ण
शुक्र के लिए	वंग
शनि ,,	तीक्ष्णलोह
राहु ,,	कांस्य
केतु ,,	कांतलोह।

धातुओं के वर्ण[2]—धातुओं के स्वाभाविक वर्ण निम्न प्रकार से बतलाये गये हैं, यथा—

१. स्वर्ण	:	पीतवर्ण।
२. रजत	:	शुक्लवर्ण (श्वेत)।
३. ताम्र	:	रक्तवर्ण।
४. लौह	:	कृष्णवर्ण।
५. वंग	:	शुक्लवर्ण (श्वेत)।
६. नाग	:	कृष्णवर्ण।
७. पित्तल	:	पीतवर्ण।
८. कांस्य	:	श्वेतवर्ण।

१. (क) 'ताम्रतारारनागाश्च हेमवङ्गौ च तीक्ष्णकम्।
कांस्यकं कान्तलोहं च धातवो नव ये स्मृताः॥
सूर्यादीनां ग्रहाणां ते कथिता नामभिः क्रमात्'। (शार्ङ्ग० म० १२।५)
(ख) 'सूर्याचन्द्रमसौ भौमः शशिजो जीवभार्गवौ॥
सूर्यसूनुः सैंहिकेयः केतुश्चेति नवग्रहाः'।
२. 'स्वभावो रक्तता ताम्रे शौक्ल्यं तारे व्यवस्थितम्।
शौक्ल्यं कार्ष्ण्यसहितं वङ्गनागे प्रपठ्यते'॥ (रसोपनिषत् ७।२)

Scanned with CamScanner

अग्नि में धातुक्षय[1]---धातुओं को अग्नि पर पिघलाने पर उसमें क्षीणता देखी जाती है। इस क्षीणता (हानि) का अनुपात प्रत्येक धातु में भिन्न-भिन्न होता है; यथा---

स्वर्ण : अक्षीण (स्वर्ण को पिघलाने पर इसमें कोई क्षीणता नहीं होती)।
रजत : १००:२ (१०० पल में २ पल की हानि—२% प्रतिशत)।
नाग एवं वंग : १००:८ (१०० पल में ८ पल की हानि—८% प्रतिशत)।
ताम्र : १००:५ (१०० में ५ पल की हानि---५% प्रतिशत)।
लोहा : १००:१० (१०० पल में १० पल की हानि---१०% प्रतिशत)।

यहाँ द्रष्टव्य है कि स्वर्ण को अग्नि पर पिघलाने पर इसमें कोई क्षीणता नहीं आती है। इसका कारण यह है कि स्वर्ण उत्तम कोटि का (Noble) धातु है तथा वातावरण की (आक्सीजन आदि किसी गैस से) इस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और इसका कोई मल (Slag) नहीं बनता है अतः इसमें कोई हानि नहीं होती, जब कि अन्य सभी धातुओं में अल्पाधिक हानि देखी जाती है। रजत में सबसे कम हानि होती है तथा सर्वाधिक हानि लोहे में तत्पश्चात् नाग एवं वंग में फिर ताम्र में।

अग्नि में धातुओं की ज्वाला परीक्षा[2]—स्वर्णादि धातुओं के पतले तार या पत्र को अग्नि में तपाने या पिघलाने पर विविध प्रकार की ज्वाला देखी जाती है, जिसके आधार पर धातुओं का निर्णय किया जा सकता है। अर्थात् ज्वाला को देखकर धातु का ज्ञान किया जा सकता है कि कौन सी धातु है। यथा—

१. स्वर्ण : पीतवर्ण की ज्वाला।
२. रजत : श्वेतवर्ण की ज्वाला।
३. ताम्र : नीलवर्ण की ज्वाला।
४. तीक्ष्ण लोह : कृष्णवर्ण की ज्वाला।
५. वंग : कपोतवर्ण की ज्वाला।
६. नाग : धूम्रवर्ण (मलिन) की ज्वाला।

---

१. 'अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि' ॥
(याज्ञवल्क्य० व्यव० १७८)

२. 'आवर्तमाने कनके पीता तारे सिता प्रभा।
शुल्वे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि ! ॥
वङ्गे ज्वाला कपोताभा नागे मलिनधूमका।
शैले तु धूसरा देवि ! आयसे कपिलप्रभा ॥
अयस्कान्ते धूम्रवर्णा सस्यके लोहिता भवेत्।
वज्रे नानाविधा ज्वाला खसत्त्वे पाण्डुरप्रभा' ॥ (रसार्णव० ४।४९-५१)

७. लोहा : कपिलवर्ण की ज्वाला।
८. अयस्कान्त : धूम्रवर्ण वर्ण की ज्वाला।
९. तुत्थ : लोहित वर्ण (रक्तवर्ण) की ज्वाला।
१०. वज्र : अनेक वर्ण की ज्वाला।
११. अभ्रक सत्त्व : पाण्डुर वर्ण की ज्वाला।
१२. शिलाजतु : धूसर वर्ण की ज्वाला।

धातुओं का संकेत, विशिष्ट गुरुत्व एवं द्रवणांक—

धातु	संकेत	वि० गु०	द्रवणांक
1. सुवर्ण (Gold)	Au	19·4	1065°C
2. रजत (Silver)	Ag	10·5	960°C
3. ताम्र (Copper)	Cu	9·7	1057°C
4. लोहा (Iron)	Fe	7·7	1520°C
5. नाग (Lead)	Pb	11·4	325°C
6. वंग (Tin)	Sn	7·28	233°C
7. यशद (Zinc)	Zn	7·1	410°C

धातुओं का शोधन—शोधन दो प्रकार का होता है—१. सामान्य शोधन एवं २. विशेष शोधन।

सामान्य शोधन—

१. जिस विधि द्वारा द्रव्य स्थित सामान्य (साधारण-छोटी-मोटी अथवा हल्की-फुल्की) अशुद्धियाँ नष्ट अथवा कम हो जायें।

२. शोधन की वह सरल एवं सामान्य विधि जो द्रव्य के किसी खास पूरे वर्ग विशेष के लिए सामान्य (General) हो। यथा—स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, नाग, वंग आदि सभी धातुओं अथवा सभी रत्नों के लिए एक ऐसी विधि जिस एक ही विधि से सभी की शुद्धि हो जाय, उसे सामान्य शोधन कहते हैं। यथा—

(i) तैल, तक्र, गोमूत्र, आरनाल (काञ्जी) तथा कुलत्थ क्वाथ में धातुओं के तनु-पत्र को तपाकर अथवा द्रवित कर क्रम से पृथक्-पृथक् ७ बार निषेचन (बुझाने या डुबाने) करने से स्वर्णादि सभी लौह शुद्ध हो जाते हैं।[1]

---

१. (क) 'तैले तक्रे गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलत्थजे।
क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्रावे द्रावे तु सप्तधा।
स्वर्णादिलोहपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते'। (र० र० स० ५।१३)

Scanned with CamScanner

(ii) कदलीमूल जल (कदली कन्दस्वरस) में धातुओं को प्रतप्त कर अथवा द्रवित कर सात बार बुझा अथवा डुबो लेने से सभी धातुएँ शुद्ध हो जाती हैं।[1]

(iii) मण्डूक रक्त की भावना तथा उसी का लेपकर तीव्राग्नि में तप्त करना, ऐसा ३ बार करने से मुण्डादि सभी लोह शुद्ध हो जाते हैं।[2]

विशेष शोधन—

१. जिस द्रव्य एवं विधि द्वारा द्रव्य स्थित जटिल अथवा विशिष्ट दोषों का नाश हो अथवा कम हो।

२. वह विशिष्ट विधि जो किसी खास द्रव्य विशेष के लिए निर्दिष्ट हो उसे विशेष शोधन कहा जाता है। यथा—

(i) गोदुग्ध द्वारा अभ्रक का शोधन।

(ii) पञ्चमूलिका द्वारा स्वर्ण का शोधन।

(iii) हरिद्रा चूर्ण मिश्रित निर्गुण्डी द्वारा वंग का शोधन।

धातुओं का सामान्य मारण—

१. सुवर्ण का नाग द्वारा, रजत का सुवर्णमाक्षिक द्वारा, ताम्र का गन्धक द्वारा, वंग का हरताल द्वारा, नाग का मनःशिला द्वारा एवं लोह का हिंगुल द्वारा शीघ्रता से मारण हो जाता है।[3]

२. रसभस्म एवं निम्ब के स्वरस में मर्दन कर स्वर्ण एवं रजत को कुक्कुट पुट

(ख) निषिञ्चेत् तप्ततप्तानि तैले तक्रे गवां जले।
काञ्जिकेऽम्ल कुलत्थानां कषाये समधा पृथक्॥ (आ० प्र० ३।५०)

(ग) 'सूचिवेध्यानि पत्राणि धातूनान्तु समाहरेत्।
यावद्वह्निप्रभाणि स्युस्तावद्वह्नौ प्रतापयेत्॥
स्नपयेत्तप्ततप्तानि काञ्जिके तु त्रिधा त्रिधा।
तक्रे कुलत्थक्वथिते गोमूत्रतिलतैलयोः॥
एवं विशुद्धिमायान्ति स्वर्णाद्याः समधातवः।
समासतः समाख्यातमिदं सामान्यशोधनम्'॥ (र० त० १५।४-६)

१. (क) 'सर्वलोहानि तप्तानि कदलीमूलवारिणी।
सप्तधाऽभिनिषिक्तानि शुद्धिमायान्त्यथोत्तमाम्'॥ (आ० प्र० ३।५४)

(ख) 'प्रतप्तानि तु लोहानि रम्भामूलजले भिषक्।
निषेचयेत्सप्तवारं विशुद्धयति न संशयः'॥ (र० त० १५।७)

२. 'शशक्षतजसंलिप्तं त्रिवारं परितापितम्।
मुण्डादिसकलं लोहं सर्वदोषान्विमुञ्चति'॥ (र० र० स० ५।१०१)

३. 'तालेन वङ्गं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेम शिलया च नागम्।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात्'॥
(रसेन्द्रमंगल २।५४)

तथा शेष धातुओं को गजपुट की आठ अग्नि में पाक करने से धातुओं का भस्म बन जाता है।

३. सात धातुओं में से किसी एक धातु को मनःशिला एवं गन्धक में मिलाकर अर्कदुग्ध में घोंटकर सुखा लें। इसे सम्पुट में बन्दकर यथायोग्य पुट (जिस धातु के लिए जो पुट अपेक्षित हो) की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार तब तक करें जब तक ठीक भस्म न बन जाय। इस विधि से प्रायः सभी धातुओं की भस्म बन जाती है।[1]

४. गन्धक (अथवा माक्षिक) के सहयोग से सभी धातुओं का मारण हो जाता है।[2]

धातुओं के भस्म के चार प्रकार[3]—

१. श्रेष्ठ : रसभस्म द्वारा मारित।

२. मध्यम : वनस्पतियों द्वारा मारित।

३. कनिष्ठ : गन्धकादि (गन्धक, हरताल, मनःशिला) द्वारा मारित।

४. दुर्गुणप्रद : अरिलोह द्वारा मारित।

यहाँ रसभस्म से पारद भस्म अभिप्रेत है। कुछ विद्वान् पारद भस्म या पारद अथवा पारदीय योग; यथा—हिंगुल, रससिन्दूर, कज्जली आदि का ग्रहण करते हैं। गन्धकादि कहने से गन्धक तथा गन्धक के यौगिक; यथा—हरताल, मनःशिला, स्वर्ण-माक्षिक आदि। तथा अरिलोह से तात्पर्य है—शत्रु लोह अर्थात् जो स्वयं लोहरूप हो और अन्य लोहों का शत्रु हो। यथा—स्वर्ण का अरिलोह नाग, रजत का वंग तथा ताम्र का यशद।

यहाँ द्रष्टव्य है कि सभी पूतिलोह सार अथवा शुद्ध लोह का अरि (Enemy metal) होता है।

धातुओं के मारणार्थ अग्नि—किसी भी द्रव्य के मारण के लिए 'पुट' की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। अग्नि द्वारा पाक की क्रिया पुट कहलाती है। धातु एवं खनिज आदि समग्र भस्मीय द्रव्य पुट की अग्नि से ही भस्म रूप को प्राप्त करते हैं। एक निश्चित प्रमाण की अग्नि की आवश्यकता अलग-अलग द्रव्यों को रहती है। स्वर्ण, रजतादि समग्र धातुएँ भिन्न-भिन्न बलाबल की होती हैं। अतः एक निश्चित धातु के लिए

१. 'मनःशिलागन्धकसूर्यदुग्धैः सम्मर्द्य खल्वे खलुसप्तलोहम्।
वन्योत्पलाग्नौ पुटितं प्रयत्नादनुत्तमां याति मृतिं ह्यवश्यम्'॥
(र० त० १५।८)

२. 'न सोऽस्ति लोहमातङ्गोऽयं न गन्धककेसरी।
निहन्यादगन्धमात्रेण यद्वा माक्षिककेसरी'॥ (रसार्णव० ७।१५०)

३. 'लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना।
मूलिभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गन्धकादिभिः॥
अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम्'। (र० र० स० ५।१४)

Scanned with CamScanner

निश्चित अग्नि ही अपेक्षित होती है, कम या अधिक नहीं। तदनुसार स्वर्ण एवं रजत के लिए कुक्कुटपुट की अग्नि; ताम्र के लिए काष्ठादि की तीव्राग्नि; लोह के लिए गजपुट की अग्नि तथा नाग एवं वंग के लिए अर्धगजपुट या कुक्कुटपुट की अग्नि दी जाती है।[1]

धातुओं के भस्मों का वर्ण[2]—

१. स्वर्ण भस्म : चम्पक वर्ण (गैरिक या पीत रक्तवर्ण)।
२. रजत एवं ताम्र भस्म : कृष्णवर्ण।
३. कांस्य भस्म : धूसर वर्ण।
४. नाग भस्म : कपोत वर्ण।
५. वंग भस्म : श्वेत वर्ण।
६. तीक्ष्णलोह भस्म : पक्व जम्बूफल वर्ण।
७. अभ्रक भस्म : इष्टिका वर्ण या लाल गैरिक वर्ण।

धातु भस्मों की सामान्य सेवन मात्रा[3]—

पारद भस्म	१ रत्ती	यशद भस्म	२ रत्ती
सुवर्ण भस्म	१ ,,	कांस्य भस्म	२ ,,
रजत भस्म	३ ,,	पित्तल भस्म	२ ,,
ताम्र भस्म	२ ,,	अभ्रक भस्म	२ ,,
लोह भस्म	२ ,,	हरताल भस्म	½ ,,
नाग भस्म	२ ,,	वज्र भस्म	½० ,,
वंग भस्म	२ ,,		

धातु भस्मों का निरुत्थीकरण—४० तोले भस्म में १० तोला शुद्ध गन्धक एवं

१. 'स्वर्णरूप्यवधे ज्ञेयं पुटं कुक्कुटकादिकम्।
ताम्रे काष्ठादिजो वह्निर्लोहे गजपुटानि च' ॥ (आ० प्र० ३।४७)
२. स्वर्णचम्पकवर्णाभं कृष्णत्वं तारताम्रयोः।
कांस्यं धूसरवर्णं स्यान्नागः पारावतप्रभः ॥
वङ्गं शुभ्रत्वमायाति तीक्ष्णं जम्बूकफलोपमम्।
अभ्रकं चेष्टिकाभं स्याद्धातूनां वर्णनिर्णयः' ॥ (योगरत्नाकर)
३. 'गुञ्जामात्रं रसेन्द्रस्य हेम्नो भस्म च भक्षयेत्।
तारं त्रिगुञ्जकं सेव्यं ताम्रभस्मद्विगुञ्जकम्।
लोहाभ्रनागवङ्गानां यशदस्य तथान्येषाम्।
धातूनां ज्ञायते मात्रा द्विगुञ्जा प्रमिता खलु ॥
कांस्यपित्तलयोर्भस्म भक्षयेत्ताम्र भस्मवत्।
वज्रं यवद्वयमितं तालं च यवसप्तकम् ॥
ततो बुद्ध्या भिषक् दद्यान्मात्रावित् क्षेत्रमानतः' ॥

१० तोला गोघृत मिलाकर लोह खरल में कुमारी स्वरस से एक दिन मर्दन कर चक्रिका बना, सुखा सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में १ पुट दे देने से धातुओं का भस्म निरुत्थ हो जाता है।

स्वर्ण
(Gold)

नाम—संस्कृत : सुवर्णम्। हिन्दी : सोना। अंग्रेजी : Gold। लैटिन : Aurum।
संकेत—Au. वि० गु०—१९.३२। **काठिन्य**—२.५ से ३ तक।
परमाणुबन्धन-क्षमता—३। **परमाणु-भार**—१९७.२।
द्रवणांक—१०६४° सें० (Volatilize in vacuo on 1070° C)।
क्वथनांक—१८००° सें० है।
पर्याय—स्वर्ण, सुवर्ण, द्रविण, हिरण्य, कल्याणक, काञ्चन, अग्निवर्ण, मनोहर, हेम, भूषणार्ह, अग्निबीज (अग्निवीर्य), कनक, कौन्त, भृंगार, मांगल्यक, जाम्बव, जाम्बूनद, भर्म, जातरूप, चाम्पेयक, लोहवर, रुक्म, चामीकर, हाटक, कलधौत तथा तपनीय आदि स्वर्ण के नाम कहे गये हैं।[1]

इतिहास—स्वर्ण का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक ग्रन्थों से लेकर उपनिषद्, पुराण, स्मृति आदि समग्र ग्रन्थों में स्वर्ण के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के 'श्रीसूक्त' में केवल स्वर्ण का ही वर्णन किया गया है। ईशावास्योपनिषद् में सूर्योदयकालीन सूर्य की उपमा 'हिरण्मयेन पात्रेण' कहकर दी गयी है। शतपथ ब्राह्मण में इसे अग्निवीर्य कहा है। ब्रह्मा की उत्पत्ति स्वर्ण-जरायु से बतलाई गई है।

भू (धरती) एवं हिरण्य को सम्पत्ति माना गया है तथा इसे विग्रह का भी कारण माना गया है।

आयुर्वेदीय संहिताओं में भी इसके पात्र, उपकरण एवं औषधि के रूप में उपयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। चरक के काल में लोगों को इसके विषनाशक गुण का ज्ञान था। स्वर्णप्राशित व्यक्ति पर विष का प्रभाव नहीं होता है, ऐसा कहा गया है।[2] चरक एवं सुश्रुत द्वारा अनेक रोगों के चिकित्सार्थ तथा रसायन, वाजीकरण, मेधा, स्मृति तथा आयुवर्द्धक के रूप में स्वर्ण का प्रयोग किया गया है।

उत्पत्ति—स्वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न पौराणिक कथानक प्रचलित हैं—

१. 'स्वर्णं सुवर्णं द्रविणं हिरण्यं कल्याणकं काञ्चनमग्निवर्णम्।
मनोहरं हेम च भूषणार्हं तथाग्निबीजं कनकञ्च कौन्तम् ॥
भृङ्गारमाङ्गल्यकजाम्बवानि जाम्बूनदं भर्म च जातरूपम्।
चाम्पेयकं लोहवरञ्च रुक्मं चामीकरं हाटकसंज्ञमुक्तम्' ॥
(र० त० १५।९-१०)
२. 'हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति।
न सज्जते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्' ॥ (च० चि० २३।२४०)

Scanned with CamScanner

१. जल के साथ अग्नि के मैथुन से जो अग्नि का वीर्यक्षरण हुआ उसी से स्वर्ण की उत्पत्ति हुई। (शतपथब्राह्मण)

२. सप्त ऋषियों की सुन्दर युवा पत्नियों को देखकर अग्निदेवता कामासक्त हो गये जिससे शुक्र क्षरण हुआ और वह पृथ्वी पर आ गिरा। वही स्वर्ण के रूप में जाना जाने लगा।

३. शिव के स्खलित वीर्य का पान अग्निदेव ने कर लिया किन्तु असह्य होने से पुनः उसका वमन कर दिया। वही वमन किया गया वीर्य स्वर्ण हो गया।[1]

अग्नि वीर्य अथवा अग्नि के मुख से उत्पन्न का तात्पर्य यहाँ ज्वालीमुखी पर्वत के मुख से निकला हुआ समझना चाहिए।

परिचय—यह सुन्दर पीत केशर वर्ण की अत्यन्त चमकीली मृदु एवं कीमती धातु है। यह भारवान् होता है। साधारणतया इस पर वातावरण के जल-वाष्प, अम्ल, क्षार एवं ताप का कोई प्रभाव नहीं होता। यह आघात से फैलता है। इसके वर्क एवं पतले तार खींचे जा सकते हैं। यह उत्तम विद्युत् वाहक होता है। चमकीला, सुन्दर तथा जलवायु के प्रभाव से रहित होने के कारण यह बहुमूल्य उच्चकोटि का धातु (Novel metal) माना जाता है।

स्वर्ण का उपयोग प्राचीन काल से अलंकार, आभूषण एवं मुहर, मुद्रा आदि निर्माण के लिए होता रहा है। इनके अतिरिक्त यह धातु पात्रों पर मुलम्मा (पानी) चढ़ाने के लिए तथा औषध एवं वर्क (तवक) निर्माण के लिए प्रयोग की जाती रही है। शुद्ध स्वर्ण में ९८.८ प्रतिशत स्वर्ण होता है। शेष अंश चाँदी, ताम्र, पारद एवं बिस्मथ आदि का होता है। स्वर्ण चूँकि मृदु धातु है अतः आभूषण एवं मुद्रा आदि निर्माण के लिए ताम्र मिलाकर इसे कठिन बनाया जाता है। ताम्र मिलाने से सुवर्ण का रंग कुछ अरुण (लाल) वर्ण का हो जाता है। चाँदी मिलाने से इसका रंग कुछ हल्का हो जाता है।

स्वर्ण के मिश्र धातुओं के २४ भागों में स्वर्ण का जितना भाग होता है उनकी संख्या के द्वारा स्वर्ण की मात्रा को प्रकट किया जाता है। इसे ही व्यवहार में कैरेट (Carat) कहते हैं। शुद्ध स्वर्ण को २४ कैरेट गोल्ड (स्वर्ण) कहते हैं। १८ कैरेट स्वर्ण में १८ भाग स्वर्ण और ६ भाग अन्य किसी धातु का होता है। शुद्ध स्वर्ण से ०.०००० ८ मिमी० पतला पत्र बनाया जा सकता है। अशुद्धियों खासकर Tellurium, Bismuth और Lead आदि के मिले होने पर इतना पतला पत्र (वर्क) नहीं बन पाता है।

अत्यन्त सूक्ष्मकणों में विभक्त स्वर्ण उबलते हाइड्रोक्लोरिक एवं नाइट्रिक एसिड में अल्प मात्रा में घुलता है किन्तु बड़े टुकड़ों के रूप में रहने पर क्षार अथवा नाइट्रिक,

१. 'विसृष्टमग्निना शैवं तेजः पीतं सुदुःसहम्।
अभूत्स्वर्णं तदुद्दिष्टं सुवर्णं वह्निसम्भवम्' ॥ (र० चू० ४।५)

सल्फ्यूरिक अथवा हाइड्रोक्लोरिक एसिड में नहीं घुलता है। यह Aqua regia में सम्पूर्ण रूप से विलीन हो जाता है।

स्वर्ण की प्राप्ति—प्रकृति में यह मुक्त स्वरूप (Native) तथा यौगिक दोनों रूपों में मिलता है। भूगर्भ में यह गार या स्फटिक पत्थरों के बीच सिराओं के रूप में पाया जाता है। विशेष रूप से यह मैसूर के कोलार गोल्डफील्ड से प्राप्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त मद्रास के अनन्तपुर की खान से तथा बिहार में स्वर्णरेखा आदि नदियों की रेत से इसके कण प्राप्त किये जाते हैं। भारत के अतिरिक्त यह बर्मा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका, मैक्सिको, चीन तथा रूस आदि अनेक देशों में पाया जाता है।

स्वर्ण के खनिज—स्वर्ण विशेषकर स्वतन्त्र रूप में ही मिलता है। भूगर्भ से यह निम्न रूपों में प्राप्त होता है—

(१) **स्वतन्त्र रूप** (Native gold)—मुक्त स्वर्ण (Native gold : Au.)—यह स्फटिक (गार) पत्थरों में सिराओं के रूप में तथा बालू के साथ कण के रूप में होता है—

(i) Auriferous quartz veins के रूप में।
(ii) Allurial sands और gravels के रूप में।

(२) **यौगिक रूप** (Combined form of tellurides)—

१. कैलेवराइट (Calaverite) $Au\ Te_2$
२. सिल्वेनाइट (Sylvenite) $(Au, Ag)\ Te_2$
३. कालगूरलाइट (Kalgoorlite) } $(Au, Ag, Hg)\ Te_2$
४. पाइराइटस or Sulphid ore के साथ }
५. ऑरिफेरस (Auriferous pyrite ore) पाइराइट खनिज से।

स्वर्ण निष्कर्षण—ऑरिफेरस पाइराइट ओर को प्रथम क्लोरीन के वातावरण में जलाते हैं (Roasted in an atmosphere of chlorine)। इससे स्वर्ण घुलनशील ओरिक क्लोराइड ($Au\ Cl_3$) में बदल जाता है। इस ओरिक क्लोराइड को फेरस साल्ट (Ferrous salt) के विलयन में मिला देने से स्वर्ण अवक्षेप (Precipitate) के रूप में अलग हो जाता है।

स्वर्ण-निष्कर्षण की विधि (गार पत्थरों तथा बालू के कणों से)—स्वर्ण मिश्रित स्फटिक पत्थरों को प्रथम यन्त्र द्वारा बारीक पीस लिया जाता है। इसे पीसे हुए चूर्ण पर वेगवती जल की धारा प्रवाहित करते हैं। स्वर्ण की अपेक्षा स्फटिक के कण हलके होने से जल की धारा के साथ बह जाते हैं और स्वर्ण के कण नीचे बैठ जाते हैं। स्वर्ण के इन कणों को पारद से लिप्त ताम्रपट्टों पर से उपर्युक्त जल की धारा से बहा देते हैं, जिससे स्वर्ण के कण पारद के साथ मिलकर स्वर्ण-पारद का मिश्रण बना देते हैं। इस पारद मिश्रण को ताम्रपट्टों पर से खुरचकर तिर्यक्पातन यन्त्र द्वारा पारद को पातित कर अलग कर लेते हैं। तिर्यक्पातन यन्त्र से शुद्ध स्वर्ण प्राप्त कर लेते हैं।

Scanned with CamScanner

अन्य विधियों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले स्वर्ण में अन्य धातुएँ भी मिली रहती है। इनको पृथक् करने के लिए स्वर्ण को मूषा में रखकर टंकण एवं शोरा आदि डालकर गर्म करते हैं। इससे अन्य धातुएँ झाग (Slag) के रूप में निकल आती है और शुद्ध स्वर्ण द्रवरूप में मूषा के तल भाग में रह जाता है।

स्वर्ण के भेद[1]— रसग्रन्थों में स्वर्ण के पाँच प्रकार बतलाये गये हैं—१. प्राकृत सुवर्ण, २. सहज सुवर्ण, ३. अग्निसम्भव सुवर्ण, ४. खनिज सुवर्ण तथा ५. रसेन्द्रवेधज सुवर्ण।

१. प्राकृत, २. सहज तथा ३. अग्निसम्भव—इन ३ प्रकार के सुवर्ण को अलौकिक तथा षोडशवर्ण अर्थात् सोलह कलाओं से युक्त सुवर्ण तथा ४. खनिज सुवर्ण को चतुर्दश वर्ण सुवर्ण कहा गया है।

इसका तात्पर्य यह कि उपरोक्त प्रथम तीन उत्तम कोटि का एवं पूर्ण शुद्ध होने से इसमें धातुक द्युति (Metalic lusture) अधिक (प्रायः पूर्ण) होती है, किन्तु खनिज सुवर्ण में अन्य धातुओं के मिश्रण के कारण अपेक्षाकृत कम द्युति होने से इसे चतुर्दश वर्ण का कहा गया है। वर्तमान में खनिज स्वर्ण ही उपलब्ध है। पारद के वेध से प्राप्त स्वर्ण को रसायन, पवित्र एवं महाश्रेष्ठ कहा गया है।[2]

उत्तम स्वर्ण के लक्षण—आग पर तपाने पर जो स्वर्ण लाल वर्ण का हो जाय, छेदन से (काटने पर) चमकदार, कसौटी पर घिसने से कुंकुम (केशर) के वर्ण का हो, भारी हो, स्निग्ध हो, मृदु एवं स्वच्छ हो, पत्ररहित हो, पीत वर्ण की आभायुक्त हो तथा षोडश वर्ण युक्त हो वह स्वर्ण देहसिद्धि (रसायन गुण युक्त) एवं लोहसिद्धि के लिए श्रेष्ठ होता है।[3]

---

१. 'प्राकृतं सहजं वह्निसम्भूतं खनिसम्भवम्।
रसेन्द्रवेधसञ्जातं स्वर्णं पञ्चविधं स्मृतम्' ॥ (र० र० स० ५।२)

२. 'एतत्स्वर्णत्रयं दिव्यं वर्णैः षोडशभिर्युतम्।
तत्र तत्र गिरीणां हि जातं खनिषु यद्भवेत्।
तच्चतुर्दशवर्णाढ्यं भक्षितं सर्वरोगहृत् ॥
रसेन्द्रवेधसम्भूतं तद्वेधजमुदाहृतम्।
रसायनं महाश्रेष्ठं पवित्रं वेधजं हि तत्' ॥ (र० र० स० ५।६-८)

३. (क) दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम्।
गुरु स्निग्धं मृदु स्वच्छं निर्दलं रक्तपीतकम्।
हेम षोडशवर्णाऽऽढ्यं शस्यते देहलोहयोः' ॥ (आ० क० क्रि० २।१२)

(ख) 'दाहेऽतिरक्तमथ यत्सितं छिदायां
काश्मीरकान्ति च विभाति निकाषपट्टे।
स्निग्धं च गौरवमुपैति च यत्तुलायां
ग्राह्यं तदेव कनकं मृदु रक्तपीतम् ॥ (आयु० प्र० ३।२६)

त्याज्य स्वर्ण—जो स्वर्ण कठिन, रूक्ष, विवर्ण, मल एवं दल युक्त (पत्र युक्त), गर्म करने पर श्वेतकृष्ण वर्ण का हो जाय, कसौटी पर श्वेत रेखा खींचे तथा भार में हलका हो वह स्वर्ण त्याज्य माना जाता है।[1]

स्वर्ण-शोधन की आवश्यकता—स्वर्ण-शोधन के सम्बन्ध में विचार-द्वैविध्य देखा जाता है। कुछ विद्वानों के मत से स्वर्ण का शोधन आवश्यक नहीं है। यथा—शुद्ध धातु स्वर्ण ('शुद्धलोहं कनकरजतम्' अर्थात् कनक और रजत को शुद्ध लोह माना गया है) का शोधन नहीं करना चाहिए।[2] अन्य विद्वानों के अनुसार स्वर्ण का शोधन आवश्यक है। क्योंकि अशोधित एवं अमारित स्वर्ण मुख, वीर्य एवं बल का नाश करता है तथा अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः सम्यक् प्रकार से स्वर्ण का शोधन एवं मारण करना चाहिए।[3]

स्वर्ण का सामान्य शोधन—सामान्य स्वर्ण का कंटकवेधी पत्र बनाकर उसे क्रमशः तैल, तक्र, गोमूत्र, काञ्जी तथा कुलत्थ क्वाथ में प्रतप्त कर सात-सात बार बुझा लेने से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।[4]

स्वर्ण का विशेष शोधन—

१. १ तोला सुवर्ण का पतला पत्र बनाकर उस पर सैंधव लवण एवं स्वर्णगैरिक

(ग) 'बालारुणारुणमलं ज्वलमप्रतप्तं
शाणोपले घुसृणचूर्णसमानवर्णम्।
नाराचिकाधृतमलं गुरुतामुपेयात्
स्निग्धं तदेव कनकं कथितं तु जात्यम् ॥
कोमलं रक्तपीताभं स्निग्धं शुल्वेन्दुवर्जितम्।
गुरुचाखिलधातुभ्यो जात्या तत्स्वर्णमुत्तमम्' ॥ (र० त० १५।११-१२)

१. (क) श्वेताङ्गं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्।
दाहे श्वेतासितं श्वेतं निकषे लघु च व्रजेत्' ॥ (आ० क० क्रि० २।१२)

(ख) 'कठिनं लघु रूक्षञ्च कषे च्छेदेऽनले सितम्।
तारताम्रसमायुक्तं स्वर्णं हेयं स्मृतं बुधैः' ॥ (र० त० १५।१३)

२. 'न तु शुद्धहेम्नश्च शोधनं कारयेद्भिषक्।
अन्येषामेव लोहनां शोधनं कारयेद्भिषक् ॥' (र० प्र० सु० ४।११)

३. (क) 'सौख्यं वीर्यं बलं हन्ति रोगवर्गं करोति च।
अशुद्धममृतं स्वर्णं तस्माच्छुद्धं च मारयेत्' ॥ (र० र० स० ५।११)

(ख) 'यस्मादशोधितं स्वर्णं हन्ति बुद्धिबलादिकम्।
करोति च बहून् रोगान् तस्मात्स्वर्णं विशोधयेत्' ॥ (र० त० १५।१४)

४. 'तैले तक्रे गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलत्थजे।
क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्वावे द्वावे तु सप्तधा ॥
स्वर्णादिलोहपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते' ॥ (र० र० स० ५।१३)

Scanned with CamScanner

मिश्रण का लेप कर सुखा लें। अब इसे एक शरावसम्पुट में बन्दकर १½ घण्टे तक कोयलों की अग्नि में धमन करें। इससे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है तथा वह पूर्ण वर्ण का हो जाता है। अर्थात् इस विधि से स्वर्ण में वर्णोत्कर्ष होता है।[1]

इस विधि से १४ वर्ण वाला सुवर्ण १६ वर्ण वाला हो जाता है। ऐसा पूर्ण वर्ण कहने से पता चलता है। किन्तु व्यवहार में देखा जाता है कि अन्य धातुओं का मिश्रण यदि स्वर्ण में है तो उन धातुओं का पृथक्करण इस विधि द्वारा नहीं हो पाता है।

२. वल्मीक मिट्टी, गृहधूम, स्वर्णगैरिक, ईंट का चूर्ण और सैंधव लवण (पञ्च-मृत्तिका)—सभी समान भाग में लेकर इसे नींबू के रस तथा आरनाल (काञ्जी) से घोंटकर लेप बना लें। इसे स्वर्ण के पतले कंटकवेधी पत्र पर लेपकर ३ दिन तक रख दें। बाद में इसे शरावसम्पुट में रखकर लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर स्वच्छ जल से इन पत्रों को धो डालने से स्वर्ण पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।[2]

३. एक तोले परिमाण के स्वर्णपत्रों पर सैंधव लवण तथा जंगली उपलों की राख को नींबू स्वरस से घोंटकर लेप लगा कर सुखा लें। अब इसे शरावसम्पुट में बन्द कर कुक्कुटपुट की (कोयलों की) अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।[3]

४. स्वर्ण के सूचीवेध्य पत्र को कैंची से छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लें। इन्हें मिट्टी का लेप किये हुए एक काँचपात्र में लेकर पात्र को त्रिपादिका पर रखकर स्प्रिट लैम्प की अग्नि दें तथा इसमें थोड़ा-थोड़ा हाइड्रोक्लोरिक एसिड (Hydrochloric acid) ⅓ भाग तथा नाइट्रिक एसिड (Nitric acid) ⅔ भाग का मिश्रण तब तक डालते जायें, जबतक कि स्वर्ण पूरी तरह गल न जाय। द्रवांश को कम करने के लिए थोड़ी देर और पकावें। अब इसमें थोड़ा जल डालकर पकावें, तत्पश्चात् इसमें सजल चणकाम्ल (Dilute oxalic acid) तब तक डालें जब तक कि स्वर्ण के सूक्ष्म कण पात्र तल में न बैठ जायें। अब इसे अग्नि से पृथक् कर स्वर्ण कणों को

१. 'कर्षप्रमाणं तु सुवर्णपत्रं शरावरुद्धं पुटधातुयुक्तम्।
अङ्गारसंस्थं प्रहरार्धमानं ध्मातेन तत्स्यान्नु पूर्णवर्णम्' ॥
२. 'वल्मीकमृत्तिकाः धूमं गैरिकं चेष्टिकापटु।
इत्येता मृत्तिकाः पञ्च जबीरैरारनालकैः।
पिष्ट्वा लेप्यं स्वर्णपत्रं पुटेन तु विशद्धयति।
धारयेत्स्वर्णपत्रीभिस्त्रिदिनं पञ्च मृत्तिकाः' ॥
(र० सा० सं०-एवं आ० क० क्रि० २।१६)
३. 'कर्षोन्मितानीह दलानि हेम्नः खल्वम्लपिष्टेन ससैन्धवेन।
वन्योपलोत्थेन तु भस्मना वै प्रलेपयेल्लेपविधानदक्षः ॥
लेपं प्रशुष्कं प्रसमीक्ष्य वैद्यः शरावसंस्थानि तु कोकिलाग्नौ।
पुटेत्पुटे कुक्कुटसंज्ञके तु स्वर्णं भवेच्छोडशवर्णतुल्यम्' ॥ (र० त० १५।१८-१९)

सावधानीपूर्वक जल से तब तक धोयें जब तक कि इसकी अम्लता पूरी तरह निकल न जाय। अन्त में इन स्वर्ण कणों को सावधानीपूर्वक सुखाकर रख लें। यह शुद्ध स्वर्ण होता है।[1]

स्वर्ण का मारण—

१. शुद्ध स्वर्ण के कण्टकवेधी पत्रों पर नीम्बू स्वरस से मर्दित रसभस्म (रस-सिन्दूर) का लेपकर सुखा लें। तत्पश्चात् शरावसम्पुट में रखकर पुट में (कुक्कुटपुट की अग्नि में) फूंक दें। इस प्रकार दस पुट देने से स्वर्ण का मारण हो जाता है।[2]

२. एक मूषा में स्वर्ण को पिघला कर उसमें समान मात्रा में पारद की भस्म (रससिन्दूर) डाल दें। अब इसे खरल में डालकर इसके समान भाग हिंगुल मिला-कर बिजौरा नीम्बू के रस में घोंटकर चक्रिका बना लें। इन चक्रिकाओं को सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द कर पुट (कुक्कुट पुट) की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार १२ पुट देने से स्वर्ण की कुंकुम (केशर) के समान सुन्दर वर्ण की भस्म बन जाती है।[3]

३. स्वर्ण का चतुर्थांश पारद भस्म (रससिन्दूर) लेकर किसी भी अम्ल द्रव्य में घोंटकर उसका स्वर्णपत्र पर लेप करके सुखा लें। सूख जाने पर शरावसम्पुट में

चम्पक स्वर्ण
↓
Colour

१. 'सूचीवेध्यानि पत्राणि सुवर्णस्य समाहरेत्।
कर्तर्या कर्तयेच्चाथ कणान् सूक्ष्मांस्तु कारयेत् ॥
मृल्लिप्ते काचपात्रे च न्यसेत्स्वर्णकणांस्ततः।
त्रिपादिकायां विन्यस्य सुरादीपाग्निना पचेत् ॥
लवणद्रावकं तत्र निक्षिपेत्तु शनैः शनैः।
सोरकद्रावकञ्चाथ पूर्वद्रावस्य पादिकम् ॥
विधिज्ञो निक्षिपेद्यावद् द्रवतां याति काञ्चनम्।
किञ्चित्कालं पचेच्चाथ द्रवाधिक्यनिवृत्तये ॥
सलिलञ्चाथ निक्षिप्य पचेदथ विधानवित्।
सजलं चणकाम्लञ्च तावत्तत्र विनिक्षिपेत्।
यावत्खलु सुवर्णस्य चणकाम्लस्य योगतः।
अतिसूक्ष्मकणं चूर्णं पात्राधः पतितं भवेत्।
विनश्यत्यम्लता यावत् तावत्प्रच्छालयेज्जलैः।
संशोष्य चाथ मतिमान् विशुद्धं स्वर्णमाहरेत्' ॥ (र० त० १५।२०-२६)
२. 'कृत्वा कण्टकवेध्यानि स्वर्णपत्राणि लेपयेत्।
लुङ्गाम्बुभस्मसूतेन म्रियते दशभिः पुटैः ॥ (र० र० स० ५।१५)
३. 'द्रुते विनिक्षिपेत्स्वर्णे लोहमानं मृतं रसम्।
विचूर्ण्य लुङ्गतोयेन दरदेन समन्वितम् ॥
जायते कुङ्कुमच्छायं स्वर्णं द्वादशभिः पुटैः' । (र० र० स० ५।१६)

Scanned with CamScanner

बन्दकर पुट (कुक्कुट पुट) की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार आठ पुट देने से स्वर्ण का मारण हो जाता है।[1]

४. १ कर्ष (१ तोला) शुद्धस्वर्ण तथा १ कर्ष (१ तोला) शुद्धपारद खरल में डालकर अच्छी तरह मर्दन करें। तत्पश्चात् नीम्बू के रस में अच्छी प्रकार मर्दनकर जल से धो ले। अब इस स्वर्ण-पारद के मिश्रण में १-१ कर्ष शुद्ध हिंगुल, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मनःशिला तथा शुद्ध नवसादर मिलाकर बिजौरा नींम्बू के रस से मर्दनकर धूप में सुखा लें। इसे पुनः पीसकर बारीक चूर्ण कर छोटे शरावसम्पुट में बन्दकर लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार हिंगुल आदि द्रव्य समान भाग में प्रत्येक बार मिलाते हुए तब तक लघुपुट देते रहे जब तक कि स्वर्ण की निश्चिन्द्र भस्म न हो जाय। इस प्रकार पुट देने से कुछ ही पुटों (लगभग १५ पुट) में स्वर्ण की उत्तम भस्म हो जाती है।[2]

५. शुद्धस्वर्ण एवं शुद्धपारद को समान भाग में खरल में मर्दन कर पिष्टी बना लें। इसे पुनः नीम्बू स्वरस से मर्दन कर जल से अच्छी तरह धो लें। अब इसमें स्वर्ण के बराबर शुद्ध मैनसिल एवं रससिन्दूर मिलायें तथा स्वर्ण के चतुर्थांश स्वर्णमाक्षिक भस्म मिलाकर अर्क दुग्ध से अच्छी तरह भावित कर शुष्क कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। अब इस चूर्ण को लघुसम्पुट में बन्द करके लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार कुछ ही पुटों (१५ पुट) में स्वर्ण की भस्म बन जाती है।[3]

६. शुद्धस्वर्ण पत्रों को खरल में डालकर स्वर्ण के समान भाग शुद्धपारद मिला लें। इसे अच्छी तरह मर्दनकर काञ्जी आदि अम्ल द्रव्यों से धोकर सुखा लें। अब इस स्वर्ण में समान भाग गन्धक मिलाकर सम्पुट में बन्दकर पुट में फूंक दें। इस

१. 'हेम्नः पादं मृतं सूतं पिष्टमम्लेन केनचित्।
पत्रे लिप्त्वा पुटैः पञ्चादष्टभिर्म्रियते ध्रुवम्' ॥ (र० र० स० ५।१७)

२. 'विशुद्धस्वर्णपत्राणि कर्षैकप्रमितानि च।
समादाय समं सूतं दत्त्वा सम्मर्दयेद् दृढम् ॥
निम्बुद्रावेण सम्पेष्य सम्यक् प्रच्छालयेत्ततः।
हिङ्गुलं गन्धकञ्चाथ शिलाञ्च नवसादरम् ॥
पृथक् पृथक् कर्षमितं निक्षिप्याम्लेन मर्दयेत्।
संशोष्य चातपे सम्यक् श्लक्ष्णचूर्णञ्च कारयेत् ॥
पुटेत्तावत्प्रयत्नेन यावन्निश्चन्द्रिकं भवेत्।
इत्थं स्वल्पपुटैरेव काञ्चनं याति पञ्चताम्' ॥ (र० त० १५।४९-५२)

३. 'स्वर्णपत्राणि शुद्धानि समादाय भिषग्वरः।
कर्तर्या कर्तयेच्चाथ कणान् सूक्ष्मांस्तु कारयेत् ॥
स्वर्णतुल्यं रसं दत्त्वा खल्वे सम्मर्दयेद् दृढम्।
निम्बूद्रावेण सम्मर्द्य बहुशः क्षालयेद्भिषक् ॥
कुनटी रससिन्दूरं स्वर्णतुल्यं विनिक्षिपेत्।
सुवर्णपादिकञ्चैव मृतं कनकमाक्षिकम् ॥

प्रकार १४ पुट देने से स्वर्ण की भस्म बन जाती है। इस विधि में प्रथम पुट के बाद आगे के १३ पुटों में क्रमशः पारद का सोलहवाँ भाग प्रत्येक बार कम करते जायें।[1]

७. शुद्ध स्वर्ण चूर्ण के समान भाग शुद्ध श्वेत मल्ल लेकर उसे काञ्चनार स्वरस से तत्पश्चात् तुलसी पत्र स्वरस से सात-सात दिन तक मर्दनकर चक्रिका बना-सुखाकर सम्पुट में बन्दकर लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। दूसरे पुट में संखिया की मात्रा चतुर्थांश प्रमाण में डालनी चाहिए। इस विधि से १० पुट में स्वर्ण की अरुण वर्ण की भस्म बन जाती है।[2]

विशेष कथन—स्वर्ण मारण की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। 'स्वर्णचम्पक-वर्णाभम्' कहकर स्वर्ण भस्म का वर्ण सूचित किया गया है। इसके पक्वापक्व के सम्बन्ध में भी गुण-दोषों की चर्चा की गई है। तथापि स्वर्णभस्म (२० पुट द्वारा मारित) का माउण्ट बनाकर Metalographic microscope पर रख कर देखा गया तथा पाया गया कि स्वर्ण के चमकदार सूक्ष्मकण उसमें यथावत् विद्यमान हैं। उनका किसी यौगिक (Sulphide अथवा Oxide) के रूप में परिवर्त्तन नहीं हो सका था। स्वर्ण को Novel metal माना गया है तथा इसका उपरोक्त Sulphide या Oxide आदि यौगिक नहीं बन पाता है। रसशास्त्रीय स्वर्णमारण के लिए जो द्रव्य समूह लिये जाते हैं, उनसे अन्य धातुओं की तरह इसी प्रकार के यौगिक की कल्पना की जा सकती है, किन्तु ऐसा नहीं होता है। स्वर्ण मात्र सूक्ष्म से सूक्ष्म कण में विभक्त हो जाता है। धातुओं के भस्म में धातु (Metal) मुक्त (Free) रूप में नहीं मिलानी चाहिए, ऐसी विद्वानों की अवधारणा है। इसी परीक्षा के क्रम में स्वर्ण भस्म की Metalography

रविदुग्धेन सम्पेष्य श्लक्ष्णचूर्णञ्च कारयेत्।
पुटेत्तावद्विधानज्ञो यावन्निश्चन्द्रिकं भवेत् ॥
एवं स्वल्पपुटैरेव कनकं मृतिमाप्नुयात्।
निश्चन्द्रिकञ्च मसृणं स्वर्णभस्म भवेच्छुभम् ॥
द्वितीयादिपुटेष्वत्र मृतं कनकमाक्षिकम्।
न निक्षिपेद्विधानज्ञो रहस्यमिदमीरितम्' ॥ (र० त० १५।५३-५८)

१. 'शुद्धेषु स्वर्णपत्रेषु समानं शुद्धपारदम्।
दत्त्वा सम्पेषयेदम्लैः सुचिरं क्षालयेत्ततः ॥
संशोष्य गन्धकं दत्त्वा पुटेत्पुटविधानवित्।
एवं चतुर्दशपुटैः सुवर्णं मृतिमाप्नुयात् ॥
षोडशांशं प्रतिपुटं रसेशं ह्रासयेद् बुधः।
अन्यथा पञ्चतां नैति रहस्यमिति दर्शितम्' ॥ (र० त० १५।५९।६१)

२. 'शुद्धस्वर्णभवं चूर्णं तत्समं श्वेतमल्लकम्।
काञ्चनारद्रवैर्मर्द्यं तुलसीस्वरसैस्तथा ॥
विधाय चक्रिकां शुष्कां ततो लघुपुटे पचेत्।
द्वितीयादि पुटे देयं मल्लं पादमितं बुधैः' ॥ (रसामृत)

Scanned with CamScanner

(Detection of free metal in metallic Bhasma) की गई और स्वर्ण भस्म में अधिकांश भाग मुक्त स्वर्णधातु (Free gold metal) को सूक्ष्मकण के रूप में देखा गया।

स्वर्ण भस्म के रासायनिक विश्लेषण में—Gold (metal as Au) 96.760%, पाया जाता है। शेष Silica 1.140%, Iron 0.140%, Lime 0.546%, Copper trace, Magnesia trace, Phosphate 0.781%, Potash 0.161%, Sodium chloride 0.078%, Sulphate 0.150 तथा Moisture 0.244%, पाया जाता है।

अपक्व स्वर्णभस्म के दोष—दोषयुक्त (सदोष या अशुद्ध) और अपक्व (ठीक ढंग से भस्म न हुआ) स्वर्ण भस्म का सेवन करने से मनुष्य के बलवीर्य का नाश होता है तथा यह शरीर में अनेक रोगों को उत्पन्न करके शरीर को कष्ट पहुँचाता है। यहाँ तक की रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।[1]

स्वर्ण भस्म की मात्रा[2]—$\frac{1}{2}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक रोग एवं रोगी के बलाबल का विचार करते हुए देनी चाहिए। रसरत्नसमुच्चय में 2 गुञ्जा की मात्रा में लेने का निर्देश किया है। यथा—'एतद्भस्मसुवर्णजं कटु घृतोपेतं द्विगुञ्जोन्मितम्'।

शुद्ध स्वर्ण एवं स्वर्णभस्म के गुण—स्वर्णभस्म रस में कषाय, तिक्त, मधुर और कटु होता है। यह गुण में गुरु, स्निग्ध और पिच्छिल है। इसका वीर्य शीत और विपाक मधुर होता है।[3]

इसका कर्म—वृष्य, वल्य, बृंहण, स्रंसन, रसायन, नेत्र्य, मेध्य, धी, स्मृतिप्रद, आयुष्य, कान्तिप्रद, वाग्विशुद्धिकर, स्थिरत्व, लेखन, विषगरहर, भूतावेष प्रशान्तिकर, रुच्य, वर्ण्य, पथ्य, पुष्टिकर, ओजोवर्द्धक, वयःस्थापक एवं त्रिदोषहर है।[4]

१. 'बलञ्च वीर्यं हरते नराणां रोगव्रजं कोपयतीव काये।
असौख्यकारं च सदैव हेमापक्वं सदोषं मरणं करोति'॥
(र० र० स० ५।१९)

२. 'समारभ्याष्टमाद् भागाद् रक्तिकाया भिषग्वरः।
योजयेत्तुर्यभागान्तं मृतं स्वर्णं तु कालवित्'॥ (र० त० १५।८१)

३. सुवर्ण बृंहणं स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः।
विषदोषहरं शीतं सकषायं सतिक्तकम्'॥ (आ० क० क्रि० २।४६)

४. (क) 'हृद्यं कान्तिप्रदं वल्यं स्रंसनं गुरु लेखनम्।
वुद्धिमेधास्मृतिकरं व्रणघ्नं वाग्विशुद्धिदम्'॥ (आ० क० क्रि० २।४)

(ख) 'मृतं सुवर्णं मधुरञ्च वृष्यं हृद्यञ्च नेत्र्यं परमञ्च मेध्यम्।
रसायनं पुंसवनोपयोगि विषापहं कान्तिकरञ्च शस्तम्'॥
(र० त० १५।६९)

(ग) 'स्वर्णं स्निग्धं मधुरमधुरं वृष्यमायुस्यमग्र्यं
वर्ण्यं वल्यं विषज्वरहरं त्वन्त्रशोषक्षयघ्नम्॥

सुवर्ण आयु, लक्ष्मी, कान्ति, बुद्धि और स्मरणशक्ति को बढ़ाने वाला, शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों को नष्ट करने वाला, पवित्र, भूतबाधा को नष्ट करने वाला, और कामेच्छा के आनन्द को बढ़ाने वाला, सौख्य और पुष्टि प्रदान करने वाला होता है। यह तारुण्य (यौवन) को बढ़ाने वाला, प्रमेह को दूर करने वाला, क्षीण व्यक्ति को पुष्ट करने वाला, बुद्धि को विकसित करने वाला और वीर्य को बढ़ाने वाला होता है।[1]

स्वर्ण स्निग्ध, धारणाशक्ति को बढ़ाने वाला, विष के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करने वाला, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, यक्ष्मा तथा उन्माद को नष्ट करने वाला, शरीरगत रोगों का उन्मूलन करने वाला, धारणा, ग्रहण और स्मरणशक्ति को बढ़ाने वाला, तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों को नष्ट करने वाला, रुचि एवं जठराग्नि को बढ़ाने वाला एवं रोगों का प्रशमन करने वाला होता है। यह विपाक में मधुर होता है।[2]

यह हृद्य, सौम्य, रसायन, वाजीकरण, चक्षुष्य, योगवाही, ओजोवर्द्धक, व्रणघ्न एवं सन्ततिप्रद है। यह क्षय (राजयक्ष्मा), श्वास, कास, अरुचि, अग्निमान्द्य, पाण्डु, एवं दुष्टग्रह का नाश करता है। यह भावी रोगों को रोकता है। स्थावर, जांगम तथा गर इन तीनों विषों के प्रभाव को नष्ट करता है।[3]

स्वर्णभस्म का अनुपान—मधु से, मरिचचूर्ण एवं घृत से, त्रिकटुचूर्ण एवं घृत से तथा विविध औषधि योगों के साथ।[4]

स्वर्णभस्म के अनुपान—१. मत्स्य पित्त के साथ स्वर्ण भस्म लेने से तत्काल दाह का नाश करने वाला, २. भृंगराज स्वरस से सेवन करने पर वृष्यगुण वाला, ३. दुग्ध

रुच्यं पुण्यं पवनशमनं दीपनञ्चातिकेश्यं
हन्यादेतन्नियतमचिरादेव रोगानशेषान्'॥ (र० त० १५।७०)

१. 'आयुर्लक्ष्मीप्रभाधीस्मृतिकरमखिलव्याधिघ्वंसि पुण्यं
भूतावेशप्रशान्तिस्मरभरसुखदं सौख्यं पुष्टिप्रकाशि।
गाङ्गेयं चाथ रूप्यं गदहरमजराकारि मेहापहारी
क्षीणानां पुष्टिकारि स्फुटमतिकरणं वीर्यवृद्धिप्रकारि'॥
(र० र० स० ५।९)

२. 'स्निग्धं मेध्यं विषगरहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यं
यक्षोन्मादप्रशमनपरं देहरोगप्रमाथि।
मेधाबुद्धिस्मृतिसुखकरं सर्वदोषामयघ्नं
रुच्यं दीप्तिप्रशमितरुजं स्वादुपाकं सुवर्णम्'॥ (र० र० स० ५।१०)

३. 'लीढं हन्ति नृणां क्षयाग्निसदनं श्वासं सकासारुचिं
ओजो धातुविवर्धनं बलकरं पाण्ड्वामयघ्वंसनम्॥
वृष्यं सर्वविषापहं गरहरं दुष्टग्रहण्यादिनुत्'। (र० चू० १४।२३)
(र० चू० १४।२२)

४. 'एतद्भस्म सुवर्णजं कटु घृतोपेतम्'।

Scanned with CamScanner

से सेवन करने पर बलप्रद, ४. पुनर्नवा के साथ लेने से नेत्र्य, ५. घृत से लेने पर रसायन, ६. बचा के साथ लेने से स्मृतिवर्द्धक, ७. कुंकुम के साथ लेने से कान्तिवर्द्धक, ८. दूध से लेने पर राजयक्ष्मा तथा विषनाशक तथा ९. शुण्ठी लवंग एवं मरिच से लेने पर त्रिदोष तथा उन्माद का नाश करने वाला होता है।[1]

स्वर्णभस्म सेवन काल में अपथ्य—स्वर्णभस्म सेवन काल में एकमात्र विल्व फल अपथ्य है।[2]

शुद्ध स्वर्ण का विविध रूपों में प्रयोग—स्वर्ण को घिसकर, वर्क बनाकर तथा स्वर्ण लवण के रूप में भी प्रयोग किया जाता है।[3]

घृष्ट स्वर्ण का गुण—शुद्ध स्वर्ण को घिसकर सेवन करने से शरीरगत अनेक प्रकार के विष-प्रभाव नष्ट हो जाते हैं। यह रस में मधुर, वीर्य में शीत, नेत्रों के लिए लाभदायक तथा गर्भाशय की गर्भधारण शक्ति को बढ़ाने वाला है। पैत्तिक रोगों का नाश करने वाला तथा हृदय की दुर्बलता को दूर करने में सर्वोत्तम औषधि है। स्वर्ण को अन्य औषधियों के साथ मिलाकर प्रयोग करने पर यह अनेक प्रकार के गुणों को देने वाला होता है।[4]

सुवर्ण मण्डल (वर्क) एवं उसके गुण—स्वर्ण वर्क को सुवर्णमण्डल, स्वर्णपत्रक, सुवर्णपटल और स्वर्णदल—इन नामों से सम्बोधित किया जाता है।[5]

स्वर्णमण्डल आयुष्य (जीवनवर्धक या आयुर्वर्धक), अग्निमान्द्यहर, आक्षेपनाशक, नेत्र्य तथा उत्तम वीर्यवर्धक होता है। यह अम्लपित्त नाशक एवं हृद्य (हृदय के लिए बल्य) है। इसका विपाक मधुर तथा वीर्य शीत होता है। इसके अतिरिक्त

१. 'मत्स्यपित्तस्य योगेन स्वर्णं तत्कालदाहजित्।
भृङ्गयोगाच्च तद्वृष्यं दुग्धयोगाद् बलप्रदम्॥
पुनर्नवायुतं नेत्र्यं घृतं योगे रसायनम्।
स्मृत्यादिकृद्वचायोगात् कान्तिकृत्कुङ्कुमेन च॥
पयसा राजयक्ष्मघ्नं निर्विष्या च विषं हरेत्।
शुण्ठीलवङ्गमरिचैस्त्रिदोषोन्मादनाशकृत्' ॥ (र० ज० नि०)

२. 'विना विल्वफलं चात्र सर्वमन्यत् प्रशस्यते'। (र० चू० १४।२५)

३. 'विशोधितं सुवर्णन्तु रसतन्त्रविचक्षणः।
घृष्ट्वा च मण्डलीकृत्य तत्र तत्र प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १५।२७)

४. 'विशुद्धं कनकं घृष्टं विषबोधविनाशनम्।
मधुरं शीतलं नेत्र्यं गर्भस्थापनमुत्तमम्॥
पित्तामयप्रशमनं हृद्दौर्बल्यहरं परम्।
अन्यभेषजसाहाय्यात् करोति विविधान् गुणान्' ॥ (र० त० १५।२८-२९)

५. 'सुवर्णमण्डलं स्वर्णमण्डलं स्वर्णपत्रकम्।
सुवर्णपटलं स्वर्णदश्चापि प्रकीर्तितम्' ॥ (र० त० १५।३०)

यह हिचकी, आनाह, विषविकार, कफज व्याधि, राजयक्ष्मा, शूल तथा व्रण का नाश करता है।[1]

शर्करा के साथ स्वर्ण के वर्क का मर्दन कर भिन्न-भिन्न रोगनाशक औषधियों के साथ प्रयोग करने से उन-उन रोगों को नष्ट करता है।[2]

स्वर्णलवण की निर्माण-विधि—शुद्ध स्वर्ण चूर्ण ३ भाग लेकर एक मजबूत काँच के प्याले में रखें और प्याले को त्रिपादिका पर रखकर नीचे से स्प्रिट लैम्प से मन्द-मन्द अग्नि दें तथा पात्र में १ भाग लवणद्राव (Hydrochloric acid) में ½ भाग शोरकद्राव (Nitric acid) को मिश्रित करके थोड़ा-थोड़ा करके डालते जायें। इस प्रकार दोनों द्रावों का मिश्रण डालने से पात्र स्थित स्वर्ण शीघ्र ही घुल जायेगा। पूरी तरह स्वर्ण के घुल जाने पर उसमें १० भाग सैंधव लवण चूर्ण डालकर जलीयांश सूखने तक पकायें तो नारंगी के वर्ण का लाल-पीला स्वर्णलवण प्राप्त होगा। इस प्रकार प्राप्त स्वर्णलवण (Gold chloride) को सावधानीपूर्वक काँच की शीशी में रख लें। इसका आवश्यकतानुसार जल में मिलाकर प्रयोग करें।[3]

स्वर्णलवण के गुण—यह वृष्य और त्रिदोषनाशक होता है। यह स्वाद में मधुर, कषाय एवं तिक्तरस युक्त तथा जल में घुलनशील है। इसके प्रयोग से स्त्रियों का रुका हुए मासिकस्राव आने लगता है। यह मधुमेह में लाभकर है। पुराने फिरंग रोग को नष्ट करता है तथा उससे प्रकुपित वात, भ्रम, मूर्च्छा, आक्षेप आदि लक्षण इसके प्रयोग से शान्त हो जाते हैं। यह अपस्मार, भयंकर श्वासरोग, नपुंसकता तथा उन्माद रोगों को नष्ट करता है।[4]

१. 'स्वर्णमण्डलमायुष्यं वह्निमान्द्यविनाशनम्।
आक्षेपशमनं नेत्र्यं वीर्यवृद्धिकरं परम्॥
अम्लपित्तापहं हृद्यं विपाके स्वादु शीतलम्।
हिक्कानाहविषश्लेष्मक्षयशूलव्रणापहम्' ॥ (र० त० १५।३१-३२)

२. 'स्वर्णपटलं सम्यक् सितया परिपेषितम्।
तत्तद्रोगघ्नभैषज्ययुतं तत्तद्गदापहम्' ॥ (र० त० १५।३३)

३. 'विशोधितं पावकभागमानं स्वर्णं तु सत्काचशरावसंस्थम्।
सुराप्रदीपे विनिधाय चाथ मन्दानलेनेह पचेद्रसज्ञः॥
शनैः शनैः सन्ततमल्पमल्पं तुर्यांशसोराम्लकमिश्रितन्तु।
क्षिपेद्विशुद्धं लवणाम्लमाराद्यावत्सुवर्णं द्रवतामुपैति॥
इतं सुवर्णन्तु विलोक्य शुद्धं दिग्भागिकं सिन्धुभवं क्षिपेच्च।
नारङ्गरङ्गन्तु जले विशुष्के सुवर्णपूर्वं लवणं हरेद्वै॥
ततः सुवर्णलवणं काचकूप्यां निधापयेत्।
अथ निर्दिष्टकार्येषु जलेसन्द्राव्य योजयेत्' ॥ (र० त० १५।३५-३८)

४. 'सुवर्णलवणं वृष्यं दोषत्रितयकोपजित्।
तुवरं स्वादु तिक्तञ्च सलिले च द्रवीभवेत्॥

Scanned with CamScanner

स्वर्णलवण की मात्रा—रोगी के बल एवं काल का विचार कर $\frac{1}{10}$ रत्ती (२·५ मि० ग्रा०) से $\frac{1}{2}$ रत्ती (६ मि० ग्रा०) तक देना चाहिए।[1]

स्वर्णलवण का प्रयोग—१ रत्ती स्वर्णलवण को $2\frac{1}{2}$ तोले शुद्ध जल में घोलकर शीशी में रख लें तथा निर्दिष्ट रोगों में १२ बूंद की मात्रा में रोगी को पिलावें।

इसे आसव, अरिष्ट, क्वाथ या शर्बत के साथ पिलाना चाहिए। रसौषधियों में इसका प्रयोग न करें।[2]

स्वर्ण-धारण से लाभ—स्वर्ण का धारण बृहस्पति ग्रह के दुष्प्रभाव को नष्ट करता है। यह मंगलकारक, श्री, यश, कीर्ति और आयुष्यकर है। इसे बुद्धि एवं विद्या को बढ़ाने वाला माना गया है। स्वर्ण के धारण से प्रज्ञा, वीर्य, उत्तम स्वर एवं ऐश्वर्य प्राप्त होता है।[3]

स्वर्ण भस्म के प्रमुख योग—१. कस्तूरीभैरव रस, २. काञ्चनाभ्र रस, ३. कृष्ण-चतुर्मुख रस, ४. मकरध्वज रस, ५. महामृगाङ्क रस, ६. जयमंगल रस, ७. पुटपक्व विषमज्वरान्तक रस, ८. योगेन्द्र रस, ९. वसन्तमालती रस, १०. श्वासकास चिन्तामणि, ११. बृहत् वातचिन्तामणि रस, १२. हेमगर्भपोट्टली तथा १३. स्वर्णपर्पटी आदि।

रजत
(Silver)

नाम—संस्कृत : रजत, रौप्य, तार आदि। हिन्दी : चाँदी। अंग्रेजी : Silver.
लेटिन नाम---Argentinum.
संकेत—Ag.
वि० गु०—१०·५, **परमाणु संख्या**—४७, **परमाणु भार**—१०७.८८
द्रवणांक—९६०.५° सें०, **क्वथनांक**—१९५५° सें०।
परमाणु-बन्धन क्षमता—११, **काठिन्य**—२·५ से ३ तक।

पुष्पावरोधं मधुमेहबाधां चिरन्तनञ्चापि फिरङ्गरोगम्।
अपस्मृतिं श्वासमथोग्रवेगं क्लैब्यं तथोन्मादमलं निहन्यात्' ॥
(र० त० १५।३९-४०)

१. 'खशरांशाद्रक्तिकाया विंशांशप्रमितं शुभम्।
युञ्जीत स्वर्णलवणं बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० १५।४१)
२. 'भुवर्णलवणं गुञ्जोन्मितं खलु समाहरेत्।
सार्द्धतोलकद्वयमिते जले सन्द्रावयेद्भिषक् ॥
तस्माज्जलाद्भिषग्वर्यो बिन्दून् भास्करसंख्यकान्।
तत्तन्निर्दिष्टरोगेषु विधानज्ञः प्रयोजयेत् ॥
भिषक् सुवर्णलवणं त्वासवादौ प्रयोजयेत्।
रसौषधेषु च प्राज्ञो न कदाचित् प्रयोजयेत्' ॥ (र० त० १५।४२-४४)
३. 'प्रज्ञावीर्यस्वरकरमैश्वर्यं धारणाद्भवेत्' । (आ० क० क्रि० २।४८)

घुलनशीलता—यह Nitric acid तथा Aquaregia में घुल जाता है। यह ताप एवं विद्युत् का उत्तम वाहक है।

पर्याय—रजत, रुचिर, रौप्य, तार, सौध, महाशुभ, शुभ्रक, चन्द्रलोह, चन्द्रहास, रूपक, दुर्वर्णक, तथा चन्द्रमा के सभी पर्याय।[1]

उत्पत्ति—१. त्रिपुरासुर वध के लिए क्रोध से खुले शिव के तीसरे नेत्र के अश्रु बिन्दु से रजत की उत्पत्ति हुई। (आ० प्र०)

२. भगवान् श्रीराम की खड़ाऊँ के स्पर्श से वंग कृत्रिम रजत में परिणत हो गया। यथा—

'श्रीरामपादुकान्यस्तं वङ्गं यद्रूप्यतां गतम्।
तत्पादरूप्यमित्युक्तं कृत्रिमं सर्वरोगनुत्' ॥ (र० र० स० ५।२५)

३. पौराणिक मान्यता के अनुसार चन्द्रमा के शुक्र से रजत की उत्पत्ति हुई है।

इतिहास—रजत का ज्ञान भारतीयों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख मिलता है। संहिताकाल में इसके पात्र, उपकरण तथा औषधि के रूप में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है। रसशास्त्र के विकास के क्रम में इसके भेद, शोधन, मारण आदि प्रक्रियाओं का विकास एवं उपयोग का विस्तार हुआ।

परिचय—यह भूरे-श्वेत (Grey-white) वर्ण की धातु है। स्वर्ण के पश्चात् यह दूसरी सब धातुओं से अत्यन्त नम्य (मृदु) और फैलने वाली (Malleable and ductile) धातु है। यह भी उच्च धातु (Noble metal) कहलाती है तथा व्यापारिक दृष्टि से कीमती है। इससे बहुत पतले तार और बहुत पतले चद्दर भी बनाये जाते हैं। इसका पत्तर १/१०००० ईंच की मोटाई का बन सकता है। गन्धकयुक्त जलवायु का चाँदी पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है और ऐसे जलवायु में यह काला पड़ जाता है। इसमें काठिन्य पैदा करने के लिए ताम्र मिलाया जाता है।

चाँदी की शुद्धता की परीक्षा—इसके लिए चाँदी पर एक बूंद शोरे का तेजाब डालकर देखते हैं। यदि बूंद वाली जगह पर गहरा-सा नीला हरा दाग पड़ जाय तो चाँदी में ताम्र मिला हुआ समझना चाहिए।

वातावरण का इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। लम्बे समय से इसका उपयोग सिक्कों आभूषण एवं पात्र के रूप में होता रहा है। वर्त्तमान में आभूषण बनाने, वर्क बनाने, इलेक्ट्रोप्लेटिंग करने, फोटोग्राफी तथा सिल्वर नाइट्रेट बनाने के काम में लिया जाता है।

प्राप्ति-स्रोत—यह स्वतन्त्र (Native) एवं खनिज (यौगिक) (Combination with many other elements) के रूप में प्राप्त होता है।

१. 'रजतं रुचिरं रौप्यं तारं सौधञ्च शुभ्रकम्।
चन्द्रलोहं चन्द्रहासं रूपकं चन्द्रसंज्ञकम्' ॥ (र० त० १६।१)

Scanned with CamScanner

(१) मुक्त रजत (Native silver)—Ag. 100%

(२) खनिज-यौगिक रजत—

1. Argentite (AgS; Ag. 87.1%)
2. Cerargyrite (Ag Cl; Ag. 75.3%)
3. Polybasite (Ag_{16} Sb_2 S_{11}; Ag 75.6%)
4. Proustite (Ag_3 As S_3; Ag 65.4%)
5. Pyrargyrite (Ag_3 SbS_3; Ag 59.9%)
6. Tellurides.
7. Argentiferous tetrahedrite (Ag Pb CuS)
8. Stromeyarite.
9. Stephanite (Ag_5 Sb S_4)
10. Pearcite.

यह मुख्यरूप से नाग (Lead), यशद (Zinc) एवं ताम्र (Copper) के साथ अल्पांश में प्राप्त होता है।

प्राप्ति-स्थान—रजत का सबसे बड़ा उत्पादक देश मैक्सिको है। इसके अतिरिक्त कनाडा, पेरु, रूस (Russia), आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, जापान, बोलीविया, जर्मनी, स्वीडन तथा अन्य अनेक देशों में भी प्राप्त होता है। भारत में यह Argentiferous lead zinc ore के साथ जावर (राजस्थान), दुर्ग, होशंगाबाद, कांगड़ा आदि स्थानों से प्राप्त होता है। स्वर्ण के खनिज के साथ किञ्चित् मात्रा में कोलार (कर्णाटक) क्षेत्र से भी प्राप्त होता है।

रजत के भेद[1]—रसग्रन्थों में इसके ३ भेद किये गये हैं—

१. सहज (Native silver) : सर्वश्रेष्ठ।
२. खनिज (Ore silver) : श्रेष्ठतर।
३. कृत्रिम (रसविद्ध रजत) : श्रेष्ठ।

इनमें कृत्रिम से खनिज तथा खनिज से सहज श्रेष्ठ होता है।

इनमें सहज रौप्य की उत्पत्ति कैलाश पर्वत पर, खनिज की हिमालय पर्वत पर तथा कृत्रिम रसवेध से नागवंग एवं यशद आदि द्वारा।[2]

सहज रजत स्पर्शमात्र से रोगनाशक किन्तु दुर्लभ; तथा खनिज रजत रसायन गुण वाला होता है।

---

१. 'सहजं खनिजसञ्जातं कृत्रिमं त्रिविधं मतम्।
रजतं पूर्वपूर्वं हि स्वगुणैरुत्तरोत्तरम्' ॥ (र० र० स० ५।२२)

२. (क) 'कैलासाद्यद्रिसम्भूतं सहजं रजतं भवेत्।
हिमालयाद्रिकूटेषु यद्रूप्यं जायते हि तत्।
खनिजं कथ्यते तज्ज्ञैः ··· ··· ···· ···' ॥ (र० र० स० ५।२३-२४)
(ख) 'भवति कृत्रिमश्चापि वङ्गादेः सूतयोगतः'।

ग्राह्य रजत—कठिन, स्वच्छ, भारी, स्निग्ध, गर्म करने या काटने पर मृदु एवं श्वेत, चन्द्रमा के समान स्वच्छ वर्ण वाला, शंख की आभावाला, चिकना, स्फोटरहित रजत शुभ (उत्तम) माना जाता है।[1]

अग्राह्य रजत—जो चाँदी तपाने पर लाल, काली अथवा पीली होती है; जो रूक्ष, छिद्रयुक्त, वजन में हलकी, मोटे अंगवाली और खुरदरी होती हो तो इन आठ गुणों में से किसी भी गुण से युक्त होने पर उसे त्याज्य समझना चाहिए।[2]

रजत के शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध अथवा अमारित रजत आयु, शुक्र और बल का नाश करता है और शरीर में संताप, मलावरोध आदि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। अतः रजत का शास्त्रोक्त विधि से शोधन और मारण करना चाहिए।[3] अशुद्ध रजत शरीर में ताप, भयंकर मलबन्ध, सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा एवं शिथिलता उत्पन्न करता है।[4]

रजत का शोधन—

सामान्य शोधन—लोहों की सामान्य शुद्धि की तरह रजत का कंटकवेधी पत्र बनाकर तैल, तक्र, गोमूत्र, काञ्जी एवं कुलत्थ क्वाथ में क्रमशः ७-७ बार प्रतप्त कर बुझा लेने से रजत शुद्ध हो जाता है।

विशेष शोधन—

१. रजत का कंटकवेधी पत्र बनाकर रक्त प्रतप्त कर अगस्त पत्र स्वरस में ३ बार बुझा लेने से रजत शुद्ध हो जाता है।[5]

---

१. (क) घनं स्वच्छं गुरु स्निग्धं दाहे छेदे सितं मृदु।
वर्णाढ्यं चन्द्रवत्स्वच्छं दाहे छेदे समप्रभम्॥
शङ्खाभं मसृणं स्फोटरहितं रजतं शुभम्'। (आ० क० क्रि० ३।७)
(ख) 'छेदे निकषफलके दहने प्रकामं रम्यञ्च शारदकलाधरमण्डलाभम्।
नाराचिकाधृतमलं गुरुतामुपेयात् स्निग्धं तदेव कथितं रजतन्तु जात्यम्' ॥
(र० त० १६।२)

२. 'दाहे रक्तं च पीतं च कृष्णं रूक्षं स्फुटं लघु। -8 दोष
स्थूलाङ्गं कर्कशाङ्गं च रजतं त्याज्यमष्टधा' ॥ (र० र० स० ५।२७)

३. 'आयुः शुक्रं बलं हन्ति तापविड्बन्धरोगकृत्।
अशुद्धं न मृतं तारं शुद्धं मार्यमतो बुधैः' ॥ (र० र० स० ५।३०)

४. 'तारं विवर्धयति सर्गजगात्रतापं वीर्यं विनाशयति हन्ति शरीरपुष्टिम्।
विड्बन्धनं रचयतीह तथाङ्गसादं ईषन्मृतं त्वपि मृतं यदि शुद्धिहीनम्' ॥
(र० त० १६।५)

५. 'पत्रीकृतं तु रजतं ज्वलने प्रतप्तं निर्वापयेन्मुनितरोः स्वरसे त्रिवारम्।
इत्थं विशुद्धममलं खलु चन्द्रलोहं संयोजयेन्मृतिविधौ भिषजां वरेण्यः' ॥
(र० त० १६।६)

Scanned with CamScanner

२. रक्त प्रतप्त कंटकवेधी रजत पत्र को खूब मृदु (मुलायम) होने तक (अनेक बार) नीबू स्वरस में अथवा चांगेरी स्वरस में बुझा लेने से रजत शुद्ध हो जाता है।[1]

३. चाँदी को मूषा में तेज आँच पर गलाकर उसमें समान भाग सीसा (Lead) और टंकण (Borax) को डालकर अच्छी प्रकार धमन करें। पश्चात् ज्योतिष्मती (मालकांगनी) के तेल में ३ बार बुझा दें। इससे चाँदी शुद्ध हो जाती है।[2] इस विधि में अच्छी प्रकार धमन करने से नाग चाँदी की अशुद्धि को लेकर लाल रंग के भस्म में परिणत होकर निकल जाता है और शुद्ध चाँदी मूषा में शेष रह जाती है। इसी द्रवित चाँदी को ज्योतिष्मती के तैल में बुझाया जाता है।

रजतमारण—१. प्रथम रजत का कंटकवेधी पत्र बना लें। रजत के समान भाग पारद गन्धक की समगुण कज्जली ले लें। कज्जली को कुमारी स्वरस से घोंटकर लेप बना लें। अब रजत पत्र पर इस कज्जली को लेपकर सुखा लें। शरावसम्पुट में बन्द कर इसे २० उपलों की अग्नि में फूंक दें। इस विधि से २ पुट में ही रजत का मारण हो जाता है।[3]

२. स्वर्णमाक्षिक (तथा उसके समान भाग शुद्ध गन्धक) के चूर्ण में अर्क दुग्ध मिला कर चाँदी के पत्रों पर लेपकर सुखा लें। शरावसम्पुट में इसे बन्दकर लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार तीन पुट देने से चाँदी का भस्म बन जाता है।[4]

३. शुद्ध चाँदी के पत्र या चूर्ण को शुद्ध पारद के साथ पिष्टी बना लें। इस पारद की पिष्टी में पारद के समान भाग गन्धक व हरताल डालकर अच्छी प्रकार घोंटे। इसे कपड़मिट्टी की हुई काँचकूपी में भरकर वालुकायन्त्र विधि से पाक करें। कूपी के कण्ठ में ताल्सिन्दूर तथा तल में रजत भस्म प्राप्त होगा। इस रजत भस्म में पुनः

---

१. 'पत्तलीकृतपत्राणि राजतानि भिषग्वरः।
वह्नौ प्रतापयेत्कामं वङ्गनालप्रदीपिते॥
ततो निम्बूकजद्रावे चाङ्गेरीस्वरसेऽपि वा।
स्नपयेत्तप्ततप्तानि भूयो भूयः प्रयत्नतः॥
यावद्राजतपत्राणि मार्दवं यान्ति निर्भरम्।
वीतशङ्कस्ततो वैद्यो मारणाय प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १६।१०-१२)

२. 'नागेन टङ्कणेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति।
तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे'॥ (र० र० स० ५।३१)

३. 'सूतगन्धकयोस्तारतुल्ययोः कज्जलीं भिषक्।
द्रवीकृत्य कुमार्यद्भिस्तारपत्राणि लेपयेत्॥
शरावसम्पुटे रुद्ध्वा विंशदुत्पलकैः पचेत्।
द्विवारं रजतस्याशु भस्म स्यात् प्रायशः सितम्'॥ (आ० प्र० ३।१०७-८)

४. 'भाव्यं तार्प्यं स्नुहीक्षीरैस्तारपत्राणि लेपयेत्।
मार्य्येत्पुटयोगेन निश्चितं जायते ध्रुवम्'॥ (र० र० स० ५।३७)

समान भाग गन्धक व हरताल मिला नींबू के स्वरस से मर्दन कर टिकिया बना, सुखा, सम्पुट में बन्द कर ७ लघु पुट की अग्नि दे देने से रजत का उत्तम भस्म बन जाता है।

४. शुद्ध स्वर्ण माक्षिक को बिजौरा नींबू के रस से घोंटकर उस पिष्टि का चाँदी के पत्रों पर लेप करे। अब इन पत्रों को शरावसम्पुट में बन्दकर ३० बार पुट देने से रजत का उत्तम भस्म बन जाता है।[1]

रजत भस्म कृष्ण वर्ण का होता है।[2]

रजत भस्म के गुण—रजत भस्म रस में कषाय और अम्ल, वीर्य में शीत, विपाक में मधुर तथा गुण में स्निग्ध, गुरु और सर है।

दोषों में यह वात एवं कफ दोष का शमन करने वाला, जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला तथा बल, आयु और मेधा को बढ़ाने वाला होता है। संक्षेप में—रौप्य शीतल, कषाय, अम्ल, स्निग्ध, वातनाशक, लघु तथा रसायन विधानपूर्वक सेवन करने से यह सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला होता है।[3]

अच्छी प्रकार से मारित रजत भस्म उत्तम लेखन कर्म करने वाला, वृष्य, वर्ण-वर्द्धक एवं शीतवीर्य होने से पित्त एवं दाह शामक होता है। मस्तिष्क का पोषण कर स्मरणशक्ति बढ़ाता है और शरीर में ओज की पुष्टि कर कान्ति को बढ़ाता है। इसके सेवन से तृष्णा, मुखशोष, शिरोविकार एवं भ्रम में विशेष लाभ होता है। यह उत्तम गर्भाशयशोधक है। यह पैत्तिक रोग तथा प्रमेहनाशक है। यह मदात्यय जन्य विकार, अग्निमान्द्य, शरीरगत विविध विष विकार, जीर्णज्वर, प्लीहोदर क्षय, नाड़ीशूल, अपस्मारनाशक, हृद्य एवं उदररोगनाशक है।[4]

---

१. 'माक्षीकचूर्णलुङ्गाम्लमर्दितं पुटितं शनैः।
त्रिंशद्वारेण तत्तारं भस्मताज्जायतेतराम्'॥ (र० र० स० ५।३६)

२. 'कृष्णत्वं तारताम्रयोः'। (योगरत्नाकर)

३. 'रूप्यं विपाकमधुरं तुवराम्लसारं
शीतं सरं परमलेखनकं रूप्यम्।
स्निग्धं च वातकफजिज्जठाग्निदीपि
वल्यं परं स्थिरवयस्करणञ्च मेध्यम्॥
रौप्यं शीतं कषायाम्लं स्निग्धं वातहरं लघु।
रसायनविधानेन सर्वरोगापहारकम्'॥ (र० र० स० ५।२८-२९)

४. 'तारं मृतं सुशिशिरं तुवरञ्च रुच्यं।
स्निग्धं विपाकमधुरं परमञ्च मेध्यम्॥
वर्ण्यं परं पवनहारि कफप्रणाशि।
त्वम्लं सरं परमलेखनकञ्च वृष्यम्॥
सुमृतं चन्द्रलोहन्तु वयःस्थापनमुत्तम्।
वल्यं परं दाहहरं स्मृतिकान्तिविवर्द्धनम्॥

Scanned with CamScanner

रजत भस्म का विशिष्ट गुण—रजत भस्म कोष्ठगत वायु की वृद्धि को शान्त करता है, रस-रक्तादि धातुओं में संचित पित्त तथा जत्रु से ऊपर के भाग—गला, कण्ठ, नासिका, मुख आदि भाग में प्रकुपित कफ को शान्त करता है। क्षीण बुद्धि, स्मृति तथा साहसहीन व्यक्ति के लिए एवं सिर में चक्कर आने से दुःखी मनुष्यों के लिए यह उत्तम औषधि है। निरन्तर अध्ययन-अध्यापन कार्य करने वाले युवा पुरुषों तथा बालकों के लिए रजत भस्म अत्यन्त उपयोगी औषधि है।[1]

रजत भस्म की मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक रोगी के बल एवं काल आदि का विचार कर प्रयोग करें।[2]

रजत भस्म में अनुपान—शहद, घृत, मलाई आदि।

रजत दल (चांदी का वर्क)—इसे रजत दल अथवा बोलचाल की भाषा में चाँदी के वर्क के नाम से सूचित करते हैं। यह शीतवीर्य, रस में कषाय और अम्ल-रस युक्त सर गुण वाला, विपाक में मधुर, बलवर्द्धक, स्निग्ध, रुचिकारक, लेखन, शुक्रमेह नाशक, आयुष्य, वयःस्थापक, वृष्य, मेधावर्द्धक तथा विशेषतः वातपित्त शामक होता है।[3]

रजत धारण से लाभ—रजत चन्द्र ग्रह का प्रतिनिधि धातु है, अतः इसके धारण से चन्द्र ग्रह के दुष्प्रभाव नष्ट हो जाते हैं।

तृष्णाशोषप्रशमनं परमञ्च रसायनम्।
भ्रमहारि विशेषेण गर्भाशयविशोधनम्॥
पित्तामयप्रशमनं प्रमेहाद्यामयापहम्।
आयुष्यञ्च विशेषेण विष्टब्धाजीर्णनाशनम्॥
मदात्ययात्ययकरं वह्निमान्द्यप्रणाशनम्।
विषघ्नं ज्वरहृच्चैव (प्लीहोदरविनाशनम्॥)
क्षयक्षयकरं नाडीशूलापस्मृतिनुत् परम्।
हृद्यं खलु विशेषेण जाठरामयनाशनम्' ॥ (र० त० १६।४६-५१)

१. 'मृतन्तु तारं शमयेन्नितान्तं प्रकोष्ठगं वातमतिप्रवृद्धम्।
शाखाश्रयं पित्तमलं विवृद्धं जत्रूर्ध्वसंस्थञ्च कफं मलाख्यम्॥
प्रक्षीणबुद्धिस्मृतिमाहसानां शिरोभ्रमेणातिविमोहितानाम्।
अध्यापनादौ सुचिरं रतानां यूनां शिशूनाञ्च परं प्रशस्तम्' ॥ (र० त० १६।५२-५३)

२. 'रक्तिकायास्तुरीयांशाद्रक्तिकैकमितं परम्।
मृतं तारं नियुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० १६।५४)

३. 'चन्द्रलोहदलं शीतं तुवराम्लरसं सरम्।
त्रिपाकमधुरं बल्यं स्निग्धं रुच्यञ्च लेखनम्॥
शुक्रमेहघ्नमायुष्यं वयःस्थापनमुत्तमम्।
वृष्यं मेध्यं विशेषेण वातपित्तप्रणाशनम्' ॥ (र० त० १६।१४-१५)

रजत के प्रमुख योग—१. वृहत् कस्तूरीभैरवरस, २. ग्रहणीकपाट रस, ३. जय-मंगल रस, ४. महामृगांक रस, ५. मकरध्वज वटी, ६. जवाहरमोहरा वटी, ७. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, ८. विषमज्वरान्तक लौह, ९. सर्वज्वरहर लौह तथा १०. सोमनाथ रस।

रासायनिक विश्लेषण—रजत भस्म के रासायनिक विश्लेषण से इसमें निम्न पदार्थ पाये जाते हैं—

Silver as Ag	52·59 to 59·39% w/w
Free Sulphur	0·675% w/w
Iron as Fe_2O_3	14·33% w/w
Calcium as Ca	10·769% w/w
Silver chloride	·479% w/w
Aluminium	Trace
Acid insoluble	19·900% w/w
Ash value	89·941 to 99·940% w/w

ताम्र
(Copper)

नाम—संस्कृत : ताम्र। हिन्दी : ताम्बा। अंग्रेजी : Copper. लेटिन : Cuprum.
संकेत—Cu. । **वि० गु०**—८·९५ से ९। **काठिन्य**—२·५ से ३।
परमाणुबन्धन क्षमता—२। **परमाणु संख्या**—२९। **परमाणु भार**—६३·५४।
द्रवणांक—१०८४° सें०। **क्वथनांक**—२३१०° सें०।

पर्याय—ताम्र, शुल्व, रक्तक, म्लेच्छ वक्त्र, नेपालीय, त्र्यम्बक, सूर्यलोह, त्वाष्ट्र, अर्क, भानुलोह, रविलोह, उष्णांशु, सहस्रांशु, द्विष्ट, द्वचष्ट, अम्बक, उदुम्बर, अरविन्द, सूर्याङ्ग, लोहितायस, रविप्रिय, भास्कर तथा ताम्रक—ये सभी ताम्र के पर्याय हैं।[1] सूर्य के सभी पर्याय भी ताम्र के लिए व्यवहृत होते हैं।

उत्पत्ति—१. पौराणिक मान्यता के आधार पर कार्तिकेय का शुक्र पृथ्वी पर गिरा और वह ताम्र हो गया।[2]

२. रसकामधेनु के अनुसार शुल्व (ताम्र) की उत्पत्ति सूर्य से हुई है।

इतिहास—ताम्र का परिचय भारतीयों को अति प्राचीन काल से है। वेदों में ताम्र का उल्लेख मिलता है। चरक के काल में ताम्र-विष के प्रभाव का ज्ञान था।

१. 'ताम्रं शुल्वं रक्तकं म्लेच्छवक्त्रं नेपालीयं त्र्यम्बकं सूर्यलोहम्।
त्वाष्ट्रं त्वर्कं सूर्यपर्यायसंज्ञं द्विष्टं द्वचष्टं त्वेम्बकं कीर्तितं तत्॥
उदुम्बरश्चारविन्दं सूर्याङ्गं लोहितायसम्।
रविप्रियं भास्करं च ताम्रकं च प्रकीर्तितम्' ॥ (र० त० १७।१-२)

२. 'शुक्रं यत् कार्त्तिकेयस्य पतितं धरणीतले।
तस्मात्ताम्रं समुत्पन्नमिदमाहुः पुराविदः' ॥

Scanned with CamScanner

पात्र, सिक्के एवं अन्य उपकरण आदि के रूप में इसका उपयोग प्राचीन काल से होता रहा है। इस समय भी यह पात्र, सिक्के, विद्युत् उत्पाद, तार खींचने, पित्तल-निर्माण, कांस्य-निर्माण आदि कार्यों में प्रयुक्त होता है।

ताम्र परिचय—यह चमकीली रक्तवर्ण की धातु है। ठोंक-पीटकर इसके बहुत पतले चद्दर बनाये जा सकते हैं तथा इससे बहुत पतली तार भी बनाई जा सकती है। ताप और विद्युत् की चालकता में चाँदी के बाद इसी धातु का स्थान आता है। विद्युत्-वाहक तार के लिए शुद्ध ताम्र का उपयोग किया जाता है। वातावरण के जलवाष्प तथा कार्बनडाइआक्साइड की ताम्र पर बहुत ही शीघ्रता से प्रतिक्रिया होती है, जिससे इसकी सतह हरापन लिये काली पड़ जाती है। ताम्र का Basic carbonate बन जाता है, जो अम्ल द्रव्यों से रगड़ने पर निकल जाता है। ताम्र को खुली हवा में गर्म करने पर इसकी सतह पर काले से लाल रंग का आवरण चढ़ जाता है जो ताम्र और ऑक्सीजन का यौगिक होता है। शुद्ध ताम्र पर वानस्पतिक अम्ल की कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, किन्तु इसके आक्सीडाइज्ड आवरण शीघ्रता से उसमें घुल जाते हैं। सान्द्र गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) में ताम्र को घुलाने से यह तूतिया में बदल जाता है। ताम्र अथवा ताम्र के यौगिकों को निर्धूम अग्नि पर गर्म करने से सुन्दर नीले और हरे वर्ण की ज्वाला उत्पन्न होती है। इसके द्वारा ताम्र-युक्त द्रव्य की पहचान की जाती है।

यह पानी से ९ गुना भारी तथा ताप एवं विद्युत् का उत्तम वाहक होता है। यह नाइट्रिक एसिड में पूर्णतया घुल जाता है तथा नीला-हरा रंग छोड़ता है। यह सल्फ्युरिक एसिड द्वारा मृत हो जाता है।

प्राप्ति-स्रोत—यह प्रकृति में मुक्त (Native) रूप में तथा खनिज के रूप में प्राप्त होता है। मुक्त ताम्र (Native copper) बहुत ही कम मात्रा में अमेरिका तथा साइबेरिया आदि स्थानों में पाया जाता है। विशेषकर यह खनिजों से ही प्राप्त किया जाता है। इसके खनिज सल्फाइड ऑक्साइड और कार्बोनेट्स के रूप में मिलते हैं। इसमें सर्वाधिक मात्रा में इसके गन्धक युक्त (Sulphide) यौगिक खनिज ही हैं। मुक्त ताम्र (Native copper) वैसे लगभग शुद्ध होता है किन्तु कई बार इसमें अल्प मात्रा में रजत, सोमल, बिस्मथ और एण्टीमनी पाया जाता है।

ताम्र के मुख्य खनिज हैं—Copper glance या Chalcocite Cu_2S, स्वर्ण-माक्षिक (Copper pyrite or Chalco pyrite) मेलेकाइट $CuCo_3\ Cu(OH)_2$, एजूराइट (Azurite) $2CuCo_3Cu(OH)_2$ तथा क्यूप्राइट (Cuprite) Cu_2O आदि।

प्राणिज स्रोतों में प्राणियों के यकृत्, भूनाग (Earth worm), मयूरपिच्छ, वीरबहूटी आदि में भी ताम्र पाया जाता है। भूनाग, मयूरपिच्छ आदि का सत्त्वपातन करने से ताम्र की प्राप्ति होती है। वानस्पतिक स्रोतों में त्रिफला आदि द्रव्यों में ताम्र पाया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—विदेशों में अमेरिका, चीली, पेरू, साइप्रस, अफ्रीका, जापान, आस्ट्रेलिया, उत्तरी रोडेशिया, कनाडा, कांगो तथा रूस आदि देशों में प्रचुर मात्रा में ताम्र पाया जाता है। भारत में यह बिहार के सिंहभूमि (घाटशिला) एवं हजारीबाग जिले तथा राजस्थान के खेतरी कॉपर माइन्स में प्रमुख रूप से पाया जाता है।

ताम्र के भेद—रस-ग्रन्थों में ताम्र के मुख्य दो भेद मिलते हैं—

१. वर्ण के आधार पर—१. रक्तवर्ण तथा २. कृष्णवर्ण। (रसार्णव)

इसमें रक्तवर्ण को श्रेष्ठ तथा कृष्णवर्ण को हेय कहा गया है।

२. प्राप्ति के आधार पर—१. नैपाली या नेपालक ताम्र तथा २. म्लेच्छ ताम्र। इनमें नैपाली (नेपाल से प्राप्त होने वाला) ताम्र श्रेष्ठ एवं म्लेच्छ ताम्र (यवन देश से प्राप्त होने वाला) हेय होता है।[1]

ग्राह्य ताम्र (नैपाली ताम्र)—जो ताम्र स्निग्ध, मुलायम, लालवर्ण का, हथौड़े के आघात से न टूटने अथवा विदीर्ण होने वाला, भारी और धोने पर काला न पड़ने वाला हो, वह ताम्र नैपालक ताम्र होता है। यह गुणों में श्रेष्ठ होता है और यही ताम्र ग्राह्य है।[2]

अग्राह्य ताम्र (म्लेच्छ ताम्र)—जिस ताम्र की चमक सफेद, काली और लाल हो, जिसमें कोई खाद्य पदार्थ कुछ समय तक रखकर खाने पर वमन कराता हो, अत्यन्त कठोर हो, धोकर साफ करने के कुछ देर बाद ही पुनः काला पड़ जाता हो, उसे म्लेच्छ ताम्र कहते हैं। यह ताम्र अग्राह्य माना जाता है।[3]

सफेद-सा काले-लाल वर्ण का, भार में हलका, हथौड़े के आघात से टूटने वाला, खुरदरा, पत्रों से युक्त ताम्र को रसकर्म के लिए त्याज्य माना जाता है।[4]

ताम्र के आठ विषदोष—भ्रम, मूर्च्छा, विदाह, स्वेद, क्लेद, वान्ति, अरुचि और चित्तसन्ताप—ये ताम्र में विष के समान आठ विषदोष हैं। कहा भी गया है कि ताम्र के समान दूसरा विष नहीं है। विष में एक ही दोष होता है जो खा लेने पर व्यक्ति को मार डालता है। जब कि ताम्र में एक साथ विष के समान आठ-आठ विष दोष होते हैं।[5]

---

१. 'म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालकं वरम्।
नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते'॥ (र० र० स० ५।४२)

२. 'सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनाघातक्षमं गुरु।
निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते'॥ (र० र० स० ५।४४)

३. 'सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम्।
क्षालितं च पुनः कृष्णमेतन्म्लेच्छकताम्रकम्'॥ (र० र० स० ५।४३)

४. 'पाण्डुरं कृष्णशोणं च लघु स्फुटनसंयुतम्।
रूक्षाङ्गं सदलं ताम्रं नेष्यते रसकर्मणि'॥ (र० र० स० ५।४५)

५. 'न विषं विषमित्याहुस्ताम्रमं तु विषमुच्यते।
एको दोषो विषे ताम्रे त्वष्टौ दोषाः प्रकीर्तिताः॥

Scanned with CamScanner

ताम्र शोधन की आवश्यकता---अशुद्ध ताम्र का सेवन आयु, कान्ति, वीर्य और बल का नाश करता है। वमन, मूर्च्छा, भ्रम और उत्क्लेश तथा कुष्ठ एवं शूल को उत्पन्न करता है।

इसी प्रकार उत्क्लेश, विरेचन, भ्रम, उन्माद, दाह और मोह आदि ताम्र से उत्पन्न होने वाले भयंकर दोष हैं। किन्तु शोधन कर लेने पर ये सभी दोष नष्ट हो जाते हैं तथा इसका रस-वीर्य-विपाक अमृत तुल्य हो जाता है।[1] अतः ताम्र का सम्यक् रूप से शोधन एवं मारण करना चाहिए।

ताम्र शोधन---

सामान्य शोधन---ताम्र को प्रतप्त कर तैल, तक्र, गोमूत्र, आरनाल एवं कुलत्थ क्वाथ में क्रमशः ७-७ बार बुझा लेने से ताम्र की सामान्य शुद्धि हो जाती है। इससे ताम्र के दोषों की निवृत्ति हो जाती है।[2]

विशेष शोधन---१. ताम्र पत्र पर नींबू स्वरस से मर्दित सैंधव लवण का लेप कर, पत्र को अग्नि में रक्त प्रतप्त कर निर्गुण्डी के स्वरस में बुझायें। इस क्रिया को आठ बार करने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।[3] इसी तरह अर्क दुग्ध मिश्रित सैन्धव का ताम्र पत्र पर लेप कर अग्नि में तपा-तपाकर सात बार निर्गुण्डी पत्र के स्वरस में बुझा लेने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।[4]

भ्रमो मूर्च्छा विदाहश्च स्वेदक्लेदनवान्तयः।
अरुचिश्चित्तसन्ताप एते दोषाः विषोपमाः' ॥
(आ० प्र० ३।११५-१६)

१. (क) 'अशुद्धं ताम्रमायुघ्नं कान्तिवीर्यबलापहम्।
वान्तिमूर्च्छाभ्रमोत्क्लेदं कुष्ठं शूलं करोति तत् ॥
उत्क्लेदभेदभ्रमदाहमोहास्ताम्रस्य दोषाः खलु दुर्धरास्ते।
विशोधनात्तद्विगतस्वदोषं सुधासमं स्याद्रसवीर्यपाके' ॥
(र० र० स० ५।४७-४८)

(ख) 'वान्तिमूर्च्छाभ्रमोन्मादनानारुक्कुष्ठशूलकृत् ॥
आयुः कान्तिबलभ्रंशकरं धातुप्रदूषणम्।
नं शुद्धं न मृतं ताम्रं तेन संशोध्य मारयेत्' ॥ (आ० क० क्रि० ४।८)

(ग) 'दाहस्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छा क्लेदो रेको वमिर्भ्रमः।
असम्यक्छोधिते दोषास्ताम्रेऽसम्यक् च मारिते' ॥ (आ० प्र० ३।१४७)

२. 'तैलतक्रादिशुद्धस्य तद्दोषविनिवृत्तये।
गुल्वस्य शोधनं प्राज्ञैर्विशेषात्समुदाहृतम्' ॥ (आ० प्र० ३।११७)

३. 'निम्ब्वम्बुपटुलिप्तानि तापितान्यष्टवारकम्।
विशुध्यन्त्यर्कपत्राणि निर्गुण्डघ रसमज्जनात्' ॥ (र० र० स० ५।५१)

४. 'पटुनारविदुग्धेन ताम्रपत्राणि लेपयेत्।
अग्नौ सन्ताप्य निर्गुण्डी रसे सिञ्चेत्तु सप्तधा' ॥ (रसामृत ३।३५)

२. नींबू स्वरस से मर्दित सैंधव का ताम्र पत्र पर लेप कर उसे प्रतप्त कर अम्ल काञ्जी में आठ बार बुझा लेने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।[1]

३. ताम्र पत्र अथवा ताम्र के चूर्ण (बुरादा) को दोलायन्त्र विधि से गोमूत्र में १ प्रहर (३ घण्टे) तक कड़ी आँच देकर स्वेदन कर लेने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।[2]

ताम्र का मारण---

१. शुद्ध पारद एवं शुद्ध गन्धक की कज्जली को जम्बीरी नीम्बू के स्वरस में घोंटकर लेप बना लें। पतले शुद्ध ताम्रपत्र पर इसका लेप कर सुखा लें; तत्पश्चात् इन पत्रों को शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार ३ बार पुट दे देने से ताम्र का भस्म बन जाता है।[3]

इस विधि में प्रथम पुट में ही ताम्रपत्र इतना भंगुर हो जाता है कि उसे आसानी से मर्दन किया जा सकता है। इस ताम्र चूर्ण में चतुर्थांश कज्जली मिलाकर जम्बीरी नींबू स्वरस से मर्दन कर टिकिया बना-सुखाकर पुट देना चाहिए। इसी प्रकार की क्रिया तीसरी बार भी करें।

इस विधि द्वारा मारित ताम्र को दोषमुक्त करने के लिए ताम्रभस्म को नींबू आदि किसी भी एक अम्ल से मर्दन कर गोला बना लें। इसे सूरणकन्द के मध्य रख-कर सूरण के चारों ओर एक अंगुष्ठ मोटा मिट्टी का लेप कर सुखाकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ठण्डा हो जाने पर सावधानीपूर्वक भस्म को प्राप्त कर लें। यह भस्म सभी दोषों से मुक्त एवं सभी दोषों का नाश करने वाला होता है। यह भस्म वान्ति, भ्रान्ति, विरेचन आदि विकारों को कदापि उत्पन्न नहीं करता है।[4]

समभाग शुद्ध ताम्र चूर्ण और हिंगुल को नींबू के रस से घोंटकर टिकिया बना-सुखाकर डमरूयन्त्र में पकायें। ऊपर के पात्र में लगे हुए पारद को सावधानीपूर्वक प्राप्त कर लें। नीचे के पात्र में स्थित ताम्र चूर्ण में समभाग शुद्ध गन्धक मिला नींबू के रस में मर्दनकर टिकिया बना-सुखाकर शरावसम्पुट में रख सन्धिबन्धन कर अर्धगज-

---

१. 'ताम्रनिर्मलपत्राणि लिप्त्वा निम्ब्वम्बुसिन्धुना।
ध्मात्वा सौवीरकक्षेपाद्विशुद्धचत्वष्टवारतः' ॥ (र० र० स० ५।५०)

२. 'गोमूत्रेण पचेद् यामं ताम्रपत्रं दृढाग्निना।
शुद्धचते नात्र सन्देहो मारणं चाप्यथोच्यते' ॥ (र० र० स० ५।५२)

३. 'जम्बीररससम्पिष्टरसगन्धकलेपितम् ।
शुल्वपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति पञ्चताम्' ॥ (र० र० स० ५।५३)

४. 'अथवा मारितं ताम्रमम्लेनैकेन मर्दितम्।
तद्गोलं सूरणस्यान्ता रुद्ध्वा सर्वत्र लेपयेत्।
शुष्कं गजपुटे पच्यात्सर्वदोषहरं भवेत्।
वान्ति भ्रान्ति विरेकञ्च न करोति कदाचन' ॥ (र० र० स० ५।५४-५५)

Scanned with CamScanner

पुट को अग्नि में पाक करें। इस तरह दो पुट दे देने से भ्रान्ति-भ्रान्ति आदि सभी दोषों से रहित ताम्र भस्म बन जाता है।[1]

२. पतले ताम्रपत्र को प्रथम गोमूत्र में ५ याम (१५ घण्टे) अच्छी प्रकार स्वेदन करें। अब इस ताम्रपत्र पर अम्लपर्णी (चांगेरी) के कल्क का लेप कर दें। इसे सुखाकर एक मिट्टी की हाँडी में ताम्रपत्र के उर्ध्वाधः द्विगुण गन्धक की कज्जली रखकर (ताम्र के समान भाग पारद तथा दो भाग गन्धक से निर्मित कज्जली के बीचोबीच ताम्र पत्र को रख) हाँडी के मुख को बन्द कर अग्नि पर चढ़ा दें। १ याम (३ घण्टे) तक कड़ी आँच देकर पकायें। स्वांगशीत होने पर हाँडी का मुख खोल कर हाँडी के तल से ताम्र भस्म को प्राप्त कर लें।[2]

इस विधि से मारित ताम्र में यह देख लेना चाहिए कि सम्यक् रूप से ताम्र का भस्म हो गया अथवा नहीं। यदि सम्यक् भस्म नहीं हुआ हो तो इस भस्म को चांगेरी स्वरस की भावना देकर टिकिया बना-सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर भस्म होने तक पुट देते रहें। इससे सुन्दर ताम्र का भस्म बन जाता है।

३. १० पल शुद्ध ताम्र चूर्ण और २० पल शुद्ध गन्धक लेकर दोनों को एकत्र खूब मर्दन कर सम्पुट में बन्द कर सम्पुट का सन्धिबन्धन कर सुखा लें। इस सम्पुट को बालुकायन्त्र में बालुका के मध्य रखकर २४ घण्टे तक अग्नि में पकायें। यन्त्र के स्वांगशीत हो जाने पर सम्पुट को निकाल कर उसे खोलकर ताम्र को निकाल लें तथा उसे खरल में समान भाग गन्धक के साथ अच्छी प्रकार घोंटकर पुनः सम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार ३ पुट देने से ताम्र का भस्म हो जाता है। इस भस्म को अञ्जन आदि बाह्य प्रयोग के लिए उपयोग में लाना चाहिए।[3]

---

१. 'शुद्धं ताम्रभवं चूर्णं समहिङ्गुलमिश्रितम्।
निम्बुरसेन सम्पिष्टं कारयेच्चक्रिकाः शुभाः॥
शोषयित्वा विधानज्ञो यन्त्रे डमरुके पचेत्।
उर्ध्वपात्रगतः सम्यग्युक्त्या ग्राह्यो रसोत्तमः॥
अधःपात्रगतं ताम्रचूर्णं गन्धकमिश्रितम्।
जम्बीररससम्पिष्टमर्धभाग्वे पुटे पचेत्॥
शुल्वं भस्मीभवत्येवं सर्वदोषविवर्जितम्'॥ (रसामृत ३।४१-४४)

२. ताम्रपत्राणि सूक्ष्माणि गोमूत्रे पञ्च यामकम्।
क्षिप्त्वा रसेन भाण्डे तद् द्विगुणं देहि गन्धकम्॥
अम्लपर्णी प्रपिष्याथ ह्यभितो देहि ताम्रकम्।
सम्यङ् निरुध्य भाण्डे तमग्निं ज्वालय यामकम्॥
भस्मीभवति ताम्रं तद्यथेष्टं विनियोजयेत्' ॥ (र० र० स० ५।५६-५८)

३. 'ताम्रं पत्रीकृतं शुद्धं भिषग् दशपलोन्मितम्।
ताम्रद्विगुणितञ्चैव गन्धं दत्त्वा विमर्दयेत्॥

४. शुद्ध ताम्र चूर्ण १ भाग, शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध मनःशिला ½ भाग और शुद्ध हरताल ½ भाग लेकर प्रथम पारद-गन्धक की एकत्र कज्जली बना लें। अब इसमें ताम्र चूर्ण मिलाकर अच्छी तरह मर्दन कर क्रमशः मनःशिला और हरताल का चूर्ण मिलाकर घृतकुमारी के स्वरस में अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखा लें। इसे शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इसी प्रकार ताम्र के भस्म होने तक पुट दें।[1]

सोमनाथी ताम्रभस्म का निर्माण[2]—सोमनाथी ताम्रभस्म निर्माण के लिए—

शुद्ध ताम्रपत्र	१ भाग
शुद्ध पारद	१ भाग
शुद्ध गन्धक	१ भाग
शुद्ध हरताल	½ भाग
शुद्ध मनःशिला	½ भाग

इनमें ताम्र को छोड़कर बाकी सबको एकत्र खरल में डालकर खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर कज्जली बना लें। आचार्य सोमनाथ ने इसके पाक के लिए गर्भयन्त्र का विधान किया है। अतः इस हेतु एक मिट्टी के पात्र (छोटे भाण्ड) में क्रमशः कज्जली, उसके ऊपर ताम्र का तनु पत्र, पुनः कज्जली एवं उस पर ताम्र पत्र तनु क्रम से रखकर ऊपर से ताम्र पत्र को पूरी तरह कज्जली से आच्छादित कर दें। अब इस पात्र के मुख का सन्धिबन्धन कर इसे १ प्रहर (३ घण्टे) तक कड़ी आँच पर रखकर पाक

सम्पुटस्थं ततः कृत्वा मृदा सन्धिं निरोधयेत्।
अहोरात्रं पचेद्यत्नाद् बालुकायन्त्रगं भिषक्॥
स्वाङ्गशीतन्तु विज्ञाय सम्पुटं त्ववतारयेत्।
ताम्रोन्मितं बलिं दत्त्वा शुल्वं खल्वेऽथ पेषयेत्॥
इत्थं त्रिवारं पुटयेत्तुल्यं गन्धं विनिक्षिपन्।
एवं मृतं ताम्रकं स्यादञ्जनादौ गुणावहम्'॥ (र० त० १७।२६-२९)

१. 'नेपालशुल्बस्य दलानि शुद्धान्यादाय पूर्वं भिषजां वरेण्यः।
तुल्यांशगन्धेशजकज्जलञ्च पदांशिकीं रोगशिलाञ्च शुद्धाम्॥
दत्त्वा तदर्धं हरितालकञ्च कन्याद्रवेणेह विमर्द्य वैद्यः।
विशोष्य घर्मे पुटयेद्विधिज्ञः प्रयाति ताम्रं मृतिमाश्वपूर्वाम्'॥
(र० त० १७।३०-३१)

२. 'शुल्वतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च।
तदर्धांशेन तालेन शिलया च तदर्धया॥
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम्।
यन्त्राध्यायविनिर्दिष्टगर्भयन्त्रोदरान्तरे॥
कज्जलीं ताम्रपत्राणि पर्यायेण विनिक्षिपेत्।
प्रपचेद्यामपर्यन्तं स्वाङ्गशीतं विचूर्णयेत्' ॥ (र० र० स० ५।६५-६७)

Scanned with CamScanner

करें। तत्पश्चात् स्वांगशीत हो जाने पर पात्र का सन्धिबन्धन खोलकर ताम्र भस्म को निकाल कर उसका सूक्ष्म चूर्ण कर रख लें।

उपरोक्त विधि को किंचित् परिवर्तित कर यदि ताम्रपत्र के स्थान पर शुद्ध ताम्र का वारीक चूर्ण लिया जाय और सर्वप्रथम उस ताम्र को शुद्ध पारद के साथ अच्छी प्रकार मर्दन कर नवनीत के समान पिष्टि बना कर फिर उसमें गन्धक, हरताल एवं मनःशिला को उपरोक्त प्रमाण में डालकर अच्छी प्रकार कज्जली बनाकर इसे कूपी-पक्व विधि से पाक कर लिया जाय तो कूपी के तल भाग से ताम्रभस्म तथा ऊर्ध्व भाग में लगे पारद-गन्धक, हरताल एवं मनःशिला का यौगिक (ताम्रसिन्दूर अथवा मल्लसिन्दूर सदृश यौगिक) भी प्राप्त हो जायेगा। इस विधि में पारद आदि द्रव्यों का क्षय नहीं होगा। तल भाग से प्राप्त ताम्रभस्म को अच्छी प्रकार मर्दन कर रख लें।

अमृतीकरण—लोहादि धातुओं के मारण कर लेने पर भी उसमें जो कुछ दोष अवशिष्ट रह जाता है, उसे दूर करने के लिए भस्म का जो संस्कार किया जाता है, उसे अमृतीकरण कहते हैं।[1]

ताम्रभस्म का अमृतीकरण—

१. ताम्रभस्म में भस्म का आधा भाग गन्धक मिला पञ्चामृत (गोदुग्ध, दधि, घृत, शर्करा एवं मधु) से मर्दन कर चक्रिका बना-सुखा शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार तीन पुट दे देने से ताम्रभस्म आठों दोषों से रहित हो जाता है।[2]

२. एक भाग ताम्रभस्म में आधा भाग शुद्ध गन्धक मिला नींबू स्वरस से घोंट कर गोला बनाकर सूरणकन्द के मध्य रखकर ऊपर से कपड़मिट्टी कर सुखा कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक सूरणकन्द के मध्य में रखे गये ताम्रभस्म को प्राप्त कर लें।[3]

---

१. 'लोहादीनां मृतानां वै शिष्टदोषापनुत्तये।
क्रियते यस्तु संस्कार अमृतीकरणं मतम्' ॥ (र० त० २।५८)

२. 'सुमृतं ताम्रचूर्णन्तु तदर्धं गन्धकं तथा।
पञ्चामृतेन सम्पेष्य विधानज्ञो भिषग्वरः ॥
शरावसम्पुटे न्यस्य ताम्रं विहितचक्रिकम्।
त्रिवारं पुटयेदेवं रसतन्त्रविचक्षणः' ॥ (र० त० १७।३७-३८)

३. 'सम्यङ्मृतं सूर्यसखस्य चूर्णं तदर्धसंशोधितगन्धकञ्च।
दत्त्वा ततोऽम्लैः खलु निम्बुकोत्थैः सम्पेषयेद् याममलं रसज्ञः ॥
गोलं विधायाथ रविप्रियस्य ह्यूर्ध्वाधःसूरणकन्दसंस्थम्।
मृत्कर्पटैश्चाथ विलिप्य गोलं पुटे गजाख्ये पुटयेद्विधिज्ञः' ॥
(र० त० १७।४०-४१)

३. ताम्रभस्म को कुमारी स्वरस की भावना देते हुए वराहपुट में ७ पुट दे देने से ताम्रभस्म आठों दोषों से मुक्त हो जाता है।[1]

ताम्रभस्म का वर्ण—ताम्रभस्म कृष्णवर्ण का होता है[2] तथा कई वार श्वेत वर्ण का एवं बर्हिकण्ठप्रभ (मयूरकण्ठ सदृश वर्ण का) भी देखा जाता है।

ताम्रभस्म की परीक्षा—वारितर, निश्चन्द्र रेखापूर्ण आदि भस्म की सामान्य परीक्षा के अतिरिक्त ताम्रभस्म को खट्टी दही में डालकर कुछ देर छोड़ देने पर दही का रंग यदि नीला पड़ जाता है तो ऐसा भस्म दोषयुक्त माना जाता है।

ताम्रभस्म के गुण—ताम्रभस्म रस में तिक्त, कषाय, कटु एवं मधुर; विपाक में मधुर तथा वीर्य में उष्ण होता है। यह सारक, लघु, लेखन, रोपण, नेत्र के लिए हितकर, दीपन, उर्ध्वाधः शोधक तथा पित्त, कफ, विष, उदर, आम, कृमि, स्थौल्य, अर्श, क्षय, पाण्डुरोग, कुष्ठ, कास, श्वास, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, शूल तथा यकृत-प्लीहा और ग्रहणी रोगनाशक है। यह किंचित् बृंहण करने वाला होता है।[3]

सोमनाथी ताम्रभस्म का तत्तद्रोगनाशक अनुपान भेद से सेवन करने से परिणामशूल, उदररोग, शूल, पाण्डुरोग, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, यकृत्, क्षय, अग्निमान्द्य, प्रमेह, अर्श, संग्रहणी आदि अनेक रोग शीघ्र और निश्चित रूप से नष्ट हो जाते हैं।[4]

---

१. 'सम्यङ्मृतं सूर्यसखस्य चूर्णं सम्पेषयेद्वै स्वरसे कुमार्याः।
विशोष्य घर्मेऽथ शरावसंस्थं पचेद् वराहाख्यपुटेऽष्टवारम् ॥
रीत्यानया वै ह्यमृतीकृतन्तु रविप्रियं शीलितमप्यमन्दम्।
दोषाष्टकं नैव करोति नूनं ताम्रं निकामं त्वमृतोपमं स्यात्' ॥
(र० त० १७।४३-४८)

२. 'कृष्णत्वं तारताम्रयोः'। (यो० र०)

३. (क) 'ताम्रं कषायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम्'। (रसामृत ३।३५)
(ख) ताम्रं तिक्तकषायकञ्च मधुरं पाके च वीर्योष्णकं
सामं पित्तकफापहं जठररुक्कुष्ठामजन्त्वन्तकृत्।
उर्ध्वाधः परिशोधनं विषहरं स्थौल्यापहं क्षुत्करं
दुर्नामक्षयपाण्डुरोगशमनं नेत्र्यं परं लेखनम्' ॥ (र० चू० १४।६९)
(ग) 'ताम्रं कषायं मधुरञ्च तिक्तमम्लं च पाके कटु सारकं च।
पित्तापहं श्लेष्महरं च सोष्णं तद्रोपणं स्याल्लघुलेखनञ्च ॥
पाण्डूदराशोगरकुष्ठकासश्वासक्षयान् पीनसमम्लपित्तम्।
शोफं कृमिं शूलमपाकरोति प्राहुः परे बृंहणमल्पमेतत्' ॥
(आ० प्र० ३।१४५)

४. 'तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितं
संलीढं परिणामशूलमुदरं शूलञ्च पाण्डुज्वरम्।
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयाग्निसदनं मेहं च मूलामयम्
दुष्टां च ग्रहणीं हरेद् ध्रुवमिदं श्रीसोमनाथाभिधम्' ॥ (र० र० स० ५।६७)

Scanned with CamScanner

ताम्रभस्म की मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक रोगी के बलाबल एवं काल आदि का विचार कर सेवन करने हेतु देना चाहिए।[1]

अनुपान—तत्तद्रोगनाशक वनस्पतियों के स्वरस, चूर्ण, क्वाथ एवं शहद से सेवन करना चाहिए।

मात्रा—२ वल्ल (४ रत्ती) प्रमाण में लेने का निर्देश रसरत्नसमुच्चयकार ने किया है।[2] किन्तु वर्तमान में यह मात्रा अधिक प्रतीत होती है। अतः वर्तमान में इसकी अधिकतम मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक की ही उचित है।

ताम्रभस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति[3]—

१. धनियाँ के स्वरस अथवा क्वाथ में मिश्री मिलाकर ३ दिन पिलाने से ताम्रभस्म से उत्पन्न उपद्रव की शान्ति होती है।

२. मुनिन्नीहि को पीसकर मिश्री के साथ पीने से ताम्रभस्म सेवनजन्य उपद्रव की शान्ति होती है।

ताम्र के प्रमुख योग—१. आरोग्यवर्द्धनीवटी, २. काञ्चनाभ्र रस, ३. गुल्मकालानल रस, ४. चन्द्रामृत रस, ५. ताम्र पर्पटी, ६. त्रिविक्रम रस, ७. नित्यानन्द रस, ८. पञ्चामृत पर्पटी, ९. लक्ष्मीविलास रस तथा १०. हृदयार्णव रस।

लोहा
(Iron)

नाम—संस्कृत : लोह (अयस्)। हिन्दी : लोहा। अंग्रेजी : Iron. लेटिन : Ferrum.

संकेत—Fe **आपेक्षिक घनत्व**—७.८६

परमाणु भार—५५.८५। **परमाणु संख्या**—२६। **परमाणुबन्धन क्षमता**—२.३

द्रवणांक—१५३३° सें० (शुद्ध लोहे का द्रवणांक १५८०° सें०)

क्वथनांक—२४५०° सें० (२९५०° से ३०००° सें०)

पर्याय—अयस्, आयस, कालायस, शस्त्रलोह, तीक्ष्णक, लोह, सारलोह आदि।

उत्पत्ति—पौराणिक मान्यता के अनुसार—

१. लोहे की उत्पत्ति साक्षात् कालमूर्त्ति यमराज से हुई है।

२. देव-दानव युद्ध में लोहासुर दैत्य का अंग कट कर पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ गिरा, वहाँ-वहाँ लोहे की उत्पत्ति हुई।

इतिहास—सभ्यता एवं ज्ञान के विकास के क्रम में स्वर्ण, रजत और ताम्र के बाद लोहे का ज्ञान लोगों को हुआ, ऐसा विद्वानों का मानना है। लोहे के व्यापक

---

१. 'अष्टमांशाद्रक्तिकाया रक्तिकार्द्धमितं परम्।
मृतं ताम्रं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० १७।५२)

२. 'तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितम्। (र० र० स० ५।६८)

३. 'मुनिन्नीहिं सितापानं धान्यकं वा सितासह।
ताम्रदोषमशेषं वै पिबन्हन्याद्दिनत्रयम्'॥ (बृहद्रसराजसुन्दर)

उपयोग के कारण वर्तमान युग को लोह युग की संज्ञा दी जाती है। इस लोहे का ज्ञान भारतीयों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। वैदिक साहित्य में लोहे का अनेक बार उल्लेख मिलता है। सुरक्षा हेतु लोहे के हथियार से लेकर जीवन में व्यवहार के अनेक साधन-सामग्री के निर्माण में इसका उपयोग बढ़ता चला गया तथा उत्तम कोटि के लोह प्राप्ति का ज्ञान भी विकसित होता गया। यहाँ तक कि भारतीय फौलाद को ले जाकर ही दुनिया के लुहार अपनी तलवारें, भाले और कवच आदि युद्धोपयोगी समान बनाना पसन्द करते थे। चौथी शताब्दी में निर्मित कुतुबमीनार के पास रखे लोहस्तम्भ का खुले वातावरण में जंगरहित सुरक्षित पड़ा रहना दुनिया के वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित किये हुए है। अनेक राजा-महाराजाओं द्वारा बनवाया गया विजयस्तम्भ, जगन्नाथ मन्दिर के बड़े-बड़े विशाल खम्भे, सोमनाथ मन्दिर के दरवाजे आदि अनेक वस्तुएँ भारतीय प्राचीन लौहकारों की कला एवं ज्ञान-विज्ञान के नमूने हैं, जिन्हें देखकर सम्पूर्ण विश्व आश्चर्य से मुग्ध हो जाता है।

लोहे के औषधीय गुणों का ज्ञान काफी बाद में हुआ। चरकसंहिता काल में लोहे का उपयोग अयस्कृति-भस्म, चूर्ण, वटी, अवलेह, वटक, वर्ति एवं आसवारिष्टों के माध्यम से होने लगा था। सुश्रुत के काल में अयस्कृति निर्माण की प्रक्रिया का और भी विकसित रूप देखा जाता है। रसशास्त्र के विकास के क्रम में इसके शोधन-मारण आदि विधियों का और भी विधिवत् विकास हुआ।

परिचय—लोहा साधारण हल्के भूरे रंग की चमकीली धातु है। लोहे पर वातावरण का, ऑक्सीजन एवं जलवाष्प का बड़ी तेजी से प्रभाव होता है, जिससे इसमें जल्दी जंग लगता है। इसी कारण यह धातु अधिक समय तक शुद्ध रूप में नहीं रह पाती है। लोहे की सतह को खूब साफ कर सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा देखने से उसका पृष्ठभाग दानेदार दिखलाई देता है। साधारण लोहे में शुद्ध लोहे के परमाणुओं के अतिरिक्त ग्रेफाइट (दानेदार कार्बन), आयरन कार्बाइड, आयरन सल्फाइड, मैग्नीज, फॉस्फोरस आदि अनेक पदार्थ पाये जाते हैं, जिनके कारण लोहे के गुणों में अन्तर पाया जाता है। शुद्ध लोहा मजबूत, मृदु और आघातवर्द्धनीय होता है। प्रकृति में लोहा अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध है। पृथ्वी के उपरी सतह (भूपर्पटी) में प्रायः ४·२% लोहे का होता है। यह मुक्त स्वरूप का भी उल्कापातादि के कारण कई देशों में मिलता है, अन्यथा अनेक खनिजों से इसकी प्राप्ति होती है।

प्राप्ति-स्रोत—लोहा खनिज (गैरिक, माक्षिक आदि), वानस्पतिक (पेड़ों की हरी पत्तियों, चोलाई आदि से) तथा प्राणिज—रक्त (Hemoglobin, liver), तीनों स्रोतों से उपलब्ध होता है।

लोहे के प्रधान खनिज—व्यापार हेतु जिन खनिजों से लोहा प्राप्त किया जाता है वे निम्न हैं—

१. गैरिक—(Red heamatite : Fe_2O_3)—इसके अन्तर्गत रक्तगैरिक, स्वर्णगैरिक और पाषाणगैरिक का समावेश होता है। यह लोहे का आक्साइड होता है।

Scanned with CamScanner

२. पीले या कपिल वर्ण के गैरिक (Grey Geamatite or Limonite : $2Fe_2O_3 3H_2O$)—यह भी लोहा और ऑक्सीजन का ही यौगिक है, किन्तु इसमें जल एवं मिट्टी का भी कुछ अंश मिला रहता है तथा यह दीवारों के रंगने के काम में लाया जाता है।

३. मैग्नेटाइट (Magnetite : Fe_3O_4)—इसे चुम्बक पत्थर या कान्त लोहे के नाम से जाना जाता है। इसमें चुम्बकीय गुण होता है।

४. सिडेराइट (Siderite : $Fe Co_3$)—इसे Spathic iron ore भी कहते हैं, यह लोहे का कार्बोनेट लवण होता है।

५. रौप्यमाक्षिक (Iron Pyrite : Fe_2S_3), विमल (Iron Pyrite : $Fe S_2$) एवं स्वर्णमाक्षिक (Copper Pyrite : $Cu Fe S_2$)—ये तीनों लोहे के सल्फाइड यौगिक हैं तथा इनसे अच्छा लोहा प्राप्त करना कठिन होता है।

भारत में लोह प्राप्ति का सबसे उत्तम, सस्ता एवं सुलभ खनिज गैरिक ही है, जिससे ६५ से ७०% तक लोहा पाया जाता है। लोह-प्राप्ति के लिए इसे लकड़ी या पत्थर के कोयलों के साथ ऑक्सीजन की उपस्थिति में खूब गर्म किया जाता है जिससे कार्बन ऑक्सीजन के साथ मिलकर कार्बनडाइआक्साइड गैस बनकर निकल जाता है तथा लौह धातु भट्ठी के अन्दर की अत्यधिक उष्णता से द्रवीभूत होकर भट्ठी के तल में जमा हो जाता है।

ढलवाँ लोहा या पिग आयरन—भट्ठी के तल भाग में एकत्रित तरल लौह द्रव को ढाँचों में ढालकर विविध उपयोगी सामग्री बना ली जाती है, इसे Cast iron या ढलवाँ लोहा (Cast–ढाँचा) कहते हैं। जब इसी के तीन फीट लम्बे और ३-४ इंच मोटे टुकड़े ढाले जाते हैं तब इसको पिग आयरन (Pig iron) कहते हैं।

ढलवाँ लोहे में २ से ४ प्रतिशत तक कार्बन का भाग मिला रहता है। यह कार्बन जब लोहे में स्वतन्त्र कार्बन कणों के रूप में रहता है, तब लोहा भूरे रंग का दीखता है, किन्तु जब कार्बन लोहे के साथ संयुक्तावस्था में रहता है तब इसका रंग सफेद दीखता है। भूरे को 'Grey pig iron' तथा सफेद को 'White pig iron' कहते हैं। ढलवाँ लोहा (Pig iron) अत्यन्त भंगुर होता है। यह आघातवर्द्धनीय नहीं होता।

स्टील (फौलाद)—इस लोहे में की थोड़ी मात्रा में अशुद्धियों को हटा देने पर फौलाद (Steel) प्राप्त होता है।

पिटवाँ लोहा—यदि इस लोहे में से सम्पूर्ण अशुद्धियों को हटा दिया जाय तो शुद्ध लोहा प्राप्त होता है, जिसे व्यवहार में पिटवाँ लोहा या रौट आयरन (Wrought iron) कहते हैं। लोहे को शुद्ध करने लिए एक विशेष प्रकार की भट्ठी का उपयोग किया जाता है। उस भट्ठी में शुद्ध गैरिक का लेप किया जाता है, फिर लोहे को रख कर तेज अग्नि की ज्वाला से गलाते हैं। ऐसा करने पर लोहे का कार्बन आदि अपद्रव्य गैरिक के ऑक्सीजन से मिलकर मैल (Slag) के रूप में लोहे के पृष्ठ भाग पर एकत्र हो जाता है। जिसे ठण्डा होने पर ठोंक-पीटकर अलग कर लिया जाता है। पिटवाँ

लोहा कठिन किन्तु आघातवर्द्धनीय होता है। इसका संगठन रेशामय (Fibrous) होता है। प्राचीन आचार्यों ने इसे 'पोगर' शब्द से सूचित किया है।

स्टील के निर्माण के समय मैंग्नीज, क्रोमियम, निकल, टंगस्टन इत्यादि धातुओं को किञ्चित् मात्रा में लोहे में प्रविष्ट कराने पर श्रेष्ठ और विशिष्ट गुणों वाला फौलाद प्राप्त होता है। निकल मिला हुआ स्टील (इस्पात) अत्यन्त कठिन तथा झटके को सह सकने वाला होता है। अतः इससे कवच और पुल आदि के सामान बनाये जाते हैं। इसी प्रकार क्रोमियम मिलाने पर भी यह अत्यन्त कठिन हो जाता है। इससे पीसने वाली मशीन, चाकू, छुरी, चम्मच आदि उपकरण बनाते हैं। इसमें जंग नहीं लगता है। इसी तरह मैंग्नीज मिला देने पर भी इसमें विशेष प्रकार का काठिन्य उत्पन्न हो जाता है और प्राचीन समय में इससे शिरस्त्राण आदि युद्धोपयोगी सामान बनाया जाता था। विविध उत्ताप एवं शीतल-उष्ण जल की क्रिया से भी फौलाद (स्टील) में इच्छानुसार गुण-परिवर्तन किया जाता है। इससे वज्रसदृश काँच को खुरचने वाला कठोर फौलाद तथा घड़ी के काम आने वाली बाल कमानी (Hair spring) भी बनायी जाती है।

लोह खनिज का प्राप्ति स्थान—लोह खनिज विश्व के सभी देशों में न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है। यह भारत में दक्षिण बिहार के सिंहभूमि, पलामू, हजारीबाग जिले, बंगाल, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश एवं राजस्थान में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

लोहा के भेद[1]—

१. मुण्ड लौह (Cast iron या Pig iron)।
२. तीक्ष्ण लौह (Wrought iron)।
३. कान्त लौह (Magnetic iron ore or Magnetite)।

नोट—कान्त पाषाण को तपाने से प्राप्त होने वाले सत्त्व स्वरूप लोह को कान्त लोह कहते हैं।

इनमें मुण्ड से तीक्ष्ण को श्रेष्ठ तथा तीक्ष्ण से कान्त को श्रेष्ठ माना जाता है। अर्थात् कान्त लोह को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।[2] मुण्ड से तीक्ष्ण और तीक्ष्ण से कान्त अधिक गुण वाला होता है, अतः औषधि-निर्माण के लिए तीक्ष्ण या कान्त लोह का प्रयोग करना चाहिए।[3]

---

१. मुण्डं तीक्ष्णञ्च कान्तञ्च त्रिप्रकारमयः स्मृतम्'। (र० र० स० ५।६९)
२. 'मुण्डाच्छताधिकं तीक्ष्णं तीक्ष्णात्कान्तं शताधिकम्'।
३. 'मुण्डात्तीक्ष्णं ततः कान्तं ज्ञेयं तु गुणवत्तरम्।
औषधार्थे ततो योज्यं तीक्ष्णं वा कान्तमुत्तमम्'॥ (रसामृत ३।१३१)

Scanned with CamScanner

मुण्डादि लौहों के अवान्तर भेद[1]—

१. मुण्डलोह के ३ भेद होते हैं—१. मृदुमुण्ड, २. कुण्ठमुण्ड एवं ३. कडार-मुण्ड।

२. **तीक्ष्णलोह के ६ भेद होते हैं**—१. खर तीक्ष्ण, २. सार तीक्ष्ण, ३. हृन्नाल तीक्ष्ण ४. तारावट्ट तीक्ष्ण ५. वाजिर तीक्ष्ण एवं ६. काललोह तीक्ष्ण।

३. **कान्तलोह के ५ भेद होते हैं**[2]—यथा—१. भ्रामक कान्तलोह, २. चुम्बक कान्तलोह, ३. कर्षक कान्तलोह, ४. द्रावक कान्तलोह, और ५. रोमकान्त कान्तलोह।

मुण्ड लोह भेदों के लक्षण[3]—

१. **मृदुमुण्ड लोह**—जो अग्नि में शीघ्र द्रवित हो, आघात से जो जल्दी टूटता-फूटता न हो एवं चिकना हो, वह उत्तम मुण्डलोह होता है।

२. **कुण्ठमुण्ड लोह**—जो ठोंकने-पीटने पर कठिनता से फैलता हो, उसे कुण्ठ-मुण्ड लोह कहते हैं। यह मध्यम माना जाता है।

३. **कडारमुण्ड लोह**—जो हथौड़े के आघात से आसानी से फट जाय तथा जिसका तुरन्त फटा हुआ भाग कृष्ण वर्ण का लगता हो, उसे कडार जाति का मुण्ड लोह कहते हैं। यह निष्कृष्ट माना जाता है।

मुण्ड लोह के ये सभी भेद उसकी आघातवर्द्धनीयता पर आधारित होते हैं। इसमें मिली अशुद्धियों के कारण यह १२००° सें० पर द्रवित हो जाता है। इसी हेतु इसे 'द्रुतद्राव' कहा गया है। पात्र आदि के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है।

तीक्ष्ण लोह भेदों के लक्षण[4]—

१. **खर तीक्ष्ण लोह**—जो तीक्ष्ण लोह कठोर हो, जिसमें पोगर (सौत्रिक रचना)

---

१. 'मृदु कुण्ठं कडारञ्च त्रिविधं मुण्डमुच्यते ॥
खरं सारञ्च हृन्नालं तारावट्टञ्च वाजिरम् ।
काललोहाभिधानञ्च षड्विधं तीक्ष्णमुच्यते' ॥ (र० र० स० ५।६९-७०)

२. 'भ्रामकं चुम्बकञ्चैव कर्षकं द्रावकं तथा ।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तञ्च पञ्चमम्' ॥ (र० र० स० ५।७१)

३. 'द्रुतद्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम् ।
हतं यत्प्रसरेद् दुःखात्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम् ॥
यद्धतं भज्यते भंङ्गे कृष्णं स्यात्तत्कडारकम्' । (र० र० स० ५।७२-७३)

४. 'परुषं पोगरोन्मुक्तं भङ्गे पारदच्छवि ।
नमने भङ्गुरं यत्तत्खरलोहमुदाहृतम् ॥
वेगभङ्गुरधारं यत्सारलोहं तदीरितम् ।
पोगराभासकं पाण्डुभूमिजं सारमुच्यते ॥
कृष्णपाण्डुवपुश्चञ्चुबीजतुल्योरुपोगरम् ।
छेदने चातिपरुषं हृन्नालमिति कथ्यते' ॥ (र० र० स० ५।७७-७९)

नहीं हो, जिसका तुरन्त का कटा हुआ भाग पारद के समान चमकदार हो और जो झुकाने पर टूट जाता हो, उसे खर जाति का तीक्ष्ण लोह जानना चाहिए।

२. **सार तीक्ष्ण लोह**—वेग (तेजी) से पटकने पर जिसकी धार टूट जाय तथा जिसमें पोगर (सौत्रिक रचना) का आभास होता हो वह सार जाति का तीक्ष्ण लोह होता है। वह पाण्डुवर्ण की भूमि से उत्पन्न होता है।

३. **हृन्नाल तीक्ष्ण लोह**—यह काले से सफेद वर्ण का होता है। इसमें चञ्चुबीज के सदृश सौत्रिक रचना (पोगर) विद्यमान रहती है। तोड़ने पर यह अत्यन्त कठिन होता है। इसे हृन्नाल तीक्ष्ण लोह कहते हैं।

४. **तारावट्ट तीक्ष्ण लोह**—तारावट्ट तीक्ष्ण लोह का लक्षण उपलब्ध नहीं होता है। पोगर युक्त तीक्ष्ण लोह को तारावट्ट तीक्ष्ण लोह कह सकते हैं, जिसमें पोगर (सौत्रिक रचना) स्पष्टरूप से दिखलाई देता हो।

५. **वाजिर तीक्ष्ण लोह**—जिस तीक्ष्ण लोह का पोगर (सौत्रिक रचना) वज्र के समान कठोर अर्थात् न टूटने वाला और चमकदार हो तथा घनी सूक्ष्म रेखाओं से युक्त हो तथा जिसका रंग श्याम वर्ण (नीला-काला) हो, उसे वाजिर तीक्ष्ण लोह कहते हैं।[1]

६. **कालायस तीक्ष्ण लोह**—जो तीक्ष्ण लोह नीलकृष्णवर्ण का, सान्द्र (शुषिरता से रहित), चिकना, भारी एवं चमकदार हो तथा जिसकी धार लोहे के आघात से भी न टूटती हो, उसे कालायस तीक्ष्ण लोह कहते हैं।[2]

इनमें खर से सार, सार से हृन्नाल, हृन्नाल से तारावट्ट, तारावट्ट से वाजिर एवं वाजिर से कालायस तीक्ष्ण लोह क्रमशः एक से एक बढ़कर सौ गुना अधिक श्रेष्ठ गुणों वाला होता है।[3]

ये सभी तीक्ष्ण लोह भेद अन्य लौहों की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ होते हैं।

पोगर—अंग, छाया और वंग—ये पोगर के पर्याय हैं। लोहे को तोड़ने पर उसमें जो भंगुर एवं केशाकृति रचना दृष्टिगोचर होती है, उन रेखाओं को ही पोगर कहते हैं।[4]

यहाँ अंग का अर्थ है लोहे के कटे स्थान का स्वरूप; छाया का अर्थ है उस कटे स्थान की आभा या चमक और वंग का तात्पर्य है कटे हुए स्थान की सौत्रिकता

---

१. 'पोगरैर्वज्रसङ्काशैः सूक्ष्मरेखैश्च सान्द्रकैः ।
निचितं श्यामलाङ्गञ्च वाजीरं तत्प्रकीर्त्यते' ॥ (र० र० स० ५।८१)

२. 'नीलकृष्णप्रभं सान्द्रं मसृणं गुरु भासुरम् ।
लोहाघातेऽप्यभङ्गात्मधारं कालायसं मतम्' ॥ (र० र० स० ५।८२)

३. 'खरलोहात्परं सर्वमेकैकस्माच्छतोत्तरम्' । (र० र० स० ५।८३)

४. 'अङ्गच्छाया च वङ्गश्च पोगरस्याभिधात्रयम् ।
चिकुरं भङ्गुरं लोहात्पोगरं तत्परं स्मृतम्' ॥ (र० र० स० ५।८०)

Scanned with CamScanner

(रेशेदार)। फौलाद की परीक्षा में इन तीनों लक्षणों की उपयोगिता है। इन्हीं के द्वारा उसकी कोटि का निर्धारण करते हैं।

रसार्णवकार ने ३ प्रकार के तीक्ष्ण लोह कहे हैं; यथा—१. रोहण २. वाजर और ३. चपलालय। तीक्ष्ण लोह को ही काल लोह भी कहते हैं। जो तीक्ष्ण लोह (फौलाद) नीले और कृष्णवर्ण का होता है और जो अत्यन्त चिकना हो जिससे कि सूक्ष्म धार वाला शस्त्र बनाया जा सकता हो, वह तीक्ष्ण लोह उत्तम होता है।[1] चपलालय से यहाँ अग्नि विस्फुलिंग को उत्पन्न करने वाला कह सकते हैं।

तीक्ष्ण लोह की परीक्षा—

१. आयुर्वेदप्रकाशकार के अनुसार—कासीस और आँवला इन दोनों को पीसकर कल्क बना लें। इसका लेप तीक्ष्ण लोह पर करके उसे माँजकर धो दें। ऐसा करने पर यदि तीक्ष्ण लोह में दर्पण की तरह देखने वाले को अपना अंग स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता हो तो उसे तीक्ष्ण लोह (फौलाद) जानना चाहिए। भस्म-निर्माण के लिए यह श्रेष्ठ होता है।[2]

२. नींबू अथवा इमली आदि अम्ल पदार्थों से माँजने पर लोहे के पृष्ठभाग पर यदि शिखर के सदृश सूक्ष्म आकार दिखाई देता हो तो उसे सार जाति का तीक्ष्ण लोह समझना चाहिए।[3]

कान्तलोह—यह चुम्बकीय गुणों से युक्त लोहे का खनिज होता है। इसे Magnetic iron ore कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र Fe_3O_4 है। लोहे के ३ परमाणु के साथ ऑक्सीजन के ४ परमाणु मिले होते हैं। इस पत्थर से निकाले गये लोहे में चुम्बकीय गुण नहीं रहता। यह सभी लोहों में श्रेष्ठ होता है।

कान्तलोह के भेदों के लक्षण[4]—

१. **भ्रामक कान्तलोह**—लोहे की छोटी-छोटी वस्तु को कान्तलोह के निकट ले जाने पर यदि वह घुमा देता है अथवा चञ्चल कर देता है तो उसे भ्रामक कान्तलोह कहते हैं।

---

१. रोहणं वाजरञ्चैव तृतीयञ्चपलालयम्।
इति तीक्ष्णं त्रिधा तच्च काललोहमितिस्मृतम्॥
नीलकृष्णमितिस्निग्धं सूक्ष्मधारमयः शुभम्'। (रसार्णव०)

२. 'कासीसामलकल्कास्ते लोहेऽङ्गं दृश्यते स्फुटम्।
तीक्ष्णलोहं तदुद्दिष्टं मारणायोत्तमं विदुः'॥ (आ० प्र० ३।२१४)

३. 'क्षमाभृच्छिखराकाराण्यङ्गान्यम्लेन मर्दिते।
लोहे स्युर्यत्र सूक्ष्माणि तत्सारमभिधीयते'॥ (आ० प्र० ३।२१५)

४. भ्रामयेल्लोहजातं यत्तत्कान्तं भ्रामकं मतम्।
चुम्बयेच्चुम्बकं कान्तं कर्षयेत्कर्षकं तथा॥
साक्षाद्द्रावयेल्लोहं तत्कान्तं द्रावकं मतम्।
तद्रोमकान्तं स्फुटिताद्यतो रोमोद्गमो भवेत्'॥ (र० र० स० ५।९०-९१)

२. **चुम्बक कान्तलोह**—छोटे-मोटे हलके लोहे को पास ले जाने पर जो कान्तलोह चूम लेता हो (चिपक जाता हो) उसे चुम्बक कान्तलोह कहते हैं।

३. **कर्षक कान्तलोह**—जो लोहे को चूम ले तथा छोटे-मोटे लोहे को खींच सकता हो उसे कर्षक कान्तलोह कहते हैं।

४. **द्रावक कान्तलोह**—इस जाति का कान्तलोह छोटे-मोटे लोहे के टुकड़े को विकर्षित (पीछे धकेलना) कर देता हो अथवा खींच लेता हो, उसे द्रावक कान्तलोह कहते हैं।

५. **रोमकान्त कान्तलोह**—जिस कान्त लोह को तोड़ देने पर उसके कण उसमें रोयें की भाँति चिपक कर खड़े हो जाते हैं, उसको रोमकान्त कान्तलोह कहते हैं।

भ्रामकादि प्रत्येक कान्तलोह में क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच अथवा सभी दिशाओं में मुख होना बताया गया है। इसके आधार पर इसके छः भेद होते हैं। वर्ण की दृष्टि से इनमें प्रत्येक कान्तलोह पीला, काला और लालवर्ण के भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। पीले में ब्रह्मा, काले में विष्णु तथा लाल में शंकर का वास होना कहा गया है। पीला कान्तलोह स्पर्शवेधी, काला उत्तम रसायन तथा लालवर्ण वाला पारद को बद्ध करने में श्रेष्ठ माना जाता है। भ्रामक को कनिष्ठ, चुम्बक को मध्यम, कर्षक को उत्तम और द्रावक को उत्तमोत्तम माना जाता है।[1] चार अथवा पाँच मुख वाला कान्तलोह श्रेष्ठ और उत्तम होता है। जिसमें सभी दिशाओं में मुख हो वह उत्तमोत्तम माना गया है। भ्रामक एवं चुम्बक लोह व्याधियों का नाश करने वाले तथा कर्षक और द्रावक देहसिद्धि और लोहसिद्धि देने वाले होते हैं। मदोन्मत्त चञ्चल पारद के लिए कान्त लोह अंकुश के समान होता है। यह पारद को अपने वश में करने में समर्थ होता है। पारद से सभी प्रकार की सिद्धि इसके माध्यम से सम्भव है। बुद्धिमान वैद्य अच्छे स्थान से कान्तलोह को ग्रहण करें। खुली हवा और धूप में बहुत समय तक पड़ा हुआ कान्त लोह त्याज्य होता है।[2]

---

१. 'एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसर्वतोमुखमेव तत्।
पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात् पृथक् पृथक्॥
क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
स्पर्शवेधि भवेत्पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने॥
रक्तवर्णं तथा चापि रसबन्धे प्रशस्यते।
भ्रामकं तु कनिष्ठं स्याच्चुम्बकं मध्यमं तथा॥
उत्तमं कर्षकञ्चैव द्रावकञ्चोत्तमोत्तमम्'। (र० र० स० ५।८६-८९)

२. 'चतुष्पञ्चमुखं श्रेष्ठमुत्तमं सर्वतोमुखम्।
भ्रामकं चुम्बकं चैव व्याधिनाशे प्रशस्यते॥
रसे रसायने चैव कर्षकं द्रावकं हितम्।
मदोन्मत्तगजः सूतः कान्तमङ्कुशमुच्यते॥

Scanned with CamScanner

कान्तलोह में जो मुखों की बात कही गई है वह उस कान्तपाषाण में स्थित चुम्बकीय अंश के कारण होता है। जिस कान्तपाषाण का केवल एक छोटा-सा हिस्सा चुम्बकीय गुण से युक्त होगा और शेष भाग सादे लोह खनिज का होगा उसे एक मुख वाला कान्तलोह कहेंगे। इसी प्रकार ऐसे कान्त पाषाण जिसके दो सिरे अथवा दो स्थानों पर चुम्बकीय गुण स्थित होंगे वह द्विमुख कहलायेगा। त्रिमुख, चतुर्मुख, पंच-मुख और सर्वतोमुख कान्तलोह इसी प्रकार से ठीक-ठीक न काटे हुए गोल अथवा टेढ़े-मेढ़े आकार के कान्तपाषाण होंगे। इनमें चुम्बकीय अंश किसी खास नियम के अनुसार न रहकर इतस्ततः ३, ४, ५ अथवा सम्पूर्ण भागों में थोड़े-थोड़े स्थानों पर पड़े होंगे तथा शेष भाग लोहे के सादे खनिज वाला होने से वह त्रि, चतुः, पंच और सर्वतोमुख कान्तलोह कहलायेगा।

कान्तलोह परीक्षा[1] अथवा उत्तम कान्तलोह के लक्षण—

१. कान्तलोह के जल से भरे पात्र में तेल की बूंद डालने पर नहीं फैलेगा।

२. कान्तलोह के पात्र में हींग का लेप कर देने पर हींग की गन्ध समाप्त हो जायेगी।

३. निम्बपत्र के कल्क का यदि कान्तलोह के पात्र में लेप कर दिया जाय, तो निम्ब की तिक्तता समाप्त हो जायेगी।

४. कान्तलोह के पात्र में जल को उबालने पर वह हींग की गन्ध देगा।

५. कान्तलोह के पात्र में दूध को उबालने पर दूध की उफान शिखराकार होकर रह जायेगी, बाहर भूमि पर नहीं गिरेगी।

६. सफेद चना यदि कान्तलोह के पात्र में धोया जाय तो काला पड़ जायेगा।

लोहे के दोष[2]—१. गुरुता (शरीर में भारीपन), २. जकड़न, ३. उत्क्लेद (मिचली), ४. ग्लानि, ५. दाह, ६. अश्मरी और ७. शरीर से दुर्गन्ध निकलना—ये लोहे के ७ दोष कहे गये हैं, जो अशुद्ध लोह के सेवन से व्यक्ति में उत्पन्न होते हैं।

लौह शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध लोहे से निर्मित भस्म का सेवन अहितकर होता है। इससे आयु, बल तथा कान्ति का नाश होता है। हृदय में पीड़ा होती है

क्षेत्रं ज्ञात्वा गृहीतव्यं तत्प्रयत्नेन धीमता।
मारुताऽऽतपविक्षिप्तं वर्जयेन्नात्र संशयः'॥ (र० र० स० ५।९२-९४)

१. 'पात्रे यस्य प्रसरति जले तैलबिन्दुर्न लिप्तो।
गन्धं हिङ्गु त्यजति च तथा तिक्ततां निम्बकल्कः।
पाके दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमौ
कान्तं लौहं तदिदमुदितं लक्षणोक्तं च नान्यत्'॥ (र० र० स० ५।९५)

२. 'गुरुता दृढतोत्क्लेदः कश्मलं दाहकारिता।
अश्मदोषः सदुर्गन्धो दोषाः सप्तायसः स्मृताः'॥ (आ० प्र० ३।२२३)

तथा शरीर में शैथिल्य होकर अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः शोधनपूर्वक लोहे का भस्म बनाना चाहिए।[1]

अशुद्ध लोह सेवन से वातव्याधि, अपस्मार, गुल्म, शोथ, उदररोग, कुष्ठ, मधुमेह एवं राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होते हैं।[2] अशुद्ध लोह के सेवन से हृदय में पीड़ा, अग्निमान्द्य तथा रोगी मृत्यु को भी प्राप्त कर सकता है।[3] इसी प्रकार अशुद्ध लोह का सेवन पण्डता, कुष्ठ, मृत्यु को देने वाला तथा हृद्रोग, शूल, अश्मरी, हृल्लास तथा अन्य विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।[4]

भस्म हेतु ग्राह्य श्रेष्ठ लोह—शान आदि चढ़ाने से प्राप्त तीक्ष्ण लोह का चूर्ण चुम्बक से ग्रहण करना चाहिए; जो शस्त्र निर्माण करने वाले लोहकार से प्राप्त किया जा सकता है।[5] पुराना टूटा शस्त्र (तलवार का टुकड़ा) भी रसकार्य के लिए उत्तम माना जाता है।

अथवा—तीक्ष्ण लोह के फलक को रेतवा कर उसका चूर्ण बना लें तथा शोधन हेतु लें।[6] जिन कारखानों में तलवार, चाकू, बन्दूक की नाल आदि बनाये जाते हैं वहाँ से तीक्ष्ण लौह चूर्ण प्राप्त करना चाहिए।[7]

लौह चूर्ण न मिलने पर तीक्ष्ण लौह को पिटवाकर सूक्ष्म कण्टकवेधी पत्र बनवा शोधन हेतु प्रयोग में लायें।[8]

१. 'अशुद्धलोहं न हितं निषेवणादायुर्बलं कान्तिविनाशि निश्चितम्।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं रुजं करोत्येव विशोध्य मारयेत्'॥ (र० र० स० ५।७५)

२. 'वातव्याधि ह्यपस्मारि गुल्मी शोथी तथोदरी।
कुष्ठी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः'॥

३. 'हृत्पीडां वह्निदौर्बल्यं महारोगान्मृतिं तथा।
करोति सेवनाल्लोहमशोधितममारितम्॥
तस्मात् कान्तस्य संशुद्धिर्मारणं च विधीयते'। (आ० क० क्रि० ५।८)

४. 'षण्ढत्वकुष्ठामयमृत्युदं भवेद्धृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीं च।
नानारुजानां च तथा प्रकोपं करोति हृल्लासमशुद्धलोहम्'॥ (आ० प्र० ३।२२४)

५. 'शाणोद्वान्तं सारचूर्णं गृहीतं चुम्बकाश्मना।
शस्त्रकुल्लोहकाराणां गृहे तद् बहुलं भवेत्'॥ (आ० प्र० ३।२३७)

६. 'तीक्ष्णलोहस्य फलकान्यादाय भिषजां वरः।
रेतयेल्लोहकारैस्तच्चूर्णं शुद्धयै प्रयोजयेत्'॥ (र० त० २०।११)

७. 'कृपाणादिविनिर्माणमुख्ययन्त्रालयादितः।
नुरेतितं तीक्ष्णलोहचूर्णं शुद्धयै नियोजयेत्'॥ (र० त० २०।१२)

८. 'सूक्ष्मकण्टकवेधीनि पत्राणि खलु कारयेत्।
लोहस्य लोहकारैस्तु तानि शुद्धयै नियोजयेत्'॥ (र० त० २०।१३)

Scanned with CamScanner

लोहे का शोधन

सामान्य शोधन—१. लोहे के कंटकवेधी पत्रों को रक्तप्रतप्त कर प्रथम तैल, तक्र, गोमूत्र, आरनाल एवं कुलत्थ क्वाथ में क्रमशः ५-५ बार बुझाकर प्रयोग करना चाहिए। इससे लोहे की सामान्य शुद्धि हो जाती है।[1]

२. अथवा कदलीमूल स्वरस में ७ बार लोहे को प्रतप्त कर बुझा लेने से उसकी उत्तम प्रकार से शुद्धि हो जाती है।[2]

३. मुण्डादि सभी प्रकार के लोहों में से जिसका शोधन करना हो उसके पतले कण्टकवेधी पत्र लेकर शशक के रक्त का लेप कर अथवा यदि लोह चूर्णरूप का हो तो शशक रक्त की भावना देकर तीव्र अग्नि में तपा देने से लोहे का सभी दोष नष्ट हो जाता है। इस प्रक्रिया को तीन बार करना चाहिए।[3]

लोहे का विशेष शोधन—

१. १६ पल त्रिफला को आठ गुने जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ में ५ पल लोहे को तपा-तपाकर ७ बार बुझाने से लोहा विशेष रूप से शुद्ध हो जाता है।[4]

२. समुद्र लवण के गाढ़े घोल का लोह पत्रों पर लेपकर उसे प्रतप्त कर त्रिफला क्वाथ में बुझा लें। इस प्रकार सात बार कर लेने से लोहा शुद्ध हो जाता है।[5]

३. इमली पत्र स्वरस अथवा क्वाथ अथवा त्रिफला को गोमूत्र में पकाकर

---

१. 'तैले तक्रे गवां मूत्रे आरनाले कुलत्थजे।
क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्वावे द्वावे तु सप्तधा'॥

२. 'तप्तानि सर्वा लौहानि कदलीमूलवारिणि।
सप्तधा त्वभिषिक्तानि शुद्धिमायान्त्यनुत्तमाम्'॥ (र० सा० सं०)

३. 'शशक्षतजसंलिप्तं त्रिवारं परितापितम्।
मुण्डादिसकलं लोहं सर्वदोषान्विमुञ्चति'॥ (र० र० स० ५।१०१)

४. (क) 'तैलादितक्रसंशुद्धं लोहं शोध्यं विशेषतः।
त्रिफलाष्टगुणेतोये त्रिफलापोडशं पलम्॥
क्वाथ्यं पादावशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम्।
कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवारं निषेचयेत्'॥
(रसामृत ३।१३२-१३३)

(ख) 'क्वाथ्यमष्टगुणे तोये त्रिफलापोडशं पलम्।
तत्क्वाथे पादशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम्॥
कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवारं निषेचयेत्।
एवं प्रलीयते धातुर्गिरिजो लोहसम्भवः'॥ (र० र० स० ५।१०३)

५. 'सामुद्रलवणोपेतं तप्तं निर्वापितं खलु।
त्रिफलाक्वथिते नूनं गिरिदोषमयस्त्यजेत्'॥ (र० र० स० ५।१०४)

चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ में अनेक बार अथवा सात बार तपा-तपाकर बुझा लेने से लोहा सभी दोषों से मुक्त हो जाता है।[1]

व्यवहार में इस प्रकार शोधित लोहपत्रों को एक मिट्टी के घड़े में डाल उसमें सम्पूर्ण लोह अच्छी तरह भींग जाय, इतना गोमूत्र डाल दें तथा घड़े के मुख को एक सकोरे (शराव) से ढककर धूप में रख दें। गोमूत्र के सूख जाने पर और गोमूत्र डाल दें। इस प्रकार एक मास गोमूत्र, एक मास त्रिफला क्वाथ तथा एक मास तक कुमारी स्वरस के साथ रखें। ऐसा करने से लोह पत्र चूर्ण सदृश हो जाता है, जिसे अच्छी प्रकार मर्दन कर कपड़े से छानकर भस्म-निर्माण हेतु उपयोग में लायें।

लोहे का मारण—

१. शुद्ध लोहे के कपड़छन चूर्ण को दिन भर गोमूत्र में मर्दन कर टिकिया बनाकर सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में पकायें। इस प्रकार गोमूत्र में ३ बार, त्रिफला के क्वाथ में ३ बार, क्षारपाठा के रस में ३ बार और ३ बार पुनर्नवा के स्वरस में मर्दन कर गजपुट की अग्नि दें। तेरहवें पुट में लोहचूर्ण का १२वाँ भाग शुद्ध हिंगुल मिलाकर अर्कक्षीर की भावना देकर अर्धगजपुट की अग्नि दें। इसी प्रकार के दो पुट और दें। इस प्रकार १५ पुट में लोहे का उत्तम भस्म बन जाता है।[2]

२. त्रिफला में अष्टगुण गोमूत्र डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ बनायें। इस क्वाथ से शुद्ध कपड़छन लोहचूर्ण का २१ दिनों तक मर्दन करें। तत्पश्चात् इस चूर्ण को शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट में फूंक दें। दूसरे दिन पुनः उसी गोमूत्र निर्मित त्रिफला क्वाथ की दिनभर भावना देकर रात्रि में पुट दे दें। इस प्रकार २१ पुट दें। इस विधि से तीनों प्रकार के लोहे (मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त) का भस्म बन जाता है।[3]

---

१. 'चिञ्चाफलजलक्वाथादयोदोषमुदस्यति।
यद्वा फलत्रयोपेतं गोमूत्रे क्वथितं खलु'॥ (र० र० स० ५।१०५)

२. गोमूत्रेण दिनं मर्द्यं तीक्ष्णचूर्णं प्रयत्नतः।
विधाय चक्रिकाः शुष्कास्ततो गजपुटे पचेत्॥
दद्यात्त्रीणि पुटान्येवं तथैव त्रिफलाशृतैः।
कुमारीस्वरसैस्तद्वद्वर्षाभूस्वरसेन च॥
त्रयोदशे पुटे दत्त्वा दरदं द्वादशांशतः।
अर्ककीरेण सम्मर्द्य ह्यर्धभाग्ये पुटे पचेत्॥
एवं पुटत्रयं दद्याल्लोहभस्मप्रजायते'। (रसामृत ३।१३४-१३६)

३. 'गोमूत्रैस्त्रिफलाक्वाथ्या तत्कषायेण भावयेत्।
त्रिःसप्ताहं प्रयत्नेन दिनैकं मर्दयेत्पुनः॥
रुद्ध्वा गजपुटे पच्यादिनं क्वाथेन मर्दयेत्।
दिवा मर्द्यं पुटेद्रात्रावेकविंशद्दिनावधि॥
एकविंशत्पुटैरेवं म्रियते त्रिविधं ह्ययः॥ (र० र० स० ५।१२५-२६)

Scanned with CamScanner

३. तीक्ष्ण लोह को अनेक बार प्रतप्त कर जल में बुझाकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें। अब इसमें समान भाग शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक मिलाकर अच्छी प्रकार घोटकर शराव सम्पुट में बन्दकर गजपुट में फूंक दें। पुनः समान भाग पारद-गन्धक की कज्जली मिलाकर पुट दें। इस प्रकार २० पुट देने से लोहे का सुन्दर भस्म बन जाता है।[१]

४. २०-२० तोले शुद्ध हिंगुल एवं तीक्ष्ण लोह का सूक्ष्म पत्र लें। सर्वप्रथम स्त्री-दुग्ध से हिंगुल को मर्दन कर लेप-सदृश बना तीक्ष्ण लोह के पत्रों पर उसका लेप कर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ठण्डा हो जाने पर निकालकर इस लौह चूर्ण में पुनः १ तोला शुद्ध हिंगुल मिलाकर त्रिफला क्वाथ, नीबू स्वरस तथा काँजी से भली प्रकार मर्दन कर टिकिया बना-सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि दें। इस दूसरे पुट के समान ३८ पुट और दें। इस प्रकार कुल ४० पुट देने से मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त ये तीनों लोह भस्मीभूत हो जाते हैं।[२]

५. २० तोला शुद्ध लौह चूर्ण में १ तोला शुद्ध गन्धक तथा ३ माशा शुद्ध रस-कर्पूर मिलाकर कुमारी के स्वरस में एक दिन मर्दनकर टिकिया बना-सुखाकर शराव सम्पुट में बन्दकर दस प्रस्थ कण्डों (उपलों) की आँच में पकायें। इसी प्रकार ४-४ पुट शुद्ध गन्धक, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध संखिया और शुद्ध हरताल के योग से देवें। इस तरह कुल १६ पुट देकर उसमें समभाग बीरबहूटी मिलाकर एक दिन खरल में अच्छी प्रकार मर्दन करें; फिर इसे लोहे की कढ़ाही में डाल चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द आँच पर

१. 'तीक्ष्णलौहस्य पत्राणि निर्दलानि दृढेऽनले।
ध्मात्वा क्षिपेज्जले सद्यः पाषाणोलूखलोदरे॥
खण्डयेद्दृढनिर्घातैः स्थूलया लोहपारया।
तन्मध्ये स्थूलखण्डानि रुद्ध्वा मल्लद्वयान्तरे॥
ध्मात्वा क्षिप्त्वा जले सम्यक् पूर्ववत्कण्डयेत्खलु।
तच्चूर्णं सूतगन्धाभ्यां पुटेद्विंशतिवारकम्॥
पुटे पुटे विधातव्यं पेषणं दृढवत्तरम्।
एवं भस्मीकृतं लौहं तत्तद्रोगेषु योजयेत्'॥
(र० र० स० ५।१०९-१२)

२. हिङ्गुलस्थपलान्पञ्च नारीस्तन्येन पेषयेत्।
तेन लोहस्य पत्राणि लेपयेत्पलपञ्चकम्॥
रुद्ध्वा गजपुटे पच्यात्कषायैस्त्रैफलैः पुनः।
जम्बीरैरारनालैश्च विंशत्यंशेन हिङ्गुलम्॥
पिष्ट्वा रुद्ध्वा पचेल्लोहं तद्रवैः पाचयेत्पुनः।
चत्वारिंशत्पुटैरेवं कान्तं तीक्ष्णं च मुण्डकम्॥
म्रियते नात्र सन्देहो दत्त्वा दत्त्वैव हिङ्गुलम्॥
(र० र० स० ५।११३-१५)

बीरबहूटी के जल जाने तक पाक करें। अब इसे खरल में अच्छी प्रकार पीसकर, कपड़े से छानकर शीशी में भर कर प्रयोग हेतु रख लें।[१]

६. शुद्ध तीक्ष्ण लौह के सूक्ष्म चूर्ण को श्वेत पुनर्नवा और वासा पत्र स्वरस से मर्दन कर गजपुट की अग्नि देने से सिन्दूर का भ्रम पैदा करे, ऐसा सिन्दूर के समान रक्तवर्ण का भस्म बन जाता है।[२]

७. शुद्ध तीक्ष्ण लौह के सूक्ष्म चूर्ण को त्रिफला क्वाथ से घोंटकर और फिर उसमें चतुर्थांश भाग भात मिलाकर चक्रिका बना लें। इसे सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस विधि से ५ बार गजपुट की अग्नि देने से लाल वर्ण का सुन्दर लोह भस्म तैयार हो जाता है।[३]

८. शुद्ध लौह चूर्ण के बराबर भाग शुद्ध गन्धक लेकर दोनों को एकत्र घृतकुमारी के स्वरस से भावित कर चक्रिका बना-सुखाकर शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार कुछ काल में ही (आठ-दश पुट देने से) लोहे का भस्म बन जाता है।[४]

९. शुद्ध कान्त लौह को आँवले के स्वरस की भावना देते हुए १०० गजपुट देने से उत्तम भस्म बन जाता है। यह उत्तम रसायन एवं आयुवर्द्धक होता है।[५]

१. सुशुद्धे लोहचूर्णे तु पलपञ्चकसम्मिते।
शाणमानं रसविधुं कर्षैकं शुद्धं गन्धकम्॥
दत्त्वा कुमारीस्वरसैर्दिनमेकं विमर्दयेत्।
विधाय चक्रिकाः शुष्का दशप्रस्थवनोत्पलैः॥
पुटेदेवं चतुर्वारं पुटादेयाः प्रयत्नतः।
दरदस्य च मल्लस्य हरितालस्य योगतः॥
चतुर्वारं पुटान् दद्याद्रसतन्त्रविशारदः।
समभागेन्द्रगोपैस्तु मर्दयित्वा दिनावधि॥
ततोऽग्नौ भर्जयेत् किञ्चितद्भस्म वारितरं भवेत्'। (रसामृतम् ३।१४२-४६)

२. 'अथ पूर्वोदितं तीक्ष्णं वसुभल्लकवासयोः।
पुटितं पत्रतोयेन त्रिंशद्वाराणि यत्नतः॥
शोणितं जायते भस्म कृतसिन्दूरविभ्रमम्'॥ (र० र० स० ५।११६)

३. 'यद्वा तीक्ष्णदलोद्भूतं रजश्च त्रिफलाजलैः।
पिष्ट्वा दत्त्वौदनं किञ्चिच्चक्रिकां प्रविधाय च॥
शोषयित्वाऽतियत्नेन प्रपचेत्पञ्चभिः पुटैः।
रक्तवर्णं हि तद्भस्म योजनीयं यथातथम्'॥ (र०र०स० ५।११७-१८)

४. 'समगन्धमयश्चूर्णं कुमारीवारिभावितम्।
पुटीकृतं कियत्कालमवश्यं म्रियते ह्ययः'॥ (र० र० स० ५।१२३)

५. 'विशोधितं कान्तलोहं धात्रीस्वरसपेषितम्।
पुटेद् गजपुटेनैव शतधा कृतचक्रिकाम्॥

Scanned with CamScanner

स्वयमग्निलोह भस्म—१ भाग शुद्ध पारद एवं २ भाग शुद्ध गन्धक लेकर प्रथम अच्छी प्रकार उसकी कज्जली बना लें। अब इस कज्जली के समान भाग (३ भाग) शुद्ध तीक्ष्ण लोह चूर्ण मिलाकर घृतकुमारी स्वरस से २ प्रहर (६ घंटे) अच्छी तरह मर्दन कर गोला बना लें। इस गोले को एरण्ड पत्र में लपेट कर एक काँसे के पात्र में रखें और इसे आधे प्रहर (१½ घण्टे) तक खूब तेज धूप में रखें। अब इस कांस्य पात्र को अन्नराशि में रखकर तीन दिन तक छोड़ दें। तीन दिन पश्चात् कांस्य पात्र को निकाल उसके अन्दर से गोले को निकालकर खूब अच्छी तरह मर्दनकर कपड़-छन कर रख लें। इस विधि से उत्तम वारितर भस्म प्राप्त होता है। इस विधि से कान्त, तीक्ष्ण और मुण्ड इन तीनों प्रकार के लोहों का निरुत्थ भस्म बन जाता है। स्वर्ण आदि समस्त धातुओं का इस विधि से भस्म बनाया जा सकता है। इसे सिद्धों द्वारा निर्देशित सिद्धयोग कहा जाता है।[1] इसे ही स्वयमग्निलोह भस्म कहते हैं।

त्रिविध लौह पाक—

१. भानुपाक।
२. स्थालीपाक।
३. पुटपाक।

सामान्य रूप से लोहे का मारण करने के लिए प्रथम शोधन एवं तत्पश्चात् उसका मारण किया जाता है। मारण की अनेक विधियाँ भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वर्णित हैं। किन्तु व्यवहार में इस समय लोहभस्म निर्माण की प्रक्रिया को तीन उपक्रमों में विभक्त करते हैं। यह विधि रसेन्द्रसारसंग्रह द्वारा निर्दिष्ट है। लोहे के प्रकरण में यह विशेष महत्त्व का माना जाता है। इसे लोहे का त्रिविध पाक भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत शोधन के पश्चात् प्रथम भानुपाक, फिर स्थालीपाक और अन्त में पुटपाक करते हैं। पुटपाक के लिए यहाँ वनस्पतियों के कुछ गण भी बतलाये गये हैं, जिन्हें हम मारण की सुविधा तथा रोग-दोष शमन की दृष्टि से भी ले सकते हैं। यथा—सर्वसाधारण लोहों के सुविधापूर्वक मारण के लिए **त्रिफलादि गण** की औषधियों से, वातविकारों की

शतधा पुटितं कान्तं यात्येवं मृतिमुत्तमाम्।
रसायनं परमिदं तथायुष्करमुत्तमम्' ॥ (र० त० २०।७८-७९)

१. 'शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं खल्वेन कृतकज्जलम्।
द्वयोः समं लौहचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥
यामद्वयात्समुद्धृत्य यद्गोलं कांस्यपात्रके।
आच्छाद्यैरण्डपत्रैश्च यामार्धेऽभ्युष्णतां व्रजेत् ॥
धान्यराशौ न्यसेत्पश्चात्त्रिदिनान्ते समुद्धरेत्।
सम्पेष्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ॥
कान्तं तीक्ष्णं च मुण्डं च निरुत्थं जायते मृतम्।
स्वर्णादीन्मारयेदेवं चूर्णं कृत्वा च लौहवत् ॥
सिद्धयोगो ह्ययं ख्यातः सिद्धानां सुमुखागतः'। (र० र० स० ५।१४१-१३४)

चिकित्सा हेतु यदि लोह भस्म का प्रयोग करना हो तो **एरण्डादि गण** के द्रव्यों से, पित्तविकार की शान्ति के लिए **किरातादि गण** तथा श्लेष्मविकारों की चिकित्सा के लिए **भृंगवेरादि गण** के द्रव्यों से मारण करना चाहिए। इसी प्रकार कुछ अन्य गण भी निर्दिष्ट हैं, यथा—**गोक्षुरादिगण, पटोलादिगण, किंशुकादिगण** एवं **शतवर्यादिगण**। औषधि की उपयोगिता के आधार पर इन गणों का चयन किया जा सकता है।

त्रिविध पाकक्रम—त्रिविध पाक के क्रम में प्रथम भानुपाक फिर स्थालीपाक और अन्त में पुटपाक करने से निरुत्थ लौहभस्म प्राप्त हो जाता है, जो यथोक्त फलों को देने वाला होता है।[1]

(१) **भानुपाक**—त्रिफला क्वाथ के साथ लौह चूर्ण को तीव्र धूप में सुखा लेते हैं, इसलिए इसे भानुपाक कहते हैं।[2]

शोधित लौह के सूक्ष्म पत्रों अथवा चूर्ण को लोहे की ओखली में लोह मूसल से कूटकर बारीक चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को अनेक बार जल अथवा त्रिफला चूर्ण से धोकर स्वच्छ कर लें। अब इस लोह चूर्ण में त्रिफला क्वाथ मिलाकर किसी द्रोण्याकार खरल में (या ट्रे में) रखकर तीव्र धूप में रख दें। जब त्रिफला क्वाथ सूख जाय तो पुनः उसमें त्रिफला क्वाथ डाल दें। इस प्रकार इस विधि को तीन अथवा सात बार दुहराने से (तीन अथवा सात बार त्रिफला क्वाथ डालकर सुखा लेने से) भानुपाक हो जाता है। भानुपाक के लिए लौह चूर्ण के समान भाग त्रिफला लेकर उसमें द्विगुण जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ छानकर लें।[3] लौह चूर्ण का धूप में पाक करने से इसे भानुपाक कहते हैं।

१. (क) 'भानुपाकात्तथा स्थाली पाकाच्च पुटपाकतः।
निरुत्थो जायते लौहो यथोक्तफलदो भवेत्' ॥ (र० सा० सं० १।३०८)
(ख) 'प्रथमं भानुपाकेन स्थालीपाकात्ततः परम्।
पुटपाकेन पक्वश्च लौहं सुमृतिमाप्नुयात्' ॥ (र०/त० २०।२०)

२. 'वराक्वाथयुतं लौहं भानोः प्रखरभानुभिः।
शुष्यन् विपच्यते यस्माद् भानुपाकस्ततः स्मृतः' ॥ (र० त० २०।२१)

३. (क) 'लौहे दृपदि लौहञ्च मुद्गरेण हतं मुहुः।
कृत्वाऽम्बुगलितं शुद्धं जलेन त्रैफलेन वा ॥
क्षालयेद्बहुशः पश्चात्कृत्वा द्रव्यान्तरं पृथक्।
शोषितं भानुभिर्भानोर्भानुपाके प्रयोजयेत् ॥
क्षालने भानुपाके तु लौहतुल्यं फलत्रिकम्।
जलं द्विगुणितं दत्त्वा चतुर्भागावशेषितम् ॥
एवमुक्तं फलक्वाथजलं दत्त्वा पुनः पुनः।
शोषयेत् सूर्यतेजोभिर्निरन्तरमहस्त्रयम् ॥
अथवा तत्र तत्क्वाथं दत्वा दत्वा भिषग्वरः।
सप्तसप्तविधैरेव सप्त वारान् विशोधयेत्' ॥ (र० सा० सं० १।३०९-१३)

Scanned with CamScanner

(२) **स्थालीपाक**—भानुपाक से प्राप्त लौह चूर्ण को त्रिफला क्वाथ के साथ एक स्थाली (पतीली अथवा लोहे की कड़ाही) में रखकर तीव्र अग्नि पर पकाकर सुखा लेने को स्थालीपाक कहते हैं।[1]

इस विधि में लौह चूर्ण से ३ गुना त्रिफला लेकर १६ गुने जल में पाक करके अष्टमांश क्वाथ शेष रखें। इसे छानकर स्थालीपाक के लिए लें। त्रिफला क्वाथ के अनन्तर (अतिरिक्त) लौह चूर्ण को शतावरी, भृंगराज, हस्तिकर्ण, पलाशमूल स्वरस आदि द्रव्यों का स्वरस या क्वाथ लौह चूर्ण के समान भाग में लेकर इनके साथ स्थालीपाक किया जाता है। इसके अतिरिक्त जिस दोषविशेष का शमन करने के लिए लौह भस्म का प्रयोग करना हो, उस दोष की शामक औषधि के स्वरस अथवा क्वाथ के साथ भी लोहे का स्थालीपाक किया जा सकता है। यदि द्रव्य का स्वरस न मिल सके तो उस औषधि द्रव्य के मृदुत्व, मध्यत्व अथवा कठिनत्व को ध्यान में रखकर यथानुक्रम चतुर्गुण, अष्टगुण अथवा षोडश गुण जल डालकर लौह चूर्ण के बराबर क्वाथ अवशिष्ट रखकर स्थालीपाक के लिए उपयोग में लें।[2]

(३) **पुटपाक**—स्थालीपाक के बाद लौह चूर्ण को विविध औषधियों के स्वरस

(ख) 'विमलं खलु लौहन्तु सलिलक्षालितं भिषक्।
त्रिफलाक्वाथसंयुक्तं ततः खल्वे निधापयेत्॥
निदाघे तु निधायाथ भानोः प्रखरभानुभिः।
शोषयेद्भिषजां वर्यः कुर्यादेवं तु समधा॥
भानुपाके लौहतुल्या त्रिफला द्विगुणं जलम्।
पादशेषितञ्चाथ वराक्वाथं प्रयोजयेत्'॥ (र० त० २०।२२-२४)

१. 'त्रिफलाक्वथितोप्तं लौहं स्थाल्यां खराग्निना।
शुष्यन् विपच्यते यत्नात् स्थालीपाकस्ततः स्मृतः'॥ (र० त० २०।२५)

२. (क) 'इत्थमादित्यपाकान्ते स्थाल्यां पाकमुपाचरेत्।
स्थालीपाके फलं ग्राह्यमयसस्त्रिगुणीकृतम्॥
तस्य षोडशिकं तोयमष्टभागावशेषितम्।
मृदुमध्यकठोराणामन्येषामयसा समम्॥
क्वथनीयं समादाय चतुरष्टौ च षोडश।
गुणानां स्थाप्यते तोयं शोषयेदयसा समम्॥
स्वरसस्यापि लौहेन स्थालीपाके समानता।
स्थाल्यां क्वाथादिकं दत्त्वा यथाविधि विनिर्मितम्।
पाकेन क्षीयते यस्मात् स्थालीपाक इति स्मृतः॥
हस्तिकर्णपलाशस्य मूलञ्च शतमूलिका।
भृङ्गराजाख्यराजानामेषां निजरसैः सह॥
मिलित्वा वा विधातव्यं स्थालीपाके फलादनु।
यथादोषौषधेनापि स्थालीपाको विधीयते'॥(र० सा० सं० ३।३१४-२०)

एवं क्वाथ से मर्दन कर सुखा कर शरावसम्पुट में बन्दकर पुट देने की क्रिया को पुट-पाक विधि कहते हैं।[1]

स्थालीपाक द्वारा अच्छी प्रकार पाक किये हुए लौह चूर्ण को प्रथम स्वच्छ जल से अच्छी तरह धोकर सुखा लेते हैं। तत्पश्चात् इस चूर्ण को खरल में डालकर अपेक्षित तत्तद् दोषहर औषधियों के स्वरस या क्वाथ में खूब अच्छी तरह घोंटकर चक्रिका बना-सुखाकर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में पुटपाक करें। इस प्रकार भिन्न-भिन्न औषधियों के स्वरस या क्वाथ की भावना देते हुए ठीक-ठीक भस्म बनने (वारितर होने) तक पुटपाक करें।

पुट देने से लौहों के सम्पूर्ण दोष नष्ट हो जाते हैं। उसमें अनेक गुणों की उत्पत्ति हो जाती है और लौहों का सुन्दर भस्म बन जाता है। १ बार पुट देकर बनाया गया लोह भस्म रसकर्म के लिए उपयुक्त माना जाता है। १० से १०० पुट दिया गया (या साठ पुट तक) लोहभस्म रोगों को दूर करने वाला तथा १०० से १००० तक पुट दिया गया रसायन-वाजीकरण के लिए उपयोगी माना जाता है। पुटों से इसमें उत्तरोत्तर गुणवृद्धि होती जाती है।[2]

(ख) 'भानुपाकविपक्वन्तु लोहं प्रक्षालयेदलम्।
ततः स्थाल्यां तु विन्यस्य चुल्लिकायां निधापयेत्॥
वराक्वाथेन सुपचेदतिवेलं खराग्निना।
शोषयेत्सलिलं यत्नात् लौहकर्मविचक्षणः॥
स्थालीपाके त्रिगुणिता वरा षोडशिकं जलम्।
अष्टभागावशिष्टञ्च क्वाथमानं विधीयते॥
शतमूलीभृङ्गराजहस्तिकर्णशिफोत्थितैः।
रसैः समैर्वापि भिषक् स्थालीपाकं समाचरेत्॥
यथादोषौषधेनापि स्वरसं वा कषायकम्।
आदाय क्वाथमानज्ञः स्थालीपाकं समाचरेत्'॥ (र० त० २०।२६-३०)

१. 'रसादिभिर्भेषजानां खल्वे लोहं विमर्दितम्।
पुटस्थं पच्यते यस्मात् पुटपाकस्ततः स्मृतः'॥ (र० त० २०।३१)

२. (क) 'स्थालीपाके सुसम्पक्वं प्रच्छाल्य स्वच्छवारिणा।
शुष्कं सञ्चूर्ण्य यत्नेन पुटपाके प्रयोजयेत्॥
पुटाद्दोषविनाशः स्यात् पुटादेव गुणोदयः।
म्रियते च पुटाल्लौहस्तस्मात्पुटं समाचरेत्॥
यथा यथा प्रदीयन्ते पुटाः बहुशो यदि।
तथा तथा प्रकुर्वन्ति गुणानेव सहस्रशः॥
पुटपाकेन पक्वन्तु शस्यते रसकर्मसु।
दशादिशतपर्यन्तो गदे पुटविधिर्मतः॥

Scanned with CamScanner

लोह मारण के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य—लौह भस्म का जिस-जिस रोग को नष्ट करने के लिए उपयुक्त भस्म बनाना हो उन-उन रोगों को नष्ट करने वाली औषधियाँ जहाँ तक मिल सकती हों, उन्हें लेकर उसी के साथ लोह का मर्दन कर पुटपाक करना चाहिए। यदि तत्तद् रोगनाशक वनस्पतियाँ उपलब्ध न हो सकती हों तो केवल त्रिफला कषाय में सौ अथवा हजार पुट दी हुई लोह भस्म ही सर्वत्र काम में ला सकते हैं।[1]

लौहनिरुत्थीकरण—किसी भी विधि द्वारा मारित लौह भस्म में समान भाग शुद्ध गन्धक एवं गोघृत मिलाकर कुमारी स्वरस से मर्दनकर चूर्णरूप में बना, शराव

शतादिस्तु सहस्रान्तः पुटो देयो रसायने।
वाजीकर्मणि विज्ञेयो दशादिशतपञ्चकः॥
तावदेव पुटेल्लोहं यावच्चूर्णीकृतं जले।
विस्तरङ्गे लघुत्वेन समुत्तरति हंसवत्॥
पुटपाकौषधस्यापि क्वाथो वा स्वरसोऽपि वा।
वक्ष्यमाणप्रमाणेन कर्त्तव्यो भिषजां वरैः॥
रसाभावे तु सर्वेषां क्वाथो ग्राह्यो मनीषिभिः'। (आ० प्र०)

(ख) 'स्थालीपाकविपक्वन्तु लोहं प्रच्छालयेन्ततः।
यवादोषौषधोत्थेन रसेन क्वथितेन वा॥
लोहखल्वे सुसम्पेष्य चक्रिकाः कारयेत्ततः।
आतपे खलु शंशोष्य मृच्छरावे तु विन्यसेत्॥
शरावेण पिधायाथ दृढसन्धि प्रलेपयेत्।
वनार्तीतैः करीषैर्वा ह्युत्पलैर्हंस्तपिण्डितैः॥
पुटेद् गजपुटेनैह पुटपाकक्रियापटुः।
स्वाङ्गशीतं ततो ज्ञात्वा सम्पुटन्तु समाहरेत्॥
पुनः पूर्ववदेदेह दत्त्वा क्वाथोदकं पुनः।
सम्पेष्य सम्पुटे कृत्वा पुटेत्पुटविधानवित्॥
सहस्रवारमथवा शतवारमथापि वा।
षष्टिवारं पुटेद्वापि लोहं गुणविवृद्धये॥
गुणोदयो भवत्येवं पुटनादुत्तरोत्तरम्।
एवं पुटविपक्वन्तु लोहं सुमृतिमाप्नुयात्'॥
(र० त० २०।३२-३८)

१. 'तत्तद्रोगघ्नभैषज्यैस्तत्तद्रोगापनुत्तये।
यथालाभं पुटेत्कामं प्राणाचार्यो विचक्षणः॥
पुटितस्यायसोऽभावे तत्तद्रोगघ्नभेषजैः।
त्रिफलापुटितं लोहं सर्वत्र विनियोजयेत्'॥ (र० त० २०।५१-५२)

सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूँक दें। इस प्रकार १ गजपुट दे देने से लोह भस्म निरुत्थ हो जाता है।[1]

निरुत्थीकृत लौहभस्म का परीक्षण—लौह भस्म को मित्रपञ्चक (घृत, मधु, गुग्गुल, गुञ्जा एवं टंकण) के साथ घोंटकर गजपुट की अग्नि में फूँक दें। यदि भस्म में कोई लोह का स्थूल कण नहीं बनता हो तो भस्म को निरुत्थ जानें और यदि पुट देने पर भस्म में कोई लोहे के पिण्ड सदृश खण्ड बनता हो तो भस्म ठीक नहीं बना है, ऐसा समझना चाहिए।[2] मित्रपंचक की सम्मिलित मात्रा लोह भस्म के बराबर लेनी चाहिए।

निरुत्थीकरण की परीक्षा का उद्देश्य भस्म में अवशिष्ट अमारित लोहांश (Free metal) को देखना होता है। ऐसी धारणा है कि धातुओं से निर्मित भस्म में मुक्त धात्वंश (Free metal) अवशिष्ट नहीं रहना चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण धात्वंश का भस्म में परिवर्तन हो जाना चाहिए। यदि धात्वंश अवशिष्ट होगा तो भस्म का सम्पूर्ण आचूषण शरीर में नहीं हो पायेगा तथा ऐसे भस्म के सेवन से उसके दुष्प्रभाव (Toxicity or demeging effect) शरीर के मर्मांगों पर होने की सम्भावना रहेगी।

अमारित लौहभस्म सेवन के दोष—अपक्व लौह भस्म जीवन को नष्ट करने वाला (मृत्युकर) एवं शरीर में शूल (वेदना) उत्पन्न करता है। यह शरीर की कान्ति (सुन्दरता) का नाश करने वाला तथा हृल्लीड़ा उत्पन्न करता है।[3]

उत्तम लौह भस्म का लक्षण—तीक्ष्ण लौह भस्म का वर्ण पक्व जम्बूफल सदृश कहा गया है। भस्म के अन्य लक्षणों यथा—वारितर, रेखापूर्ण, निश्चन्द्र, अपुनर्भव, निरुत्थ, लघुता, सूक्ष्मता, श्लक्ष्णता, मृदुता, स्वादहीनता तथा अवामि आदि लक्षणों से युक्त लौह भस्म उत्तम होता है।

१. 'मृतं लौहं गव्यमाज्यं तथा शुद्धञ्च गन्धकम्।
दत्त्वा कन्याम्भसा पिष्ट्वा शुष्कचूर्णञ्च कारयेत्॥
सम्पुटस्थं ततः कृत्वा पुटेद् गजपुटे भृशम्।
इत्थमेकपुटेनैव भवेल्लोहं निरुत्थितम्'॥ (र० त० २०।८०-८१)

२. विविधविधिहतं वै त्वायसं तीक्ष्णकान्तं
घृतमधुपुरगुञ्जाटङ्कणक्षोदयुक्तम्।
सुपुटितमनलस्थं क्षेत्रयत्यात्मभावं
भवति सुमृतमेतत्सर्वयोगोपयुक्तम्'॥ (र० त० २०।८२)

३. (क) 'अशुद्धलौहं न हितं निषेवणादायुर्बलं कान्तिविनाशि निश्चितम्।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं रुजं करोत्येव विशोध्य मारयेत्'॥
(र० र० स० ५।१४६)

(ख) 'जीवहारि मदकारि चायसं देहशूलकृदसंस्कृतं ध्रुवम्।
पाटवं च तनुते शरीरके दारुणां हृदि रुजां च यच्छति'॥
(आ० प्र० ३।२२५)

Scanned with CamScanner

लौह भस्म के विविध वर्ण—

१. पक्व जम्बूफल का वर्ण—यह प्रायः रक्त-कृष्ण वर्ण का मिश्रण होता है और यह वर्ण विशेषरूप से कान्तलोह के भस्म में देखा जाता है।[1]

२. रक्तवर्ण (लाल वर्ण)—लौह भस्म का लाल वर्ण उसके लौह आक्साइड (Iron oxide) बनने के कारण होता है, क्योंकि लगभग सभी आयरन आक्साइड लालवर्ण का (Brick red colour) होता है।

३. गृहधूम सदृश कृष्णवर्ण—यह वर्ण स्वयमग्नि लौह भस्म (निरग्नि तीक्ष्ण भस्म) में देखा जाता है। इस भस्म की निर्माण-प्रक्रिया में कम अग्नि मिलने के कारण ऑक्सीजन का संयोग अत्यल्प होता है तथा पारद-गन्धक की कज्जली के कृष्ण-वर्ण के कारण भस्म का वर्ण कृष्णवर्ण का होता है।

लोहों की परस्पर गुणकारिता—मण्डूर से दश गुना मुण्डलोह, मुण्ड से सौ गुना तीक्ष्ण लौह तथा तीक्ष्ण से लाख गुना कान्त लौह सेवन में अधिक गुणकारी होता है।[2]

लोहभस्म के गुण—यह रस में तिक्त, मधुर तथा कषाय; वीर्य में शीत (उष्ण र० का० धे०) तथा गुण में सर, गुरु एवं रूक्ष कहा गया है। कर्म में यह लेखन, वल्य, वृष्य, आयुष्य, वयस्तम्भक, वर्ण्य, मेध्य, चक्षुष्य, योगवाही, रक्तवर्द्धक, कोष्ठ-शोधक, वाजीकर, वीर्यवर्द्धक एवं पुत्रप्रद है। इसे अत्यन्त गुणकारी, श्रेष्ठतम रसायन, कामोद्दीपक तथा वलकारक कहा गया है। लौह भस्म से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम रसायन नहीं है। त्रिदोषनाशक है। रोगों में यह शोथ, शूल, अर्श, पाण्डु, कामला, कृमि, शोष, प्लीहा रोग, मेदोरोग, कुष्ठरोग, जरा-व्याधि, रक्तज रोग, गुल्म, उदर, हृद्रोग, कफज रोग, श्वास, कास, प्रमेह, ग्रहणी, ज्वर, आमवात, भ्रम, क्षीणता, पीनस, वमन, अरुचि, वन्ध्यत्व, आमज रोग तथा मृत्यु को नष्ट करता है।[3]

---

१. 'पक्वजम्बूफलच्छायं कान्तलोहं तदुत्तमम्' ॥ (र० र० स० ५।१४०)

२. 'किट्टाद्दशगुणं मुण्डं मुण्डात्तीक्ष्णं शतोन्मितम्।
तीक्ष्णाल्लक्षगुणं कान्तं भक्षणात्कुरुते गुणान्' ॥ (र० र० स० ५।१४७)

३. (क) 'लौहं रूक्षं सुमधुरमलं पाकतश्चाथ तिक्तं
वीर्ये शीतं गुरु च तुवरं लेखनश्चातिनेत्र्यम्।
वल्यं वृष्यं जठरगदनुत् श्लेष्मपित्तामयघ्नं
वर्ण्यं मेध्यं खलु किमधिकं हन्ति नानामयघ्नम् ॥
लौहं दीपनमुत्तमं क्षयहरं कुष्ठामयध्वंसकं
गुल्मप्लीहविधूननं क्रिमिहरं पाण्ड्वामयघ्नं परम्।
मेदोमेहनिबर्हणं गदहरं दुर्नामरोगान्तकृत्।
छर्दिश्वासहरं त्वलं बहुगिरा योगेन नानार्तिनुत्।
विसर्पकरिकेशरी प्रबलशूलनिर्मूलनः
क्षयक्षयकरः परं चिरजशोथसङ्कोचनः।

हाथ-पैर तथा आँतों में रहने वाला पित्त विकार लोहभस्म के सेवन से शीघ्र नष्ट हो जाता है।[1]

मुण्डलौह भस्म के गुण-कर्म—मुण्डलोह भस्म रस में तिक्त, कषाय एवं मधुर; वीर्य में शीत तथा गुण में गुरु एवं रूक्ष होता है। कर्म में यह अग्निदीपक, कोष्ठशुद्धिकर रक्तवर्द्धक एवं कफवातहर है। व्याधियों में यह शूल, अर्श, प्रमेह, कामला, पाण्डु गुल्म, आमवात, उदर रोग, शोफ, दाह, आमशूल, आमकफ, शोष, कुष्ठ एवं रक्तज रोगों को नष्ट करने वाला होता है।[2]

तीक्ष्ण लौह भस्म के गुण-कर्म—

खरतीक्ष्ण लौह भस्म रस में तिक्त; वीर्य में शीत/उष्ण; विपाक में मधुर तथा गुण में रूक्ष होता है। कर्म में यह दीपन, रसायन, वल्य एवं कफपित्तकर है। व्याधियों में यह सद्यः शूलहर, यकृद्विकार, प्लीहारोग, उदररोग, आमशूल, पाण्डु, क्षय, कुष्ठ, जराजन्य रोग, अर्श, प्रमेह, आमवात एवं मेदोरोग नाशक है।[3]

सारतीक्ष्ण लौह भस्म—रक्त में तिक्त, कषाय; वीर्य में शीत तथा गुण में गुरु एवं रूक्ष होता है। यह पित्त का नाश करता है। व्याधियों में यह छर्दि, पीनस, श्वास, कास, ग्रहणी, अतिसार, अर्धांगवात, सर्वांगवात तथा परिणामशूलनाशक है।

यकृद्गदविधूननो गुदमहागदेभाङ्कुशः
परं विजयतेतरां विधिर्हतस्तु लौहो ह्ययम् ॥
श्वासं नाशयति क्रिमीन् कृशयति क्षैष्ण्यं क्षिणोति द्रुतं
शोषं शोषयति भ्रमं त्वपहरेच्छूलं समुन्मूलयेत्।
कासं ह्रासयति क्षयं क्षपयति भ्रान्तिं निहन्त्यन्ततः
स्थौल्यं विह्वलयत्यलं दलयति श्लेष्मामयान् सर्वथा' ॥
(र० त० २०।८३-८६)

(ख) 'आयुष्प्रदाता बलवीर्यकर्ता रोगप्रहर्ता मदनस्य कर्ता।
अयःसमानं न हि किञ्चिदन्यद्रसायनं श्रेष्ठतमं हि जन्तोः' ॥
(र० र० स० ५।१४९)

१. 'शाखाश्रितं कोष्ठसमाश्रितं वा पित्तं विवृद्धन्तु मलाभिधेयम्।
मृतन्तु लोहं शमयेन्नितान्तं यथा समीरः खलु मेघवृन्दम्' ॥
(र० त० २०।९७)

२. 'मुण्डं परं मृदुलकं कफवातशूलमूलाममेहगदकामलपाण्डुहारि।
गुल्मामवातजठरार्तिहरं प्रदीपि शोफापहं रुधिरकृत्खलुकोष्ठशोधि' ॥
(र० र० स० ५।७४)

३. 'रूक्षं स्यात्खरलोहकं समधुरं पाकेऽथ वीर्ये हिमं
तिक्तोष्णं कफपित्तकुष्ठजठरप्लीहामपाण्ड्वर्तिनुत्।
सद्यः शूलयकृद्गदक्षयजरामेहामवातापहं
दीप्तञ्चातिरसायनं बलकरं दुर्नामदाहापहम्' ॥ (र० र० स० ५।८४)

Scanned with CamScanner

कान्त लौह भस्म के गुण[1]— यह रस में तिक्त; गुण में स्निग्ध एवं वीर्य में शीत है। कर्म में यह बल-वीर्यवर्द्धक, शरीरवर्द्धक, अग्निवर्द्धक, रसायन, दीर्घ आयुष्यकर, वृष्यतम, ओजोवर्द्धक, तेजोवर्द्धक, दृष्टिवर्द्धक, कान्तिवर्द्धक एवं समग्ररोगहर है। यह त्रिदोषशामक है। व्याधियों में यह शोफ, पाण्डु, कामला, हलीमक, जरारोग, क्षय, अठारह प्रकार के कुष्ठ, गुल्म, उदररोग, उदरशूल, अर्श, भगन्दर, यकृद्-प्लीहारोग, अम्लपित्त, प्रमेह, आमदोष, आमवात एवं शिरोरोगों का नाश करता है।

लौहभस्म की मात्रा—½ रत्ती से प्रारम्भ कर २ रत्ती तक।[2]

लौहभस्म का अनुपान—त्रिफला एवं मधु के साथ सभी रोगों में उपयोगी है। इनके अतिरिक्त घी, मक्खन, दूध, शिलाजतु एवं तत्तद्रोगहर औषधियों के स्वरस क्वाथ एवं चूर्ण के साथ लेना चाहिए।[3]

लौहभस्म सेवन काल में अपथ्य—कूष्माण्ड, तिलतैल, माष, राई, मद्य, अम्लद्रव्य एवं मसूर को लौहभस्म सेवनकाल में अपथ्य माना गया है।[4] अतः इनका त्याग करना चाहिए।

लौहभस्म सेवन से उत्पन्न विकार की शान्ति—लौह भस्म सेवन से उत्पन्न विकारों में अगस्त्य स्वरस भावित विडंग का अगस्त्य स्वरस के साथ सेवन करना चाहिए।[5]

लौहभस्म के प्रमुख योग—

१. आरोग्यवर्द्धनी, २. चन्द्रप्रभा वटी, ३. धात्रीलौह, ४. नवायस लौह, ५. सप्तामृत लौह, ६. नयनामृत लौह, ७. प्रदरान्तक लौह, ८. पुटपक्वविषमज्वरान्तक लौह, ९. यकृत्प्लीहारि लौह, १०. लौह पर्पटी तथा ११. लोहासव आदि।

मण्डूर
(Iron Oxide)

नाम—संस्कृत : मण्डूर। हिन्दी : मण्डूर, लौहकिट्ट।

---

१. 'कान्तायोऽतिरसायनोत्तरतरं स्वस्थे चिरायुःप्रदं
स्निग्धं मेहहरं त्रिदोषशमनं शूलाऽऽममूलापहम्।
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयामयहरं पाण्डूदरव्याधिनुत्तिक्तोष्णं
हिमवीर्यकं किमपरं योगेन सर्वातिनुत्' ॥ (र० र० स० ५।९६)

२. 'आरभ्य गुञ्जापादांशात् गुञ्जाद्वितयसम्मितम्।
मृतं लौहं प्रयुञ्जीत प्राणाचार्यः प्रयत्नतः' ॥ (र० त० २०।९८)

३. 'त्रिफलामधुसंयुक्तं सर्वरोगेषु योजयेत्।
पथ्याशिनामयो भस्म यथोक्तगुणदं भवेत्' ॥ (आ० प्र० ३।२२८)

४. 'कूष्माण्डं तिलतैलं च माषान्नं राजिका तथा।
मद्यमम्लं मसूरांश्च त्यजेल्लोहस्य सेवकः' ॥ (आ० प्र० ३।२२९)

५. द्रष्टव्य—आयुर्वेदप्रकाश ३।२३०-३३।

पर्याय—मण्डूर, किट्ट (लोहकिट्ट), लोहभव, लोहमल एवं लौहोच्छिष्ट आदि मण्डूर के पर्याय हैं।[1]

मण्डूर का परिचय—मण्डूर लोहा और ऑक्सीजन के संयोग से निर्मित एक पिण्ड सदृश रचना है। इसमें प्रायः लोहे के २ परमाणु तथा ऑक्सीजन के ३ परमाणु मिले होते हैं। लोहा जब लम्बे समय तक खुली हवा में पड़ा रहता है, तब उसमें जलवाष्प, धूप एवं हवा के सम्पर्क से जंग लग जाता है। जब ऐसे लोहे को गर्म कर पीटते हैं तो जंग खाया हुआ भाग उससे पृथक् हो जाता है। इसे ही लोहकिट्ट कहते हैं। मुण्डादि लौह भेद से इसे भी ३ प्रकार का कहा गया है।[2]

मण्डूर का स्वरूप—लोहे को तपाने पर जब उसे हथौड़ों से पीटा जाता है तो लोहे का मैल (किट्ट) पृथक् होकर नीचे गिर जाता है, जो कुछ काल (वर्षों) बाद पृथ्वी पर पिण्ड के रूप में पाया जाता है। इसी लोह मल को मण्डूर कहते हैं।[3]

जिस लोह (मुण्ड, कान्त तथा तीक्ष्ण लोह) से जो किट्ट बनता है उसमें उसी लौह का गुण भी पाया जाता है। तदनुसार मुण्ड को तपाने से मुण्डकिट्ट, तीक्ष्ण को तपाने से तीक्ष्णकिट्ट तथा कान्तलौह को तपाने से तीक्ष्ण किट्ट प्राप्त होता है।

मण्डूर के भेद—लोह भेद से यह तीन प्रकार होता है—१. मुण्ड किट्ट, २. तीक्ष्ण किट्ट एवं ३. कान्त किट्ट।

मण्डूर-भेदपूर्वक लक्षण[4]—

१. मुण्ड किट्ट किंचित् लाल वर्ण का, भारी तथा स्निग्ध (चिकना) होता है।

२. तीक्ष्ण किट्ट तोड़ने पर अञ्जन की तरह आभा वाला, भारी, व्रण एवं कोटर रहित होता है।

३. कान्तकिट्ट लाल-काले वर्ण युक्त (पिंगलवर्ण), रूक्ष, अत्यन्त भार युक्त, लम्बा, कोटर रहित, तोड़ने पर रजत के समान चमक वाला होता है।

मण्डूर की प्राप्ति—प्राचीन समय में जहाँ लोहा गलाया जाता था वहाँ से मण्डूर (लोहकिट्ट) प्राप्त होता है।

---

१. 'मण्डूरं तु समाख्यातं किट्टं लोहभवं तथा।
लोहकिट्टं लोहमलं लौहोच्छिष्टञ्च तन्मतम्'। (र० त० २०।१२४)

२. 'ध्मायमानमयो वह्नौ परित्यजति यन्मलम्।
लभते किट्टसंज्ञां हि तदनेकविधं मतम्' ॥ (आ० प्र० ३।२८४)

३. 'प्रतापितस्य लोहस्य घनाघातच्युतं मलम्।
कालेन पिण्डतां याति क्षितौ मण्डूरमुच्यते' ॥ (र० त० २०।१२३)

४. 'ईषच्छोणं गुरु स्निग्धं मुण्डकिट्टं जगुर्बुधाः।
भिन्नाञ्जनप्रभं किट्टं विशेषाद् गुरु निर्व्रणम्।
निष्कोटरञ्च विज्ञेयं तीक्ष्णकिट्टं मनीषिभिः।

Scanned with CamScanner

कालदृष्ट्या मण्डूर में तारतम्य[1]—

सर्वश्रेष्ठ—१०० वर्ष पुराना मण्डूर सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

मध्यम—७०-८० वर्ष पुराना मण्डूर मध्यम माना जाता है।

अधम—६० वर्ष पुराना अधम माना जाता है।

इससे भी कम समय का पुराना मण्डूर विष के समान माना जाता है। लोहकिट्ट ऐसे स्थान से प्राप्त करना चाहिए जहाँ से बहुत वर्षों पहले आबादी उठ गई हो। लोहकिट्ट जितना ही पुराना होगा वह उतना ही अच्छा माना जायेगा।[2]

ग्राह्य मण्डूर—स्निग्ध (चिकना), भारी, कठिन, कृष्णवर्ण का कोटर (गड्ढा या छिद्र) रहित तथा बहुत पुराने उजड़े हुए शहरों के समीप पाया जाने वाला मण्डूर ग्राह्य होता है।[3]

मण्डूर का शोधन[4]—मण्डूर को खूब प्रतप्त कर गोमूत्र में सात बार बुझाने से मण्डूर शुद्ध हो जाता है। यहाँ गोमूत्र को बहेड़े से निर्मित पात्र में रखने का विधान किया गया है तथा बहेड़े के कोयलों की आँच में ही गर्म करने का भी विधान किया गया है। गोमूत्र प्रत्येक बार बदलते जाना चाहिए।

२. आठ गुने गोमूत्र में निर्मित त्रिफला क्वाथ में मण्डूर को प्रतप्त कर बार-बार बुझावें। इस प्रकार कई बार (७ बार या २१ बार) बुझा लेने से मण्डूर शुद्ध एवं सूक्ष्म चूर्ण बनने योग्य हो जाता है। पीसकर इसका उपयोग किया जा सकता है। मुण्डलौह भस्म के सभी गुण इसमें पाये जाते हैं।[5]

पिङ्गं रूक्षं गुरुतमं मन्ददीर्घमकोटरम्।
छिन्नं तु रजतच्छायं स्यात्किट्टं तच्च कान्तजम्' ॥ (आ० प्र० ३।२८७-८८)

१. (क) 'षष्टिवर्षीयमधमं मध्यं सप्ततिवार्षिकम्।
सर्वश्रेष्ठं समाख्यातं मण्डूरं शतवार्षिकम्' ॥ (र० त० २०।१२५)
(ख) 'शतोत्थमुत्तमं किट्टं मध्यं चाशीतिवार्षिकम्।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम्' ॥ (आ० प्र० ३।२९०)

२. 'चिरोज्झितजनस्थानसंस्थितं किट्टमाहरेत्' । (आ० प्र० ३।२९०)

३. 'स्निग्धं गुरु दृढं चैव कृष्णं कोटरवर्जितम्।
जीर्णं नष्टपुरःस्थञ्च मण्डूरं ग्राह्यमुच्यते' ॥ (र० त० २०।१२६)

४. (क) 'अक्षाङ्गारैर्ध्मेल्किट्टं लोहजं तद्गवां जलैः।
सेचयेदक्षपात्रान्तः सप्तवारं पुनः पुनः ॥
मण्डूरोऽयं समाख्यातश्चूर्णं श्लक्ष्णं नियोजयेत्'।
(र० र० स० ५।१५०)
(ख) 'ध्मातं विभीतकाङ्गारैर्गोमूत्रे परिषेचितम्।
सप्तवारं लोहमलं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २०।१२७)

५. 'गोमूत्रैस्त्रिफला क्वाथ्या तत्क्वाथे सेचयेच्छनैः।
लोहकिट्टं सुसन्तप्तं यावज्जीर्यति तत्स्वयम्।

मण्डूर का मारण—१. चूर्ण किया हुआ शुद्ध मण्डूर लेकर उसे त्रिफला क्वाथ से भावित करते हुए सम्पुट में बन्दकर ३० पुट (गजपुट) की अग्नि देने से रक्तचन्दन सदृश लालवर्ण का भस्म तैयार हो जाता है। इसी प्रकार लोहमारकगण की औषधियों द्वारा भी भावित कर पुट देने से मण्डूर का भस्म बन जाता है।[1]

२. गोमूत्र में निर्मित त्रिफला क्वाथ द्वारा शोधित मण्डूर को कुमारी स्वरस से भावित करते हुए ७ गजपुट की अग्नि देने से मण्डूर का उत्तम भस्म बन जाता है।[2]

मण्डूर का उपयोग शुद्ध एवं भस्म दोनों रूपों में किया जाता है।

मण्डूर भस्म के गुण-कर्म—यह रस में कषाय; वीर्य में शीत एवं गुण में भी शीत होता है। कर्म में यह लौह भस्म के समान होता है। यह पित्तशामक है। यह वृष्य, रुचिकारक, अग्निदीपक एवं उत्तम रक्तवर्द्धक है। यह तीव्र पाण्डु एवं कामला रोग को नष्ट करता है। शोष, शोथ, हलीमक तथा प्लीहा रोग को भी शीघ्र शान्त करता है।[3] यह बालकों के लिए अधिक अनुकूल होता है।

मण्डूर की मात्रा—½ रत्ती से २ रत्ती तक प्रयोग करें।[4]

अनुपान—मधु से।

तच्चूर्णं जायते पेष्यं मण्डूरोऽयं प्रयोजयेत्।
ये गुणा मारिते मुण्डे ते गुणा मुण्डकिट्टके।
तस्मात्सर्वत्र मण्डूरं रोगशान्त्यै प्रयोजयेत्' ॥ (र० र० स० ५।१५१-५२)

१. 'चूर्णीकृतं तु मण्डूरं त्रिफलाक्वथिताम्भसा।
सम्पेष्य सम्पुटे कृत्वा त्रिंशद्वारं ततः पुटेत् ॥
एवं नातिचिरादेव रक्तचन्दनसप्रभम्।
मण्डूरं जायते तूर्णं ततो योगेषु योजयेत् ॥
लोहमारकगणोदितैस्तु तैर्भेषजैरपि सह प्रपेषितम्।
लोहकिट्टमथ सम्पुटीकृतं पाचितं खलु समेति पञ्चताम्' ॥
(र० त० २०।१२९-१३१)

२. 'कन्या रसेन तच्चूर्णं मर्दयित्वा पुटे पचेत्।
एवं सप्तपुटैर्भस्म मण्डूरस्य प्रजायते' ॥ (रसामृत ३।१४९)

३. (क) 'मण्डूरं सुमृतं वृष्यं शिशिरं रुचिरं परम्।
दीपनं पित्तशमनं रक्तवृद्धिकरं परम् ॥
पाण्डुप्रमत्तमातङ्गमदमर्दनकेशरी ।
कामलाकुठ्यकुलिशं मण्डूरं तु विशेषतः ॥
शोषप्रशमनञ्चैव तथा शोफप्रणाशनम्।
हलीमकं च प्लीहानं मण्डूरं हन्त्यशेषतः' ॥ (र० त० २०।१३२-१३४)
(ख) 'बालानां अतिशस्यते' । (रसामृत ३।१५०)

४. 'आरभ्यगुञ्जापादांशाल्लोहमात्राविधानवित्।
गुञ्जाद्वितयपर्यन्तं मण्डूरं विनियोजयेत्' ॥ (र० त० २०।१३५)

Scanned with CamScanner

मण्डूर के प्रमुख योग—१. शतावरी मण्डूर, २. मण्डूर वटक, ३. पुनर्नवा मण्डूर तथा ४. त्रिफला मण्डूर।

वङ्ग (Tin)

नाम –संस्कृत : वङ्ग। हिन्दी : रांगा। अंग्रेजी : Tin. लैटिन : Stannum।

संकेत—Sn.

विशिष्ट गुरुत्व—७·३। **द्रवणांक**—२३२° सें०। **परमाणु संख्या**—५०। **परमाणु भार**—११८·७०। **काठिन्य**—६·७। **परमाणुबन्धन क्षमता**—२/४।

पर्याय—वंग, वंगक, रंग, रंगक, शुक्रलोह, कुरूप्य, त्रपु, त्रपुस, त्रपुष—ये सभी वंग के पर्याय कहे गये हैं।[1]

इतिहास—वंग का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। चिकित्सा-कार्य के लिए संहिताओं में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है। वर्तमान में प्रचलित इसके शोधन, मारण, जारण आदि की विधियों का विकास रसशास्त्र के विकास के साथ हुआ है। कांस्य निर्माण का यह एक मुख्य घटक है, जिसका मूर्ति, मन्दिर के घण्टे आदि के निर्माण में भी काफी प्राचीनकाल से उपयोग होता आ रहा है।

पौराणिक मान्यता के अनुसार इसकी उत्पत्ति इन्द्र के शुक्र से बताई गई है।

परिचय—यह श्वेत वर्ण की आघातवर्द्धनीय अत्यन्त चमकीली एवं मृदु धातु है। यह सीसे (लेड) से कठिन किन्तु यशद से मृदु होता है। इसे मोड़ने पर कुड़कुड़ाहट की ध्वनि होती है जिसे Cry of tin कहते हैं। शुद्ध वंग की चमक खुली हवा में पड़े रहने पर भी मन्द नहीं पड़ती तथा वानस्पतिक अम्लों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वंग पर साधारण जलवायु एवं वानस्पतिक अम्लों का प्रभाव नहीं होने के कारण लोहा, ताम्बा, पीतल आदि धातु के पात्रों पर इसकी कलई की जाती है। २ भाग वंग में १ भाग नाग मिलाकर बनाया गया मिश्र धातु शीघ्र पिघलने वाला किन्तु कठिन होता है, जो टाँका देने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है। इस गुण के कारण इसे सोल्डर की धातु भी कहते हैं। पाँच भाग ताम्र में एक भाग वंग मिलाकर बेल मेटल (मिश्रधातु) बनती है। दर्पण पर पारद चढ़ाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है। पिघला कर इसके पत्र बनाये जा सकते हैं। व्यापारी लोग फायदे के लिए इसमें नाग की मिलावट करते हैं। यह जोड़ने (Soldering) का अच्छा कार्य करता है। कांस्य एवं बर्तन लोहे (मिश्रधातु) के निर्माण के लिए इसका व्यावसायिक उपयोग किया जाता है। वर्मा में इसके खनिज प्राचीन काल से पाये जाते हैं तथा वंग निकाला जाता है।

---

१. 'वङ्गश्च वङ्गकं रङ्गं रङ्गकं शुक्रलोहकम्।
कुरूप्यं त्रपुसञ्चैव त्रपुष त्रपु कीर्तितम्' ॥ (र० त० १८।१)

प्राचीन काल में वर्मा से यह प्रथम बंगाल और फिर सम्पूर्ण भारत में भेजा जाता था अतः यह वंग के नाम से जाना जाने लगा। यह शुक्र ग्रह का प्रतिनिधि तथा शुक्र धातु का वर्द्धक होने से इसे शुक्र लोह भी कहते हैं। ताम्र एवं पित्तल के पात्र पर इससे कलई की जाती है।

वंग के खनिज—इसका प्रधान खनिज टिन स्टोन (Tin stone : SnO_2) है। इसे Cassiterite भी कहते हैं।

प्राप्ति-स्थान—वर्मा, आस्ट्रेलिया, मलेशिया, दक्षिण अफ्रीका, चीन, साइबेरिया आदि देशों से इसकी प्राप्ति होती है। भारत में यह बिहार के सिंहभूमि जिले से अत्यल्प प्रमाण में प्राप्त होता है।

इसके खनिज Tin stone को प्रथम चूर्णकर भूनते (Roast) हैं। तत्पश्चात् जल से धोकर उसमें कोयले का चूर्ण मिलाकर जलाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप इसमें का ऑक्सीजन कोयला ग्रहण कर लेता है और कार्बनडाइक्साइड बनकर निकल जाता है एवं टिन धातु द्रव रूप में भट्ठी के निम्न भाग में एकत्रित हो जाती है।

वंग के भेद—१. खुरक एवं २. मिश्रक—ये वंग के दो भेद मिलते हैं। इसमें खुरक वंग गुणों में श्रेष्ठ तथा मिश्रक वंग निकृष्ट (हेय) माना जाता है।[1]

खुरक वंग—खुरक वंग अन्य धातुओं के मिश्रण से रहित श्वेतवर्ण (रजत के समान), मृदु, स्निग्ध, अग्नि पर शीघ्र पिघलने वाला, वजन में भारी और पिघलने में शब्द रहित होता है।[2]

मिश्रक वंग—मिश्रक वंग रंग में काला-सफेद होता है तथा कठिनता से पिघलता है। यह बाहर से रूक्ष, धूसरवर्णयुक्त एवं अन्य धातुओं से मिश्रित होने से कठिन होता है।[3]

ग्राह्य वंग—खुरक वंग ही गुणों में श्रेष्ठ होता है। अतः इसे ही मारण आदि औषधीय कार्य के लिए लेना चाहिए। मिश्रक वंग अहितकर माना गया है।[4]

---

१. 'खुरकं मिश्रकञ्चेति द्विविधं वङ्गमुच्यते।
खुरं तत्र गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न हितं मतम्' ॥ (र० र० स० ५।१५३)
२. 'धवलं मृदुलं स्निग्धं द्रुतद्रावं सगौरवम्।
निःशब्दं खुरवङ्गं स्यान्मिश्रकं श्यामशुभ्रकम्' ॥ (र० र० स० ५।१५४)
३. द्रावेऽतिकठिनं रूक्षं त्वन्यधातुविमिश्रितम्।
धूसरं कठिनञ्चैव मिश्रकं वङ्गमुच्यते' ॥ (र० त० १८।४)
४. (क) 'खुरकाख्यं शुक्रलोहं मारणाय प्रशस्यते।
मिश्रकं हेयमाख्यातं रसतन्त्रविचक्षणैः' ॥ (र० त० १८।५)
(ख) 'खुरकन्तु गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न रसे हितम्' ॥

Scanned with CamScanner

वंग शोधन का प्रयोजन—अशुद्ध एवं ठीक ढंग से भस्म नहीं किया गया वंग सेवन करने पर विकार उत्पन्न कर शरीर की शोभा को नष्ट कर देता है और शरीर में श्वित्र कुष्ठ, गुल्म, प्रमेह, हृद्रोग, शूल, अर्श, कास, श्वास, वमन, क्षय, पाण्डु, शोथ, श्लेष्मज्वर, भगन्दर, शुक्राश्मरी तथा अनेक प्रकार के रक्तविकार जन्य रोगों को उत्पन्न करता है।[1] यह विषतुल्य भी है।

वंग का सामान्य शोधन—

१. वंग को द्रवित कर तैल, तक्र, गोमूत्र, काञ्जी एवं कुलत्थ क्वाथ में क्रमशः ७-७ बार द्रवित कर बुझा लेने से वंग की सामान्य शुद्धि हो जाती है।

२. खुरक वंग को लौहदर्वी (करछी या करछुल) में रखकर अग्नि पर गर्म कर द्रवित करें। अच्छी तरह वंग के पिघल जाने पर एक बाल्टी या अन्य पात्र में रखे चूर्णोदक में, जो वजनदार छिद्रयुक्त पिधानक से ढका हुआ हो, उस छिद्र के माध्यम से पिघले हुए वंग को चूर्णोदक में गिरावें। इस प्रकार चूर्णोदक बदलते हुए सात बार बुझा लेने से वंग शुद्ध हो जाता है।[2] वंग-शोधन के लिए चूर्णोदक युक्त यन्त्र विशेष को **'पिठरयन्त्र'** कहते हैं।

---

१. (क) 'अशुद्धममृतं वङ्गं प्रमेहादिगणप्रदम्।
गुल्महृद्रोगशूलार्शःकासश्वासवमिप्रदम्' ॥ (आ० प्र० ३।१५४)

(ख) 'विशुद्धिहीनं खलु शुक्लोहं निषेवितं वाप्यमृतं तु नूनम्।
निहन्ति सर्वां खलु कायकान्ति कुष्ठं किलासञ्च परं विदध्यात् ॥
गुल्मप्रमेहक्षयपाण्डुशोथश्लेष्मज्वरादींश्च भगन्दरञ्च।
शुक्राश्मरीं रक्तविकारजातान् रोगाननेकान् जनयेच्च नूनम् ॥
(र० त० १८।६-७)

(ग) 'दाहाश्मरीश्वयथुमेहकिलासकुष्ठ-
श्वित्रापचीक्षयभगन्दरशूलगुल्मान्।
पाण्डुवस्त्रकृच्छ्रकफमारुतविद्रधीस्तौ
तुल्यौ विषेण कुरुतो ज्वरमप्यपक्वौ' ॥ (रसकामधेनु २ धा. १।४६२)

(घ) 'पाकेन हीनः खलु वङ्गकोऽसौ कुष्ठानि गुल्मानि महातिरोगान्।
पाण्डुप्रमेहापचिवातशोणितं बलापहारं कुरुते नराणाम्' ॥
(रसराजसुन्दर)

२. खुराभिधानं खलु शुक्लोहं निधाय दर्व्या भिषजां वरेण्यः।
चुल्लीगतञ्चाप्यथ गालयित्वा विशुद्धचूर्णोदकपूर्णगर्भे ॥
गाढन्तु सच्छिद्रपिधानकेन क्षिपेत्समाच्छन्नमुखे तु कुम्भे।
इत्थं निषिक्तं भिषजाश्ववारं वङ्गं विशुद्धिं समुपैति नूनम्' ॥
(र० त० १८।८-९)

वंग का विशेष शोधन—

१. वंग को द्रवित कर हरिद्रा चूर्ण मिश्रित निर्गुण्डी स्वरस में ३ बार बुझा लेवें। ऐसा करने से वंग की विशेष शुद्धि होती है।[1]

२. वंग को द्रवितकर अर्क दुग्ध में ७ बार बुझा लेने से वंग उत्तम रूप से शुद्ध हो जाता है।[2]

सावधानी—तप्त द्रवित वंग द्रव में डालने पर बड़ी तेजी से बाहर की ओर सशब्द विस्फोट पूर्वक निकलता है। अतः रुद्ध करने की समुचित व्यवस्था कर शोधन काल में स्वयं की सुरक्षा के लिए पूरी सावधानी बरतें।[3]

वंग मारण—वंग-मारण की प्रक्रिया को दो चरणों में विभक्त किया जाता है—१. वंग जारण एवं २. वंग मारण। वंग जारण वंग मारण का पूर्वकर्म है। जारण से वंग का अधिकांश भाग मारित हो जाता है तथा अवशिष्ट भाग दूसरे चरण में पुटपाक करने पर मारित होता है।

वंग जारण—

(१) लोहे की एक कड़ाही को चूल्हे पर चढ़ा उसमें शुद्ध वंग डालकर द्रवित करें। वंग से चतुर्थांश अपामार्ग अथवा शुष्क पिप्पल त्वक् का यवकुट लेकर थोड़ा-थोड़ा चूर्ण उस द्रवित वंग में डालते हुए एक लौहदर्वी (करछी) के पृष्ठ भाग से रगड़ते जायें। यह क्रिया तब तक करें जब तक वंग पूर्णरूप से भस्म सदृश न हो जाय। अब इस भस्म सदृश भाग को कड़ाही के मध्य में एकत्र कर एक मिट्टी के शराव (ढक्कन) से ढक दें तथा अग्नि तीव्र कर दें। शराव को उठाकर देखने पर जब भस्म वाला भाग तप्त लाल वर्ण का दीखने लगे तब उसे स्वांगशीत होने के लिए छोड़ दें। स्वांगशीत होने पर कड़ाही से शंख अथवा चन्द्रमा के समान धवल श्वेत वर्ण के वंग भस्म को प्राप्त कर लें। इसे निःशंक होकर प्रयोग में लावें।[4]

---

१. 'द्रावयित्वा निशायुक्ते क्षिप्तं निर्गुण्डिकारसे।
विशुद्धचति त्रिवारेण खुरवङ्गं न संशय' ॥
(र० चू० १४ एवं र० र० स० ५।१५६)

२. वङ्गकं गालितं लोहदर्वीगतं सूर्यदुग्धे भृशञ्चैव निर्वापयेत्।
पूर्वमार्गेण वै शेषकर्माचरेत् सत्वरं वङ्गकं याति शुद्धिं पराम्' ॥
(र० त० १८।१०)

३. (क) 'द्रुतवङ्गोत्प्लवनरोधनयुक्त्याचरेत्'।
(ख) 'द्रावितस्य तु वङ्गस्य द्रवादौ परिषेचने।
औचित्येनाचरेन्नो चेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य निर्दहेत्' ॥ (र० त० १८।१२)

४. (क) 'विमलं वङ्गमादाय चुल्लिकोपरिसंस्थिते।
विनिक्षिपेत् कटाहे तु ततो वह्निं प्रदीपयेत् ॥
विद्रुतं वङ्गकं ज्ञात्वा रसकर्मविशारदः।
पादांशापामार्गचूर्णं स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः ॥

Scanned with CamScanner

वस्तुतः इस विधि में वंग के कुछ अंश धातु रूप में रह जाते हैं जिन्हें कपड़छन कर पृथक् कर लें एवं शेष भस्म को कुमारी स्वरस की भावना देते हुए ३-४ पुट देकर तब प्रयोग में लावें।

(२) लोह कटाह में वंग को द्रवित कर वंग का १६वाँ भाग शुद्ध पारद डालकर अग्नि तीव्र कर दें तथा थोड़ा-थोड़ा शुद्ध हरताल का चूर्ण डालते हुए गीले कार्पास दण्ड से वंग को चलाते जायें। यह क्रिया वंग के भस्म होने तक करते जायें। अब भस्म को एकत्र कर शराव से ढक कर तेज आँच दें। इस विधि से वंग का भस्म बन जाता है।[1]

(३) लौह कटाह में वंग को द्रवित कर उसमें अपामार्ग, पञ्चांग, यवकुट, कुक्कुटाण्ड कपाल (मुर्गी के अण्डे के छिलके) मुक्ताशुक्ति, पलाशपुष्प, बड़ या पीपल की छाल इनमें से किसी एक के चतुर्थांश चूर्ण को थोड़ा-थोड़ा डालते हुए लौह दर्वी के पृष्ठ भाग से रगड़ते हुए वंग का जारण करें। सम्पूर्ण वंग के चूर्ण रूप में बदल जाने पर उसे लौह कटाह के मध्य में एकत्र कर शराव से ढककर अंगार सदृश वर्ण होने तक तीव्र अग्नि दें; तत्पश्चात् स्वांगशीत होने पर उसे वस्त्रगालित करें तथा वस्त्रगालित जारित वंग चूर्ण को एक खरल में रखकर कुमारी स्वरस, शतावरी स्वरस या दूध

निक्षिप्य लोहदण्डेन यत्नतः परिचालयेत्।
वङ्गभस्म भवेद्यावच्चूर्णं तावत्समापयेत्॥
राशीकृत्य ततो भस्म शरावेण पिधापयेत्।
ततो दिनैकपर्यन्तं तथा वह्निं प्रदीपयेत्॥
ज्वलदङ्गारवर्णं स्याद् वङ्गभस्म यथा ध्रुवम्।
स्वतः शीतं ततो ज्ञात्वा वङ्गभस्म समाहरेत्॥
शङ्खकुन्देन्दुधवलं वङ्गभस्म भवेद् ध्रुवम्।
इत्थं मृतं वङ्गकन्तु वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १८।१९-२४)

(ख) 'शुष्कपिप्पलवल्कोत्थं चूर्णं तुल्यं विनिक्षेपेत्॥
स्वल्पं स्वल्पं मुहुश्चैव लौहदर्व्या प्रचालयेत्।
वङ्गभस्म भवेद्यावच्चूर्णं तावत्समापयेत्'॥ (र० त० १८।२९-३०)

१. 'विशुद्धं वङ्गमादाय कटाहे चुल्लिकास्थिते।
विनिक्षिपेद् भिषग्वर्यश्चुल्लिकाग्निं प्रदीपयेत्॥
वङ्गात् कलांशिकं सूतं विशुद्धं तत्र निक्षिपेत्।
विशुद्धं हरितालञ्च स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः॥
निक्षिप्य वनकार्पासदण्डेन परिचालयेत्।
यावद्भस्म भवेत्तावत् तालचूर्णं समापयेत्॥
ततः शरावेणाच्छाद्य पचेत्तीव्राग्निना भिषक्।
आनेन विधिना वङ्गं पञ्चतां यात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० १८।१५-१८)

की मलाई से घोंटकर टिकिया बना-सुखा, सम्पुट में बन्दकर अर्धगजपुट की अग्नि में रखें। ऐसा सात पुट देने से वंग का श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है।[1]

(४) पलाशमूल त्वक् स्वरस अथवा क्वाथ से हरताल का मर्दनकर उसका वंग-पत्र पर लेप कर शरावसम्पुट में बन्दकर पुट (३ से ४ लघु पुट) देने से वंग भस्म बन जाता है।[2]

(५) वंग के पतले पत्र को भल्लातक के कल्क के मध्य रख अथवा वंग पत्र पर भल्लातक के तैल का लेप कर वस्त्र से वेष्टित कर इमली, पीपल अथवा पलाश की सूखी लकड़ी की अग्नि में फूंक देने से वंग का भस्म बन जाता है।[3]

(६) शुद्ध वंग को द्रवित कर उसका पतला पत्र बना उस पर अर्क दुग्ध पेषित हरताल का लेप कर धूप में सुखा लें। अब इस हरताल लेपित वंग पत्र को इमली त्वक् भस्म के मध्य एक हाण्डी में रखकर हाण्डी का मुख बन्दकर उसे पुट में फूंक दें। ऐसे ३ पुट देने से वंग का भस्म बन जाता है।[4]

(७) शुद्ध वंग का पतला कण्टकवेधी पत्र बनाकर इसे निम्न क्रम से पुट में

१. शुद्धं वङ्गं क्षिपेल्लौहे कटाहे सुदृढे भिषक्।
तदधो ज्वालयेदग्निं द्रुते वङ्गे क्षिपेत्पुनः॥
अपामार्ग चतुर्थांशं चूर्णं सञ्चालयेदिदम्।
स्थूलाग्रया लोहदर्व्या यावद्भस्म प्रजायते॥
चूर्णप्रक्षेपणं कार्यं स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः।
ततः शरावपिहितं स्थापयेत्तत्र तद्भिषक्॥
रजः सर्वं ततोऽधस्तात् कुर्यादग्निं तु तीव्रकम्।
यावदाङ्गारवर्णं तद्रजः समुपजायते॥
स्वाङ्गशीतं ततो ग्राह्यं मारणाय रजः शुभम्।
कुक्कुटाण्डकपालानां मुक्ताशुक्त्यास्तथैव च॥
चूर्णं पलाशपुष्पाणां वटाश्वत्थत्वचां तथा।
एषामेकैक योगेन वङ्गचूर्णं प्रकारयेत्॥
स्वरसेन कुमार्यास्तु वर्याः क्षीरसरेण वा।
विमर्द्य चक्रिकाः कृत्वा ह्यर्धेभाख्ये पुटे पचेत्॥
एवं सप्तपुटैर्वङ्गं मृतं भवति निश्चितम्'॥ (रसामृत ३।८८-९४).

२. 'पलाशद्रवयुक्तेन वङ्गपत्रं प्रलेपयेत्।
तालेन पुटितं पश्चान्म्रियते नात्र संशयः'॥ (र० र० स० ५।१६१)

३. 'भल्लाततैलसंलिप्तं वङ्गं वस्त्रेण वेष्टितम्।
चिच्चापिप्पलपालाशकाष्ठाग्नौ याति पञ्चताम्'॥ (र० र० स० ५।१६२)

४. वङ्गं विशुद्धं प्रद्राव्य मृदुपत्राणि कारयेत्।
ततोऽर्कदुग्धपिष्टेन तालेन परिलेपयेत्॥
घर्मे संशोष्य तालेन वङ्गपत्राणि वै पृथक्।

Scanned with CamScanner

रखें—गजपुट के गड्ढे को पलाश की लकड़ी से आधा भर कर उस पर टाट (बोरे का टुकड़ा) बिछा दें। इस टाट के ऊपर अजासकृत (बकरी की मींगी) का एक इंच मोटा स्तर बिछाकर उसके ऊपर त्रिफला चूर्ण तथा त्रिफला चूर्ण के ऊपर हरिद्रा चूर्ण का एक स्तर बिछायें। इस हरिद्रा चूर्ण पर वंग पत्र को बिछा दें। पुनः उस वंग पत्र पर हरिद्रा चूर्ण, उसके ऊपर त्रिफला चूर्ण, त्रिफला चूर्ण के ऊपर अजासकृत एवं अजासकृत के ऊपर टाट बिछाकर ऊपर से पलाश की लकड़ी से शेष भाग को पूरा भर कर अग्नि प्रज्वलित कर दें। स्वांगशीत होने पर सावधानीपूर्वक भस्मीभूत वंग पत्र को एकत्र कर लें। इस विधि में वंग पत्र फुल्लित होकर श्वेत वर्ण का हो जाता है। कई बार वंग पत्र मोटा होने पर सम्पूर्ण रूप में फुल्लित नहीं हो पाता है, ऐसी स्थिति में इस फुल्लित वंग पत्र को खरल में मर्दन कर भस्मीभूत भाग को पृथक् कर शेष वंग पत्र को फिर से इसी प्रकार अग्नि देकर सम्पूर्ण रूप में भस्म बना लें। इस विधि को टाटसम्पुट विधि कहते हैं। यह वंग भस्म उत्तमकोटि का माना जाता है।

वंग भस्म को क्षार-मुक्त करना—कुछ लोगों का मानना है कि वंग भस्म को क्षार-मुक्त होना चाहिए (वनस्पतियों द्वारा जारण से इसमें काफी क्षारीय अंश मिल जाता है)। एतदर्थ वंग भस्म में जल मिलाकर कुछ समय के लिए छोड़ दें। तत्पश्चात् जब वंग भस्म तल में बैठ जाय तब ऊपर से पानी निथार कर निकाल लें और सुखाकर रख लें।

वंग भस्म में शीत एवं उष्णता जनन—गन्धक, हरताल आदि उष्ण द्रव्यों से मारित वंग भस्म उष्ण प्रकृति का होता है जबकि यवक्षार, चिञ्चाक्षार आदि से मृत वंग शीत गुण युक्त होता है। चिकित्सा में प्रयोग हेतु आवश्यकतानुसार शीत एवं उष्ण गुण युक्त वंग भस्म का निर्माण कर प्रयोग में लायें।[1]

वंग भस्म का वर्ण—वंगभस्म शुभ्र (चन्द्रमा के सदृश) वर्ण का होता है।[2]

वंग भस्म के गुणकर्म—यह रस में तिक्त, अम्ल, कटु, कषाय एवं किंचित् लवण; गुण में रूक्ष, शीत, लघु, सर, उष्ण एवं तीक्ष्ण; वीर्य में उष्ण तथा कर्म में चक्षुष्य, बल्य, दीपन, पाचन, रुचिकर, मेदोहर, प्रज्ञाकर, सौन्दर्यवर्द्धक, हितकर, निरोगकर, धातुस्थौल्यकर, क्षयहर, प्रमेहहर, शुक्रक्षयनाशक (स्वप्नदोषहर), आयुष्य, वृष्य, शक्तिप्रद, पुष्टिकर, वाजीकर, रसायन, दाहहर, विषहर, सौख्यकर, विलेखन, कृमिघ्न, मतिप्रद, प्रभाकर, बृंहण एवं रतिरसवर्द्धक है।[3]

चिञ्चात्वक्क्षारमध्यस्थानीह कृत्वा पुटेद्भिषक् ॥
एवं पुटत्रयेणैव वङ्गकं याति पञ्चताम्' ॥ (र० त० १८।३६-३८)

१. 'वङ्गं गन्धादियोगेन मारितं तूष्णतां व्रजेत् ।
क्षारादिना मृतञ्चेह शीततां याति निर्भरम्' ॥ (र० त० १८।४५)

२. (क) 'वङ्गं शुभ्रत्वमायाति····· '। (यो० र०)
(ख) शङ्खकुन्देन्दुधवलं वङ्गभस्म भवेद् ध्रुवम्' । (र० त० १८।२४)

३. (क) 'वङ्गं तिक्तोष्णकं रूक्षमीषद्वातप्रकोपणम् ।
मेदः श्लेष्मामयघ्नञ्च क्रिमिघ्नं मेहनाशनम्' ॥ (र० चू० १४।१३४)

for सत्रि स्वेदन में use करना चाहिए → use (वंग, यशद, प्रवाल)

दोष प्रभाव—कफपित्तहर एवं ईषत् वातप्रकोपक।

रोगहरत्व—यह प्रमेह, कृमि, पाण्डु, मेदोरोग, कफजरोग, विषरोग, वात-व्याधि, दाह, उदररोग, अग्निमान्द्य, गुल्म, ग्रहणी, व्रण, शोष, रात्रिस्वेद, क्षय, जरारोग, मूत्रकृच्छ्र, श्वेतप्रदर, आध्मान, उपदंश, ओजोमेह, गर्भाशयच्युति, कास, श्वास एवं छर्दिरोग नाशक है। यह श्वासनली में चिपके पुराने मूलभूत कफ को नष्ट करता है तथा मानस विकृति जन्य सर्वांग शरीर स्थित प्रसादवायु के प्रकोप का शमन करता है।[1]

(ख) 'वङ्गं तिक्तोष्णरूक्षं·····'। (आ० प्र० ३।१५२)

(ग) 'बल्यं दीपनपाचनं रुचिकरं प्रज्ञाकरं शीतलं
सौन्दर्यैकविवर्धनं हितकरं नीरोगताकारकम् ।
धातुस्थौल्यकरं क्षयिक्षयहरं सर्वप्रमेहापहं
वङ्गं भक्षयतो नरस्य न भवेत्स्वप्नेऽपि शुक्रक्षयः' ॥
(आ० प्र० ३।१५३)

१. (क) 'वङ्गं तीक्ष्णोष्णरूक्षं कफकृमिवमिजिन्मेहमेदोऽनिलघ्नं
कासश्वासक्षयघ्नं प्रशमितहृतभुङ्मान्द्यमाध्मानदारि ।
बल्यं वृष्यं प्रभाकृन्मनसिजजनकं सर्वमेहप्रणाशि
प्रज्ञाकृद्वर्ण्यमुच्चैरलघुरतिरसस्यास्पदं बृंहणं च' ॥
(आ० प्र० ३।१५२)

(ख) 'वङ्गं मृतं लघु सरं शिशिरञ्च रूक्षं
मेध्यं सतिक्ततुवरं लवणञ्च किञ्चित् ।
मेदोहरं रुचिकरञ्च रसायनञ्च
श्लेष्मामयप्रशमनं खलु सम्प्रदिष्टम् ॥
वङ्गं वान्तिहरं परं व्रणहरं सर्वप्रमेहापहं
चक्षुष्यं सुमतिप्रदं क्षयहरं शुक्रैकसंवर्द्धनम् ।
श्वेतासृग्दरनाशनं व्रणहरं जन्त्वामयध्वंसनं
कामं कामविवर्द्धनं धृतिकरं वर्ण्यं निकामं तथा ॥
वङ्गं कामं मदनजननं स्वप्नमेहामयघ्नं
कासश्वासप्रशमनपटु प्रीणनं कार्श्यभाजाम् ।
वृष्यं बल्यं पवनशमनं पाण्डुहृच्चातिवेलं
वाग्जालैः किं भवति नितरां सौख्यप्रदं देहभाजाम् ॥
गर्भाशयच्युततिहरं श्वासकृच्छ्रप्रणाशनम् ।
शोषोद्भूतनिशास्वेदोल्वणश्लेष्महरं परम् ॥
मृतन्तु वङ्गं परिशीलितन्तु विनाशयेन्नातिचिरेण नूनम् ।
चिरोत्थितं श्वासनलीविलग्नं कफं प्रवृद्धं मलनामधेयम् ॥

Scanned with CamScanner

वंग सभी लोहों में बलवान्, दिव्य तथा पारद का स्तम्भन करने वाला होता है।[1] अकेला सिंह जैसे हाथी के झुंड का विनाश कर देता है, ठीक उसी प्रकार अकेला वंग सभी प्रकार के प्रमेह का नाश करता है।[2]

वंग भस्म की मात्रा—१ से २ रत्ती (१२० से २५० मिग्रा०)।[3]

अनुपान—शहद, घी, दूध, मलाई एवं मक्खन। इनके अतिरिक्त रोगानुसार विविध वानस्पतिक स्वरस, क्वाथ एवं चूर्ण के साथ प्रयोग किया जाता है।

अशुद्ध एवं अपक्व वंग भस्म सेवनजन्य विकार की शान्ति—मेषशृंगी के चूर्ण में मिश्री मिलाकर ३ दिन तक सेवन करने से अशुद्ध एवं अपक्व वंग सेवन से उत्पन्न विकार शान्त हो जाता है।[4]

वंग भस्म निर्मित प्रमुख योग—१. त्रिवंग भस्म, २. स्वर्ण वंग, ३. नित्यानन्द रस, ४. त्रिनेत्राख्य रस, ५. इन्दुवटी, ६. लक्ष्मीविलास रस, ७. महाशंख वटी, ८. कुमुदेश्वर रस तथा ९. ताल्केश्वर रस आदि।

स्वर्ण वंग का निर्माण—

द्रव्य—शुद्ध वंग, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक एवं नवसादर—सभी समान भाग।

विधि—शुद्ध वंग को लौह दर्वी में द्रवित कर उसमें पारद मिलाकर खरल में डालकर मर्दन करें। मिश्रण पीठी सदृश बन जायेगा। इस मिश्रण में प्रथम अम्ल द्रव (निम्बू स्वरस) डालकर मर्दन करें फिर थोड़ा-थोड़ा सैन्धव लवण मिलाकर मर्दन करें एवं जल से प्रच्छालन करते जायें। धीरे-धीरे कालिमा नष्ट हो जायेगी। अब गन्धक डालकर मर्दनकर कज्जली बना लें। कज्जली बन जाने पर उसमें नवसादर डालकर अच्छी प्रकार घोंट कर सात कपड़मिट्टी की हुई काँचकूपी में भर कर बालुका यन्त्र में रख ४ प्रहर (१२ घण्टे) मृदु अग्नि में पकायें। कूपीमुख से श्वेत धूम्र निकलना बन्द हो जाने पर स्वांगशीत होने दें। पश्चात् काँचकूपी तोड़कर

मृतन्तु वङ्गं परिशीलितं वै निवारयेन्नात्रिचिरेण कामम्।
सर्वाङ्गं मानसवैकृतोत्थं प्रसादसंज्ञं पवनं प्रवृद्धम्' ॥
(र० त० १८।३९-४४)

१. 'सर्वेषामेव लोहानां बलवान् वङ्ग उच्यते।
तस्य संशोधनं दिव्यं स्तम्भनं च रसस्य तु' ॥ (रसोपनिषत् १३।६)

२. 'सिंहो यथा हस्तिगणं निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम्।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम्' ॥
(आ० प्र० ३।१५१)

३. 'रत्तिकातः समारभ्य रत्तिद्वितयसम्मिताम्।
पूर्णमात्रां प्रयुञ्जीत मृतवङ्गस्य कोविदः' ॥ (र० त० १८।४६)

४. 'मेषशृङ्गीसितायुक्तां यः सेवेत दिनत्रयम्।
वङ्गदोषविमुक्तोऽसौ सुखं जीवति मानवः' ॥ (रसराजसुन्दर)

कूपी के तल से स्वर्णवंग प्राप्त करें।[1] उत्तम स्वर्णाभ वर्ण प्राप्त करने के लिए वंग का चौथाई (¼ भाग) सूर्यक्षार मिलाना चाहिए।

सावधानी—१. अग्नि देते समय नवसादर के धूम्र से कूपीकण्ठ के अवरोध को लौह शलाका से साफ करते रहना चाहिए।

२. कूपी तोड़ने पर काँच के कण स्वर्णवंग से सावधानीपूर्वक निकाल लें।

वर्ण—स्वर्ण कण सदृश चमकीले पीले वर्ण का।

गुणकर्म—यह शीतवीर्य, रूक्ष, सर, तिक्त, लवण और अम्ल रस वाला, बलप्रद, रसायन, प्रमेहनाशक, बुद्धिवर्द्धक, शरीर-कान्तिवर्द्धक, कफनिस्सारक, वृष्य तथा मेदो विकार को नष्ट करने वाला होता है।[2]

मात्रा—१ से २ रत्ती बल-काल का विचार कर प्रयोग करें।[3]

---

१. 'कर्षत्रयमितं वङ्गं दर्व्यां न्यस्यानले न्यसेत्।
विद्रुते तत्समं सूतं द्रुतं तत्र विनिक्षिपेत्॥
द्रुतं निक्षिप्य खल्वे च पेषयेदतियत्नतः।
अम्लेन केनचिद्वापि सह सम्मर्दयेत् ततः॥
विमर्द्य सैन्धवं दत्त्वा बहुशः क्षालयेत् ततः।
विशुद्धं गन्धकञ्चाथ दद्यादीश्वरसम्मितम्॥
चुल्लिकालवणञ्चैव बलितुल्यं विनिक्षिपेत्।
सम्पेष्य चातियत्नेन श्लक्ष्णचूर्णन्तु कारयेत्॥
सवस्त्रमृत्तिकालिप्तकाचकूप्यां ततो न्यसेत्।
यत्नतः सिकतायन्त्रे चतुर्यामं पचेत् ततः॥
निर्धूमे जायमाने च काचकूपीमुखे भिषक्।
सन्दंशेन गृहीत्वा च कूपीं भूमौ तु विन्यसेत्॥
काचकूपी विभिद्याथ कूपिकातलसंस्थितम्।
स्वर्णवर्णं स्वर्णवङ्गं भिषग्यत्नः समाहरेत्॥
कूपीभेदनकाले तु सूक्ष्मदर्शी भिषग्वरः।
सूक्ष्मान् काचकणान् सम्यङ् निरीक्ष्य परिवर्जयेत्॥
वङ्गं सञ्जायते यस्मात् कीर्णं स्वर्णकणैरिव।
तस्मादसायनाचार्यैः स्वर्णवङ्गं प्रकीर्तितम्' ॥(र० त० १८।६८-७७)

२. 'सुवर्णवङ्गं शिशिरञ्च रूक्षं सरं सतिक्तं लवणञ्च साम्लम्।
रसायनं मेदहरञ्च मेध्यं बल्यञ्च नेत्र्यं परमं प्रदिष्टम्॥
लावण्यदं वह्निविवर्धनञ्च श्लेष्मामयघ्नं परमञ्च वृष्यम्।
मेदोहरं शुक्रकरं निकामं सुवर्णवङ्गं कथितं रसज्ञैः'॥
(र० त० १८।८१-८२)

३. 'गुञ्जैकतः समारभ्य गुञ्जा द्वितयसम्मितम्।
सुवर्णवङ्गं युञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० १८।८३)

अनुपान—शहद एवं जल तथा विविध रोगनाशक वनस्पतियों के चूर्ण, स्वरस एवं विविध योगों के साथ।

नाग
(Lead)

नाम—संस्कृत : नाग। हिन्दी : सीसा। अंग्रेजी : Lead. लैटिन : Plumbum
संकेत—Pb.
विशिष्ट घनत्व—११·३। **द्रवणांक**—३२६° सें०। **क्वथनांक**—१५२५° सें०।
परमाणु-भार—२०७·२२। **काठिन्य**—१·५।

पर्याय—सीसक, शीषक, सीस, नागक, सर्प के नाम—भुजंग, फणि, आशीविष, सर्प आदि, कुवंगक, कुरंग, सिन्दूरकारण[1] वभ्र तथा योगेष्ट।

इतिहास—सीसक धातु का ज्ञान भारतीयों को अति प्राचीनकाल से है। लगभग सभी वैदिक ग्रन्थों में इसका भी उल्लेख मिलता है। चिकित्सा में इसका प्रयोग संहिता-काल (चरकसंहिता) में देखा जाता है।[2] शोधन-मारण आदि रसशास्त्रीय प्रक्रियाओं के विकास के साथ इसका विस्तृत वर्णन एवं प्रयोग रस-ग्रन्थों में देखा जाता है। पौराणिक मान्यता के अनुसार सीसे को वासुकी सर्प का वीर्य माना गया है। तदनुसार सर्पराज भोगी की अतिसुन्दर कन्या को देखकर वासुकी सर्प का वीर्य स्खलित हो गया, जो नाग के नाम से जाना जाने लगा।[3]

परिचय—सीसा मलिन श्वेत वर्ण की भारी तथा मृदु धातु है। नाखून के दबाव से इस पर निशान पड़ जाता है। हथेली अथवा कागज पर रगड़ने पर काली रेखा या निशान बनाता है। यह आघातवर्द्धनीय होता है।

शुद्ध जल तथा रूक्ष वायु का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु अशुद्ध जल में यह अल्पांश में घुलनशील है। ऐसा जल पीने से नागजन्य विकारों को उत्पन्न करता है। व्यवहार में इससे पानी के पाइप, बन्दूक की गोलियाँ तथा सिन्दूर बनाया जाता है।

नाग के खनिज—नाग यौगिक के रूप में ही प्राप्त होता है। इसके निम्न मुख्य खनिज हैं—

१. (क) 'सीसकं शीषकं सीसं नागकं नागनामकम्।
कुरङ्गकं कुरङ्गञ्च तथा सिन्दूरकारणम्' ॥ (र० त० १९।१)
(ख) 'नागः सीसं च वभ्रं च योगेष्टं नागनामकम्'। (आ० प्र० ३।१८५)
२. 'त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकं वृहती'। (च० चि० ७।८५)
३. 'दृष्ट्वा भोगिसुतां रम्यां वासुकिस्तु मुमोच यत्।
वीर्यं जातस्ततो नागः सर्वरोगापहो नृणाम्' ॥ (आ० प्र० ३।१८४)

१. गेलेना (Galena : PbS : Lead sulphide)
२. सेरुसाइट (Cerrusite : $PbCO_3$: Lead carbonate)।
३. एंग्लेसाइट (Anglesite : $PbSO_4$ Lead sulphate)।
४. मेटलोकाइट (Matlockite : PbClF : Lead chlorite)।
५. लिथार्ज (Litharge : PbO : Lead oxide)।

प्राप्ति-स्थान—भारत में कश्मीर, पंजाब, राजस्थान (आबू एवं तारागढ़), तामिलनाडु (कुर्नूल), विहार (सिंहभूमि एवं हजारीबाग) तथा विदेशों में—आस्ट्रेलिया, अमेरिका, मैक्सिको तथा वर्मा में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

भेद—नाग दो प्रकार का होता है[1]—१. कुमार एवं २. समल। इनमें कुमार नाग अधिक गुणों वाला होता है तथा रसकार्यों में इसी का प्रयोग करना चाहिए।

नाग की ग्राह्याग्राह्यता—अग्नि में शीघ्र पिघलने वाला, भारवान्, काटने अथवा तोड़ने पर अन्दर का भाग काला, चमकदार, दुर्गन्धयुक्त एवं बाहर से काला नाग श्रेष्ठ होता है। इसके विपरीत लक्षणों वाला नाग त्याज्य है।[2]

नाग-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध नाग के सेवन से प्रमेह, कामला, क्षय,[3] शरीर की शोभा का नाश, श्वित्र, त्वक्‌रोग, सन्धिवेदना, पक्षाघात, गुल्म, आनाह, शोथ, भगन्दर, अग्निमान्द्य, अंसशोथ (कंधे में सूजन), बाहुओं में अकर्मण्यता, उदर-शूल आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः नाग (सीसक) का अच्छी प्रकार शोधन कर भस्म निर्माण करें।[4]

नाग-शोधन—

१. नाग को एक लोह दर्वी (कर्छी) में रख कोयले की आँच पर द्रवित कर निर्गुण्डी त्वक् स्वरस में ७ बार निर्वाप करने (बुझा देने) से नाग शुद्ध हो जाता

१. 'नागं च द्विविधं प्रोक्तं कुमारं समलं तथा।
कुमारं रसकार्येषु योजनीयं गुणाधिकम्' ॥ (वृहद् रसराजसुन्दर)
२. 'द्रुतद्रावं महाभारं छेदे कृष्णसमुज्ज्वलम्।
पूतिगन्धं बहिः कृष्णं शुद्धं सीसमतोऽन्यथा' ॥ (र० र० स० ५।१७०)
३. 'अशुद्धः कुरुते नागः प्रमेहक्षयकामलाः।
तस्मात्संशुद्ध एवायं मारणीयो भिषग्वरैः' ॥ (आ० प्र० ३।१८८)
४. 'सीसं निहन्ति विमलां तु शरीर शोभां
कुष्ठं किलासकमलं जनयेच्च नूनम्।
सन्धीन् प्रपीडयति पक्षवधं प्रकुर्यात्
संशुद्धिहीनमिह चेत् खलु मारितं स्यात् ॥
शुद्धिपाकविहीनन्तु सीसकं परिशीलितम्।
गुल्मं प्रमेहमानाहं श्वयथुञ्च भगन्दरम् ॥
वह्निमान्द्यं त्वंसशोथं बाह्वोर्निश्चेष्टतां तथा।
शूलं क्षयादिकान् रोगान् जनयेदविकल्पतः' ॥ (र० त० १९।४-६)

Scanned with CamScanner

है। निर्गुण्डी त्वक् स्वरस युक्त पात्र पर वजनदार छिद्रयुक्त पिधानक रखना चाहिए (पिठरयन्त्र द्वारा) तथा प्रत्येक बार निर्गुण्डी स्वरस बदलते जाना चाहिए।[1]

२. द्रवित नाग को स्वच्छ चूर्णोदक में (प्रथमविधि के अनुसार) ७ बार निर्वापित कर लेने से नाग शुद्ध हो जाता है।[2]

३. नाग को द्रवित कर नाग के षोडशांश निर्गुण्डी मूलत्वक् चूर्ण, रेणुका बीज चूर्ण तथा हरिद्रा चूर्ण मिश्रित निर्गुण्डी पत्र स्वरस में ३ बार निर्वापित कर लेने (बुझा लेने) से नाग शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शोधित नाग से निर्मित नागभस्म के सेवन से मूर्च्छा, स्फोट आदि रोग उत्पन्न नहीं हो पाता है।[3]

इसी प्रकार गोमूत्र, गोघृत, सिताजल तथा मधु में ३ से ७ बार द्रवित नाग का निर्वाप कर लेने से नाग शुद्ध हो जाता है।

शोधन में सावधानी—द्रवित नाग को द्रव में डालने पर विस्फोट के साथ द्रव से बाहर छोटे-छटे कण के रूप में नाग उछल कर तेजी से बाहर निकलता है जिससे प्रयोगकर्त्ता के जलने की सम्भावना रहती है, अतः द्रव पात्र के ऊपर भारी छिद्रयुक्त ढक्कन रख लेना चाहिए।

नाग का मारण—

१. एक लोहे की कड़ाही में शुद्ध नाग को पिघला कर उसमें आँच देते हुए समान भाग शुष्क पीपल त्वक् के चूर्ण को थोड़ा-थोड़ा डालते हुए लोहे की करछी से रगड़ते जायें। नाग का जब तक सम्पूर्ण रूप से भस्म न हो जाय तब तक इस क्रिया को करें। तत्पश्चात् कड़ाही के बीचोबीच भस्म को इकट्ठा कर उसे एक मिट्टी के सकोरे से ढक कर नीचे से तीव्र आँच दें। आँच तब तक दें, जब तक नाग भस्म अंगारे की तरह लाल न हो जाय। स्वांगशीत हो जाने पर भस्म को निकाल कर जल से उसे धो डालें, जिससे उसमें का क्षारीय अंश निकल जायेगा। अब उस क्षार रहित नागभस्म में समान भाग शुद्ध मनःशिला मिलाकर नींबू के रस अथवा काञ्जी से

१. 'सीसकं दर्विकासंस्थं चुल्लिकायां निधापयेत्।
विद्रुतञ्चाथ विज्ञाय रसतन्त्रविचक्षणः॥
सिन्दुवारशिफाजातस्वरसापूरितोदरे ।
क्षिपेद् घटे तु सच्छिद्रपिधानपिहितास्यके॥
निर्वापयेत्सप्तवारं विधानज्ञो भिषग्वरः।
इत्थं विशोधितं सीसं मारणाय प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १९।७-९)

२. 'सीसकं द्रावयेल्लोहदर्वीगतं स्वच्छचूर्णोदके चाथ निर्वापयेत्।
पूर्वमार्गेण वै शेषकर्माचरेत् सीसकं सत्त्वरं याति शुद्धिं पराम्'॥
(र० त० १९।१०)

३. 'सिन्दुवारजटाकौन्तीहरिद्राचूर्णकं क्षिपेत्।
द्रुते नागेऽथ निर्गुण्डभास्त्रिवारं निक्षिपेद्रसे॥
नागः शुद्धो भवेदेवं मूर्च्छास्फोटादि नाचरेत्'। (र० र० स० ५।१७२-१७३)

अच्छी तरह मर्दन कर चक्रिका बना कर सुखा लें। इसे सम्पुट में बन्द कर कुक्कुट पुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार बार-बार मनःशिला मिलाकर ३ पुट देने से नाग का उत्तम श्लक्ष्ण एवं कृष्णवर्ण का भस्म बन जाता है।[1]

२. शुद्ध नाग का अपामार्ग तथा वासा पञ्चांग चूर्ण से जारण कर जल से धोकर क्षारमुक्त कर समान भाग मनःशिला मिलाकर वासा स्वरस की भावना देकर चक्रिका बना एवं सुखा कर सम्पुट में बन्द कर कुक्कुट पुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार के ३ पुट देने से नाग का श्लक्ष्ण, विशद एवं कज्जल सदृश भस्म बन जाता है। इसके सेवन से पक्षाघात आदि नागदोष उत्पन्न नहीं होते। इसका चिरकाल तक सेवन करने पर भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।[2]

१. 'सीसकं शुद्धमादाय कटाहे गालयेद्भिषक्।
विशुष्काश्वत्थवल्कोत्थं समं चूर्णं विनिक्षिपेत्॥
स्वल्पं स्वल्पं मुहुश्चाथ लोहदर्व्या प्रचालयेत्।
सीसभस्म भवेद्यावच्चूर्णं तावत्समापयेत्॥
राशीकृत्य ततो भस्म शरावेण पिधापयेत्।
ज्वलदङ्गारवर्णं स्यात् सीसभस्म यथा चिरम्॥
स्वाङ्गशीतं ततो ज्ञात्वा मृतं सीस समाहरेत्।
बहुशः क्षालयेत्तोयैः क्षारहीनं यथा भवेत्॥
सीसतुल्यां रोगशिलां विमलां तत्र निक्षिपेत्।
निम्बूकवारिणा वापि काञ्जिकेनाथ पेषयेत्॥
सम्पुटस्थं ततः कृत्वा पुटयेदतियत्नतः।
इत्थं त्रिभिः पुटैरेव सीसकं मृतिमाप्नुयात्॥
द्वितीयादिपुटे वैद्यस्तुल्यामेव शिलां क्षिपेत्।
इत्थं मृतं सीसकन्तु वीतशङ्कः प्रयोजयेत्॥
भस्म सञ्जायते श्लक्ष्णं विशदं कज्जलप्रभम्'। (र० त० १९।११-१८)

२. 'नागं विशुद्धन्तु कटाहसंस्थं प्रद्रावयेत्तीव्रतरानलेन।
द्रुतन्तु विज्ञाय भिषग्वरेण्यो मयूरचूर्णं क्रमशः क्षिपेद्वै॥
वासां विशुष्कां च समान्तु दत्त्वा सञ्चालयेद्वै वृषदण्डदर्व्या।
सुचूर्णितञ्चाथ विलोक्य वैद्यः प्रक्षालयेदच्छजलेन कामम्॥
चूर्णं समादाय ततो रसज्ञस्तुल्यां मनोज्ञां विमलां तु दत्त्वा।
वासारसेनाथ विमर्द्य सम्यक् पुटेत् त्रिवारं रसतन्त्रवैद्यः॥
भस्म सञ्जायते श्लक्ष्णं विशदं कज्जलप्रभम्
पक्षाघातादिकान् नागदोषान् नैव करोति च॥
सुचिरं सेवनेनापि विकारान्नैव दर्शयेत्।
अतो रसायनाचार्यो वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥
(र० त० १९।२४-२८)

Scanned with CamScanner

३. **मनःशिला एवं गंधक द्वारा नागमारण**—शुद्ध नाग को एक लौह कटाह में डाल चूल्हे पर चढ़ाकर अग्नि पर द्रवित करें। द्रवित हो जाने पर समान भाग मनःशिला के चूर्ण का थोड़ा-थोड़ा आवाप करते हुए एक लोहे की करछी से चलाते जायें। ऐसा तब तक करें जब तक नाग का सम्पूर्ण रूप में भस्म न हो जाय। स्वांगशीत होने पर इस भस्म को निकालकर उसमें समभाग शुद्ध गन्धक मिलाकर नीम्बू स्वरस से मर्दन कर चक्रिका बना धूप में सुखा कर सम्पुट में बन्द कर कुक्कुट पुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार ३ पुट देने से नाग का उत्तम प्रकार का भस्म बन जाता है।[1]

४. **पारद एवं गन्धक द्वारा नाग मारण**—शुद्ध नाग को लौह दर्वी में तीव्र अग्नि पर गर्म करें। द्रवित हो जाने पर उसमें समभाग शुद्ध पारद मिलाकर अग्नि से पृथक् कर उसे खरल में डालकर शीघ्रता से मर्दन करें। यह पीठी की तरह हो जायेगा। अब इसमें किसी अम्ल द्रव (नींबू स्वरस या काञ्जी) को डालकर मर्दनकर धोकर सुखा लें। इस नाग-पारद के मिश्रण में नाग के बराबर गन्धक डालकर २ प्रहर तक खूब अच्छी प्रकार मर्दन करें। कज्जली सदृश बन जाने पर इसे शरावसम्पुट में बन्दकर लघुपुट में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर सम्पुट में से काजल के समान कृष्णवर्ण का भस्म प्राप्त कर लें।[2]

---

१. 'विशुद्धं सीसमादाय कटाहे तु निधापयेत्।
चुल्लिकायां निधायाथ वह्निं प्रज्वाल्य गालयेत्॥
सीसकं विद्रुतं ज्ञात्वा स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः।
विशुद्धकुनटीचूर्णं तुल्यं दत्त्वा विमर्दयेत्॥
सीसभस्म भवेद् यावच्चूर्णं तावत्समापयेत्।
स्वतः शीतं ततो ज्ञात्वा सीसभस्म समाहरेत्॥
भस्मतुल्यं वलिं दत्त्वा नीम्बूनीरेण मर्दयेत्।
घर्मं विशोष्य यत्नेन सम्पुटस्थं ततः पुटेत्॥
इत्थं त्रिभिः पुटैरेव सीसकं मृतिमाप्नुयात्।
इत्थं मृतं सीसकन्तु वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १९।१९-२३)

२. 'नागं विशुद्धं तु निधाय दर्व्यां प्रद्रावयेत्तीव्रतरानलेन।
द्रुतं समालोक्य भिषग्वरेण्यः पदांशमीशं द्रुतमेव दद्याद्॥
द्रुतन्तु भूमावदतार्य खल्वे सम्पेषयेन्मत्वरमेव यत्नात्।
प्रक्षाल्य साम्लेन जलेन नूनं विशोष्य नीरं विदधीत चूर्णम्॥
निक्षिप्य सीसाद् द्विगुणन्तु गन्धं सम्पेषयेद्यामयुगं प्रयत्नात्।
विलोक्य चूर्णं खलु कज्जलाभं निधापयेद्वैद्यवरः शरावे॥
शरावसम्पुटस्थितं पुटेल्लघौ पुटे ततः।
स्वतः सुशीततां गते शरावमाहरेद्भिषक्॥
विभिद्य सम्पुटान्ततः शुभं सुकज्जलप्रभम्।
मृतन्तु सीसमाहरेद्रसायनागमार्यमा'॥ (र० त० १९।२९-३३)

५. **हरताल द्वारा नाग-मारण**—शुद्ध शीशे को लौह कटाह में रख अग्नि पर द्रवित कर अपामार्ग यवकुट चूर्ण, वासा चूर्ण अथवा पिप्पलत्वक् चूर्ण—इनमें से किसी एक से जारण कर लें। स्वांगशीत होने पर इसे खरल में लेकर सीसे से आधा भाग शुद्ध हरताल मिला अच्छी तरह मर्दन कर सम्पुट में बन्द कर लघुपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार ३ पुट देने से सीसे का उत्तम भस्म बन जाता है।[1]

६. **मनःशिला द्वारा नाग-मारण**—शुद्ध नाग को लौह कटाह में द्रवित कर नाग के समभाग शुद्ध मनःशिला चूर्ण लेकर थोड़ा-थोड़ा डालते हुए जारण करें। पूर्णरूपेण भस्म सदृश हो जाने पर स्वांगशीत होने दें। एक खरल में इस भस्म के समभाग में शुद्ध मनःशिला मिला लें। इसे अर्कदुग्ध से अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखा लें और सम्पुट में बन्द कर पुट (लघुपुट) में फूंक दें। इस विधि द्वारा (३ पुट में) नाग की भस्म शीघ्र बन जाती है।[2]

७. **षष्टिपुट नाग भस्म**—द्रवित नाग में नाग से चौथाई भाग इमली एवं अश्वत्थ की छाल का चूर्ण या भस्म थोड़ा-थोड़ा करके डालते हुए जारण करें। नाग जब पूरी तरह भस्म जैसा हो जाय तब इसे स्वांगशीत होने दें। अब इसे एक खरल में निकाल लें। इसमें नाग भस्म के बराबर शुद्ध मनःशिला मिलाकर बिजौरा नींबू अथवा काञ्जी से अच्छी तरह घोंटकर सुखा लें। इसे सम्पुट में बन्द कर पुट में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर इसमें पुनः भस्म का २०वाँ भाग शुद्ध मनःशिला मिलाकर नींबू का स्वरस या काञ्जी से मर्दन कर शरावसम्पुट में बन्द कर पुटपाक करें। इस प्रकार साठ बार पुट देने से नाग की निरुत्थ भस्म बन जाती है।[3]

---

१. 'चूर्णैर्मयूरादिसमुत्थितैस्तु चूर्णीकृतं सीसकमग्नियोगात्।
प्रक्षाल्य च क्षारहर्तिं विधाय सीसार्द्धमानं विमलालचूर्णम्॥
दत्त्वाथ सम्पेष्य शरावसंस्थं पुटेत्प्रमाणाहपुटैं रसज्ञः।
स्वतः सुशीतन्तु विलोक्य विद्वान् समाहरेत्सम्पुटकं प्रयत्नात्॥
रीत्यानया नातिचिरेण नूनमनुत्तमां याति मृतिन्तु सीसम्।
विलुप्तशङ्को भिषजां वरेण्यः प्रयोजयेद् भूतिमिमां रसेषु'॥ (र० त० १९।३४-३६)

२. 'नागं कटाहनिहितं द्रावयेद् वह्नियोगतः।
ततः शुद्धशिलाचूर्णं स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः॥
समांशेन तु निक्षिप्य लोहदर्व्या प्रचालयेत्।
नागभस्म भवेद्यावच्चूर्णं तावत्समापयेत्॥
ततः सीसोन्मितां शुद्धां शिलां दत्त्वा भिषग्वरः।
रविदुग्धेन सम्पेष्य पुटयेदतियत्नतः॥
एवं नातिचिरादेव नागकं मृतिमाप्नुयात्।
इत्थं मृतं नागकन्तु सर्वयोगेषु योजयेत्'॥ (र० त० १९।३७-४०)

३. 'अश्वत्थचिञ्चात्वग्भस्म नागस्य चतुरंशतः।
क्षिपेन्नागं पचेत्पात्रे चालयेल्लोहचाटुना।

Scanned with CamScanner

नाग भस्म का वर्ण—कज्जल सदृश (श्यावकृष्णवर्ण),[1] सिन्दूराभ पीतवर्ण, सिन्दूराभ वर्ण।[2]

नाग भस्म की मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक। रोगी के बल, काल, दोष आदि का विचार करते हुए नाग भस्म का प्रयोग करें।[3]

अनुपान—शहद एवं विविध रोगहर द्रव्यों के चूर्ण, स्वरस अथवा क्वाथ के साथ।

नाग भस्म के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त, कटु, मधुर, लवण एवं क्षारीय गुण में उष्ण, लघु, स्निग्ध, गुरु, सर तथा वीर्य में उष्ण होता है।[4]

कर्म में यह लेखन, बल्य (सौ हाथी के बराबर बल देने वाला), प्रमेहघ्न, दीपन, शुक्रल, वाजीकर, वृष्य, कृमिघ्न, चक्षुष्य, आयुष्य, कान्तिवर्द्धक एवं रजतरञ्जक है।

दोषघ्नता—वातहर, कफवातघ्न, पित्तविकारहन्ता, श्लेष्मरोगहर, वात-पित्तकफापह।

रोगघ्नता—नाग भस्म प्रमेह (मधुमेह) नाशक है। वातिक रोग, व्रण, अर्श, गुल्म, ग्रहणी, अतिसार, कृमि, कामला, कुष्ठ, विष, श्वास, शोष, तृष्णा, आमशोथ, आमशूल, मेदोरोग, रक्तप्रदर, पाण्डु एवं आमवात नाशक है। यह मृत्यु को दूर भगाता है।[5]

यावद्भस्म तदुद्धृत्य भस्मतुल्या मनःशिला ।
जम्बीरैरारनालैर्वा पिष्ट्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥
स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा विंशत्यंशशिलायुतम् ।
अम्लेनैव तु यामैकं पूर्ववत्पाचयेत्पुटे ।
एवं पञ्चपुटैः पक्वो नागः स्यात्सुनिरुत्थकः' ॥ (र० र० स० ५।१८१-८३)

१. 'शुभं सुकज्जलप्रभम्' । (र० त० १९।३३)
२. 'सिन्दूराभो भवेद् ध्रुवम्' ॥ (आ० प्र० ३।१९७)
३. 'पादांशतो रक्तिकाया रक्तिकैकमितं शुभम् ।
मृतं सीसं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० १९।४६)
४. 'मृतन्तु सीसं मधुरञ्च तिक्तं स्निग्धं तथोष्णं गुरु लेखनञ्च ।
सरं तथा वह्निविवर्द्धनञ्च रसागमज्ञैः खलु सम्प्रदिष्टम्' ॥
(र० त० १९।४३)
५. (क) 'अत्युष्णं सीसकं स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम् ।
प्रमेहतोयदोषघ्नं दीपनं चामवातनुत्' ॥ (र० र० स० ५।१७१)
(ख) 'नागः समीरकफपित्तविकारहन्ता सर्वप्रमेहवनराजिकृपीटयोनिः ।
उष्णः सरो रजतरञ्जनकृद् व्रणार्शोगुल्मग्रहण्यतिसृतिक्षणदांशुमाली ॥
नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति ।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युं च नाशयति सन्ततसेवितः सः' ॥
(आ० प्र० ३।१८६-८७)

पर्याय of दारी

नाग भस्म शरीर से होने वाले मूत्र, रक्त, स्वेद आदि स्रावों को कम करता है, अतः यह प्रमेह की उत्तम औषधि है। शरीर से इसका निष्क्रमण मूत्र, स्वेद, पित्त, स्तन्य तथा मल द्वारा होता है।

अशुद्ध एवं अपक्व नागभस्म सेवनजन्य विकार की शान्ति—स्वर्ण भस्म एवं हरीतकी चूर्ण को शर्करा के साथ ३ दिन तक सेवन करने से अपक्व नागभस्म सेवन जनित विकार शान्त हो जाता है।[1]

नागभस्म द्वारा निर्मित प्रमुख योग—१. आन्त्रशोपान्तक रस, २. कन्दर्पसुन्दर रस, ३. कालानल रस, ४. ज्वरारि रस, ५. त्रिवङ्ग भस्म, ६. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस ७. नृपतिवल्लभ रस, ८. माणिक्य रस, ९. योगेश्वर रस तथा १०. मूचिका-मारण रस आदि।

यशद (Zinc)

रीतीज, रीतीयुक्त रीतीकृत - रस्क पुष्पाञ्जन

नाम—संस्कृत : यशद। हिन्दी : जस्ता। अंग्रेजी : Zinc. लैटिन : Zincum.
संकेत—Zn. **वि० गु०**—७·१। **द्रवणांक**—४२९° सें०। **क्वथनांक**—९८०° सें।
पर्याय—यशद, यसद, जशद, जसद, रीतिहेतु, खर्परज[2] रंगसंकाश[3]।
इतिहास—यशद धातु का ज्ञान भारतीयों को खर्पर सत्त्व के नाम से अत्यन्त प्राचीन काल से है। यह मिश्र धातु पित्तल का एक घटक है। ताम्र एवं यशद के संयोग से पित्तल बनता है। पात्र एवं उपकरण के रूप में पित्तल का उपयोग 'रीति' के नाम से चरकसंहिता में हुआ है। मुगलों के आवागमन के साथ उनके द्वारा प्रयुक्त 'जस्ता' शब्द का संस्कृत में 'यशद' नामकरण किया गया है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में—मदनपालनिघण्टु (१५वीं शती) में यशद नाम से इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। इससे पूर्व रसार्णव (१०वीं शती) में इसे 'खर्पर सत्त्व' के नाम से उद्धृत

(ग) 'प्रमेहकरिकेशरी पवनरोगकालानलः
ग्रहण्यतिनिशारुणः खलु गुदाङ्कुरेभाङ्कुशः ।
बलासगदतस्करो व्रणगणौकसङ्कर्षणः
परं विजयतेतरां गदहरो भुजङ्गामृतः ॥
नागस्तु नागममतां द्रुतमातनोति गुल्मद्विपं दलयतीह चिरप्रमत्तम् ।
घोरं हरेत्प्रदरमाशु हि रक्तपूर्वं तूर्णन्तु रोगनिवहान् विनिहन्ति नूनम्' ॥
(र० त० १९।४४-४५)

१. हेमं हरीतकीं सेवेत् सितायुक्तं दिनत्रयम् ।
अपक्वनागदोषेण विमुक्तः सुखमेधते' ॥ (र० रा० सु०)
२. 'यशदं यसदञ्चैव जशदं जसदं तथा ।
रीतिहेतुः खर्परजं समाख्यातं भिषग्वरैः' ॥ (र० त० १९।९४)
३. 'यशदं रङ्गसङ्काशं रीतिहेतुश्च तन्मतम्' ॥ (आ० प्र० ३।१८१)

Scanned with CamScanner

किया है, तथा इसे वंग के समान कहा है; यथा—'सत्त्वं कुटिलसङ्काशं मुञ्चत्येव न संशयः'। रसरत्नसमुच्चय में रसक को 'रीतिकृत' एवं ताम्ररञ्जक कहा गया है। पित्तल-निर्माण हेतु रसक या यशद दोनों ही उपयोगी हैं। शार्ङ्गधरसंहिता के टीकाकार आढमल्ल ने धातुओं के वर्गीकरण में यशद धातु को उद्धृत किया है। रसग्रन्थों में सर्वप्रथम आयुर्वेदप्रकाशकार ने इसे उद्धृत किया है।

परिचय—यह नीलाभ श्वेत वर्ण का वंग के सदृश किन्तु वंग से कठिन होता है। सामान्य तापक्रम पर यह भंगुर है, किन्तु १५०° सें० पर गर्मकर इसे पीटकर फैलाया जा सकता है। २००° सें० ताप पर यह पुनः भंगुर हो जाता है। उस स्थिति में इसे चूर्ण रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। खुली हवा में जलाने पर यह नीली ज्वाला के साथ जलता है तथा श्वेत चूर्ण रूप (Oxide) में परिवर्तित हो जाता है। यह ताप एवं विद्युत् का वाहक होता है। लोहे की चद्दर पर इसका स्तर चढ़ाया (Galvanize) जाता है। इस हेतु द्रवित यशद में लोहे की चादर को डुबो देते हैं। द्रवित यशद को जल में डाल देने पर यह दानेदार यशद (Granulated zinc) रूप में बदल जाता है। यह अम्ल एवं क्षार के साथ प्रतिक्रिया करता है। इसका Oxide अनेक प्रकार के मलहम, पेण्ट, क्रीम एवं पाउडर आदि बनाने के काम में आता है।

यशद के खनिज—यशद धातु मुक्त रूप में नहीं मिलती है। इसके निम्न मुख्य खनिज हैं—

१. Zinc Blande : ZnS (जिंक सल्फाइड)
२. Zincite : ZnO (जिंक ऑक्साइड)
३. Calamine : $ZnCO_3$ (जिंक कार्बोनेट)
४. Hemimorphite : (जिंक सिलिकेट)।

प्राप्ति-स्थान—भारत में यह बिहार, राजस्थान (जावर), तमिलनाडु, पंजाब, कश्मीर, मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश में प्राप्त होता है।

यशद की ग्राह्याग्राह्यता—जो काटने पर चमकीली, स्निग्ध (चिकनी), मृदु (आसानी से मुड़ने वाली), स्वच्छ, अग्नि में शीघ्र पिघलने वाली तथा भारी (भारवान) हो उसे उत्तम यशद समझना चाहिए।[1] इसके विपरीत मोड़ने में कठिन, कठिनाई से द्रवित होने वाली, रूक्ष एवं शुष्क चमक वाली, भार में हलकी तथा मलिन यशद धातु औषध-कार्य हेतु अग्राह्य समझनी चाहिए।[2]

imp.

१. 'छेदे समुज्ज्वलं स्निग्धं मृदुलं निर्मलं तथा।
द्रुतदाहं महाभारं यशदं ग्राह्यमुच्यते'॥ (र० त० १९।९५)
२. 'कठिनं कठिनद्राव्यं रूक्षं रूक्षप्रभं लघु।
मलिनं यशदं यत्तु तदग्राह्यं प्रकीर्तितम्'॥ (र० त० १९।९६)

यशद शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध एवं अमारित यशद भस्म के सेवन से गुल्म, प्रमेह, क्षय, कुष्ठ,[1] अजीर्ण, वातव्याधि, वमन एवं भ्रम आदि विकार उत्पन्न होते हैं।[2]

यशद-शोधन—आयुर्वेदप्रकाशकार ने यशद का शोधन एवं मारण वंग के समान बतलाया है।[3] यशद को लौहदर्वी में रखकर तीव्र अग्नि पर द्रवित कर सच्छिद्र पिधानक युक्त घट या पात्र (पिठरयन्त्र द्वारा) में रखे चूर्णोदक[4] अथवा निर्गुण्डी मूल स्वरस[5] अथवा अर्कदुग्ध[6] में ७ बार अथवा गोदुग्ध[7] में २१ बार निर्वापित कर लेने से यशद उत्तम रूप से शुद्ध हो जाता है।

सावधानी—नागवंग की तरह यह भी निर्वापित करते समय विस्फोट पूर्वक बाहर निकलता है। अतः द्रव पात्र के ऊपर भारी सच्छिद्र पिधानक रखना चाहिए।

यशद का मारण—

१. लौह कटाह में यशद को द्रवित कर अपामार्ग यवकुट थोड़ा-थोड़ा डालते हुए लोह दर्वी से चलाते (रगड़ते) हुए जारण करें। सम्पूर्ण रूप से जारित (भस्मीभूत) यशद को कटाह के मध्य एकत्र कर एक मिट्टी के शराव से ढककर तीव्र अग्नि दें,

---

१. 'विशुद्धिहीनं यशदं मृतञ्चेद् विशोधितं वाप्यमृतं त्वविज्ञैः।
निषेवितं वै जनयेद् विकारान् गुल्मप्रमेह क्षयकुष्ठकादीन्'॥
(र० त० १९।९७)
२. 'अपक्वं यशदं रोगान् प्रमेहाजीर्णमारुतान्।
वमि भ्रमं करोत्येतच्छोधयेन्नगवत्ततः'॥ (वृ० रसराजसुन्दर)
३. 'यशदं गिरिजं तस्य दोषाः शोधनमारणे।
वङ्गस्येव हि बोधव्याः गुणास्तु प्रवदाम्यहम्'॥ (आ० प्र० ३।१८२)
४. 'जात्यं यशदमादाय लोहदर्व्यान्तु विन्यसेत्।
तीव्राग्निना तु विद्राव्य चूर्णवारिप्रपूरिते॥
सच्छिद्रेण पिधानेन पिहितास्ये घटे क्षिपेत्।
सप्तवारं प्रयत्नेन यशदं शुद्धिमाप्नुयात्'॥ (र० त० १९।९८-९९)
५. 'यशदं द्रावितं यत्नात् सप्तवारं विधानतः।
सिन्दुवारशिफाद्रावे स्नपयेद्भिषजां वरः॥
रीत्यानया तु यशदं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्।
एवं शुद्धन्तु यशदं मारणाय प्रयोजयेत्'॥ (र० त० १९।१००-१०१)
६. 'प्रद्राव्य यशदं वैद्यः सुधादुग्धे निषेचयेत्।
सप्तवारं प्रयत्नेन शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० १९।१०३)
७. 'यशदं द्रावितं यत्नाद् गोदुग्धे स्नपयेद्भिषक्।
त्रिसप्तवारं यत्नेन यशदं शुद्धिमाप्नुयात्'॥ (र० र० १९।१०२)

Scanned with CamScanner

जिससे यशद भस्म अंगार वर्ण का हो जाय। इस प्रकार पूरे दिन भर अग्नि दें। तत्पश्चात् स्वांगशीत होने पर उसे प्राप्त कर लें।[1]

२. पारद द्वारा यशद मारण—शुद्ध यशद को लौह कटाह या दर्वी में तीव्र आँच पर द्रवित कर उसमें समान भाग में शुद्ध पारद मिलाकर शीघ्रता से खरल में डालकर मर्दन करें। मर्दन करने से यशद एवं पारद का मिश्रण पीठी की तरह बन जायेगा। इस पीठी को नींबू स्वरस के साथ मर्दन कर धो डालें। अब इसमें यशद के समान भाग शुद्ध गन्धक मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन करें। चूर्ण बन जाने पर इसे एक शराव-सम्पुट में बन्द कर पुट (कुक्कुटपुट) में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर यशद भस्म प्राप्त कर लें।[2]

३. हरताल द्वारा यशद मारण—शुद्ध यशद को लौह कटाह में डालकर तीव्र आँच देते हुए द्रवित हो जाने पर मजबूत कच्चे निम्ब दण्ड से रगड़ते हुए जारण करें। यशद के सम्पूर्ण रूप में भस्म सदृश हो जाने पर चूल्हे पर से उतार कर स्वांगशीत होने दें। तत्पश्चात् उसे खरल में डालकर उसमें यशद से चतुर्थांश शुद्ध हरताल चूर्ण मिलाकर खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर शरावसम्पुट में बन्द कर पुट (कुक्कुटपुट) की अग्नि में फूंक दें। स्वांगशीत हो जाने पर यशद भस्म प्राप्त कर लें।[3]

---

१. 'यशदं विमलं न्यस्य कटाहे गालयेद्भिषक्।
अपामार्गस्य चूर्णञ्च स्वल्पं स्वल्पं मुहुर्मुहुः॥
विनिक्षिपेत् भिषग्वर्यो लोहदर्व्याथ चालयेत्।
भस्म यावद् भवेत्सम्यक् चूर्णं तावत् समापयेत्॥
राशीकृत्य ततो भस्म शरावेण तिरापयेत्।
ज्वलदङ्गारवर्णं स्याद् यशदं तु यथा चिरम्॥
तथा प्रदीपयेदग्निं दिनमेकं भिषक्तमः।
स्वतः शीतं ततो ज्ञात्वा यशदं मृतमाहरेत्'॥ (र० त० १९।११२-११५)

२. 'शुद्धं यशदमादाय कटाहे तीव्रवह्निना।
प्रद्राव्य भिषजां वर्यः समपारदगर्भके॥
खल्वे विनिक्षिपेद्यत्नात्ततः सम्पेषयेद् द्रुतम्।
पिष्टिं विधाय यत्नेन क्षालयेन्निम्बुवारिणा॥
यशदप्रमितं गन्धं दत्त्वा सञ्चूर्णयेत् ततः।
शरावसम्पुटस्थन्तु पुटयेदथ यत्नतः॥
रीत्यानया तु यशदं मृतिमायात्यनुत्तमाम्।
इत्थं मृतन्तु यशदं सर्वयोगेषु योजयेत्'॥ (र० त० १९।१०४-१०७)

३. यशदं विशुद्धमादौ विनिधाय वै कटाहे।
अतितीव्रवह्नियोगात् खलु गालयेन्निकामम्॥
दृढनिम्बदण्डदर्व्या परिचालयेत्प्रयत्नात्।
सुमृतं ततो विलोक्य त्ववतारयेत्कटाहम्॥

यशद भस्म का वर्ण—पाण्डुरवर्ण एवं श्वेतवर्ण (चन्द्रमा अथवा कुन्दपुष्प वर्ण सदृश श्वेतवर्ण का)।

यशद भस्म की मात्रा—आधी से एक रत्ती तक बल-काल का विचार करते हुए प्रयोग करें।[1]

अनुपान—शहद, मक्खन, घी, दूध, मलाई।

यशद भस्म के गुण-कर्म[2]—यह रस में तिक्त, कषाय एवं कटु; गुण में शीत तथा वीर्य में शीत है। यह चक्षुष्य, वीर्य, बुद्धिवर्द्धक, श्रमहर तथा श्लेष्मकलासंकोचक है।

दोषघ्नता—कफ-पित्तनाशक एवं वातशामक।

रोगघ्नता—प्रमेह (मधुमेह), नेत्ररोग, पाण्डु, कास, श्वास, रात्रिस्वेद, व्रण एवं व्रणस्राव, अत्यधिक रजःस्राव तथा कम्पवातनाशक है।[3]

यशद भस्म सेवन जनित विकार की शान्ति—बला एवं अभया (हरीतकी) चूर्ण का मिश्री के साथ ३ दिन तक सेवन करने से यशद भस्म से उत्पन्न विकार शान्त हो जाता है।[4]

यशद के प्रमुख योग—१. त्रिवङ्ग भस्म, २. शिलाजत्वादि लौह, ३. लघुवसन्त-मालती रस, ४. सुवर्णवसन्तमालती रस तथा ५. यशदामृत मलहर।

विमलं प्रदाय तालं चरणांशिकं रसज्ञः।
खलु पेषयेत्प्रयत्नात् पुटवित् पुटेत् पुटस्थम्॥
रीत्यानया तु यशदं मृतिमेति निर्विशेषाम्।
विविधानुपानयोगात् वितरेत्तु वीतशङ्कः'॥ (र० त० १९।१०८-१११)

१. 'गुञ्जार्द्धतः समारभ्य गुञ्जैकप्रमितं मृतम्।
यशद विनियुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० १९।१२५)

२. 'यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं कफपित्तहृत्।
चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुश्वासं च नाशयेत्'॥ (आ० प्र० ३।१८३)

३. 'यशदं तुवरं शिशिरं कटुकं परमं नयनामयनाशकरम्।
कफपित्तसमुत्थितरोगहरं बलवीर्यविवेकसमृद्धिकरम्॥
यशदं पाण्डुशमनं बहुमेहनिषूदनम्।
कासश्वासप्रशमनं निशास्वेदनिबर्हणम्॥
यशदं परमं श्लेष्मकलासङ्कोचकृन्मतम्।
समाख्यातं विशेषेण व्रणसंस्रावरोधनम्॥
श्रमावसादशमनं रजःस्रावनिषूदनम्।
कम्पवातापहं चैव विशेषात् परिकीर्तितम्'॥ (र० त० १९।१२०-१२३)

४. बलाभया सितायुक्तां सेवते यो दिनत्रयम्।
यशदस्य विकारस्तु शान्तिमायाति नान्यथा'॥ (रसराजसुन्दर)

Scanned with CamScanner

पित्तल (Brass)

नाम—संस्कृत : पित्तलम् । हिन्दी : पीतल । अंग्रेजी : Brass.

पर्याय[1]—पित्तल, पीतलोह, कपिलोह, रीतिका, आरकूट, राजरीति, ब्रह्मरीति, कपिला, पिङ्गला, पीतक, सितकनक एवं क्षुद्रसुवर्ण आदि।

इतिहास—यह ताम्र एवं यशद से निर्मित मिश्रलोह है। पित्तल निर्मित पात्र एवं उपकरण का उपयोग संहिताकाल से (चरक-सुश्रुत के समय से) देखा जाता है। रसशास्त्र के विकास के क्रम में यह भी शोधन-मारण कर औषधीय उपयोग के प्रचलन में आया।

परिचय—दो भाग ताम्र तथा एक भाग यशद को एकत्र पिघला लेने से यह मिश्रलोह (पित्तल) बनता है। इसे ताम्र एवं यशद का उपधातु भी कहते हैं। यह पीले रंग की चमकदार, कठिन, पीटने पर फैलने वाली एवं स्निग्ध धातु है। पित्तल निर्मित पात्र, उपकरण एवं मूर्तियों का उपयोग खूब प्रचलित है। वानस्पतिक अम्लों की इस पर शीघ्र प्रतिक्रिया होती है। अतः खट्टे खाद्य पदार्थ खाने अथवा पकाने के लिए पित्तल के पात्र का उपयोग नहीं किया जाता है।

पित्तल भेद[2]—१. रीतिका एवं २. काकतुण्डी। जो पित्तल प्रतप्त कर काञ्जी में बुझाने पर लाल वर्ण का हो जाय उसे 'रीतिका' तथा जो काला हो जाय उसे 'काकतुण्डी' कहते हैं।

पीतल की ग्राह्याग्राह्यता—वजनदार, मुलायम, सुन्दर पीले रंग का, पीटने पर न टूटने वाला तथा स्पर्श में स्निग्ध एवं मसृण पीतल उत्तम माना जाता है। इसी प्रकार सफेद-पीला, खुरदरा, रूक्ष, कालिमायुक्त, भंगुर, दुर्गन्धयुक्त तथा भार में हलका पित्तल त्याज्य होता है।[3]

---

१. (क) 'पित्तलं पीतलोहञ्च कपिलोहञ्च रीतिका।
आरं तथाऽऽरकूटञ्च तदेव परिकीर्तितम्' ॥ (र० त० २२।१)
(ख) 'पित्तलं त्वारकूटं स्यादारो रीतिश्च कथ्यते।
राजरीतिर्ब्रह्मरीतिः कपिला पिङ्गलापि च' ॥
रीतिरप्युपधातुः स्यात्ताम्रस्य यशदस्य च'। (आ० प्र० ४।६६-६७)

२. 'रीतिका काकतुण्डी च द्विविधं पित्तलं भवेत्।
सन्ताप्य काञ्जिके क्षिप्ता ताम्राभा रीतिका मता ॥
एवं या जायते कृष्णा काकतुण्डीति सा मता' ॥
(र० र० स० ५।१९१-१९२)

३. 'गुर्वी मृद्वी च पीताभा साराङ्गी ताडनक्षमा।
सुस्निग्धा मसृणाङ्गी च रीतिरेतादृशी शुभा ॥

पित्तल का शोधन—तैल-तक्रादि से शोधित पित्तल के पत्रों को तपा-तपाकर हरिद्रा चूर्ण मिश्रित निर्गुण्डी स्वरस में ५ बार बुझा लेने से पित्तल शुद्ध हो जाता है।[1]

पित्तल का मारण—समान भाग शुद्ध मनःशिला एवं गन्धक को नींबू के रस में पीसकर पित्तल के पत्र पर लेपकर सुखाकर शरावसम्पुट में रख सन्धि-बन्धन कर अर्धगजपुट में फूंक दें। इस प्रकार आठ पुट में पित्तल का उत्तम भस्म बन जाता है। (प्रथम पुट के बाद पीतल प्रायः चूर्ण रूप का हो जाता है जिसे मनःशिला एवं गन्धक मिलाकर नींबू रस से पीसकर टिकिया बना-सुखाकर पुट देते हैं)।

अथवा ताम्र भस्म बनाने की विधि से पित्तल का भस्म बनायें।[2]

पित्तल भस्म की मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक। पित्तल भस्म का उपयोग ताम्र भस्म की तरह करना चाहिए।[3]

अनुपान—शहद एवं विविध रोगानुसार उपयोगी वानस्पतिक योगों के साथ।

पित्तल भस्म के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण एवं गुण में रूक्ष है। यह शोधन, लेखन तथा रक्तविकार, रक्तपित्त, कृमि, कुष्ठ और पाण्डु रोग को दूर करने वाला होता है।[4]

काकतुण्डी पित्तल रूक्ष, कटु, उष्ण, कफ-पित्तनाशक, यकृत् और प्लीहा रोग नाशक तथा शीत वीर्य होता है।[5]

असम्यग् मारित पित्तल भस्म के दोष—असम्यक् मारित पित्तल भस्म भ्रम, अर्श, भगन्दर, प्रमेह, ज्वर एवं मृत्यु को देने वाला होता है।[6]

पित्तल भस्म निर्मित प्रमुख योग—१. पित्तल रसायन, २. रत्नप्रभावटी, ३. षडानन रस तथा ४. स्वर्णसिन्दूर रस आदि।

पाण्डुपीता खरा रूक्षा बर्बरा ताडनाक्षमा।
पूतिगन्धा तथा लघ्वी रीतिर्नेष्टा रसादिषु' ॥ (र० र० स० ५।१९३-१९४)

१. 'तप्त्वा क्षिप्त्वा च निर्गुण्डी रसे श्यामारजोऽन्विते।
पञ्चवारेण संशुद्धि रीतिरायातिनिश्चितम्' ॥ (र० र० स० ५।१९७)

२. 'निम्बूरसशिलागन्धवेष्टिता पुटिताऽष्टधा।
रीतिरायाति भस्मत्वं ततो योज्या यथाययम् ॥
ताम्रवन्मारणं तस्याः कृत्वा सर्वत्र योजयेत्' ॥ (र० र० स० ५।१९८-१९९)

३. 'पित्तलस्य योगस्तु रविलोहसमो मतः।
गुञ्जार्धतस्तु गुञ्जैकमिता मात्रा च युज्यते' ॥ (र० त० २२।१८)

४. 'रीतिस्तिक्तरसा रूक्षा जन्तुघ्नी सान्नपित्तनुत्।
कृमिकुष्ठहरा योगात् सोष्णवीर्या च शीतला' ॥ (र० र० स० ५।१९५)

५. 'काकतुण्डी गतस्नेहा तिक्तोष्णा कफपित्तनुत्।
यकृत्प्लीहहरा शीतवीर्या च परिकीर्तिता' ॥ (र० र० स० ५।१९६)

६. 'विविधरोगचयं कुरुते भ्रमं गुदरुजातिगेहरुजां गणम्।
विविधतापक्रमा तनुते तानावमृतमारकमाशु हि मृत्युदम्' ॥ (रसराजसुन्दर)

Scanned with CamScanner

कांस्य
(White Copper/Bell Metal/Bronze)

नाम—संस्कृत : कांस्य । हिन्दी : काँसा । अंग्रेजी : Bell Metal या White copper. लेटिन : Bronze.

पर्याय—ताम्रवपुज, कांस्य, (घोष) कंसक, सौराष्ट्रज,[१] कंसीय, कांस्यक, घोषपुष्प, घोषक, वह्निलोह,[२] दीप्तलोह और दीप्तक ।

इतिहास—कांस्य धातु का ज्ञान भारतीयों को अतिप्राचीन काल से है । संहिता-ग्रन्थों में इसके पात्र, मूर्ति एवं घण्टी आदि के रूप में उपयोग का उल्लेख मिलता है । रसशास्त्रीय शोधन-मारण आदि प्रक्रियाओं के विकास (आठवीं शताब्दी) के बाद ही इसका भी भस्म-निर्माण तथा औषधीय आभ्यन्तर प्रयोग प्रचलन में आया ।

परिचय—८ भाग ताँबा और २ भाग राँगा (वंग) को एकत्र मिलाकर पिघलाने से कांस्य धातु बनती है ।[३] इसे ताम्र एवं वंग की उपधातु भी कहते हैं ।[४] यह सफेद वर्ण की चमकदार धातु है । पात्र, घण्टी, घुँघरू, झाल-मंजीरा आदि के निर्माण हेतु इस धातु का विशेष उपयोग होता है । भूतकाल में सौराष्ट्र में इसका औद्योगिक स्तर पर उत्पादन होता होगा, अतः इसे सौराष्ट्रज कहते हैं । सौराष्ट्र (काठियावाड़) निर्मित कांस्य उत्तम माना जाता है ।

कांस्य के भेद—यह दो प्रकार का होता है—१. पुष्प तथा २. तैलिक ।[५] इनमें पुष्प कांस्य अत्यन्त श्वेत तथा तैलिक कपिश वर्ण का होता है । पुष्प कांस्य रोग शान्ति हेतु उत्तम माना जाता है ।[६]

ग्राह्य कांस्य—तीक्ष्ण शब्द (ऊँची आवाज) युक्त मुलायम एवं चिकना, किंचित् श्याव-श्वेत वर्ण का, स्वच्छ एवं चमकदार तथा तपाने पर लाल वर्ण वाला कांस्य उत्तम माना जाता है ।[७]

---

१. 'ताम्रवपुजमाख्यातं कास्यं घोषं च कंसकम्' । (आ० प्र० ४।६२)
२. 'कंसीयं कांस्यकं कांस्यं घोषपुष्पञ्च घोषकम् ।
घोषो घोषं वह्निलोहं तदेव परिकीर्तितम्' ॥ (र० त० २२।२१)
३. 'अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागं कुटिलं युतम् ।
एकत्रद्रावितं तत्स्यात् कांस्यं सौराष्ट्रजं शुभम्' ॥ (आ० प्र० ४।६१)
४. 'उपधातुर्भवेत्कांस्यं द्वयोस्तरणिरङ्गयाः' । (आ० प्र० ४।६२)
५. 'कांस्यं च द्विविधं प्रोक्तं पुष्पतैलिकभेदतः' ।
६. 'पुष्पं श्वेततमं तत्र तैलिकं कपिशप्रभम् ।
एतयोः प्रथमं श्रेष्ठं संसेव्यं रोगशान्तये' ॥ (-आ० प्र० ४।६५-६६)
७. 'तीक्ष्णशब्दं मृदुस्निग्धमीषच्छ्यामलशुभ्रकम् ।
निर्मलं दाहरक्तं च पोढा कांस्यं प्रशस्यते' ॥ (र० र० स० ५।२०६)

अग्राह्य कांस्य—पीले रंग का, तपाने पर ताम्रवर्ण का, खुरदरा, रूखा, भंगुर, मन्द ध्वनि उत्पन्न करने वाला और चमकरहित कांस्य निम्न कोटि का तथा त्याज्य माना जाता है ।[१]

कांस्य का शोधन—प्रथम कांस्य का सामान्य शोधन तैल, तक्र, गोमूत्र, काञ्जी एवं कुलत्थ क्वाथ में क्रमशः ७-७ बार ताप-तपाकर बुझा लेने के पश्चात्—

१. तैल-तक्रादि शोधित कांस्य पत्रों को अग्नि में रक्तप्रतप्त करके ७ बार गोमूत्र में बुझा लेने से कांस्य शुद्ध हो जाता है ।[२]

२. एक हाँडी में गोमूत्र एवं सैंधव लवण डालकर उसमें कांस्य के सूक्ष्म चूर्ण या पत्र को डाल दें । अब इसे चूल्हे पर रखकर १ प्रहर (३ घण्टे) तक अग्नि पर पका लेने से कांस्य शुद्ध हो जाता है ।[३]

काँस्य का मारण—

१. समभाग शुद्ध गन्धक और हरताल को नींबू के रस में पीसकर उसका काँस्य पत्र पर लेप कर सुखा लें । अब इसे शरावसम्पुट में बन्द कर सन्धि-बन्धन कर धूप में सुखाकर अर्ध गजपुट में पकायें । ऐसे पाँच पुट दे देने से कांस्य का भस्म बन जाता है ।[४]

२. कांस्य के समभाग हिंगुल को एकत्र नींबू से घोंटकर क्रमशः ३ गजपुट की अग्नि देने से काँस्य का भस्म बन जाता है ।[५]

३. काँस्य के समभाग शुद्ध गन्धक को एकत्र अर्कक्षीर से मर्दन कर गजपुट की अग्नि में ३ बार फूंक देने से कांस्य का भस्म बन जाता है ।[६]

---

१. 'तत्पीतं दहने ताम्रं खरं रूक्षं घनासहम् ।
मन्दनादं गतज्योतिः समधा कांस्यमुत्सृजेत्' ॥ (र० र० स० ५।२०७)
२. 'तप्तं कांस्यं गवां मूत्रे वापितं परिशुद्धयति' । (र० र० स० ५।२०९)
३. सूक्ष्मपत्रीकृतं घोषपुष्पाह्वयं मूत्रषट्वन्वितं स्थालिकायां न्यसेत् ।
यामसम्पाचितं तीक्ष्णतीक्ष्णाग्निना सर्वदोषोज्झितं जायते सत्वरम्' ।
(र० त० २२।२७)
४. 'म्रियते गन्धतालाभ्यां निरुत्थं पञ्चभिः पुटैः' । (र० र० स० ५।२१०)
५. 'तुल्यरक्तान्वितं निम्बूकस्याम्भसा सूक्ष्मपत्रीकृतं कांस्यकं पेषयेत् ।
शोषितं त्रिपुटेत् सम्पुटस्थं ततो घोषपुष्पं तदा पञ्चतां यात्यलम्' ॥
(र० त० २२।३०)
६. 'तनुपत्रीकृतं कांस्यं समगन्धसमन्वितम् ।
अर्कक्षीरेण सम्पेष्य शोषयेदातपे दृढम् ॥
सम्पुटस्थं ततः कृत्वा वारणाख्ये पुटे पुटेत् ।
एवं पुटत्रयात्कांस्यभस्म स्यात्सुमनोहरम्' ॥ (र० त० २२।२८-२९)

Scanned with CamScanner

४. कांस्य के समभाग शुद्ध मनःशिला एवं गन्धक को कुमारी स्वरस से घोंट कर ३ गजपुट की अग्नि देने से कांस्य का भस्म बन जाता है।[1]

अथवा कांस्य का मारण ताम्र की तरह करें।

कांस्य भस्म का वर्ण—कृष्ण वर्ण (कज्जल वर्ण)।

कांस्य भस्म की मात्रा—½ से १ रत्ती।

अनुपान—शहद तथा विविध रोगहर द्रव्यों के साथ।

कांस्य भस्म के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त; गुण में लघु तथा वीर्य में उष्ण है। वातपित्तघ्न, लेखन, दृष्टिप्रसादन (दृष्टि को साफ करने वाला), दीपन, कृमि, कुष्ठहर है। कांस्य के पात्र में घृत को छोड़कर अन्य सभी प्रकार का भोजन करना हितकर होता है।[2]

कांस्य भस्म निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. क्षयकेसरी रस, २. चिन्तामणि रस, ३. नित्यानन्द रस, ४. मकरध्वज वटी, ५. मुक्ताद्य चूर्ण, ६. लक्ष्मीविलास रस, ७. वातविध्वंसन रस तथा ८. षडानन रस आदि।

वर्तलोह
(Bronze)

नाम—संस्कृत : वर्तलोह। हिन्दी : भरित। अंग्रेजी : Bronze.

पर्याय—पञ्चलोह, पञ्चरस, वर्तलोह, भर्त, वर्तुल।

इतिहास—१३ वीं शताब्दी से इसका उल्लेख मिलता है।

परिचय—कांस्य, ताम्र, पित्तल, लोहा एवं सीस—इन पाँच धातुओं को समप्रमाण में एकत्र मिलाकर गला देने से यह मिश्र लौह बनता है।[3] यह श्वेत वर्ण की धातु है। इसके पात्र का उपयोग सब्जी तथा दाल आदि पकाने के लिए किया जाता है।

वर्तलोह का शोधन—तैल-तक्रादि शोधित वर्तलोह को प्रतप्तकर अजामूत्र[4] अथवा अश्वमूत्र में सेचन करने से वर्तलोह शुद्ध हो जाता है।[5]

---

१. 'कांस्य तुल्यं शिलागन्धयुतं कन्याम्बुपेषितम्।
पुटेत् त्रिधैवं यत्नेन भस्म स्यात् कज्जलप्रभम्' ॥ (र० त० २२।३१)

२. 'कांस्य लघु च तिक्तोष्णं लेखनं दृक्प्रसादनम्।
कृमिकुष्ठहरं वातपित्तघ्नं दीपनं हितम्॥
घृतमेकं विना चान्यत्सर्वं कांस्यगतं नृणाम्।
भुक्तमारोग्यमुखदं हितं सात्म्यकरं तथा' ॥ (र० र० स० ५।२०८-२०९)

३. 'कांस्यं रीतिस्तथा ताम्रं नागो वङ्गश्च पञ्चमः।
एकत्र द्राविडैरैतैः पञ्चलोहं प्रजायते' ॥ (आ० प्र० ४।८२)

४. 'आदौ तैलादिके शोध्यं पश्चात्तप्त्वाऽजमूत्रके।
निषिक्तं शुद्धिमायाति पञ्चलोहं न संशयः' ॥ (आ० प्र० ४।८४)

५. 'तुत्थमश्वजले क्षिप्तं वर्तलोहं विशुद्धयति' ॥ (र० र० स० ५।२१५)

वर्तलोह का मारण—अर्क के दुग्ध में शुद्ध हरताल एवं शुद्ध गन्धक को पीसकर शुद्ध वर्तलोह पत्र पर लेपकर सुखाकर सम्पुट में रख पाँच गजपुट की अग्नि दे देने से वर्तलोह की भस्म बन जाती है।[1]

वर्तलोह के गुण-कर्म—यह रस में कटु; गुण में रूक्ष; विपाक में अम्ल तथा वीर्य में शीत है। यह कफ और पित्तनाशक, रुचिवर्द्धक, त्वच्य, कृमिघ्न तथा नेत्र के लिए हितकर और मलशोधक है।

इसके पात्र में रखे या पकाये गये सब प्रकार के भोज्य पदार्थ (अम्ल को छोड़कर) जाठराग्नि को दीप्त करने वाले अत्यन्त पाचक तथा हितकर होते हैं।[2]

मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद।

---

१. 'अर्कक्षीरेण सम्पिष्टगन्धतालकलेपनात्।
पञ्चकुम्भिपुटैर्भर्तं म्रियते योगवाहकम्॥ (आ० प्र० ४।८५)

२. 'हिमाम्लं कटुकं रूक्षं कफपित्तविनाशनम्।
रुच्यं त्वच्यं कृमिघ्नं च नेत्र्यं मलविशोधनम्॥
तद्भाण्डे साधितं सर्वमन्नव्यञ्जनसूपकम्।
अम्लेन वर्जितं चापि दीपनं पाचनं हितम्॥ (र० र० स० ५।२१३-२१४)

Scanned with CamScanner

अष्टम अध्याय

रत्नोपरत्न प्रकरण

(रत्न एवं उपरत्न)

(Gems and Miner Gems)

रत्न एवं उपरत्न कहे जाने वाले समस्त द्रव्य मूल रूप से उत्तम कोटि के खनिज पाषाण खण्ड ही होते हैं। नवरत्न वर्ग में मुक्ता एवं प्रवाल—ये दो द्रव्य समुद्र से प्राप्त होने वाले जान्तव द्रव्य हैं। मूल्यवान्, चमकदार तथा अन्य रत्न सदृश उत्तम गुणों से युक्त होने से इन्हें भी रत्न वर्ग में शामिल किया गया है। रत्न वर्ग के प्रायः सभी द्रव्य सुन्दर, आकर्षक, उज्ज्वल, चमकदार, अत्यन्त कठिन, मूल्यवान् तथा उत्तम गुणों से युक्त होते हैं।

रत्नों की परिभाषा—अपने-अपने वर्ग या जाति में जो-जो उत्तम गुणों से युक्त होता है, उसे रत्न संज्ञा से विभूषित किया जाता है। ये रत्न उत्तम कोटि के पाषाण हैं। इन्हें सभी लोग अत्यन्त पसन्द करते हैं।[1]

धन चाहने वाले समस्त लोग इस मूल्यवान् पदार्थ के प्रति अत्यन्त आसक्त रहते हैं। अतः शब्दशास्त्र के ज्ञाताओं ने इसे 'रत्न' की संज्ञा दी है।[2]

रत्न के पर्याय—रत्न, मणि, (वरपाषाण)। (रत्न शब्द नपुंसकलिंग होता है और मणि पुलिंग एवं स्त्रीलिंग दोनों लिंगों का वाचक है।) रत्न भी पाषाण-विशेष (पाषाण का भेद) ही है। वज्र (हीरा) भी तो रत्न ही है।[3]

मणियों की श्रेष्ठता—मणि भी पारद का बन्धन करती है। देह का धारण करती है (शरीर को स्थिर रखती है) तथा मनुष्यों के वार्द्धक्य एवं रोग का निवारण करती है।[4]

---

१. 'जातौ जौ यदुत्कृष्टं तद्धि रत्नं प्रचक्षते।
रत्नं च वरपाषाणं रमन्ते यत्र मानवाः' ॥ (रघुवंश)

२. 'धनार्थिनो जनाः सर्वे रमन्तेऽस्मिन्नतीव यत्।
अतो रत्नमिति प्रोक्तं शब्दशास्त्रविशारदैः' ॥ (आ० प्र० ५।२)

३. 'रत्नं क्लीबे मणिः पुंसि स्त्रियामपि निगद्यते।
तत्तु पाषाणभेदोऽस्ति वज्रादि च तदुच्यते' ॥ (आ० प्र० ५।३)

४. (क) 'मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धनकारकाः' ॥ (र० र० स० ४।१)
(ख) 'देहस्य धारका नृणां जराव्याधिविनाशकाः'।

आठ मणियां—वैक्रान्त, सूर्यकान्त, हीरक, मोती, मणि, चन्द्रकान्त, लाजवर्त एवं पन्ना—इन आठों को मणि कहकर सम्बोधित किया गया है।[1]

प्राचीन ग्रन्थों में गुणों के तारतम्य से रत्नों के दो वर्ग किये गये हैं—

१. रत्न (Gems or precious stones)।
२. उपरत्न (Miner gems or semiprecious stones)।

रत्नों की संख्या—रत्नों की संख्या नौ हैं। यथा—माणिक्य, मुक्ता, प्रवाल, तार्क्ष्य (पन्ना), पोखराज, वज्र (हीरा), नीलम, गोमेद और वैडूर्य (लहसुनिया)। ये नौ रत्न क्रमशः नवग्रहों को प्रसन्न करने वाले माने जाते हैं।[2]

रत्न एवं ग्रह-सम्बन्ध—प्रत्येक रत्न का अपना एक विशेष वर्ण होता है, तथा उससे एक विशेष प्रकार की प्रकाश किरणों का प्रक्षेप होता रहता है। ये किरणें ग्रहों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इस आकर्षण के कारण ग्रहों की क्रूरता मन्द पड़ जाती है, जिससे ग्रह का दुष्प्रभाव न होकर वही ग्रह लाभकारक हो जाता है। यह सब रत्न के वर्ण, उसकी विविध कोणीय संरचना (कृत्रिम), आब, चमक एवं काट और प्रकाश-किरणों के परावर्तन के कारण होता है।

ग्रहानुसार रत्न

ग्रह	प्रतिनिधि रत्न	हिन्दी नाम		अंग्रेजी नाम
१. सूर्य	माणिक्य	मानिक	९	Ruby
२. चन्द्र	मुक्ता	मोती	३.५	Pearl
३. मंगल	प्रवाल	मूंगा	३.५	Coral
४. बुध	तार्क्ष्य (मरकत)	पन्ना	८	Emerald
५. गुरु	पुष्पराग	पोखराज	८	Topaz
६. शुक्र	वज्र	हीरा	१०	Diamond
७. शनि	इन्द्रनील	नीलम	९	Saphire
८. राहु	गोमेद	गोमेद	७.५	Zircon/Hessonite
९. केतु	वैडूर्य	लहसुनिया	८.५	Cat's eye

नवग्रहों में से किसी भी ग्रह के दुष्प्रभाव से उत्पन्न होने वाली पीड़ा की शान्ति

---

१. 'वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः।
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजवर्तश्च सप्तमः॥
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयो ह्यमी' ॥ (आ० प्र० ५।१३४)

२. 'माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि तार्क्ष्यञ्च पुष्पं भिदुरञ्च नीलम्।
गोमेदकञ्चाथ विदूरकञ्च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम्' ॥
(र० र० स० ४।५)

Scanned with CamScanner

हेतु उस ग्रह को सन्तुष्ट करने के लिए रत्न को अँगूठी या माला आदि में जड़कर धारण किया जाता है।[1]

रत्नों का उपयोग—रसशास्त्र में रत्नों का उपयोग रसायन-औषधियों के निर्माण के लिए, दान करने के लिए, शरीर पर धारण करने के लिए तथा देवताओं की पूजा के लिए किया जाता है। सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखने योग्य असली रत्नों का प्रयोग ही सिद्धिदायक होता है।[2] ग्रहों के दुष्प्रभाव को नष्ट करने के अतिरिक्त यह दीर्घायुष्य, वैभव, सौभाग्य, उत्साह एवं धैर्य प्रदान करता है तथा दरिद्रता, कष्ट, भूतबाधा तथा अमंगल का नाश करता है।

रत्नों की जातियाँ[3]—स्रोत भेद से रत्नों की ३ जातियाँ होती है—

१. खनिज का पर्वतज, यथा—माणिक्य, तार्क्ष्य, पुष्पराग, वज्र (हीरा), नीलम, गोमेद, वैदूर्य आदि।

२. प्राणिज (जलज)—मुक्ता एवं प्रवाल।

३. वानस्पतिक (औद्भिद)—तृणकान्त तथा संगेमूषा।

रत्नों के गुण—उत्तम कोटि के रत्न में निम्न गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है—१. स्वच्छ, २. लघु, ३. चमकदार, ४. आठ फलक वाला तथा ५. षट्कोण।

आधुनिक मत से निम्न गुण आवश्यक माने गये है—१. सुन्दरता, २. टिकाउपन, ३. दुर्लभता, ४. आकर्षक रंग, ५. मूल्यवान् एवं ६. वहनीय (सहज में ढोने योग्य)। रत्नों की सुन्दरता उसकी स्वच्छता, पारदर्शकता, दीप्ति, चमक तथा लघुता पर निर्भर करती है। ये सभी गुण रत्न के काटने तथा घिसने पर देखे जाते हैं।

रत्न के दोष—रस-ग्रन्थों में रत्न के ५ दोष बताये गये हैं। यथा—१. ग्रास, २. त्रास, ३. बिन्दु, ४. रेखा तथा ५. जलगर्भता। रत्नो में क्षेत्रीय एवं जलीय दोष नहीं होते।[4]

ग्रास—रत्न का कुछ भाग यदि अपारदर्शक या काला हो तो उसे ग्रास युक्त माना जाता है। यहाँ ग्रास शब्द ग्रहणवाचक है।

त्रास—रत्न के अपने प्राकृत रंग के अलावा यदि उसका कुछ भाग किसी अन्य

१. 'ग्रहानुमैत्र्या कुरुविन्दपुष्पप्रवालमुक्ताफलतार्क्ष्यवज्रम्।
नीलाख्यगोमेदविदूरकञ्च क्रमेण मुद्राधृतमिष्टसिद्धयै' ॥ (र० र० स० ४।६)

२. 'रसे रसायने दाने धारणे देवतार्चने।
सुलक्ष्याणि सुजातीनि रत्नान्युक्तानि सिद्धये' ॥ (र० र० स० ४।७)

३. 'महाम्बुराशौ सरिति पर्वते काननेऽपि वा।
रत्नानां आकरं देवि! स्थानमाधेयगौरवात्' ॥ (आ० क्र० क्रि)

४. 'ग्रासस्त्रासश्च विन्दुश्च रेखा च जलगर्भता।
सर्वरत्नेष्वमी पञ्च दोषा साधारणा मताः ॥
क्षेत्रतोयभवा दोषा रत्नेषु न लगन्ति ते' ॥ (र० र० स० ४।३२)

रंग का हो तो उसे त्रास दोष से युक्त माना जाता है। इसे भयोत्पादक तथा अशुभ माना गया है।

बिन्दु—रत्न के स्वाभाविक रंग में कोई छोटा बिन्दु या कण दिखाई देता हो तो उसे बिन्दुदोषयुक्त मानते हैं।

रेखा—जब रत्न में अकेली या परस्पर काटती हुई कोई रेखा परिलक्षित हो तो उसे रेखादोषयुक्त रत्न माना जाता है।

जलगर्भता—रत्न के मध्य शून्य या बुदबुद जैसा यदि दिखाई देता हो तो उसे जलगर्भता दोष माना जाता है।

उपरोक्त पाँचों रत्न के दोष माने गये हैं तथा दोषयुक्त रत्न मूल्य एवं प्रभाव की दृष्टि से त्याज्य होता है।

अनुकूल एवं प्रतिकूल रत्नों के धारण से लाभ एवं हानि—नवरत्नों के धारण से सूर्य आदि नवग्रहों की पीड़ा दूर हो जाती है। दीर्घायु और आरोग्य की प्राप्ति होती है। सौभाग्य का उदय होकर भाग्य अनुकूल हो जाता है। वशीकरण की सिद्धि, उत्साह और धैर्य उत्पन्न हो जाते हैं। अनिष्टकारी छाया और दूषित वायु तथा धूल इनके संसर्ग से उत्पन्न हुए दुर्भाग्य आदि कष्ट दूर हो जाते हैं और भूत-प्रेत-पिशाच आदि की पीडा भी नष्ट हो जाती है।[1]

अनुकूल रत्नों के धारण करने से विष, सर्प एवं भावि व्याधि-बाधाओं से रक्षा होती है। जबकि प्रतिकूल रत्नों का धारण हानिकर, दुर्गुणप्रद, दोष एवं दुर्गुणों की वृद्धि और गुण एवं संम्पदाओं का ह्रास करने वाला होता है।[2]

रत्नों पर काल का प्रभाव—प्रवाल एवं मुक्ता (प्राणिज रत्नों) को छोड़कर बाकी खनिज रत्नों (माणिक्य, मरकत आदि) पर वायु, जल एवं काल का प्रभाव नहीं होता, जिससे वे मलिन नहीं होते।[3]

रत्नों का काठिन्य[4]—रत्न अत्यन्त कठिन होते हैं। लोहा अथवा पत्थर से उस पर निशान नहीं लगाये जा सकते। हीरे से सभी वस्तु को खुरचा जा सकता है। किन्तु

१. 'सूर्यादिग्रहनिग्रहापहरणं दीर्घायुरारोग्यदं
सौभाग्योदयभाग्यवश्यविभवोत्साहप्रदं धैर्यकृत्।
दुश्च्छायाचलधूलिसङ्गतिभवाऽलक्ष्मीहरं सर्वदा
रत्नानां परिधारणं निगदितं भूतादिभीनाशनम्' ॥ (र० र० स० ४।७८)

२. 'तेषु रक्षोविषव्यालव्याधिदोषहराणि च।
प्रादुर्भवन्ति रत्नानि तथैव विगुणानि च ॥
दोषैस्तान्युपचीयन्ते हीयन्ते गुणसम्पदा'। (आ० क० क्रि० ८।२-३)

३. 'न जरा यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना' ॥ (रत्नधातुविज्ञान)

४. (क) 'यत्पाषाणतले निकषनिकरे नोद्घृष्यते निष्ठुरै-
र्यच्चान्योपललोहमुद्गरमुखैर्लेखं न यात्याहतम् ॥

Scanned with CamScanner

मुक्ता एवं प्रवाल मृदु होते हैं। कठोरता की दृष्टि से हीरे के बाद माणिक्य, नीलम, पन्ना, चन्द्रकान्त और लाजवर्त क्रमशः कम कठिन होते हैं।

रत्नों के औषधीय गुण-कर्म—सभी रत्न प्रायः मधुर और कषाय रस युक्त एवं शीत और सर गुण वाले; दीपन, अग्निवर्द्धक, कान्तिवर्द्धक, लेखन करने वाले, विषहर एवं नेत्ररोगहर होते हैं। दोष प्रभाव की दृष्टि से ये पित्तशामक होते हैं। किन्तु अशुद्ध होने पर कफ और वायु को बढ़ाते हैं। पारद के साथ संयुक्त होने पर ये अमृत के समान होते हैं।

रत्नों का शोधन—पार्थिव रत्नों को छोड़कर मुक्ता आदि रत्नों का उपयोग विना शोधन के करने पर भी कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है, तथापि शोधन कर लेने से इनके गुणों में वृद्धि हो जाती है। शेष (पार्थिव स्रोत के) रत्नों का अशुद्ध रूप में प्रयोग हानिकर होता है।[1]

रत्नों का सामान्य शोधन—जयन्ती स्वरस, कुमारी स्वरस, तण्डुलीयक स्वरस, नारीस्तन्य, अम्लद्रव्य, क्षारद्रव्य एवं गोमूत्र में दोलायन्त्र विधि से १ प्रहर तक स्वेदन करने अथवा प्रतप्त कर ७ बार बुझा लेने से सभी रत्नों की शुद्धि हो जाती है। (प्रवाल एवं मुक्ता को विशेष रूप से दोलायन्त्र विधि द्वारा स्वेदन करके ही शुद्ध करें। शेष खनिजस्रोत के रत्नों को स्वेदन अथवा प्रतप्त कर निषेचन करके शुद्ध करना चाहिए)।

रत्नों का विशेष शोधन—माणिक्य को अम्ल द्रव में, मोती को जयन्ती स्वरस में, प्रवाल को क्षार वर्ग के घोल में, पन्ना को गोदुग्ध में, पुखराज को समान भाग काञ्जी एवं कुलत्थ क्वाथ में, हीरा को तण्डुलीय स्वरस में, नीलम को नीली स्वरस या क्वाथ में, गोमेद को गोरोचन युक्त जल में तथा वैदूर्य को त्रिफला क्वाथ में १ प्रहर तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाते हैं।[2]

रत्नों का मारण—मनःशिला, गन्धक और हरताल—इन्हें समान भाग में लेकर

यच्चान्यान्निजलीलयैव दलयेद्वज्रेण वा भिद्यते।
तज्जात्यं कुलिशं वदन्ति कुशलाः स्थाप्यं महार्घं च तत्' ॥
(आ० प्र० ५।१६९)

(ख) 'न चायसो लिख्यते रत्नं हृत्वामौक्तिकविद्रुमौ।
पाषाणेनापि च प्राय इति रत्न विदो जगुः' ॥ (रत्नधातुविज्ञान)

१. (क) 'मुक्तादिष्वविशुद्धेषु न दोषः स्याच्च वस्तुतः।
तथाहि गुणवृद्धिः स्याच्छोधनेन विशेषतः' ॥ (र० चि० ७।६९)

(ख) 'रत्नोपरत्नान्येतानि शोधनीयानि यत्नतः।
अशुद्धानि न कुर्वन्ति गुणान् रोगांस्तु तन्वते' ॥ (आ० प्र० ५।१५०)

२. 'शुद्धचत्यम्लेन माणिक्यं जयन्त्या मौक्तिकं तथा।
विद्रुमं क्षारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धकैस्तथा ॥

लकुच स्वरस के साथ घोंटकर कल्क सदृश बना लें। जिस रत्न का भस्म बनाना हो, उसका सूक्ष्म चूर्ण कल्क में मिलाकर शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार आठ पुट देने से हीरे के अतिरिक्त किसी भी रत्न का उत्तम भस्म बन जाता है।[1]

व्यवहार में मोती एवं प्रवाल को गोदुग्ध अथवा गुलाबजल में अच्छी प्रकार मर्दन कर चक्रिका बना शरावसम्पुट में बन्दकर ३ से ४ गजपुट की अग्नि दे देने से उत्तम भस्म बन जाता है। उपरोक्त विधि माणिक्य, पन्ना, पुखराज, नीलम, गोमेद और वैदूर्य के लिए ही उपयोग में लायें।

मूल्यवान् रत्नों के भस्मीकरण का निषेध—मूल्यवान् या कीमती रत्नों का मारण नहीं करना चाहिए। अत्यधिक मूल्यवान् होने से उसका मारण करने वाला रौरव नरक को प्राप्त होता है।[2]

भस्म-निर्माण हेतु रत्नों का खराद से निकले चूर्ण अथवा जो धारण के अयोग्य हो उसी का ग्रहण करें। कम मूल्य में उपलब्ध रत्नखण्ड, चूर्ण, खरड, एवं दोषपूर्ण रत्नों को प्राप्त कर भस्म एवं पिष्टी का निर्माण करना चाहिए। ऐसे रत्नों से निर्मित भस्म भी गुणवान् होते हैं तथा स्वल्प मूल्य होने से उसके मारण से न तो कोई मानसिक कष्ट होता है और न ही कोई पाप।[3]

रत्नों की द्रुति—रत्नों के द्रावण हेतु हींग, पाँचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, विड, सौवर्चल एवं रोमक), तीनों क्षार (सर्जिका, यव एवं टंकण), मांसद्रव, अम्लवेतस, नौसादर, पक्व जयपाल बीज, कलिहारी या भल्लातक, द्रवन्ती (मूषाकानी), रुदन्ती, पयस्या (क्षीरकाकोली या दुधेली), चित्रकमूल, स्नुहीक्षीर, अर्कक्षीर—इन सभी द्रव्यों को एकत्र मर्दन कर गोला बना लें। इस गोले के मध्य में जिस रत्न की द्रुति बनानी हो उसे रखकर भूर्जपत्र से वेष्टित कर धागे से लपेट कर बाँध लें। अब

पुष्परागञ्च सन्धानैः कुलत्थक्वाथसंयुतैः।
तण्डुलीयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च ॥
रोचनाभिश्च गोमेदं वैदूर्यं त्रिफलाजलैः'। (र० र० स० ४।६०-६२)

१. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु' ॥ (र० र० स० ४।६३)

२. 'न हन्याद्धीरकादीनि नवरत्नानि बुद्धिमान्।
महामौल्यानि तेषां तु वधे रौरवमृच्छति' ॥ (आ० प्र० ५।१५६)

३. 'वज्रादीनां तु संस्कारे क्रियमाणे पतन्ति ये।
गात्रेभ्यः खण्डकाः स्वल्पास्तान् हन्याद् बुद्धिमान् भिषक् ॥
यद्वा तत्खनिजाता ये तज्जातीयाः सुलक्षणाः।
स्वल्पमूल्यास्तु तेषां हि वधे नास्तीह पातकम्' ॥
(आ० प्र० ५।१५७-१५८)

Scanned with CamScanner

इसे एक वस्त्र में बाँधकर दोलायन्त्र विधि द्वारा अम्ल द्रव अथवा काञ्जी में ३ दिन तथा तीन रात्रिपर्यन्त तीव्र अग्नि पर स्वेदन करें। पश्चात् सावधानीपूर्वक पोटली को खोलकर प्रच्छालन कर गोले के मध्य से रत्नसदृश प्रभा वाली तथा लघु रत्न की द्युति को ग्रहण कर लें। यह रत्नद्युति देहसिद्धि तथा लोहसिद्धि दिलाने वाली तथा शुभ फलों को देने वाली होती है।[1]

व्यवहार की दृष्टि से रत्नों का वर्गीकरण

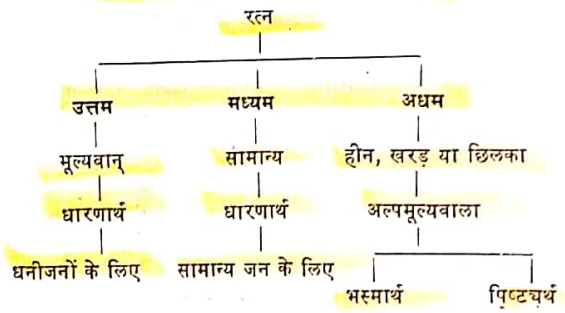

माणिक्य
(Ruby)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : माणिक्यम्। हिन्दी : माणिक्य, माणिक। अंग्रेजी : Ruby.

सूत्र—$Al_2 O_3$. **काठिन्य**—९। **आपेक्षिक घनत्व**—४।

१. 'रामठं पञ्चलवणं क्षाराणां त्रितयं तथा।
मांसद्रवोऽम्लवेतश्च चूल्लिकालवणं तथा॥
स्थूलं कुम्भीफलं पक्वं तथा ज्वालामुखी शुभा।
द्रवन्ती च रुदन्ती च पयस्या चित्रमूलकम्॥
दुग्धं स्नुह्यास्तथार्कस्य सर्वं सम्मर्द्य यत्नतः।
गोलं विधाय तन्मध्ये प्रक्षिपेत्तदनन्तरम्॥
गुणवन्नवरत्नानि जातिमन्ति शुभानि च।
भूर्जे तं गोलकं कृत्वा सूत्रेणावेष्टच यत्नतः॥
पुनर्वस्त्रेण संवेष्टच दोलायन्त्रे निधाय च।
सर्वाम्लयुक्तसन्धानपरिपूर्णघटोदरे॥
अहोरात्रत्रयं यावत् स्वेदयेत् तीव्रवह्निना।
तस्मादाहृत्य संक्षाल्य रत्नजां द्युतिमाहरेत्॥
रत्नतुल्यप्रभा लब्धी देहलोहकरी शुभा'॥ (र० र० स० ४।६४-६९)

पर्याय[1]—माणिक्य, रंगमाणिक्य, पद्मराग, रविरत्न, रविप्रिय, शोणरत्न, कुरुविन्द, लोहित, सौगन्धिक, रत्नराट्।

इतिहास—अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीयों को रत्नों का ज्ञान रहा है। माणिक्य का वर्णन श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा बृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में मिलता है। प्राचीनकाल से लोगों को इसकी सुन्दरता एवं उपयोगिता का ज्ञान था।

परिचय—यह गुलाबी अथवा गहरे लाल वर्ण का गुञ्जा या वीरबहूटी सदृश, छः पहल वाला (षट्कोण), पारदर्शक तथा अत्यन्त कठिन पाषाण रत्न है। इसे लोकभाषा में लाल, माणक या माणिक के नाम से सम्बोधित करते हैं। काठिन्य में हीरे के बाद इसी का स्थान आता है। यह सूर्यग्रह का प्रतिनिधि रत्न है।

रासायनिक संगठन—इसमें एल्युमिनियम एवं ऑक्सीजन, ये दो तत्त्व पाये जाते हैं। किंचित् मात्रा में लोहा, क्रोमीयम तथा टिटैनियम का ऑक्साइड भी पाया जाता है। इसका लाल वर्ण लोहा तथा क्रोमीयम की उपस्थिति के कारण ही होता है।

प्राप्ति-स्थान—यह वर्मा, श्रीलंका एवं भारत के कर्नाटक तथा उडीसा राज्य से प्राप्त होता है। वर्मा से प्राप्त होने वाला माणिक्य उत्तम माना जाता है।

माणिक्य के भेद—यह दो प्रकार का होता है—

१. **पद्मराग**—लाल कमल के समान वर्ण एवं कान्ति वाला, स्वच्छ, स्निग्ध, भारी, चमकदार, लम्बगोल तथा समगात्र (सर्वत्र एक समान) माणिक्य श्रेष्ठ होता है।

२. **नीलगन्धि**—यह गंगा नदी से प्राप्त होने वाला, बाहर से लाल किन्तु अन्दर से नीला दीखने वाला होता है। रंग के अतिरिक्त अन्य सभी लक्षण पद्मराग की तरह के हों तो वह माणिक्य भी श्रेष्ठ होता है।[2]

वर्ण-भेद से यह ४ प्रकार का होता है; यथा—१. रक्त (लाल), २. पीताभ, ३. हरिताभ (अशोकपत्रसदृश) तथा ४. रक्ताभ पीत (तुम्बरुच्छाया)।

ग्राह्य माणिक्य—रक्तकमलपत्रवत् लाल, सुन्दर, चमकीला, गोल लम्बे आकार का, एक-सी रचना वाला माणिक्य ग्राह्य होता है।

अग्राह्य माणिक्य—छिद्रयुक्त, खुरदरा, मलिन, रूक्ष, विशद (अस्वच्छ), चपटा, हलका, तथा टेढ़ा-मेढ़ा—इन आठ दोषों वाला माणिक्य अग्राह्य होता है।[3]

१. 'माणिक्यं रङ्गमाणिक्यं पद्मरागसमाह्वयम्।
रविरत्नं शोणरत्नं कुरुविन्दञ्च लोहितम्'॥ (र० त० २३।४३)

२. 'माणिक्यं पद्मरागाख्यं द्वितीयं नीलगन्धि च॥
(कुशेशयदलच्छायं) स्वच्छं स्निग्धं गुरु स्फुटम्।
वृत्तायतं समं गात्रं माणिक्यं श्रेष्ठमुच्यते॥
(नीलं) (गङ्गाम्बुसम्भूतं) (नीलगर्भारुणच्छवि)
पूर्वमाणिक्यवच्छ्रेष्ठं माणिक्यं नीलगन्धि तत्'॥ (र० र० स० ४।८-१०)

३. 'रन्ध्रकार्कश्यमालिन्यरौक्ष्यावैशद्यसंयुतम्।
चिपिटं लघु वक्त्रं च माणिक्यं दुष्टमष्टधा'॥ (र० र० स० ४।११)

Scanned with CamScanner

माणिक्य का शोधन—नीबू स्वरस (अथवा किसी भी अम्ल द्रव) में दोलायन्त्र विधि से ३ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से माणिक्य शुद्ध हो जाता है।[1]

माणिक्य का मारण—शुद्ध माणिक्य के समान भाग मनःशिला, गन्धक एवं हरताल लेकर लकुच (बड़हल) स्वरस से घोंटकर चक्रिका बना, शरावसम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार आठ पुट देने से माणिक्य का श्वेत वर्ण का भस्म बन जाता है।[2]

माणिक्य पिष्टि—शुद्ध माणिक्य को गुलाबजल अथवा केवड़ाजल अथवा वेद-मुष्क की भावना देते हुए खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर खूब सूक्ष्म चूर्ण बना लें। इसे माणिक्य की पिष्टि कहते हैं। यह गुलाबी वर्ण का होता है।

माणिक्य भस्म (एवं पिष्टि) के गुण-कर्म—यह रस में मधुर, वीर्य में शीत तथा गुण में स्निग्ध होता है। यह दीपन, वृष्य, कफ-वातनाशक, क्षयरोग नाशक भूत-प्रेत की बाधा को नष्ट करने वाला, (कर्मज व्याधि) तथा पाप नाशक है।[3]

यह मेध्य, रसायन, आयुष्य एवं वातपित्त नाशक है।[4]

माणिक्य भस्म की मात्रा[5]—½ गुञ्जा से १ गुञ्जा प्रमाण में।

अनुपान—शहद अथवा मलाई से।

माणिक्य के प्रमुख योग—१. जवाहरमोहरा वटी; २. याकूती, ३. नवरत्नराज मृगाङ्क रस, ४. ब्राह्मी वटी; ५. मणिपर्पटी; ६. माणिक्य मिहिरोदय रसायन तथा ७. रत्नभागोत्तर रस आदि।

मुक्ता
(Pearl)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : मौक्तिकम्। हिन्दी : मोती। अंग्रेजी : Pearl.

सूत्र—$CaCO_3$ (Calcium carbonate)

काठिन्य—३·५। **आपेक्षिक घनत्व**—२·६५ से २·८९।

---

१. 'निम्बूकस्वरसेनेह दोलायन्त्रे विधानतः।
यामैकं स्वेदितं कामं माणिक्यं शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० २३।४६)

२. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु' ॥ (र० र० स० ४।६३)

३. 'माणिक्यं दीपनं वृष्यं कफवातक्षयापहम्।
भूतवेतालपापघ्नं कर्मजव्याधिनाशनम्' ॥ (र० र० स० ४।१२)

४. 'माणिक्यं सुमृतं मेध्यं मधुरं तु रसायनम्।
दीपनं वृष्यमायुष्यं वातपित्तहरं परम्' ॥ (र० त० २३।५७)

५. 'आरभ्य गुञ्जापादांशात् गुञ्जार्द्धप्रमितं मृतम्'। (र० त० २३।५९)

पर्याय[1]—मुक्ता, मुक्ताफल, मौक्तिक, शुक्तिज, शौक्तिकेय, शशिरत्न, शशिप्रिय, अम्भसार।

इतिहास—मोती का ज्ञान भारतीयों को अत्यन्त प्राचीन काल से है। मोती-धारण के अनेक प्रसंग श्रीमद्भागवत, महाभारत एवं अन्य पौराणिक ग्रन्थों में वर्णित हैं। चरक काल में तो इसके औषधीय गुणों का भी ज्ञान था और सूक्ष्म चूर्ण के रूप में अनेक रोगों में इसका आभ्यान्तर प्रयोग किया जाता था। तब से लेकर आज तक इसका पिष्टि या भस्म के रूप में सतत उपयोग होता आ रहा है। पौराणिक दृष्टि से मोती को वालासुर दैत्य का टूटा हुआ दाँत कहा गया है। स्वाती नक्षत्र की बूंद सीप में पड़ने से मोती बनता है।

परिचय—मोती रजत के समान श्वेत, धवल, इन्द्रधनुषी रंग बिखेरने वाला, चमकदार, गोल तथा मृदु प्रकार का प्राणिज रत्न है। छिछले समुद्र अथवा बड़े जलाशयों में पलने वाले शुक्ति (सीप—मोलस्क जाति के प्राणी) में इसका निर्माण होता है। मुक्ता शुक्ति के अन्दर जो कीट रहता है उसकी बाहरी त्वचा से एक प्रकार का स्राव निकलता है, जिससे शुक्ति के अन्दर का चमकीला भाग बराबर बनता रहता है। यदि शुक्ति के अन्दर दैववशात् कोई सूक्ष्म बालू का कण या अन्य विजातीय कण प्रविष्ट हो जाय अथवा बलात् ऐसा कोई कण प्रविष्ट करा दिया जाय तो उसके चारों ओर उस स्राव का स्तर बनने लगता है। यह स्तर दो प्रकार के द्रव से बनता है—एक स्तर संगमरमर जाति के द्रव्य (Calcium carbonate) का तथा दूसरा स्तर कॉन्चिओलीन (Conchioline) द्रव्य का होता है। इस निर्माण-प्रक्रिया में एक के बाद दूसरा स्तर क्रमशः (सतत) बनता रहता है। रासायनिक दृष्टि से यह कैल्सियम, कार्बन और ऑक्सीजन तत्त्व होता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे असंख्य स्तरों द्वारा यह बड़े आकार का बन जाता है। शुक्ति के अन्दर का जीव जब मृत हो जाती है तब ऐसी शुक्ति को फोड़ कर (खोलकर) उसमें से अथवा जीवित अवस्था में पकड़कर उबाल कर इसका मांस निकाल लेते हैं और अन्दर से मोती प्राप्त कर लेते हैं। मोती के स्तर की संरचना की तुलना प्याज से की जा सकती है, जिसमें एक के ऊपर दूसरा स्तर बना होता है। मोती में ऐसे असंख्य पटल होते हैं। इन पटलों पर जब प्रकाश की किरणें आपतित होती हैं तो वे किरणें अलग-अलग स्तरों से परावर्तित होकर देखने वाले की आँख को अत्यन्त प्रभावित करती हैं और देखने वालों को यह अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है। मोती के निर्माण के क्रम में यदि बीच में कोई अन्य अपारदर्शक पदार्थ आ जाता है तब वह टेढ़ा-मेढ़ा बेडौल तथा अपारदर्शक दीखने लगता है।

---

१. 'मुक्ता मुक्ताफलञ्चैव मौक्तिकं मौक्तिकेयकम्।
शुक्तिजं शौक्तिकेयञ्च शशिरत्नं शशिप्रियम्' ॥ (र० त० २३।६३)

Scanned with CamScanner

आजकल कल्चर्ड मोती (कृत्रिम विधि द्वारा संवर्धित) काफी मात्रा में बाजारों में उपलब्ध है। मुक्ता-निर्माण करने वाली मुक्ताशुक्ति को पाला जाता है तथा ऐसे मोती के निर्माण के लिए उसके शरीर में सूक्ष्म शुक्ति या रज कण प्रविष्ट करा दिया जाता है। ऐसे कण के प्रविष्ट होने के बाद से उस पर कीट के स्राव से मोती की परतों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है और एक निश्चित अवधि के बाद उस कीट को उबाल कर मांस का भोजन-सामग्री के रूप में उपयोग कर लेते हैं तथा मोती पृथक् प्राप्त कर लिया जाता है। इस प्रकार से निर्मित मोती थोड़े समय में बन भी जाते हैं और अच्छे सुडौल होते हैं।

प्राकृतिक एवं कल्चर्ड (संवर्धित) मोती में भेद करना कठिन होता है। यह अत्यन्त मृदु होता है। किसी भी कठिन वस्तु की रगड़ से इसमें खरोंच आ जाती है तथा ऊपरी परत छिल जाती है, जिससे इसकी सुन्दरता में कमी आ जाती है। अम्ल पदार्थों के सम्पर्क से इसकी बनावट में संगमरमर जातीय द्रव्य भी घुल जाता है जिससे इसकी चमक चली जाती है और यह खराब दीखने लगता है। मोती जड़े आभूषणों को रेशम, मखमल या ऊन की बनी गद्दी की डिब्बियों में रखा जाता है जिससे लम्बे समय तक इसकी सुन्दरता कायम रहती है।

प्राप्ति-स्थान—श्रीलंका, जापान, ईरान, इराक (बसरा), चीन, फिलीपींस, आस्ट्रेलिया, इटली, वेनेजुएला, मेक्सिको आदि। भारत में यह कच्छ की खाड़ी एवं समुद्रों से थोड़ी मात्रा में प्राप्त होता है।

मुक्ता के भेद—

स्रोत भेद (मुक्ता की आठ योनियाँ)[1]—उत्पत्ति की दृष्टि से ज्योतिष एवं रस ग्रन्थों में मोती की आठ योनियाँ बतलाई गयी हैं—१. शुक्तिज, २. शंखज, ३. हस्तिज ४. वराहज (सूकर से), ५. सर्पज, ६. मत्स्यज, ७. दर्दुरज (मेढ़क से) और ८. वेणुज (बाँस से)। सम्प्रति सीप से उत्पन्न मोती ही अधिक प्रचलन में है।

निर्माण-भेद से—१. प्राकृत एवं २. कृत्रिम। कृत्रिम के दो भेद १. संवर्धित (सीप में कृत्रिम विधि द्वारा) एवं २. बनावटी (शीशे या प्लास्टिक द्वारा निर्मित)।

ग्राह्य मुक्ता—देखते ही मन को आह्लादित करने वाली, श्वेत, लघु, स्निग्ध, कान्तिमान, निर्मल, बड़े आकार वाली, पानीदार एवं गोल—इन ९ लक्षणों वाली मुक्ता शुभ तथा श्रेष्ठ मानी जाती है।[2] इसी तरह गोल, स्थूल, भारी और निर्मल मुक्ता शुभ मानी जाती है।[3]

---

१. 'शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः।
वेणुश्चाष्टौ समाख्याताः मुक्तामौक्तिकयोनयः' ॥ (आ० प्र० ५।१३)

२. 'ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत्।
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम्' ॥ (र० र० स० ४।१३)

३. 'वृत्तस्थूलगुरुरुच्छुचि शुभं.....'। (आ० प्र० ५।६६)

त्याज्य मुक्ता—रूक्ष, आब रहित (पानी रहित), श्याव, ताम्र या नमक के जैसा दीखने वाला, अर्धशुभ्र, टेढ़ीमेढ़ी और गाँठदार मुक्ता त्याज्य मानी जाती है।[1]

मुक्ता के दोष एवं उसके दुष्प्रभाव[2]—मोती के चार महादोष तथा छः साधारण दोष बताये गये हैं। अथवा ५ लघु, ४ गुरु तथा ६ इतर दोष कहे गये हैं। दोष युक्त मोती दुष्प्रभावों को उत्पन्न करने वाले होते हैं।

दोष	दुष्प्रभाव
१. शुक्ति खण्ड	कष्टकर
२. मत्स्याक्ष	पुत्रनाशकर
३. जठर	मृत्युकारक
४. विद्रुमच्छाया	दारिद्र्यकर
५. त्रिवृत्	सौभाग्यनाशक
६. चिप्पिट	अकीर्तिकर
७. कृप	प्रज्ञाविध्वंसकर
८. त्रिकोण या त्रास	सौभाग्यक्षयकर
९. कृपपार्श्व	निरुद्योगकर
१०. आवर्त	सर्वसम्पत्तिनाशक

मोती में तीन प्रकार की छाया होती है; यथा—१. शहद सदृश, २. मिश्री सदृश एवं ३. श्रीखण्ड चन्दन सदृश।[3] इनमें श्रीखण्ड सदृश छाया वाला मोती उच्चकोटि का माना जाता है।

मोती की परीक्षा—मोती को धान के भूसे से रगड़ कर गोमूत्र से धो डालें। यदि मोती की चमक यथावत् बनी रहती है तो मोती उत्तम माना जाता है।

मुक्ता का शोधन—स्वच्छ मोती को दोलायन्त्र विधि से जयन्तीपत्र स्वरस में ३ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से मोती शुद्ध हो जाता है। इसे स्वच्छ जल से प्रच्छालन

---

१. 'रूक्षाङ्गं निर्मलं श्यावं ताम्राभं लवणोपमम्।
अर्द्धशुभ्रं च विकटं ग्रन्थिलं मौक्तिकं त्यजेत्' ॥ (र० र० स० ४।१६)

२. 'दोषान् पञ्च लघून्, गुरूंश्च चतुरः, षट्चैव दोषेतरान्।
छायास्त्रित्वमिता गृणन्ति सुधियो मुक्तामणौ ते पुनः॥
दीर्घं पार्श्वकृशं त्रिवृतमपि च व्यस्रं ततः कापिलं।
पञ्चैते खलु मौक्तिकेषु गदिता दोषास्तु साधारणाः॥
नाम्नैवोदितलक्षणाः पुनरमी विच्छिन्नरुग्योगिता-
दौर्भाग्यप्रभुताविनाशलघुताकौलीनताकारिणः' ॥
(आ० प्र० ५।६२-६३)

३. 'च्छायास्तु त्रिविधाः स्मृता मधुसिताश्रीखण्डखण्डश्रियः' ॥
(आ० प्र० ५।६५)

Scanned with CamScanner

कर रख लें।[1] इसी प्रकार अगस्तपत्र स्वरस या चूर्णोदक में ३ घण्टे स्वेदन कर लेने से भी मोती शुद्ध हो जाता है।

मुक्ता का मारण—शुद्ध मुक्ता का अच्छी प्रकार चूर्ण कर लें, अब इसे गुलाबजल से घोंटकर टिकिया बना-सुखा, सम्पुट में बन्दकर लघुपुट की अग्नि में फूँक दें। इस प्रकार तीन पुट देने से मोती का श्वेत वर्ण का उत्तम भस्म बन जाता है।[2] इसी प्रकार मुक्ता को गोदुग्ध से भावित कर ३ लघुपुट दे देने से सुन्दर श्वेत वर्ण का भस्म बन जाता है।[3] मुक्ता भस्म का वर्ण सफेद होता है।

मुक्ता पिष्टी—शुद्ध मोती को उत्तम पत्थर के खरल में डाल कर बारिक चूर्ण कर लें। तत्पश्चात् गुलाबजल डाल कर ३ दिनों तक अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखा कर रख लें।

मुक्ता भस्म की मात्रा—मुक्ता भस्म (अथवा पिष्टी) ½ रत्ती से १ रत्ती तक रोग, रोगी का बल तथा काल का विचार कर देना चाहिए।[4]

अनुपान—शहद, मक्खन, मलाई अथवा विविध औषधि योगों के साथ।

मुक्ता भस्म के गुण-कर्म—यह रस में मधुर, वीर्य में शीत, विपाक में मधुर तथा गुण में शीत एवं लघु होता है। यह पचने में लघु होता है। यह दृष्टि एवं अग्नि को पुष्ट करने वाला, विष प्रभाव को नष्ट करने वाला, दोषों का भेदन कर बाहर निकालने वाला, वीर्यवर्द्धक, जठराग्नि-दीप्तिकर, पाचन-संस्थानगत व्याधियों को शीघ्र एवं निश्चित रूप से नष्ट करते वाला होता है। यह कफ, पित्त, क्षय, कास, अग्निमान्द्य-नाशक, पुष्टिकर, वृष्य, आयुष्य तथा दाहनाशक है।[5]

यह हृदय को बल प्रदान करता है। मेधा शक्ति को बढ़ाता है। जीर्णज्वर, प्रमेह

---

१. 'जयन्तीस्वरसेनेह दोलायन्त्रविधानतः।
यामैकं सततं स्विन्नं मौक्तिकं शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० २३।६७)

२. 'मुक्ताफलन्तु तरुणीपरिस्रुतजलान्वितम्।
पिष्टं त्रिवारं पुटितं मृतिमाप्नोत्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २३।७१)

३. 'विमलं मौक्तिकं गव्यपयसा परिपेषितम्।
त्रिधा लघुपुटे पक्वं मृतं स्याच्छशिसुन्दरम्' ॥ (र० त० २३।७०)

४. 'आरभ्य गुञ्जापादांशाद् गुञ्जैकप्रमितं मृतम्।
मौक्तिकं विनियुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० २३।७५)

५. 'मुक्ताफलं लघु हिमं मधुरञ्च कान्ति-
दृष्टिघ्नग्निपुष्टिकरणं विषहारि भेदि।
वीर्यप्रदं जलनिधेर्जनिता च शुक्तिर्दीप्ता
च पक्तिरुजमाशु हरेदवश्यम् ॥
कफपित्तक्षयश्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्यनुत्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्' ॥ (र० र० स० ४।१४-१५)

तथा श्वासनाशक, अस्थि एवं दन्तपोषक, शरीर में बल, वीर्य एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला एवं दन्तोद्भेद (दाँत निकलने) में सहायक तथा ज्वरनाशक है।[1]

मुक्ता के प्रमुख योग—१. कस्तूरीभैरव रस, २. काञ्चनाभ्र रस, ३. त्रैलोक्य-चिन्तामणि रस, ४. पुटपक्व विषमज्वरान्तक लौह, ५. मकरध्वज वटी, ६. महा-मृगांक रस, ७. मुक्तापञ्चामृत रस, ८. वसन्तमालती रस, ९. वसन्ततिलक रस तथा १०. हिरण्यगर्भ पोट्टली आदि।

प्रवाल (Coral)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : प्रवाल। हिन्दी : मूंगा। अंग्रेजी : Coral.

रासायनिक नाम—Calcium carbonate **रासा० सूत्र**—$CaCO_3$

आपेक्षिक घनत्व—२.६ से २.७। **काठिन्य**—३.५।

पर्याय—प्रवालक, प्रवाल, भौमरत्न, विद्रुम, अब्धिजन्तुविशेषोत्थ, रक्ताङ्ग, लता-मणि, अम्भोधिपल्लव, रक्तांकुर।

इतिहास—श्रीमद्भागवत एवं महाभारत में इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है। चरक के काल में इसके आभ्यन्तर प्रयोग के अनेक स्थल देखे जाते हैं।

परिचय—प्रवाल एक समुद्री जन्तुविशेष (Anthazoan polyps) का मृत शरीर है। छिछले समुद्री जल में ये जल-जन्तु अपनी जीवन-यात्रा चलाते हैं। जीव शरीर में चूने की मात्रा अधिक बढ़ जाने पर जन्तु मर जाते हैं और वही मृत शरीर प्रवाल कहलाता है। प्रवाल सफेद, मटमैले, काले या लाल रंग का होता है। सफेद एवं मट-मैले रंग का प्रवाल सर्वत्र एवं बहुतायत से प्राप्त होता है। लाल या गुलाबी रंग का प्रवाल जो गोलाकार एवं व्रण रहित होता है, उसी की गणना रत्नों में की जाती है। ऐसा प्रवाल विशेष रूप से भूमध्य सागर के द्वीपों में पाया जाता है।

Anthazoan polyps जाति का प्राणि गोल, अनेक पैर वाला, अँगूठी की तरह का तथा भीतर से छिद्रयुक्त होता है। इसके पलने के लिए एक निश्चित ताप वाले विशेष समुद्री स्थल की आवश्यकता होती है। एक समय में स्त्री जाति का यह जन्तु करोड़ों अण्डे देता है। कुछ समय पश्चात् ये अण्डे बड़े होकर जलजन्तु बन जाते हैं। समुद्र

---

१. 'मौक्तिकं वृष्यमायुष्यं मधुरं शिशिरं परम्।
दीपनं दाहशमनं नेत्र्यं वर्ण्यं च कीर्तितम् ॥
जीर्णज्वरप्रशमनं त्वस्थिदन्तविवर्द्धनम्।
हृद्यं मेहहरं मेध्यं दन्तोद्भेदज्वरापहम् ॥
मौक्तिकं सुशिशिरं क्षयापहं श्वासकासपरिकोपनाशनम्।
अस्थिशोषशमनं विषापहं देहवीर्यबलबुद्धिवर्द्धनम्' ॥ (र० त० २३।७२-७४)

तल में अनुकूल स्थान मिलने पर ये जन्तु उससे चिपक जाते हैं। यह एक साथ एक स्थान पर इस प्रकार चिपकते हैं कि मधुमक्खी के छत्ते की तरह की आकृति बन जाती है। पश्चात् ये जन्तु एक के ऊपर एक लाखों की संख्या में बैठते चले जाते हैं और यह क्रम सतत चलता रहता है, जिससे वृक्षाकार रचना बनती चली जाती है। इनमें पहले जन्तु के शरीर की नली हजारवें अथवा लाखवें जन्तु के शरीर की नली से जुड़ी रहती है। इसी नली के अन्दर समुद्री जल उनके पोषण के लिए प्रवाहित होता रहता है। समुद्री जल में उपस्थित चूने के कारण कालान्तर में नीचे का जन्तु मर जाता है और उसका शरीर कठिन होकर पड़ा रहता है जिसके ऊपर नये जन्तुओं के बैठने की क्रिया अबाध रूप से चलती रहती है और इस क्रिया के कारण समुद्र के उदर में प्रवाल के विस्तृत पहाड़ और चट्टान (Coral reaf) बनते चले जाते हैं।

प्राप्ति-स्थान—प्रवाल लता सदृश संरचना के रूप में समुद्र से प्राप्त होता है।[1] यह इटली, स्पेन, आस्ट्रेलिया, अल्जीरिया, फ्रांस आदि देशों के समुद्र में मिलता है। भारतीय समुद्रों (कच्छ की खाड़ी) में श्वेत प्रवाल (प्रवालमूल) मिलता है।

प्रवाल के भेद—वर्ण-भेद से प्रवाल श्वेत, धूसर, कृष्ण एवं रक्त (लाल) या गुलाबी—चार प्रकार का पाया जाता है। इनमें रक्तवर्ण का प्रवाल ही विशेष उपयोगी माना जाता है।

आकृति-भेद से यह—१. प्रवालशाखा (लता अथवा वृक्षशाखाकृति) एवं २. प्रवाल मूल (मधुमक्खी के छत्ते जैसा)—इन दो रूपों में पाया जाता है।

ग्राह्य (उत्तम प्रवाल)—पके हुए बिम्बीफल के समान लाल रंग, गोल, सीधा, लम्बे आकार का, स्निग्ध, व्रण रहित तथा मोटा (स्थूल)—इन ७ लक्षणों से युक्त प्रवाल शुभ (श्रेष्ठ) माना जाता है।[2]

प्रातःकाल की सूर्य-किरणों के समान लाल वर्ण का, समुद्र के जल में उत्पन्न होने वाला और कसौटी पर घिसने पर भी अपनी चमक को न छोड़ने वाला लता (शाखा) सदृश प्रवाल श्रेष्ठ होता है।[3]

अग्राह्य प्रवाल—पाण्डुर अथवा मटमैले वर्ण का, रूक्ष, व्रणयुक्त, छिद्रयुक्त, हलका तथा श्वेतवर्ण वाला—इन ७ दोषों से युक्त प्रवाल अशुभ माना जाता है।[4]

प्रवाल का शोधन—प्रवाल को जयन्ती स्वरस, तण्डुलीय पत्र स्वरस अथवा

---

१. 'सागरसलिलोद्भवा लता याऽस्ति'। (आ० प्र० ५।९१)

२. 'पक्वबिम्बफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम्।
स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं समधा शुभम्' ॥ (र० र० स० ४।१७)

३. 'बालार्ककिरणारक्ता सागरसलिलोद्भवा लता याऽस्ति।
न त्यजति निजरुचिं निकषेष्टाऽपि सास्मृता जात्या' ॥ (आ० प्र० ५।९१)

४. 'पाण्डुरं धूसरं रूक्षं सव्रणं कोटरान्वितम्।
निर्भारं शुभ्रवर्णञ्च प्रवालं नेष्यतेऽशुभम्' ॥ (र० र० स० ४।१८)

सर्जिकाक्षार युक्त जल में दोलायन्त्र विधि से ३ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[1]

प्रवाल का मारण—प्रवाल को प्रथम इमामदस्ते में कूटकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें। तत्पश्चात् इसे घृतकुमारी स्वरस अथवा शतावरी स्वरस अथवा जयन्ती (अरणी) स्वरस से अथवा गोदुग्ध से भावित कर चक्रिका बना एवं सुखाकर, शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार ३ पुट देने से प्रवाल का सुन्दर श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है।[2]

प्रवाल भस्म का वर्ण—श्वेतवर्ण।

प्रवालपिष्टि—शुद्ध प्रवाल को प्रथम लोहे के इमामदस्ते में अच्छी प्रकार कूट कर कपड़छन कर चूर्ण तैयार कर लें। अब इसे मजबूत पत्थर के खरल में गुलाब-जल के साथ ३ दिन खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखा लें। यह हलके गुलाबी रंग का होता है।

चन्द्रपुटी प्रवाल पिष्टि—शुद्ध प्रवाल के कपड़छन सूक्ष्म चूर्ण को गुलाबजल से रात्रि के समय चन्द्रमा के प्रकाश में बैठकर क्रमशः २१ दिनों तक मर्दन कर पिष्टि तैयार करें। इसे चन्द्रपुटी प्रवालपिष्टि कहते हैं।

प्रवाल भस्म अथवा पिष्टि की मात्रा—½ गुञ्जा (¼ रत्ती) से २ गुञ्जा तक रोगी के बलाबल के अनुसार प्रयोग करें।

अनुपान—मक्खन, मलाई अथवा शहद से।

---

१. (क) 'जयन्त्याः स्वरसेनेह दोलायन्त्रे तु विद्रुमम्।
यामैकं सुपरिस्विन्नं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २३।१३१)
(ख) 'तण्डुलीयद्रवेणेह दोलायन्त्रे तु यामकम्।
प्रवालकं परिस्विन्नं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २३।१३३)
(ग) 'सर्जिकाक्षारसंयुक्ते सलिले परिपाचितम्।
यामैकेन प्रवालं तु शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २३।१३२)

२. (क) 'विशोधितं विद्रुमं तु श्लक्ष्णचूर्णं तु कारयेत्।
कन्याम्भसाऽथ सम्पेष्य शोषयेत् कृतचक्रिकम् ॥
सम्पुटस्थं ततः कृत्वा त्रिवारं पुटयेद्भिषक्।
एवं पुटत्रयैर्भस्म जायते शशिसुन्दरम्' ॥
(र० त० २३।१३४-१३५)
(ख) 'पिष्टं वरीरमेनेह प्रवालं कृतचक्रिकम्।
म्रियते पुटितं वह्नौ भस्म स्यात् सुमनोहरम्' ॥ (र० त० २३।१३८)
(ग) 'जयन्त्याः स्वरसेनेह सम्पेष्य कृतचक्रिकम्।
त्रिवारं पुटितं सम्यग् विद्रुमं म्रियते ध्रुवम्' ॥ (र० त० २३।१३७)
(घ) 'विद्रुमं गव्यदुग्धेन सम्पेष्य कृतचक्रिकम्।
म्रियते पुटितं भस्म जायतेऽतिमनोहरम्' ॥ (र० त० २३।१३६)

Scanned with CamScanner

प्रवाल के गुण-कर्म—यह रस में मधुर, गुण में लघु तथा वीर्य में शीत होता है। वैसे यह क्षारीय स्वाद वाला, दीपन, पाचन, नेत्र के लिए हितकर, त्रिदोषघ्न, कफवात-नाशक, बल्य, वृष्य, विषघ्न, भूतघ्न एवं शुक्रल है। क्षय, कास एवं रक्तपित्तहर, अत्यधिक पसीना निकलना अथवा रात्रि में पसीना निकलने की स्थिति में लाभ-प्रद है। स्वस्थ शरीर में सेवन से वीर्य, शक्ति तथा त्वचा के वर्ण की सुन्दरता को बढ़ा देता है।[1] इस रत्न के धारण करने से मंगलग्रह शान्त होता है।

प्रवाल के कुछ प्रमुख योग—१. अपूर्वमालिनीवसन्त, २. कस्तूरीभैरव रस, ३. काञ्चनाभ्र रस (वृहद्), ४. पुटपक्वविषमज्वरान्तक रस, ५. प्रवालपञ्चामृत, ६. महामृगांक रस, ७. मुक्तापञ्चामृत रस, ८. वसन्ततिलक रस, ९. रत्नगर्भ पोट्टली, तथा १०. सर्वांगसुन्दर रस आदि।

मरकत (पन्ना)

(Emerald or Beryl or Aqua Marine)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : मरकत। हिन्दी : पन्ना। अंग्रेजी : **Emerald.**

रा० सू०—($3\,Be\,O, Al_2\,O_3, 6Si\,O_2$)

विशिष्ट गुरुत्व—२·७। **काठिन्य**—७ से ८।

पर्याय[2]—गारुत्मत्, मरकत, तार्क्ष्य, गारुडमणि, बुधरत्न, रौहिणेय, हरिद्रत्न, हरिन्मणि, अश्मगर्भज, सौपर्ण।

इतिहास—महाभारत एवं श्रीमद्भागवत में इसके धारण के उल्लेख मिलते हैं। इसके धारण से उत्पन्न विषघ्न प्रभाव का ज्ञान चरक के काल में था। रस-ग्रन्थों में इसके शोधन-मारण एवं विस्तृत गुण-प्रयोग का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

परिचय—यह गहरे हरे रंग का पाषाण है। प्रकृति में पाषाणों के बीच यह षट्कोणीय खण्डों (बड़े कणों) के रूप में पाया जाता है। इसका पारदर्शक टुकड़ा

१. (क) 'विद्रुमं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम्।
दीपनं पाचनं चैव दृष्टिरोगनिषूदनम्॥
त्रिदोषशमनं वल्यं विशेषात्कफवातनुत्।
क्षयकासहरं चैव रक्तपित्तप्रणाशनम्॥
स्वेदातिनिर्गमहरं रात्रिस्वेदहरं परम्।
विषघ्नं भूतशमनं वीर्यवर्णविवर्धनम्'॥
(र० त० २३।१३९-१४१)

(ख) 'क्षयपित्तास्रकासघ्नं दीपनं पाचनं लघु।
विषभूतादिशमनं विद्रुमं नेत्ररोगनुत्' ॥ (र० र० स० ४।१९)

२. 'गारुत्मतं मरकतं तार्क्ष्यं गारुडसंज्ञकम्।
बुधरत्नं रौहिणेयं हरिद्रत्नञ्च तन्मतम्' ॥ (र० त० २३।१०४)

अत्यन्त मूल्यवान् तथा दुर्लभ होता है। इसके हरे वर्ण की तुलना हरी घास (दूर्वा), कच्चे केले या बाँस के पत्र से कर सकते हैं। इसकी चमक सूर्य के किरणों की तरह की होती है। रासायनिक दृष्टि से इसमें बेरिलियम, एल्युमिनियम, सिलिकान और ऑक्सीजन—ये चार तत्त्व पाये जाते हैं। अल्प मात्रा में अन्य तत्त्वों की उपस्थिति के कारण इसके टुकड़े भिन्न-भिन्न रंगों के पाये जाते हैं। क्रोमिक ऑक्साइड की उपस्थिति के कारण इसका रंग हरा एवं नेत्र के लिए अत्यन्त आकर्षक होता है। जिस खण्ड का वर्ण समुद्र के हरे-नीले जल के समान होता है, उसको अंग्रेजी में Aqua marine कहते हैं। यह अत्यन्त मूल्यवान् रत्न है। इसका मूल्य इसके गहरे हरे रंग, चमक एवं पारदर्शकता पर निर्भर करता है। यह बुद्धग्रह को प्रसन्न करता है।

प्राप्ति-स्थान—यह दक्षिण अफ्रीका के कोलम्बिया, रूस, चीन, मध्य एशिया, आस्ट्रेलिया, मिश्र तथा भारत में पाया जाता है। भारत में यह कश्मीर, बिहार, तमिलनाडु और पंजाब की खानों से अल्प मात्रा में प्राप्त होता है।

भेद—प्राचीन रस-ग्रन्थों में इसके कोई भेद नहीं किये गये हैं, तथापि वर्ण-भेद से यह ३ प्रकार का उपलब्ध होता है—१. हरित, २. नील एवं ३. श्वेत। इनमें हरे वर्ण का श्रेष्ठ, नील वर्ण वाला मध्यम तथा श्वेत वर्ण का सामान्य होता है।

ग्राह्य मरकत—हरे रंग का, भारी, स्निग्ध, रश्मि-पुंज (प्रकाशकिरण) बिखेरने वाला, कान्तिमान्, चिकना और बड़े आकार का—इन सात लक्षणों वाला मरकत (पन्ना) श्रेष्ठ एवं शुभ होता है।[1]

त्याज्य मरकत—कपिल वर्ण का (लाल-सा काला), खुरदरा, नील वर्ण, पाण्डुर वर्ण, कृष्ण वर्ण, मलिन, चपटा, टेढ़ामेढ़ा, रूक्ष और भार में हलका पन्ना त्याज्य समझना चाहिए।[2]

मरकत का शोधन—गोदुग्ध में दोलायन्त्र विधि से ३ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से मरकत शुद्ध हो जाता है।[3]

मरकत का मारण—शुद्ध मरकत को प्रथम लोहे के इमामदस्ते में कूटकर बारीक चूर्ण बना लें। अब मरकत के समान भाग शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरिताल एवं शुद्ध

१. (क) 'हरिद्वर्णं गुरु स्निग्धं स्फुरद्रश्मिचयं शुभम्।
मसृणं भासुरं तार्क्ष्यं गात्रं सप्तगुणं स्मृतम्'॥ (र० र० स० ४।२०)

(ख) 'यच्छैवालशिखण्डिशाड्वलहरित्क्वाथैश्च काकच्छदैः
खद्योतेन च बालकोरवपुषा शैरीषपुष्पेन च।
छायाभिः सततं दधाति तदिदं निर्दिष्टमष्टात्मकं
जात्यं यत्तपनातपैश्च परितो गारुत्मतं रञ्जयत्' ॥ (आ० प्र० ५।१०८)

२. 'कपिलं कर्कशं नीलं पाण्डु कृष्णं मलान्वितम्।
चिपटं विकटं रूक्षं लघु तार्क्ष्यं न शस्यते'॥ (र० र० स० ४।२१)

३. 'सुरभीपयसा यामं दोलायन्त्रे विधानतः।
विपाचितं मरकतं विशुद्धयति सुनिश्चितम्' ॥ (र० त० २३।१०७)

Scanned with CamScanner

मन शिला लेकर खरल में डाल लकुच स्वरस में मर्दन कर, चक्रिका बना-सुखा, सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ऐसे आठ पुट देने से मरकत का भस्म तय्यार हो जाता है।[1]

मरकत भस्म का वर्ण—श्वेत वर्ण।

मरकत पिष्टि—कूटकर कपड़छन किये गये मरकत चूर्ण को गुलाबजल से तीन दिन अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखाकर रख लें। इसे मरकत की पिष्टि कहते हैं। इसका वर्ण श्वेत किंचित् हरित वर्ण का होता है।

मरकत भस्म या पिष्टी की मात्रा—$\frac{1}{4}$ रत्ती से १ रत्ती तक बल एवं काल का विचार करते हुए देना चाहिए।[2]

मरकत का गुण-कर्म—यह रस में मधुर, गुण में शीत तथा वीर्य में शीत होता है। यह ज्वर, छर्दि, विष, श्वास, सन्निपात, मन्दाग्नि, अर्श, पाण्डुरोग तथा शोष को दूर करता है। यह ओज को बढ़ाता है।[3] यह अम्लपित्त एवं भूतबाधा को नष्ट करता है। यह रुचिकारक एवं पुष्टिकारक है।[4]

मरकत निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. मणिपर्पटी रस, २. रत्नभागोत्तर रस, ३. जवाहरमोहरा वटी, ४. याकूति तथा ५. नवरत्नराजमृगांक रस।

पुष्पराग (पुखराज)
(Topaz)

वर्ग—रत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : पुष्पराग। हिन्दी : पुखराज। अंग्रेजी : Topaz.

रासायनिक सूत्र—$Al\ (F_2OH)_2\ SiO_4$

काठिन्य—८। **आपेक्षिक घनत्व**—३.६।

पर्याय—पुष्पराज, पुष्परागं, पीतरक्त, गुरुरत्न, पीतमणि, गुरुवल्लभ,[5] पीताश्म, मञ्जुमणि, वाचस्पति वल्लभ[6]।

---

१. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनाऽन्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलुः' ॥ (र० र० स० ४।६३)

२. 'आरभ्य गुञ्जापादांशाद् गुञ्जैकप्रमितं परम्।
मृतं मरकतं युञ्ज्यात् बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० २३।१११)

३. ज्वरच्छर्दिविषश्वासससन्निपाताग्निमान्द्यनुत्।
दुर्नामपाण्डुशोफघ्नं तार्क्ष्यमोजोविवर्धनम्' ॥ (र० र० स० ४।२२)

४. 'मरकतं विषघ्नं हि शीतलं मधुरं रसे।
अम्लपित्तहरं रुच्यं पुष्टिदं भूतनाशनम्' ॥ (आ० प्र० ५।१०५)

५. 'पुष्पराजः पुष्परागः पीतरक्ताह्वयस्तथा।
गुरु रत्नं पीतमणिः स एव गुरुवल्लभः' ॥ (र० त० २३।८७)

६. 'पुष्परागो मञ्जुमणिः स्याद्वाचस्पतिवल्लभः' ॥ (आ० प्र० ५।१०)

इतिहास—सर्वप्रथम वराहमिहिर कृत ज्योतिष-ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' (५वीं शती) में इसका उल्लेख मिलता है। तत्पश्चात् लगभग सभी रसग्रन्थों में (८वीं शती से) इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। पौराणिक दृष्ट्या—दैत्यों के चर्म हिमालय पर जहाँ-जहाँ गिरे वहाँ पुष्पराज उत्पन्न हुआ।

परिचय—यह सुन्दर स्वर्ण सदृश (अमलतास-पुष्प सदृश) पीत वर्ण का पाषाण रत्न है। इसके टुकड़े प्रायः रंगहीन किन्तु कभी-कभी हल्के पीले (Wine yellow) भूरे या नीले-से हरे या बैंगनी या गुलाबी लाल रंग के मिलते हैं। इसके टुकड़े प्रायः चतुष्कोणाकार होते हैं। रासायनिक दृष्ट्या यह फ्लूरोक्सी सिलिकेट ऑफ एल्युमिनियम है। यह गुरुग्रह को प्रसन्न करता है।

प्राप्ति-स्थान—उत्तरी एशिया, बर्मा, श्रीलंका, ब्राजील, जापान, मैक्सिको, केलिफोर्निया तथा हिमालयपर्वत-मालाओं से इसकी प्राप्ति होती है।

भेद—रस-ग्रन्थों में इसके भेद उपलब्ध नहीं होते हैं। 'युक्तिकल्पतरु' के अनुसार इसके दो भेद मिलते हैं—१. पद्मरागवत् एवं २. मरकतवत्। वर्ण-भेद से यह—पीत, पाण्डु, श्वेत एवं गुलाबी ४ प्रकार का होता है।

ग्राह्य पुष्पराग—जो पुष्पराग भारी (गुरु), स्निग्ध, स्वच्छ, स्थूल (मोटा) सम आकार का, मृदु (कोमल स्पर्श वाला), कनेर पुष्प की आभा वाला (पीले रंग का) तथा मसृण (चिकना)—इन आठ गुणों से युक्त होता है, वह शुभ माना जाता है।[1] कसौटी पर घिसने पर जिसका वर्ण और भी साफ दिखाई दे, ऐसा पुष्पराग उत्तम माना जाता है।

अग्राह्य पुष्पराग—प्रभारहित, खुरदरा, रूखा, पीत-श्यामवर्ण वाला, ऊँचा-नीचा, कपिश वर्ण या भूरा तथा फीके रंग वाला पुष्पराग त्याज्य माना जाता है।[2]

---

१. (क) 'पुष्परागो गुरुः स्निग्धः स्वच्छः स्थूलः समो मृदुः।
कर्णिकारप्रसूनाभो मसृणश्च शुभोऽष्टधा' ॥ (र० र० स० ४।२३)
(ख) 'स्निग्धं समं सुमसृणं तु सुवर्णवर्णं
स्वच्छं परं सुविमलं तु सुवृत्तगात्रम्।
यत्कर्णिकारकुसुमप्रभमुज्ज्वलञ्च
जात्यं तदेव गदितं खलु पुष्पराजम् ॥
निकषोपलसङ्घृष्टं वर्णं पुष्णाति यन्निजम्।
पुष्पराजन्तु तज्जात्यं मतं रत्नपरीक्षकैः' ॥ (र० त० २३।८८-८९)

२. (क) 'निष्प्रभं कर्कशं रूक्षं पीतश्यामं ततोन्नतम्।
कपिशं कपिलं पाण्डु पुष्परागं परित्यजेत्' ॥ (र० र० स० ४।२४)
(ख) 'श्यामलं निष्प्रभं कर्कशं द्वयक्षकं कृष्णबिन्दङ्कितं शर्कराङ्गप्रभम्।
उन्नतं त्वानतं यच्च रूक्षं परं पुष्पराजं मतं यत्तु हेयं बुधैः' ॥
(र० त० २३।९०)

Scanned with CamScanner

पुष्पराग का शोधन—समान भाग कुलत्थ-क्वाथ और काञ्जी मिश्रित द्रव में दोलायन्त्र विधि से पुष्पराग को ३ घंटे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[1]

पुष्पराग का मारण—शुद्ध पुष्पराग को प्रथम इमामदस्ते में अच्छी प्रकार चूर्ण कर लें। अब इसमें पुष्पराग के समान भाग में शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल तथा शुद्ध मनःशिला लेकर लकुच स्वरस से भावित कर चक्रिका बना-सुखा कर सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ऐसे ८ से १० गजपुट की अग्नि देने से पुष्पराग का उत्तम भस्म बन जाता है।[2] इस भस्म का वर्ण श्वेत होता है।

पुष्पराग पिष्टि—लोहे के इमामदस्ते में शुद्ध पुष्पराग को अच्छी तरह कूटकर सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण बना लें। तत्पश्चात् अच्छे पत्थर के खरल में ३ से ४ दिन तक गुलाबजल से घोंटकर सुखा लें। इसे पुष्पराग की पिष्टि कहते हैं। यह पाण्डुर वर्ण का होता है।

पुष्पराग भस्म (पिष्टि) की मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

पुष्पराग के गुण-कर्म—इसका गुण लघु तथा वीर्य शीत होता है। यह विषघ्न है। छर्दि, कफवात, अग्निमान्द्य, दाह, कुष्ठ एवं रक्तपित्त नाशक तथा दीपन-पाचन है। यह मेध्य, बृंहण तथा आयुष्यकर है तथा अर्श में लाभकारी है।[3]

पुष्पराग के कुछ प्रमुख योग—१. नवरत्नराजमृगाङ्क रस, २. मणिपर्पटी तथा रत्नभागोत्तर रस।

हीरक
(Diamond)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : वज्र। हिन्दी : हीरा। अंग्रेजी : Diamond.

रासायनिक सूत्र—C.

काठिन्य—१०। **आपेक्षित घनत्व**—३·५।

---

१. (क) 'पुष्परागं च सन्धानैः कुलत्थक्वाथसंयुतैः'। (र० र० स० ४।६१)
(ख) 'कुलत्थक्वथितोपेतैः काञ्जिकैः स्वेदितं समम्।
दोलायन्त्रे पुष्पराजं यामैकेन विशुद्धयति'॥ (र० त० २३।९१)

२. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु'॥ (र० र० स० ४।६४)

३. (क) पुष्परागं विषच्छर्दिकफवाताग्निमान्द्यनुत्।
दाहकुष्ठास्रशमनं दीपनं पाचनं लघु'॥ (र० र० स० ४।२५)
(ख) 'पुष्पराजन्तु शिशिरं दीपनं पाचनं परम्।
कफवातप्रशमनं कुष्ठच्छर्दिनिबर्हणम्॥
विषघ्नं दाहशमनं गुदजामयनाशनम्।
मेध्यं बृंहणमायुष्यं रसज्ञैः परिकीर्तितम्'॥ (र० त० २३।९३-९४)

पर्याय—हीरक, हीर, अभेद्य, भिदुर, कुलिश, वज्रक, वज्र, भार्गवप्रिय, भृगुप्रिय, पवि।

इतिहास—श्रीमद्भागवत तथा महाभारत के काल से इसका उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता में सर्पदंश-निवारण हेतु रत्नों के धारण के क्रम में वज्र-धारण का उल्लेख किया गया है। रस-ग्रन्थों में इसका गुण तथा उपयोग सहित विस्तृत वर्णन किया गया है।

पौराणिक दृष्ट्या—१. हीरे की उत्पत्ति दधीचि ऋषि की हड्डियों से हुई है। २. वज्र को इन्द्र का अस्त्र कहा गया है।

परिचय—हीरा श्वेतवर्ण का अत्यन्त चमकदार एवं देदीप्यमान रत्न है। श्वेत होते हुए भी यह इन्द्रधनुषी प्रभा बिखेरता है। यह कार्बन तत्त्व का मणिभ (Crystal) रूप है। यह शीशे जैसा स्वच्छ, निर्मल तथा पारदर्शक होता है। कठिनता में यह विश्व का सबसे कठिन द्रव्य माना जाता है। इसी को आधार मानकर अन्य वस्तुओं का काठिन्य मापा जाता है। यह शुद्ध कार्बन है। रासायनिक दृष्टि से यह कोयले के वर्ग में आता है। इसको खुली हवा में तीव्र अग्नि में जलाने पर कोयले की तरह कार्बनडाइऑक्साइड गैस उत्पन्न करता है। इसकी रचना में भाग लेने वाले कार्बन अणुओं की सघन संरचना के कारण यह अत्यन्त कठिन होता है। इसी कारण कोई भी अन्य वस्तु हीरे को खुरचने में समर्थ नहीं होती।

हीरे का वर्ण—हीरे का कोई विशेष वर्ण नहीं होता। सामान्यतः यह वर्णहीन होता है, तथापि कुछ पीताभ या पीत वर्ण का या लाल, हरे तथा नीले रंग का भी मिलता है। काले रंग का बहुत कम देखा जाता है। यह पारदर्शक (Transparent), पारभासक (Translucent) तथा अपारदर्शक (Opaque) तीनों प्रकार का पाया जाता है।

वर्णहीन हीरा शुद्ध कार्बन होता है, किन्तु वर्णयुक्त हीरे में अल्पांश में केल्सियम, सोडियम, ताम्र, सिलिकान, एल्युमिनियम, बोरोन, आयरन तथा मेग्नीशियम आदि द्रव्य पाये जाते हैं। ऐसे हीरे को जलाने पर पूरी तरह न जलकर कुछ उपरोक्त द्रव्यों के भाग शेष रह जाते हैं। अम्ल का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह ताप का उत्तम किन्तु विद्युत् का अल्पवाहक (Poor conductor of electricity) होता है। यह शुक्रग्रह को प्रिय है।

प्राप्ति-स्थान—विदेशों में यह दक्षिण अफ्रीका, ब्राजील, आस्ट्रेलिया एवं ब्रिटिश-गुयाना आदि देशों तथा भारत में गोलाकुण्डा (आन्ध्रप्रदेश), पन्ना (मध्यप्रदेश), बुन्देलखण्ड (उ० प्र०) तथा विजयानगरम् आदि की खानों से प्राप्त होता है।

---

१. 'हीरको हीरकं हीरमभेद्यं भिदुरं तथा।
कुलिशं वज्रकं वज्रं तथोक्तं भार्गवप्रियम्'॥ (र० त० २३।५)

Scanned with CamScanner

भेद—लिंग के आधार पर यह तीन प्रकार का माना गया है[1]—

१. नर वज्र (उत्तम) : सबके लिए उपयुक्त ।
२. नारी वज्र (मध्यम) : स्त्रियों के लिए ।
३. नपुंसक वज्र (अधम) : नपुंसकों के लिए ।

वर्ण (रंग) के आधार पर यह ४ प्रकार होता है[2]—१. श्वेत, २. रक्त, ३. पीत एवं ४. कृष्ण ।

जाति के आधार पर यह ४ प्रकार का होता है[3]—१. ब्राह्मण (रसायनार्थ), २. क्षत्रिय (रोगनिवारणार्थ), ३. वैश्य (धातुकर्मार्थ) तथा ४. शूद्र (वयः स्तम्भन एवं रोगशमनार्थ) ।

वर्ण (रंग) के अनुसार हीरे की जाति एवं प्रभाव[4]—

१. श्वेतवर्ण : ब्राह्मण : रसायन एवं सर्वसिद्धि प्रद ।
२. रक्तवर्ण : क्षत्रिय : व्याधिनाशक, जरा एवं मृत्युहर ।
३. पीतवर्ण : वैश्य : धनप्रद एवं देहदार्ढ्यकर ।
४. कृष्णवर्ण : शूद्र : व्याधिनाशक तथा वयःस्तम्भक ।

नर, स्त्री एवं नपुंसक हीरे का लक्षण—जिसमें आठ धार, आठ फलक, और छः कोण हों, जो अत्यन्त चमकदार हो, इन्द्रधनुषी रंगों वाला तथा हल्का हो, उसे पुंवज्र (पुरुष हीरा) कहते हैं । इन्हीं सभी लक्षणों से युक्त किन्तु चिपटा और लम्ब गोल हीरा स्त्री वज्र कहलाता है । यदि इसी गोल हीरे की धार एवं कोणाग्र कुण्ठित हों और किंचित् भारवान् हो तो उसे नपुंसक वज्र कहते हैं ।[5]

उत्तम हीरे का लक्षण—काँच सदृश स्वच्छ, लघु (हलका), आठ पहल, छः

---

१. 'वज्रं च त्रिविधं प्रोक्तं नरो नारी नपुंसकम्' । (र० र० स० ४।२६)
२. श्वेतादिवर्णभेदेन तदैकैकं चतुर्विधम्' । (र० र० र० ४।३०)
३. 'ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रं स्वस्ववर्णफलप्रदम्' ॥ (र० र० स० ४।३०)
४. 'श्वेतं द्विजाभिधं रक्तं क्षत्रियाख्यं तदीरितम् ।
पीतं वैश्याख्यमुद्दिष्टं कृष्णं स्याच्छूद्रसंज्ञकम् ॥
विप्रो रसायने प्रोक्तः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
क्षत्रियो व्याधिविध्वंसी जरामृत्युहरः परः ॥
वैश्यो धनप्रदः प्रोक्तस्तथा देहस्य दार्ढ्यकृत् ।
शूद्रो नाशयति व्याधीन् वयःस्तम्भं करोति च' ॥ (आ० प्र० ५।१५-१७)
५. 'अष्टास्रश्चाऽष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम् ।
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते ॥
तदेव चिपिटाकारं स्त्रीवज्रं वर्तुलायतम् ।
वर्तुलं कुण्ठकोणाग्रं किञ्चिद्गुरु नपुंसकम्' ॥ (र० र० स० ४।२७-२८)

कोण तथा तीक्ष्ण (अन्य रत्नों का भेदन करने वाला) इन पाँच गुणों वाला हीरा उत्तम माना जाता है ।[1]

जो हीरा स्पर्श में चिकना, विद्युत् के समान चमकीला, स्वच्छ, स्वयं न काटा जा सकने वाला और शीशे को काट सकने वाला, अत्यन्त तीक्ष्ण, छः कोणों तथा आठ पहल वाला होता है, वह उत्तम माना जाता है ।[2]

त्याज्य हीरा—गोलाकार, मलिन, नीलवर्ण, राख की आभावाला, फटा हुआ, खुरदरा, काकपाद (कौए के पैर) सदृश निशान वाला, अनेक रेखाओं से युक्त हीरा त्याज्य समझा जाता है ।[3]

हीरे के दोष तथा उसके धारण से हानि[4]—हीरे के पाँच दोष कहे गये हैं—

१. **बिन्दु**—जल की बूंद का आभास कराता हो अथवा काले या लाल वर्ण के चिह्न वाला हो तथा गोल और चपटा हो तो वह बिन्दु दोषयुक्त माना जाता है । यह निष्फल तथा क्रेता का धन नाश करने वाला होता है ।

२. **काकपद**—कौए के पंजे जैसे निशान वाला । इसे मृत्युदायी कहा गया है ।

३. **यव**—जौ के समान निशान वाला या लाल, पीले, श्वेत अथवा काले वर्ण का हो सकता है । इनमें श्वेत यव बिन्दु वाला हीरा उत्तम तथा शेष निन्दित माना गया है ।

४. **मल**—हीरे में धार और कोण के मध्य भाग में यदि मलिन भासता हो तो उसे मलदोष युक्त हीरा मानते हैं । इसके धारण से अग्नि तथा व्याघ्र आदि पशुओं का भय बना रहता है ।

५. **रेखा**—चार दिशा से परस्पर काटती हुई रेखाओं से युक्त हीरा रेखा दोषयुक्त माना जाता है । इनमें वामरेखा वाला उत्तम, शेष दुर्भाग्य प्रदान करने वाला होता है ।

---

१. 'अच्छत्वं लघुता तथाष्टफलता षट्कोणता तीक्ष्णता-
ऽप्येतान् पञ्चगुणान् गृणन्ति गुणिनो देवोपभोग्ये पवौ' ॥ (आ० प्र० ५।३६)
२. 'स्निग्धं विद्युद्विभं स्वच्छमलेख्यं च विलेखनम् ।
तीक्ष्णं षट्कोणमष्टास्रं जात्यं हीरकमुच्यते' ॥ (र० त० २३।६)
३. 'वर्तुलं मलिनं नीलं भूत्याभं स्फुटितं खरम् ।
सकाकपादं रेखाढ्यं हेयं हीरकमादिशेत्' ॥ (र० त० २३।७)
४. (क) 'बिन्दुः काकपदं यवः किल मलो रेखेति नाम्नोदिता
दोषाः पञ्च पवेरथात्र कथितो बिन्दुः समो बिन्दुना ।
कृष्णो रक्त इति क्रमेण स पुनर्द्वेधा मतो वर्तुला-
वर्ताकारभिदा ग्रहीतुरफलः शस्तो न सर्वोऽपि सः ॥
ज्ञेयं काकपदं तु काकचरणाकारं परीक्षाकृता
वज्रे श्रीमति संस्थितं पुनरिदं धर्तुर्भवेन्मृत्युदम् ।

Scanned with CamScanner

हीरक शोधन-मारण की आवश्यकता—बिना शुद्धि अथवा भस्म किये हीरे का सेवन पार्श्ववेदना, कुष्ठ, ज्वर, पाण्डु, भ्रम, मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न करता है।[1] अतः शोधन-मारण के पश्चात् ही हीरे का सेवन करना चाहिए।

हीरक-शोधन[2]—

१. कोद्रव अथवा कुलत्थ क्वाथ में दोलायन्त्र विधि से तीन दिन तक स्वेदन कर लेने से हीरा शुद्ध हो जाता है।

२. हीरे को तीव्र अग्नि में तपा-तपाकर सौ बार स्नुही के दुग्ध अथवा पारद में बुझा लेने से हीरा शुद्ध हो जाता है। हीरा इससे शीघ्र चूर्ण हो जाता है।

३. व्याघ्री के कन्द में वज्र को रखकर कोद्रव अथवा कुलत्थ क्वाथ में दोलायन्त्र विधि से अथवा ७ दिन तक स्वेदन कर लेने से वज्र शुद्ध हो जाता है।

हीरक-मारण—

१. शुद्ध हीरे के चूर्ण में समभाग रससिन्दूर, शुद्ध मनःशिला, शुद्ध गन्धक (सभी समभाग) लेकर एकत्र खरल में अच्छी प्रकार घोंटकर सम्पुट में बन्द कर गजपुट

रक्तापीतसिताभिच्छविभिदा ज्ञेयश्चतुर्धा यवा-
कारस्तत्र यवः सितः खलु पवेः पूज्योऽपरे निन्दिताः ॥
धारायोणकमध्यसंस्थिततया त्रेधा मलो रत्नवि-
द्धास्थातः स पुनर्ग्रहीतुरनलव्याघ्रादिभीतिप्रदः।
सव्यासव्यनिवासिनी तदपरा तत्र स्थिता च्छेदिनी
च्छिन्ना चोर्ध्वगतिर्गतोर्ध्वमिति ता रेखाश्चतस्रो मताः' ॥
(आ० प्र० ५।३२-३४)

१. (क) 'अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा।
पाण्डुं तापं गुरुत्वं च तस्मात्संशोध्य मारयेत्' ॥ (आ० प्र० ५।७४)
(ख) 'अविशुद्धं मृतं हीरं शीलितं पार्श्ववेदनाम्।
कुष्ठं तापं भ्रमादींश्च जनयत्यविलम्बितम्' ॥ (र० त० २३।९)

२. (क) 'कुलत्थकोद्रवक्वाथे दोलायन्त्रे विपाचयेत्।
व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनं तद्विशुद्धयति' ॥ (आ० प्र० ५।७७)
(ख) 'पोट्टलीमध्यगं भार्गवस्य प्रियं कोद्रवक्वाथतो दोलिकायन्त्रके।
सप्तभिर्वासरैः स्वेदितं सन्ततं याति शुद्धिं परां निश्चितं सत्वरम् ॥
कुलत्थक्वाथसंयुक्तं हीरं दोलाख्ययन्त्रगम्।
स्विन्नं दिनत्रयं यत्नाद्विशिष्टां शुद्धिमाप्नुयात् ॥
हीरकं परिसन्तप्तं सुधाक्षीरे निषेचितम्।
शतवारं प्रयत्नेन शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् ॥
हीरकं परिसन्तप्तं प्रखरानलयोगतः।
शतधा वापितं सूते शुद्धे शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

की अग्नि में फूंक दें। प्रथम पुट के बाद रससिन्दूर को छोड़कर शेष द्रव्यों के साथ घोंटते हुए क्रमशः १४ पुट दे देने से हीरे का भस्म बन जाता है।[1]

२. शुद्ध हीरे के समभाग शुद्ध हरताल तथा शुद्ध मनःशिला लेकर एक खरल में डाल पुराने कपास के मूल के स्वरस से ३ घंटे धूप में खूब मर्दन करें, शुष्क हो जाने पर सम्पुट में बन्दकर महापुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार १४ पुट देने से हीरे का उत्तम भस्म बन जाता है।[2] हीरक भस्म का वर्ण श्वेत होता है।

हीरक भस्म की मात्रा—$\frac{1}{32}$ रत्ती से $\frac{1}{16}$ रत्ती तक बल-काल का विचार करते हुए।[3]

अनुपान—रससिन्दूर या मकरध्वज या अभ्रकभस्म एवं शहद के साथ।

हीरक भस्म के गुणकर्म[4]—यह रस में षड्रसयुक्त तथा गुण में स्निग्ध है। यह त्वरित आयुष्प्रद, परमहृद्य, योगवाही, त्रिदोषघ्न, रसायन, वयःस्तम्भकर, वृष्य,

---

एवं निर्वापितं हीरं चूर्णतामेति सत्वरम्।
अनुभूतः प्रकारोऽयं समाख्यातो महोत्तमः' ॥ (र० त० २३।१०-१४)

१. 'हीरकं विमलं सूतं मृतन्तु समभागिकम्।
मनःशिला गन्धकञ्च समं दत्त्वा विमर्दयेत्।
सम्पुटस्थं तु पुटयेद् वारणाख्ये पुटे भृशम्।
तावत्पुटेत्प्रयत्नेन यावन्नायाति पञ्चताम् ॥
द्वितीयादिपुटेष्वत्र सूतं न विनियोजयेत्।
एवं चतुर्दशपुटैर्हीरकं म्रियते ध्रुवम्' ॥ (र० त० २३।१८-२०)

२. 'हीरकं विमलं तालं तथा रोगशिलामला।
समं समं समादाय खरखल्वे विमर्दयेत् ॥
त्रिवर्षारूढकार्पासशिफास्वरसयोगतः ।
सम्पेष्य कामं यामैकं निदाघे परिशोषयेत् ॥
विशुष्कं सम्पुटे न्यस्य पुटयेत्तु महापुटे।
एवं चतुर्दशपुटैर्हीरकं याति पञ्चताम्' ॥ (र० त० २३।२२-२४)

३. 'रक्तिकाया नेत्रगुणभागतस्तु कलांशकम्।
मृतं हीरं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया' ॥ (र० त० २३।२८)

४. (क) 'सुमृतं हीरकं हृद्यं परमं षड्रसान्वितम्।
योगवाहि मतञ्चैतत्सर्वोत्कृष्टं रसायनम् ॥
राजयक्ष्मप्रशमनं मेहमेदोविनाशनम्।
पाण्डुशोथोदरहरं तथा क्लैब्यहरं परम् ॥
वृष्यं महायुष्यमतीव नेत्र्यं बल्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम्।
मेध्यं विशेषाद्विधिमायघ्नं (सुधोपमं) स्यात्सुमृतं तु हीरम्' ॥
(र० त० २३।२५-२७)

अमृतसमान

क्लैब्यहर, कान्तिवर्द्धक, जठराग्निप्रदीपक, नेत्र्य, बल्य तथा सम्पूर्ण रोगनाशक होता है। यह पारद-बन्धक, मारक एवं मृत्युहर है। शरीर को वज्र-सदृश दृढ़ता प्रदान करता है। क्षय, शोष, भ्रम, भगन्दर, प्रमेह, मेद, पाण्डु, उदर एवं शोथरोग नाशक है।

हीरक भस्म निर्मित प्रमुख योग—१. कन्दर्पसुन्दर रस, २. कामदेव रस, ३. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, ४. नवरत्नराजमृगांक रस, ५. पञ्चामृत रस, ६. महा-मृगांक रस, ७. मणिपर्पटी, ८. महालक्ष्मीविलास रस, ९. रत्नगर्भ पोट्टली तथा १०. वसन्तकुसुमाकर रस आदि।

नीलम
(Sapphire)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : नीलम। हिन्दी : नीलम। अंग्रेजी : Sapphire।

रासायनिक सूत्र—Al_2O_3

काठिन्य—९। **आपेक्षिक घनत्व**—४।

पर्याय—नील, नीलोपल, नीलरत्न, सुनीलक, महानील, नीलाश्म, शनिरत्न,[1] तृणग्राही, इन्द्रनील, शक्रनील।

इतिहास—नीलम का उल्लेख सर्वप्रथम वराहमिहिर के बृहत्संहिता (५वीं शताब्दी) में मिलता है। बाद में रसग्रन्थों में सर्वत्र इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

परिचय—यह गाढ़े नीले-से सफेद वर्ण का पारदर्शक पाषाण रत्न है। यह पार-दर्शक खनिज एल्युमिनियम ऑक्साइड होता है। इसका नीला रंग इसमें उपस्थित टायटेनिक ऑक्साइड तथा अल्पमात्रा में कोबाल्ट के कारण होता है। वर्ण की भिन्नता के अतिरिक्त माणिक्य और नीलम में कोई अन्तर नहीं होता। यह भी कुरु-विन्द वर्ग (Corandum group) का रत्न है। कठिनता में हीरे के बाद इसी वर्ग का स्थान है। यह शनिग्रह को प्रसन्न करता है।

(ख) 'आयुष्प्रदं झटिति सद्गुणञ्च वृष्यं दोषत्रयप्रशमनं सकलामयघ्नम्।
सूतेन्द्रबन्धवधसद्गुणकृत्प्रदीपनं मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम्'॥
(र० र० स० ४।३२)

(ग) 'वज्रं समीरकफपित्तगदान्निहन्याद्वह्नेरपि च कुरुते वपुरुत्तमग्नि।
शोषक्षयभ्रमभगन्दरमेहमेदः पाण्डूदरश्वयथुहारि च षड्रसाढ्यम्'॥
(आ० प्र० ५।७३)

१. 'नीलो नीलोपलो नीलं नीलरत्नं सुनीलकम्।
महानीलश्च नीलाश्मशनिरत्नञ्च कीर्तितम्'। (र० त० २३।९६)

प्राप्ति-स्थान—यह वर्मा, श्रीलंका तथा भारत के जम्मू-कश्मीर प्रान्त तथा विजयानगरम् की खानों से पाया जाता है।

भेद—रस-ग्रन्थों में इसके दो भेद मिलते हैं[1]—

१. इन्द्रनील (उत्तम) : कृष्णगर्भित नीलाभ वर्ण का तथा गुरु।

२. जलनील (साधारण) : श्वेतगर्भित नीलाभ तथा लघु।

आधुनिक दृष्ट्या वर्ण के आधार पर ५ भेद किये गये हैं—१. पीतवर्ण, २. सुवर्ण-वर्ण, ३. श्वेतवर्ण, ४. हरितवर्ण, एवं ५. बैंगनीवर्ण।

नीलम के नील वर्ण को आनन्दकन्दकार ने ११ रंगों से उपमित किया है। यथा—१. नीली वृक्ष के रस सदृश नीलवर्ण, २. वैष्णवी (अपराजिता) पुष्प-सदृश नील आभा, ३. लवलीपुष्प-सदृश नीलवर्ण, ४. नीलकमल-सदृश नीलवर्ण ५. अतसी-पुष्प-सदृश नीलवर्ण, ६. चास पक्षी के पंख सदृश नीलवर्ण, ७. कृष्ण त्रिकर्णिका पुष्प-सदृश नीलवर्ण, ८. मयूरकण्ठ की छाया जैसा नीलवर्ण, ९. भगवान् शंकर के कण्ठ सदृश नीला, १०. भगवान् विष्णु के शरीर के समान नीला तथा ११. भृंगराज पत्र सदृश नीलवर्ण।[2]

उत्तम नीलम के लक्षण—स्वच्छ, सुन्दर, कान्तियुक्त, पारदर्शक, स्निग्ध, चमकीला वजनदार, ज्योतिर्युक्त तथा नीले रंग का नीलम श्रेष्ठ होता है।[3]

उत्तम नीलम की परीक्षा—पूर्णिमा की धवल चाँदनी में खड़ी गौरवर्णा सुन्दर स्त्री के हाथ में दूध से भरा पात्र रखें। अब इस पात्र पर नीलमणि का प्रकाश डालें। यदि वह नीलमणि अपने प्रकाश से दुग्ध एवं स्त्री को रंजित कर दे (नीलाभ प्रकाश उत्पन्न कर दे) तो उसको उत्तम जाति का नीलम समझना चाहिए।[4]

---

१. 'जलनीलेन्द्रनीलञ्च शक्रनीलं तयोर्वरम्।
श्वैत्यगर्भितनीलाभं लघु तज्जलनीलकम्॥
काण्यर्गर्भितनीलाभं सभारं शक्रनीलकम्'। (र० र० स० ४।४९-५०)

२. 'नीलीरससमाभासा वैष्णवीपुष्पसन्निभा।
लवलीपुष्पसङ्काशा नीलेन्दीवरसप्रभा॥
अतशीपुष्पसङ्काशा चापपक्षसमद्युतिः।
कृष्णत्रिकर्णिकापुष्पसमानद्युतिधारिणी॥
मयूरकण्ठसच्छाया शम्भोः कण्ठनिभा तथा।
विष्णुदेहसमाभासा भृङ्गपत्रसमप्रभा॥
एताश्छायाशुभकरा इन्द्रनीलमहामणेः'॥ (आ० कं० क्रि० ८)

३. 'स्वच्छं सच्छायममलं मसृणं तु महोज्ज्वलम्।
स्निग्धं गुरु लसज्ज्योतिर्जात्यं नीलं मतं बुधैः'॥ (र० त० २३।९७)

४. 'अस्त्यानचन्द्रिकास्यन्दसुन्दरीक्षीरपूरितम्।
यत्पात्रं रञ्जयत्याशु स जात्यो नील उच्यते'॥ (आ० प्र० ५।१२५)

Scanned with CamScanner

त्याज्य नीलम—आधे भाग में रक्त और आधे भाग में नीलवर्ण की छाया से युक्त अपारदर्शक, रूक्ष तथा कोमल (आसानी से टूटने वाला) नीलम त्याज्य होता है।[1]

नीलम का शोधन—नीलम को नीली स्वरस में दोलायन्त्र विधि से ३ घंटे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।

नीलम का मारण—शुद्ध नीलम को प्रथम लोहे के इमामदस्ते में कूटकर बारीक चूर्ण बना लें। अब इसमें शुद्ध हरताल, शुद्ध मनःशिला तथा शुद्ध गन्धक प्रत्येक नीलम के समान भाग खरल में एकत्र मिला लकुच स्वरस से भावित कर चक्रिका बना-सुखा, सम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ऐसे आठ पुट में नीलम का भस्म बन जाता है।[2] भस्म श्वेत वर्ण का होता है।

नीलम पिष्टि—शुद्ध नीलम को लोहे के इमामदस्ते में कूटकर सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण बना लें। अब इसे उत्तम पत्थर की खरल में डाल गुलाबजल में ५-६ दिन तक खूब अच्छी तरह घोंटकर सुखाकर रख लें।

नीलम भस्म की मात्रा—½ रत्ती से ३ रत्ती तक।[3]

अनुपान—शहद, मक्खन तथा विविध औषधियों के साथ।

नीलम भस्म के गुणकर्म—यह त्रिदोषघ्न, वृष्य, बल्य, उत्तम दीपन, वर्णवर्द्धक, अर्शनाशक, कुष्ठनाशक, त्वच्य, श्वास, कास, विषमज्वर तथा पापनाशक है।[4]

नीलम निर्मित प्रमुख योग—१. राजमृगांक रस, २. मणिपर्पटी रस तथा ३. रत्नभागोत्तर रस।

गोमेद

(Cinnamon stone, Hessonite, Agate or Zircon)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : गोमेद। हिन्दी : गोमेद। अंग्रेजी : Cinnamon stone / Hessonite / Agate / Zirconе. यूनानी : संगेसुलेमान या अकीक।

१. 'रक्तार्द्ध विगतच्छायं रूक्षं लघु च कोमलम्।
परिहेयं शौरिरत्नं मतं रत्नपरीक्षकैः' ॥ (र० त० २३।९८)

२. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु' ॥ (र० र० स० ४।६३)

३. 'गुञ्जाष्टमांशप्रमितात् गुञ्जार्द्धप्रमितं परम्।
सुमृतं नीलरत्नं तु प्राणाचार्यः प्रयोजयेत्' ॥ (र० त० २३।१०३)

४. (क) श्वासकासहरं वृष्यं त्रिदोषघ्नं सुदीपनम्।
विषमज्वरदुर्नामपापघ्नं नीलमीरितम्' ॥ (र० र० स० ४।५३)

(ख) 'नीलं तु सुमृतं वृष्यं बल्यं दीपनमुत्तमम्।
त्रिदोषशमनं वर्ण्यं गुदजामयनाशनम् ॥
त्वच्यं कुष्ठादिदोषघ्नं श्वासकासनिषूदनम्।
कफपित्तानिलहरं विषमज्वरनाशनम्' ॥ (र० त० २३।१०१-२)

रा० सूत्र—Ca Al (SiO_3) / Zr SiO_4

रा० नाम—Calcium-aluminium garnet/Zirconium silicate.

आपेक्षिक घनत्व—४ से ४·७। **काठिन्य**—७·५।

पर्याय—गोमेदक, गोमेद, पिङ्गस्फटिक, राहुरत्न, तमोमणि[1]।

इतिहास—ज्योतिष ग्रन्थ बृहत्संहिता (वराहमिहिर : ५वीं शताब्दी) से इसका उल्लेख मिलता है। रस-ग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन उसके लक्षण, भेद, शोधन-मारण तथा औषधीय गुणकर्म सहित मिलता है।

परिचय—यह रक्तपिताभ मधु-सदृश अथवा गाय के मेद या मूत्र के वर्ण का (Dark brown) या हलके पीले वर्ण का पाषाण रत्न है। इसमें सर्वाधिक प्रमाण में सिलिका होता है। किञ्चित् मात्रा में एल्युमीनियम ऑक्साइड भी होता है। इसका रंग इसमें उपस्थित अल्पांश में लौह और मैंगेनीज तत्त्व के कारण होता है। इसके खण्ड घन (Cubic) आकार के, पारभासक (Translucent) तथा अपारदर्शक (Opaque) दोनों प्रकार के होते हैं। इसके खरल अत्यन्त मजबूत तथा रगड़ से बहुत कम घिसने वाले होते हैं। प्याले, चाकू, तलवार आदि की मूठ तथा अलंकार बनाने में इसका उपयोग होता है। गाय की चर्बी के समान हलके पीले रंग का होने के कारण इसे गोमेद मणि कहते हैं।[2] यह राहुग्रह को प्रसन्न करता है।

प्राप्ति-स्थान—यह श्रीलंका, बर्मा, दक्षिण अफ्रीका, रूस एवं फ्रांस में तथा भारत में बिहार (हजारीबाग), केरल, तमिलनाडु तथा उत्तरप्रदेश (केदारनाथ क्षेत्र) में पाया जाता है।

भेद—वर्ण-भेद से यह चार प्रकार का होता है—१. श्वेताभ पीत, २. रक्ताभ पीत, ३. पीत, ४. कृष्णाभ पीत।

वर्ण के आधार पर श्वेताभ पीत को ब्राह्मण, रक्ताभ पीत को क्षत्रिय, पीत को वैश्य तथा कृष्णाभ पीत को शूद्र कहा गया है।

उत्तम एवं ग्राह्य गोमेद—स्वच्छ गोमूत्र के समान वर्ण वाला, निर्मल, स्निग्ध, समान आकार का, भारी, दलरहित (परत रहित), कोमल और चमकयुक्त—इन आठ गुणों वाला गोमेद श्रेष्ठ (शुभ) माना जाता है।[3]

१. 'गोमेदकश्च गोमेदः पिङ्गस्फटिक इत्यपि।
गोमेदो राहुरत्नश्च कीर्तितश्च तमोमणिः' ॥ (र० त० २३।१२०)

२. 'गोमेदःसमरागत्वाद् गोमेदं रत्नमुच्यते'। (र० र० स० ४।५४)

३. (क) 'सुस्वच्छगोजलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं समं गुरु।
निर्दलं मसृणं दीप्तं गोमेदं शुभमष्टधा' ॥ (र० र० स० ४।५४)

(ख) 'गोमूत्राभं स्निग्धममन्दं समगात्रं हेमारक्तं निर्दलमच्छं गुरुमारम्।
दीप्तच्छायं मञ्जुलरूपं मसृणं यद् गोमेदाख्यं रत्नमिह स्यात्तज्जात्यम्' ॥
(र० त० २३।१२१)

Scanned with CamScanner

त्याज्य गोमेद—कान्तिहीन, हलका, खुरदरा, चपटा, परतों वाला, प्रभाहीन तथा पीले वर्ण के काँच की तरह दीखने वाला गोमेद त्याज्य (अशुभ) माना जाता है।[1]

गोमेद का शोधन—गोमेद को नीम्बू स्वरस में दोलायन्त्र विधि से ३ घंटे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[2]

गोमेद का मारण—गोमेद का सूक्ष्म चूर्ण कर लें। इसमें शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल तथा शुद्ध मनःशिला प्रत्येक गोमेद के समान भाग में लेकर लकुच स्वरस से भावित कर चक्रिका बना-सुखाकर शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ऐसे आठ गजपुट की अग्नि देने से गोमेद का सुन्दर भस्म बन जाता है।[3]

गोमेद भस्म का वर्ण कत्थई रंग का होता है।

गोमेद-पिष्टि—शुद्ध गोमेद को लोहे के इमामदस्ते में कूटकर वस्त्रगालित सूक्ष्म चूर्ण बना लें। अब इसमें गुलाबजल डालकर ३-४ दिन तक खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखाकर रख लें। इसे गोमेद की पिष्टि कहते हैं।

गोमेद भस्म या पिष्टि की मात्रा—$\frac{1}{4}$ रत्ती से १ रत्ती तक।[4]

अनुपान—शहद, मक्खन, मलाई अथवा विविध रोगनाशक योगों के साथ।

गोमेद भस्म/पिष्टि के गुण-कर्म—यह रस में अम्ल तथा गुण में उष्ण है।[5] यह कफ, पित्त, क्षय तथा पाण्डुरोग नाशक एवं दीपन, पाचन, रुचिवर्द्धक, त्वचा के लिए हितकर तथा बुद्धिवर्द्धक होता है।[6]

धारण करने से यह बुद्धि-स्मृतिवर्द्धक तथा पापनाशक होता है।

अकीक के गुण-कर्म—अकीक वीर्य में शीत तथा गुण में रूक्ष है। यह रक्तस्तम्भक,

---

१. (क) 'विच्छायं लघु रूक्षाङ्गं चिपिटं पटलान्वितम्।
निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं च शुभावहम्'॥
(र० र० स० ४।५५)

(ख) 'सत्रासं विगतच्छायं चिपिटं मलिनप्रभम्।
सदलं लघु रूक्षं च गोमेदं हेयमीरितम्'॥ (र० त० २३।१२२)

२. 'निम्बूकस्वरसेनेह दोलायन्त्रे विधानतः।
परिस्विन्नं तु यामैकं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० २३।१२३)

३. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियतेऽष्टपुटैः खलु'॥ (र० र० स० ४।६३)

४. 'आरभ्य गुञ्जापादांशाद् गुञ्जैकप्रमितं मृतम्।
गोमेदं तु प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० २३।१२७)

५. 'गोमेदकोऽम्ल उष्णश्च वातकोपविकारजित्।
दीपनः पाचनश्चैव धृतोऽयं पापनाशनः'॥ (आ० प्र० ५।११६)

६. 'गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षयपाण्डुक्षयङ्करम्।
दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं बुद्धिप्रबोधनम्'॥ (र० र० स० ४।५६)

दाँतों को दृढ़ करने वाला तथा मानसिक रोगों में लाभकारी है। सोने का वर्क डालकर निर्मित अकीक पिष्टि अत्यन्त वृष्य होता है।[1]

गोमेद भस्म निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. नवरत्नराजमृगाङ्क रस। २. रत्नभागोत्तर रस आदि।

वैदूर्य
(Cat's eye)

वर्ग—रत्नवर्ग।

नाम—संस्कृत : वैदूर्य/वैडूर्य। हिन्दी : लहसुनिया।

रा० सूत्र—$BeO\ Al_2\ O_2$

रासायनिक नाम—बेरिलियम एल्युमिनेट (Beryllium aluminate)।

आपेक्षिक घनत्व—३·५ से ३·८। **काठिन्य**—८·५।

पर्याय—विदूररत्न, वैदूर्य, केतुरत्न, विदूरज, बिडालाख्य, बिडालाक्ष, वायज,[2] (मार्जारनेत्र) तथा प्रावृष्य।

इतिहास—चरक-चिकित्सास्थान में अनेक स्थल पर इसके प्रयोग का उल्लेख मिलता है। ज्योतिष ग्रन्थ (बृहत्संहिता) में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। रस-ग्रन्थों में इसके शोधन-मारण एवं गुण-प्रयोगों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

परिचय—वैदूर्य पीत-हरित् वर्ण का अत्यन्त कठिन बिल्ली की आँख की तरह दीखने वाला पाषाणरत्न है। बिल्ली की आँख जैसा दिखाई देने के कारण ही इसे कैट्स आई (Cat's eye) कहते हैं। बिल्ली की आँख में जैसी चमक तथा रेखाएँ होती हैं ठीक उसी प्रकार वैदूर्य के बीच में सफेद रंग की रेखा होती है।

रासायनिक दृष्टि से वैदूर्य गोमेद के समान होता है। दोनों के रंग में भिन्नता होती है। इसमें सिलिकान और ऑक्सीजन दो तत्त्व प्रधान रूप में होते हैं। इसके अलावा एल्युमीनियम, बेरिलियम तथा अल्पमात्रा में आयरन, मेग्नीशियम और क्रोमियम तत्त्व होते हैं।

वैदूर्य केतुग्रह के लिए प्रिय है।

प्राप्ति-स्थान—यह श्रीलंका, वर्मा, ब्राजील, रूस, नार्वे, अमेरिका तथा भारत के जम्मू-कश्मीर प्रान्त में मिलता है।

भेद—**वर्ण-भेद से** यह ४ प्रकार का होता है; यथा—१. श्वेत (White), २. धूम्र (Smoky), ३. कृष्णाभ (Blackish) तथा ४. मिश्रित वर्ण (Mixture of different colours)।

---

१. 'शीतो रूक्षश्चित्तदोषेषु गीतो रक्तस्तम्भी दार्ढ्यकरी द्विजानाम्।
हेम्ना साकं साधितोऽतीव वृष्यः श्लक्ष्णः शोणः शस्यते कोऽप्यकीकः'॥
(सि० भै० म० मा० १६)

२. 'विदूररत्नं वैदूर्यं केतुरत्नं विदूरजम्।
बिडालाख्यं बिडालाक्षं वायजञ्च प्रकीर्तितम्'॥ (र० त० २३।११२)

Scanned with CamScanner

वर्ग-भेद की दृष्टि से—१. क्रायसोबेरिल या इमेरल्ड ग्रुप (मरकत वर्ग), २. क्वार्ट्ज ग्रुप (स्फटिक वर्ग)—ये दो वर्ग होते हैं।

आधुनिक दृष्ट्या—१. विडालाक्ष (Cat's eye), २. एलेक्जेण्ड्राइड (Alexandride)।

उत्तम एवं ग्राह्य वैदूर्य—जो वैदूर्य कृष्णाभ श्वेतवर्ण का, आकार में सम, स्वच्छ, भारी और चमकदार हो और जिसमें सफेद अभ्रक के समान चमकने वाली सफेद रेखाएँ गर्भ में (वैदूर्य के अन्तःभाग में) दीखती हों, ऐसा वैदूर्य शुभ (उत्तम) माना जाता है।[1] एक साथ जिसमें बाँस और पलाश के कोमल पत्र तुल्य सुन्दर झलक दिखाई दे तथा उसी में मयूर के कण्ठ जैसा नीलवर्ण तथा बिल्ली की आँख जैसी पिंगल छवि दिखाई दे तो रत्नविशेषज्ञ इसे उत्तम कोटि का वैदूर्य मानते हैं।[2]

त्याज्य वैदूर्य—जो वैदूर्य काला, जल के समान, कान्तिहीन, चपटा, हलका, खुरदरा और लाल रंग की रेखाओं से युक्त हो वह त्याज्य माना जाता है।[3]

वैदूर्य का शोधन—वैदूर्य को त्रिफला क्वाथ में दोलायन्त्र विधि से ३ घंटे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[4]

वैदूर्य का मारण—लोहे के इमामदस्ते में कूटकर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। अब इसमें शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल तथा शुद्ध मनःशिला प्रत्येक समान भाग में मिला लकुच स्वरस से भावित कर चक्रिका बना-सुखा, शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूँक दें। ऐसे ८ पुट में वैदूर्य का सुन्दर भस्म बन जाता है।[5] इसका भस्म श्वेत वर्ण का होता है।

वैदूर्य-पिष्टि—लोहे के इमामदस्ते में कूट कर कपड़छन सूक्ष्म चूर्ण कर लें। अब इसे अच्छे पत्थर की खरल में गुलाबजल के साथ ५-६ दिन खूब अच्छी प्रकार मर्दन कर सुखाकर रख लें। यह वैदूर्य पिष्टि कहलाता है।

---

१. 'वैदूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्वच्छं गुरु स्फुटम्।
अभ्रशुभ्रोत्तरीयेण गर्भितं शुभमीरितम्' ॥ (र० र० स० ४।५७)

२. 'एकं वेणुपलाशपेशलरुचा मायूरकण्ठत्विषा
मार्जारक्षणपिङ्गलच्छविजुषा ज्ञेयं त्रिधा छायया।
यद्गात्रं गुरुतां दधाति नितरां स्निग्धं तु दोषोज्झितं
वैदूर्यं विदलं वदन्ति सुधियः स्वच्छं च तच्छोभनम्' ॥ (आ० प्र० ५।११०)

३. 'श्यामं तोयसमच्छायं चिपिटं लघु कर्कशम्।
रक्तगर्भोत्तरीयञ्च वैदूर्यं नैव शस्यते' ॥ (र० र० स० ४।५८)

४. त्रिफलाक्वथितोपेतं वैदूर्यं याममात्रकम्।
दोलायन्त्रे परिस्विन्नं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २३।११५)

५. 'लकुचद्रावसम्पिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु' ॥ (र० र० स० ४।६३)

वैदूर्य भस्म/पिष्टी की मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, मक्खन, मलाई या अन्य विविध योगों के साथ।

वैदूर्य भस्म के गुण-कर्म—यह रस में मधुर तथा वीर्य एवं गुण में शीत है।[1] यह मेध्य, बुद्धिप्रद, आयुष्य, बलवर्द्धक, पित्त प्रधान रोगों को दूर करने वाला तथा रक्तपित्तनाशक है। यह अग्नि-प्रदीपक, मलभेदक, गुल्मनाशक तथा सन्तर्पक है।[2]

वैदूर्य भस्म निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. चूर्णाञ्जन, २. पिण्डाञ्जन, ३. इन्द्रोक्त रसायन, ४. नवरत्नराजमृगाङ्क रस तथा ५. रत्नभागोत्तर रस आदि।

उपरत्न

(Minor Gems/Semi precious stones)

उपरत्न वर्ग के खनिज पाषाण काठिन्य (Hardness), चमक (Lusture), पारदर्शकता (Transparancy) तथा गुणवत्ता में रत्नों से कम होते हैं। अपेक्षाकृत इनका मूल्य भी कम होता है। अतः इन्हें उपरत्न कहकर सम्बोधित किया जाता है।

उपरत्नों की संख्या के बारे में रस-ग्रन्थों में मत-भिन्नता देखी जाती है। पठन-पाठन परम्परा में रसतरंगिणी का मत अधिक प्रचलित है। इनके मत से उपरत्नों की संख्या छः है। यथा—१. वैक्रान्त, २. सूर्यकान्त, ३. चन्द्रकान्त, ४ राजावर्त, ५. पैरोजक तथा ६. स्फटिक।[3]

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में कुल ८ द्रव्यों को उपरत्न वर्ग में उद्धृत किया गया है। जो निम्न हैं—

१. वैक्रान्त।	५. पैरोजक।
२. सूर्यकान्त।	६. स्फटिक।
३. चन्द्रकान्त।	७. व्योमाश्म।
४. राजावर्त।	८. तृणकान्त।

---

१. (क) सुमृतं खलु वैदूर्यं मधुरं शिशिरं परम्।
दीपनं मेध्यमायुष्यं बल्यं च मलभेदनम् ॥
रक्तपित्तप्रशमनं चक्षुष्यं बृंहणं परम्।
पित्तामयप्रशमनं समाख्यातं विशेषतः' ॥ (र० त० २३।११७-१८)

(ख) वैदूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञायुर्बलवर्द्धनम्।
पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं मलमोचनम्' ॥ (र० र० स० ४।५९)

२. 'वैदूर्यमुष्णमम्लं च कफमारुतनाशनम्।
गुल्मप्रभृतिरोगघ्नं भूमिजं च शुभावहम्' ॥ (आ० प्र० ५।१०९)

३. 'वैक्रान्तं सूर्यकान्तश्च चन्द्रकान्तो नृपोपलः।
पैरोजकश्च स्फटिकं क्षुद्ररत्नगणो ह्ययम्' ॥ (र० त० २३।१५४)

Scanned with CamScanner

वैक्रान्त

रसग्रन्थों में वैक्रान्त को 'रस वर्ग' तथा 'उपरत्न वर्ग'—इन दो वर्गों में सम्मिलित किया गया है। हीरक के स्थान पर प्रयुक्त हो सकने के कारण ही इसे रत्न वर्ग में भी सम्मिलित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वैक्रान्त के नाम से प्रयुक्त होने वाला द्रव्य वर्तमान में टुर्मेलीन (Turmaline) नामक खनिज पाषाण है, जिसे २०वीं शताब्दी के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसका वर्णन एक बार रसवर्ग के अन्तर्गत किया जा चुका है। इसका विस्तृत विवरण वहीं देखना चाहिए।

सूर्यकान्त
(Sun Stone)

वर्ग—उपरत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : सूर्यकान्त। हिन्दी : सूर्यकान्त। अंग्रेजी : Sun stone।

रासायनिक सूत्र—Na_2O, Al_2O_3, 6 SiO_2 + CaO, Al_2O_3, 2 SiO_2

आपेक्षिक घनत्व—२·६५। **काठिन्य**—५·५ से ६।

पर्याय—सूर्यकान्त, सूर्यमणि, सूर्योपल, दीप्तोपल, वह्निगर्भ, ज्वलनोपल,[1] तपन-मणि, तपन, रविकान्त, अग्निगर्भ, ज्वलनाश्म, अर्कोपल, वसु।[2]

इतिहास—चरकसंहिता में इसका उल्लेख (भूतोन्माद में देवादि प्रवेश च० चि० ९।१३) मिलता है। सुश्रुत आदि में भी इसके प्रयोग के अनेक स्थल देखे जाते हैं। रसग्रन्थों में इसके शोधन-मारण एवं गुण-प्रयोग का विस्तृत विवरण मिलता है।

परिचय—यह मोटे प्लस लेंस की तरह का पारभासक, गोल, उन्नतोदर ताल की तरह का जो एवेन्चुरीन ओलिगोक्लेज (Aventurine oligoclase) नामक खनिज पत्थर को काट कर बनाया जाता है। यह स्फटिक की जाति का पत्थर (उपरत्न) है। इसका वर्ण कुछ गुलाबी लाल-सा श्वेत होता है, जो सूर्य के प्रकाश मे अग्नि (जलते हुए अंगार) का आभास कराता है। इसमें सोडियम, एल्युमीनियम, सिलिकान और ऑक्सीजन तथा कैल्सियम तत्त्व पाया जाता है। इसका लाल वर्ण इसमें किञ्चित् मात्रा में आयरन ऑक्साइड के कारण होता है। इसके द्वारा सूर्य की किरण को एक स्थान पर केन्द्रीभूत कर देने पर यह कागज, रूई अथवा घास आदि को शीघ्र जला देता है। यह सूर्य ग्रह को प्रसन्न करने वाला होता है।

प्राप्ति-स्थान—वर्मा, रूस, नार्वे तथा मेडागास्कर से इसका उत्तम खनिज पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

भेद—इसका कोई भेद नहीं मिलता है।

---

१. 'सूर्यकान्तः सूर्यमणिस्तथा सूर्योपलाह्वयः।
दीप्तोपलो वह्निगर्भो तथैव ज्वलनोपलः' ॥ (र० त० २३।१८२)

२. 'अथ भवति सूर्यकान्तस्तपनमणिस्तपनश्च रविकान्तः।
दीप्तोपलोऽग्निगर्भो ज्वलनाश्माऽर्कोपलश्च वसुनामा' ॥ (आ० प्र० ५।१३९)

उत्तम एवं ग्राह्य सूर्यकान्त—शुद्ध (निर्मल), स्निग्ध (चिकना), व्रण अथवा छिद्र रहित, निस्तुष (छिलका या पतले परत से रहित), कसौटी पर घिसने से और अधिक स्वच्छ दिखाई देने वाली तथा सूर्यकिरणों के स्पर्श (सम्पर्क) से अग्नि उत्पन्न करने वाली सूर्यकान्त मणि उत्तम कोटि की मानी जाती है।[1]

सूर्यकान्त का परीक्षण—जो सूर्यकान्त मणि सूर्यकिरणों के स्पर्श से (सूर्य-प्रकाश को केन्द्रित करने पर) अग्नि उत्पन्न करके उसके आगे रखी हुई वस्तु (कागज, रूई तिनका आदि) को जला दे उसे उत्तम समझना चाहिए।[2]

सूर्यकान्त का शोधन—इसके शोधन-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

सूर्यकान्त का मारण—सर्वप्रथम इसे लोहे के इमामदस्ते में कूटकर चूर्ण कर लें। अब एक अच्छे पत्थर के खरल में शुद्ध मनःशिला एवं शुद्ध गन्धक, प्रत्येक सूर्यकान्त के समान भाग में मिला जल से घोंटकर चक्रिका बना-सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में क्रमशः सात बार पुट दे देने से सूर्यकान्त का भस्म बन जाता है।[3]

सूर्यकान्त भस्म की मात्रा—$\frac{1}{2}$ से १ रत्ती पर्यन्त।

अनुपान—शहद।

सूर्यकान्त भस्म के गुण-कर्म—यह गुण एवं वीर्य में उष्ण है। कर्म की दृष्टि से यह रसायन एवं मेध्य तथा वात एवं श्लेष्महर है। इसके धारण एवं पूजन से सूर्य प्रसन्न होते हैं।[4]

चन्द्रकान्त
(Moon stone)

वर्ग—उपरत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : चन्द्रकान्त। हिन्दी : चन्द्रकान्त। अंग्रेजी : Moon stone।

---

१. (क) शुद्धः स्निग्धो निर्व्रणो निस्तुषोऽन्तर्यो निर्घृष्टोऽत्यन्तनैर्मल्यमेति।
यः सूर्यांशुस्पर्शनिष्ठ्यूतवह्निर्जात्यः सोऽयं कथ्यते सूर्यकान्तः' ॥
(आ० प्र० ५।१४१)

(ख) विमलो निस्तुषः स्निग्धो घृष्टो व्योम सुनिर्मलः।
मसृणो निर्व्रणश्चैव जात्यः सूर्योपलः स्मृतः' ॥ (र० त० २३।१८३)

२. 'वस्तुः सूर्यांशुसंस्पृष्टः प्रसूते दहनप्रभाम्।
स एक जात्यः कथितः सूर्यकान्तः परीक्षकैः' ॥ (र० त० २३।१८४)

३. 'सूर्यकान्तः सुसम्पिष्टः शिलाबलिसमन्वितः।
सप्तधा पुटितौ यत्नान्म्रियते नात्र संशयः' ॥ (र० त० २३।१८६)

४. (क) 'रविकान्तो भवेदुष्णो निर्मलश्च रसायनः।
वातश्लेष्महरो मेध्यः पूजनाद्रवितुष्टिदः' ॥ (र० र० स० ४।१)

(ख) 'सूर्यकान्तो मतो मेध्य उष्णश्चैव रसायनः।
बलासवातशमनो विशेषेण च कीर्तितः' ॥ (र० त० २३।१८५)

Scanned with CamScanner

रासायनिक सूत्र—$K\ Al\ Si_3\ O_8 / Na\ Al\ Si_2\ O_8$

आपेक्षिक घनत्व—२.६। **काठिन्य**—६।

पर्याय—चन्द्रकान्त, चन्द्रमणि, चन्द्रोपल, शशिकान्त, इन्दुकान्त, चन्द्राश्म, चन्द्रजोपल, शीतात्मा, चन्द्रिका द्राव, संस्रवोपल।[1]

इतिहास—ज्योतिष ग्रन्थ बृहत्संहिता (५वीं शती) से इसका उल्लेख मिलता हैं। रसग्रन्थों में सर्वत्र इसका गुण-धर्म सहित विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

परिचय—यह नीलाभ श्वेत वर्ण का पाषाण रत्न है। चन्द्रमा के प्रकाश में इसकी चमक जल का आभास कराती है। इसके खनिज को पार्थाइट (Parthite) कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से यह पोटेशियम, सोडियम, सिलिका, एल्युमीनियम और ऑक्सीजन का यौगिक होता है। चन्द्रमा के प्रकाश में यह अत्यन्त सुन्दर आह्लादकारक लगता है। प्राचीन साहित्यकारों ने रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश में इसके पसीजने की बात कही है, जो अतिशयोक्तिपूर्ण है।

प्राप्ति-स्थान—यह श्रीलंका, वर्मा तथा मेडागास्कर से प्राप्त होता हैं।

भेद—इसके कोई भेद नहीं मिलते।

उत्तम एवं ग्राह्य चन्द्रकान्त—स्पर्श में स्निग्ध (चिकनी) एवं शीतल, पीले वर्ण की, आह्लादकारक, भीतर से स्वच्छ भासने वाली, चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से जल का स्राव करने वाली चन्द्रकान्त मणि श्रेष्ठ होती है।[2]

चन्द्रकान्त का शोधन—इसकी शोधन विधि का उल्लेख नहीं मिलता है।

चन्द्रकान्त का मारण—चन्द्रकान्त को प्रथम लोहे के इमामदस्ते में कूटकर चूर्ण कर लें। अब इसमें समान भाग शुद्ध हिंगुल तथा शुद्ध मनःशिला मिला कर कुमारी स्वरस से पीस कर चक्रिका बना-सुखा सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक देने से इसका भस्म बन जाता है।[3]

---

१. (क) 'इन्दुकान्तश्चन्द्रकान्तश्चन्द्राश्मा चन्द्रजोपलः।
शीतात्मा चन्द्रिकाद्रावः शशिकान्तश्च सप्तधा' ॥ (आ० प्र० ५।१४२)

(ख) 'चन्द्रकान्तश्चन्द्रमणिस्तथा चन्द्रोपलह्वयः।
शशिकान्तश्चेन्दुकान्तः स एव परिकीर्तितः' ॥ (र० त० २३।१८७)

२. (क) 'स्निग्धं शीतं पीतमत्रासमन्तर्धत्ते चित्ते स्वच्छतां यत्पुनीनाम्।
यच्च स्रावं याति चन्द्रांशुसङ्गाज्जात्यं रत्नं चन्द्रकान्ताख्यमेतत्' ॥
(आ० प्र० ५।१४४)

(ख) 'यन्निर्मलं सुमसृणं शिशिरं च पीतं स्निग्धं परं सुविशदं परमं पवित्रम्।
स्रावं स्रवत्यथ परं तुहिनांशुसङ्गा चन्द्रोपलं खलु तदेव मतं तु जात्यम्' ॥
(र० त० २३।१८८)

३. 'कुनटीहिङ्गुलोपेतः कन्यानीरेण पेषितः।
चन्द्रकान्तः सुपुटितो म्रियते नात्र संशयः' ॥
(र० त० २३।१९०)

चन्द्रकान्त भस्म की मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद।

चन्द्रकान्त भस्म के गुण-कर्म—यह वीर्य एवं गुण में शीत है। यह रक्तपित्त, ज्वर एवं दाह नाशक है। इसके धारण से दरिद्रता का नाश होता है।[1] शिव के लिए इसे प्रिय कहा गया है। यह चन्द्रग्रह बाधा नाशक है।

राजावर्त्त
(Lapis Lazuli)

वर्ग—उपरत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : राजावर्त। हिन्दी : लाजवर्द। अंग्रेजी : Lapis Lazuli/ Ultra marine.

रासायनिक सूत्र—$Na_4\ (\ NaS_3\ Al\ )\ Al_2\ (\ SiO_4\ )_3$

आपेक्षित घनत्व—२.३८ से २.४५। **काठिन्य**—५.५।

पर्याय—राजावर्त्त, नृपावर्त्त, आवर्त्तमणि, नृपोपल, नीलाश्मा, राजन्यावर्त्तक आवर्त्त।[2]

इतिहास—संहिता-ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है। ५वीं शती के बृहत्संहिता एवं तत्पश्चात् के रसग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।

परिचय—यह चमकदार गहरे नीले रंग (Royal blue colour) का खनिज पाषाण है। इसे काट-छाँट कर धारण योग्य बनाया जाता है। इसके खनिज को Lasurite कहते हैं। यह खनिज, सोडियम (Sodium), गन्धक (Sulphur), एल्युमीनियम (Aluminium), सिलिकॉन (Silicon) तथा ऑक्सीजन का यौगिक होता है। इसके खण्ड निश्चित आकार के होते हैं। ताप की स्थिति में इसका रंग बदल जाता है। इसे शनिग्रह को प्रसन्न करने के लिए धारण किया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—यह पर्सिया, तुर्कीस्तान, अफगानिस्तान, रूस, जर्मनी, वर्मा आदि देशों तथा भारत के अजमेर (राजस्थान) तथा कश्मीर आदि क्षेत्रों से प्राप्त होता है।

---

१. (क) 'शिशिरश्चन्द्रकान्तस्तु स्निग्धः पित्तास्रतापनुत्।
शिवप्रीतिकरः स्वच्छो ग्रहालक्ष्मीविनाशनः' ॥ (र० र० स० ४।३)

(ख) 'चन्द्रकान्तोऽतिशिशिरः स्निग्धः पित्तापहः परम्।
रक्तपित्तप्रशमनस्तथा दाहनिषूदनः' ॥
(र० त० २३।१८९)

२. (क) 'राजावर्त्तो नृपावर्त्तो राजन्यावर्तकस्तथा।
आवर्तमणिरावर्तः स्यादित्येष शराह्वयः' ॥ (आ० प्र० ५।१४५)

(ख) 'राजावर्त्तो नृपावर्त्त आवर्तमणिरित्यपि।
नृपोपलश्च नीलाश्मा स एव परिकीर्तितः' ॥ ('र० त० २३।१९१)

Scanned with CamScanner

भेद—आकृति के आधार पर यह दो प्रकार का होता है। यथा—१. चूर्ण रूप तथा २. गुलिका (गुटिका) स्वरूप।[1]

वर्ण के आधार पर यह ३ प्रकार का होता है; यथा—१. रक्तवर्ण, २. नीलवर्ण तथा ३. मिश्रित वर्ण।[2]

ग्राह्य राजावर्त्त के लक्षण—किञ्चित् रक्तवर्ण सहित नीले वर्ण का चमकदार, भारी तथा स्निग्ध **राजावर्त्त श्रेष्ठ होता है**।[3] स्वच्छ, चमकीला, मलरहित, स्निग्ध, शरत्कालीन **बादल रहित आकाश** की तरह स्वच्छ, सुन्दर, नीलवर्ण वाला, कृष्ण, भारवान् **और मयूरकण्ठ के समान** प्रकाश वाला राजावर्त्त श्रेष्ठ होता है।[4]

राजावर्त्त का शोधन—नींबू स्वरस, गोमूत्र और यवक्षार के मिश्रण अथवा शिरीष पुष्प स्वरस और आर्द्रक स्वरस के मिश्रण द्वारा राजावर्त्त के चूर्ण को १-१ प्रहर तक २ से ३ बार दोलायन्त्र विधि द्वारा स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है[5]।

राजावर्त्त का मारण—राजावर्त्त का सूक्ष्म चूर्ण कर उसमें समभाग शुद्ध गन्धक मिला कर बिजौरा नींबू के स्वरस से मर्दन कर चक्रिका बना-सुखा शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। ऐसे सात गजपुट की अग्नि देने से राजवर्त्त का भस्म बन जाता है।[6]

राजावर्त्त की पिष्टि—राजावर्त्त के सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण को अच्छे पत्थर के खरल में गुलाबजल से ४-५ दिन तक मर्दन कर सुखा कर रख लें। इसे राजावर्त्त की पिष्टि कहते हैं।

भस्म/पिष्टि की मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, मक्खन, मलाई, घी तथा विविध योगों के साथ।

राजावर्त्त के गुण-कर्म—यह रस में कटु, तिक्त; वीर्य में शीत तथा गुण में स्निग्ध है। कर्म में दीपन, पाचन, वृष्य, बृंहण, रसायन तथा विषघ्न है। श्लेष्मा तथा पित्त-

१. 'एकश्चूर्णाकृतिर्ज्ञेयो द्वितीयो गोलकात्मकः'। (आ० क० क्रि० ८।१९६)
२. 'राजावर्त्तोऽल्परक्तोरुनीलिमामिश्रितप्रभः'। (र० र० स० ४।५)
३. 'गुरुश्च मसृणः श्रेष्ठस्तदन्यो मध्यमः स्मृतः'। (र० र० स० ४।५)
४. 'यन्निर्मलः सुमसृणः खलु गारशून्यः।
स्निग्धश्च शारदनिरभ्रनिभः सुनीलः।
कृष्णो गुरुश्च शिखिकण्ठसमप्रकाशो।
राजोपलः खलु स एव मतस्तु जात्यः'॥ (र० त० २३।१९२)
५. 'निम्बुद्रवैः सगोमूत्रैः सक्षारैः स्वेद्विताः खलु।
द्वित्रिवारेण शुद्धयति राजावर्तादिधातवः॥
शिरीषपुष्पार्द्ररसैः राजावर्त्तं विशोधयेत्'॥ (र० र० स० ४।७-८)
६. 'लुङ्गाम्बुगन्धकोपेतो राजावर्त्तो विचूर्णितः।
पुटनात्सप्तवारेण राजावर्त्तो मृतो भवेत्'॥ (र० र० स० ४।९)

नाशक है। यह प्रमेह, क्षय, अर्श, पाण्डु, मदात्यय, छर्दि, हिक्का एवं त्रिदोषनाशक है। इसके धारण करने से मनुष्य सौभाग्यशाली होता है।[1]

राजावर्त्त निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. ताप्यादि वटी, २. त्रैलोक्यतिलक रस, ३. भीमपराक्रम रस, ४. मेहहर रस, ५. रामबाण रस, ६. राजावर्तावलेह एवं संजीवन रस।

पेरोजक
(Turquoise)

वर्ग—उपरत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : पेरोजक। हिन्दी : पिरोजा। अंग्रेजी : **Turquoise.**

रासायनिक सूत्र—$(Cu\ OH) [Al (OH)_2]_6\ H_5 (PO_4)_4$

आपेक्षिक घनत्व—२.६१ से २.८९। **काठिन्य**—५ से ६।

पर्याय—पेरोजक, पेरोज, हरिताश्म, हरिन्मणि इत्यादि।

इतिहास—१६वीं शताब्दी के बाद के रस-ग्रन्थों (आनन्दकन्द तथा आयुर्वेदप्रकाश आदि) से इसका वर्णन उपलब्ध होता है। इससे पूर्व के आयुर्वेदीय अथवा ज्योतिष ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

परिचय—यह हरित-नील मिश्रित वर्ण का अपारदर्शक खनिज पाषाण रत्न है। यह विशेष चमकदार नहीं होता। सूर्य की गरमी तथा प्रकाश के सम्पर्क से इसका रंग विकृत हो जाता है। रासायनिक दृष्टि से यह एल्युमीनियम, लोहा एवं ताम्बे का फॉस्फेट होता है। किंचित् ताम्बे के अंश के कारण इसका वर्ण नीला तथा लोहे के कारण हरा होता है। यह हाइड्रोक्लोरिक एसिड में घुलनशील है। इसे काट कर गोल अथवा लम्बगोल आकार दिया जाता है। इसे स्वर्णाभूषणों में जड़ कर धारण करते हैं। यह केतु ग्रह को प्रसन्न करता है।

प्राप्ति—यह इरान, तुर्की, मैक्सिको, पर्सिया, मिश्र, अमेरिका आदि देशों में पाया जाता है।

भेद—पिरोजा के दो भेद मिलते हैं[2]—१. भस्मांग (राख के समान) तथा २. हरित (हरे रंग का)।

१. (क) 'प्रमेहक्षयदुर्नामपाण्डुश्लेष्मानिलापहः।
दीपनः पाचनो वृष्यो राजावर्त्तो रसायनः'॥ (र० र० स० ४।६).
(ख) 'राजावर्त्तः कटुः स्निग्धः शिशिरः पित्तनाशनः।
सौभाग्यं कुरुते नृणां भूषणेषु प्रयोजितः'॥ (आ० प्र० ५।१४६)
(ग) 'नृपोपलः कटुस्तिक्तो दीपनः पाचनस्तथा।
शिशिरः पित्तशमनो बृंहणोऽतिरसायनः॥
पाण्डुप्रमेहहरणः क्षयशोषनिबर्हणः।
मदात्ययात्ययकरश्छर्दिहिक्कानिवारणः'॥ (र० त० २३।१९९-२००)
२. 'पेरोजं हरिताश्मा च भस्माङ्गं हरितं द्विधा'। (आ० प्र० ५।१४८)

Scanned with CamScanner

पेरोजक का शोधन एवं मारण—पेरोजक का शोधन एवं मारण राजावर्त्त की तरह करना चाहिए।[1]

पेरोजक भस्म की मात्रा—½ से १ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, घी, मक्खन, मलाई आदि।

पेरोजक के गुण-कर्म—यह रस में मधुर एवं कषाय; वीर्य में शीत तथा गुण में शीत एवं सर होता है।

कर्म में यह दीपन, विषघ्न, शूलघ्न, हृद्य एवं सर है।

यह उदरशूल नाशक तथा स्थावर, जांगम एवं कृत्रिम सभी प्रकार के विष प्रभाव को नष्ट करने वाला तथा रेचक होता है।[2]

स्फटिक
(Pebal/Quartz/Rock crystal)

वर्ग—उपरत्न वर्ग।

नाम—संस्कृत : स्फटिक। हिन्दी : स्फटिक या बिल्लोरी पत्थर।
अंग्रेजी : Pebal, Quartz या Rock crystal.

रासायनिक सूत्र—SiO_2।

आपेक्षिक घनत्व—२.६५। **काठिन्य**—७।

पर्याय—स्फटिक, स्फाटिक, स्फटिकदृषत्, स्फाटीक, स्फटिकाश्म, स्फटिकोपल, शालिपिष्ट, धौतशिल, शिवरत्न, शिवप्रिय, सिद्धोपल, अमलमणि,[1] निर्मलोपल, सितोपल, स्वच्छ, स्वच्छमणि, निस्तुपरत्न, शिखिप्रिय।[4]

इतिहास—स्फटिकमणि का ज्ञान अत्यन्त प्राचीनकाल से है। चरक-सुश्रुत आदि संहिताओं में अनेक स्थलों पर इसके प्रयोग का सन्दर्भ मिलता है। तब से सतत इसका प्रयोग होता चला आ रहा है।

---

१. 'शोधनं मारणञ्चैव पेरोजस्य विशेषतः।
नृपोपलसमं ख्यातं रसतन्त्रविशारदैः'॥ (र० त० २३।२०९)

२. 'पेरोजं मुक्तपायं स्यान्मधुरं दीपनं सरम्।
स्थावरं जङ्गमं चैव संयोगाच्चापि यद्विषम्॥
तत्सर्वं नाशयेच्छीघ्रं मूलभूतादिदोषजम्'। (आ० प्र० ५।१४८-४९)

३. स्फटिकः स्फटिकञ्चैव स्फाटिकं स्फटिकदृषत्;
स्फाटीकं स्फटिकाश्मा च तथैव स्फटिकोपलः॥
शालीपिष्टं धौतशिलं शिवरत्नं शिवप्रियम्।
सितोपलोऽमलमणिः स एव परिकीर्तितः'॥ (र० त० २३।२११-१२)

४. 'स्फटिकं सितोपलं स्यादमलमणिनिर्मलोपलं स्वच्छम्।
स्वच्छमणिरमलरत्नं निस्तुपरत्नं शिखिप्रियं नवधा'॥
(आ० प्र० ५।१३६)

परिचय—यह रंगहीन, स्वच्छ, श्वेतवर्ण का अत्यन्त पारदर्शक पाषाण है। इसके मणिभ (Crystal) नियत आकार के (छः पहल, षट्कोण, शंक्वाकार) होते हैं। यह श्वेत वर्ण का होता है किन्तु कई बार रंगयुक्त भी मिलता है। रासायनिक दृष्टि से इसमें सिलिकान और ऑक्सीजन ये दो तत्त्व होते हैं। कुछ अन्य धातुओं के अंश की उपस्थिति से यह रंगीन दिखाई देता है। स्वच्छ स्फटिक को गार पत्थर भी कहते हैं। इस पत्थर से निर्मित शिवलिंग, पात्र, माला एवं मूर्तियाँ अत्यन्त प्रशंसनीय होती हैं। यह शिव को (प्रिय है) प्रसन्न करता है।

प्राप्ति-स्थान—यह विश्व में सर्वत्र पाया जाता है। भारत में यह जबलपुर, बाँदा, खम्भात आदि क्षेत्रों से प्राप्त किया जाता है।

ग्राह्य उत्तम स्फटिक—जो स्फटिक गङ्गाजल के समान स्वच्छ, अत्यन्त निर्मल, तुष (छिलका) रहित, नेत्रों के लिए सुखकर, स्निग्ध, भीतर से स्वच्छ तथा स्पर्श में शीत हो, घिसने, रगड़ने या तोड़ने पर भी जिसकी स्वच्छता बनी रहे, वह स्फटिक श्रेष्ठ होता है।[1]

स्फटिक का शोधन एवं मारण—स्फटिक का शोधन एवं मारण राजावर्त की तरह करना चाहिए।[2]

स्फटिक भस्म की मात्रा—२ से ४ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, मक्खन, मलाई आदि।

स्फटिक भस्म के गुण-कर्म—यह रस में मधुर; गुण एवं वीर्य में शीत तथा विपाक में मधुर होता है। कर्म में यह बल्य, ज्वरघ्न, दाह एवं रक्तपित्तघ्न है। यह बलकारक, अत्यन्त शीतल तथा रक्तपित्त, ज्वर एवं दाहनाशक होता है।[3]

स्फटिक भस्म निर्मित प्रमुख योग—१. इन्द्रोक्तरसायन, २. नागरसायन, ३. पित्तजतिमिरहराञ्जन, ४. सर्वनेत्ररोगहराञ्जन, ५. स्फटिक पिष्टि तथा ६. स्फटिक भस्म।

व्योमाश्म (संगेयशब)
(Jade)

नाम—संस्कृत : व्योमाश्म। हिन्दी : संगेयशब (हौलदिली)।
अंग्रेजी : Jade/Jadite.

---

१. 'यद्गङ्गातोयबिन्दुच्छवि विमलतमं निस्तुषं नेत्रहृद्यं।
स्निग्धं शुद्धान्तरालं मधुरमतिहिमं पित्तदाहास्रहारि।
पाषाणैर्यन्निघृष्टं स्फुटितमपि निजां स्वच्छतां नैव जह्या-
त्तज्जात्यं जात्वलभ्यं शुभमुपतनुते शैवरत्नं विचित्रम्'॥ (आ० प्र० ५।१३८)

२. 'शोधनं मारणञ्चैव शिवरत्नस्य सर्वदा।
राजावर्त्तमणेस्तुल्यं जानीयाद्रसकोविदः'॥ (र० त० २३।२१४)

३. 'स्फटिको मधुरो बल्यस्तुषारसमशीतलः।
रक्तपित्तप्रशमनो ज्वरदाहादिनाशनः'॥ (र० त० २३।२१५)

Scanned with CamScanner

रासायनिक सूत्र—$Na\ Al\ Si_2\ O_6$

आपेक्षिक घनत्व—३·३ । **काठिन्य**—७ ।

पर्याय—व्योमाश्म, यशवशिला, हरिन्मणि, हरिताश्म ।

इतिहास—प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता । यूनानी वैद्यक ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया गया है ।

परिचय—यह जैतूनी पीलापन लिये हरा (अंगूर के जैसा) अथवा हरापन लिये सफेद अथवा गाढ़े हरे रंग का अपारदर्शक एवं अत्यन्त कठिन पत्थर होता है । इससे निर्मित खरल पिष्टि बनाने के लिए उत्तम माना जाता है ।

प्राप्ति-स्थान—यह वर्मा, यारकन्द, तिब्बत, चीन, न्यूजीलैंड आदि देशों से तथा भारत के लद्दाख तथा कश्मीर से प्राप्त होता है ।

भेद—आधुनिक रत्नविज्ञान में इसके दो भेद बताये गये हैं—

१. प्रहरिज—Jadite (चीन से प्राप्त) ।

२. वृक्कज—Nephrite (न्यूजीलैण्ड से प्राप्त) ।

उत्तम व्योमाश्म—जैतून के रंग का (पीला हरा), अंगूर के रंग का, अत्यन्त कठिन तथा स्वच्छ व्योमाश्म श्रेष्ठ होता है ।

व्योमाश्म का शोधन—व्योमाश्म के छोटे-छोटे टुकड़े को प्रतप्त कर अर्जुन के क्वाथ, गुलाबजल या अर्क गाजवाँ में २१ बार बुझा लेने से शुद्ध हो जाता है ।

मारण—शोधित व्योमाश्म को अर्जुन त्वक् क्वाथ, गुलाबजल, अर्क गाजवाँ या घृतकुमारी के स्वरस की भावना देकर चक्रिका बना-सुखा शरावसम्पुट में बन्द कर १० से १२ गजपुट की अग्नि दे देने से सुन्दर श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है ।

व्योमाश्म पिष्टि—वस्त्रगालित व्योमाश्म के सूक्ष्म चूर्ण को अच्छे खरल में गुलाब जल डालते हुए ४-५ दिन तक खूब अच्छी तरह मर्दन कर लेने से व्योमाश्म की पिष्टी बन जाती है ।

व्योमाश्म भस्म एवं पिष्टि की मात्रा—

भस्म—२ से ४ रत्ती ।

पिष्टि—२ से ८ रत्ती ।

अनुपान—शहद, मक्खन, मिश्री, अर्जुन त्वक् क्वाथ, अर्क गुलाब, अर्क गाजवाँ या अर्क वेदमुश्क के साथ ।

व्योमाश्म के गुणकर्म—यह उत्तम हृद्य है । हृदय की दुर्बलता, धड़कन, उच्च रक्तचाप तथा निद्राल्पता आदि को दूर करता है । आन्त्रिक व्रणों में लाभकर है ।

यूनानी मत से—संगेयशब पहले दर्जे में शीत, दूसरे दर्जे में रूक्ष तथा हृदय और आमाशय को बल देने वाला है । हृद्दौर्बल्य, हृत्स्पन्दन, आमाशयशूल, आमाशय दौर्बल्य, प्रवाहिका, मूत्रदाह और अश्मरी में इससे लाभ मिलता है । यह आन्तरिक व्रणों को दूर करता है तथा रक्तस्राव को बन्द करता है ।

व्योमाश्म के कुछ प्रमुख योग—१. जवाहरमोहरावटी, २. ब्राह्मीवटी, ३. व्योमाश्म पिष्टि, ४. हृद्वेपनारि चूर्ण तथा ५. व्योमाश्म भस्म ।

तृणकान्त (कहरुवा)
(Amber)

वर्ग—उपरत्न वर्ग ।

नाम—संस्कृत : तृणकान्त, तृणकान्तमणि । हिन्दी : तृणकान्त ।
फारसी : कहरुवा । अंग्रेजी : Amber. लेटिन : Succinum.

रासायनिक सूत्र—$C_{40}\ H_{64}\ O_4$

आपेक्षिक घनत्व—१·१ । **काठिन्य**—२·५ ।

पर्याय—तृणकान्त, तृणकान्तमणि, तृणग्राहि ।

इतिहास—प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में अथवा निघण्टु-ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है । २०वीं शती के रसामृत (श्रीयादवजी त्रिकमजी) आदि ग्रन्थों तथा यूनानी वैद्यक-ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवरण मिलता है ।

परिचय—तृणकान्त अश्मीभूत वानस्पतिक राल (Fossil resin) है । यह गोंद के समान हलका पीला अथवा ललाई युक्त पीले रंग का स्वच्छ चमकदार तथा पारभासक होता है । इसका फारसी नाम कहरुवा है, जिसका शाब्दिक अर्थ—कह = सूखीघास तथा रुबा = खींचने (आकर्षित करने) वाला यानि सूखी घास को खींचने वाला, तदनुसार तृण = घास, कान्त = प्रिय अथवा आकर्षित करने वाला, संस्कृत नामकरण किया गया है । इसे गर्म कपड़े (ऊनी वस्त्र) पर खूब रगड़ कर सूखी घास के निकट ले जाने पर उसे अपनी ओर आकृष्ट कर (खींच) लेती है । कपड़े पर रगड़ने पर इसमें से नींबू की सुगन्ध आती है । यह कठिन किन्तु चाकू से काटने योग्य है । १७०° से २००° सें० ताप पर गर्म करने पर गर्म हो जाता है तथा २८०° से ३७५° सें० ताप पर पिघल जाती है । दियासलाई की लौ के निकट ले जाने पर यह जलने लगती है । शोभा के लिए आभूषणों में इसका उपयोग करते हैं ।

प्राप्ति-स्थान—विदेशों में यह वर्मा, इटली तथा रुमानिया से तथा भारत के त्रावणकोर, कच्छ और वाल्टिक समुद्र तथा निकोबार से प्राप्त होता है । तृणकान्त का शोधन अथवा मारण नहीं किया जाता है । इसका उपयोग केवल पिष्टि के रूप में करते हैं ।

तृणकान्त पिष्टि का निर्माण—तृणकान्त को गुलाबजल या अर्कगुलाब, अर्कंकेवड़ा अथवा अर्कचन्दन में से किसी एक से २-३ दिन खूब अच्छी प्रकार घोंट लेने से सूक्ष्म पाण्डुरवर्ण की पिष्टि बन जाती है ।

तृणकान्त पिष्टि की मात्रा—१ से २ माशा तक ।

अनुपान—मक्खन, मिश्री या शहद से ।

तृणकान्त पिष्टि के गुणकर्म—यह गुण में रूक्ष, शीत एवं श्लक्ष्ण तथा वीर्य में शीत होता है । कर्म में यह हृद्य, इन्द्रिय-प्रसादन, ग्राही तथा रक्तस्तम्भक है । यह उत्तम पित्तशामक है ।

Scanned with CamScanner

यह रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, रक्तष्ठीवन, हृद्दौर्बल्य तथा हृत्स्पन्दन में लाभकारी है। तृणकान्त की माला को धारण करने से गर्भस्राव का भय नहीं रहता है।

यूनानी मत से—कहरुवा अनुष्णशीत (मोतदिल), दूसरे दर्जे में रूक्ष, मन को प्रसन्न करने वाला, हृद्य, आन्त्र एवं आमाशय को बल देने वाला संग्राही तथा रक्त-स्तम्भक है। ताजे व्रण पर छिड़कने से रक्तस्राव को बन्द करता है।

तृणकान्त निर्मित प्रमुख योग—१. जवाहरमोहरा तथा २. ब्राह्मीवटी।

नवम अध्याय

सुधा-सिकता एवं क्षारद्रव्य प्रकरण

सुधावर्ग

सुधावर्ग के अन्तर्गत प्रायः करके चूने (Calcium) की प्रचुरता वाले द्रव्यों को शामिल किया गया है। इनमें खनिज एवं प्राणिज दोनों स्रोतों से प्राप्त होने वाले द्रव्य हैं। यथा—

१. सुधा (चूना)	५. मृगशृंग	९. समुद्रफेन
२. खटिका	६. शुक्ति	१०. कूर्मपृष्ठ
३. गोदन्ती	७. शंख	११. कुक्कुटाण्ड त्वक्
४. सफेद सुरमा	८. शम्बूक	१२. अजास्थि

सुधा (चूना) (Lime)

वर्ग—सुधा वर्ग।

नाम—संस्कृत : सुधा, चूर्ण। हिन्दी : चूना। अंग्रेजी : Lime/Calcium.

रासायनिक नाम—CaO. (चूने का पत्थर $CaCO_3$).

आपेक्षिक घनत्व—१·५५।

पर्याय—चूर्ण, चूर्णक, सुधा, सौधविलेपन, शिलाक्षार।[1]

परिचय—यह खनिज रूप में चूने के पत्थर (Lime stone) के नाम से प्राप्त होता है। चूने के पत्थर अथवा शंख, शुक्ति, शम्बूक आदि को आग में पका देने से चूना बन जाता है।

प्राप्ति-स्थान—चूने का पत्थर खनिज रूप में भारत में सर्वत्र पाया जाता है। शंख, शुक्ति, शम्बूक आदि समुद्र तथा बड़े-बड़े जलाशयों से प्राप्त होता है।

चूने का कल्प—चूर्णोदक (Lime water)।[2]

---

१. 'चूर्णं चूर्णकचूर्णन्तु सुधा सौधविलेपनम्।
तदैव च समाख्यातं शिलाक्षारं भिषग्वरैः'॥ (र० त० ११।२१५)

२. 'रक्तिद्वयोन्मितं चूर्णं पञ्चतोलकसम्मिते।
जले विनिक्षिपेत्प्राज्ञस्त्रियामं स्थापयेद् बुधः॥
ततः सारकपत्रेण सारयेत्काचपात्रके।
चूर्णोदकमिति ख्यातं तथैव च सुधोदकम्॥
चूर्णोदकं दृढहरित्काचकूप्यां निधापयेत्।
तथातिसंयतेनेह पिधानेन निरोधयेत्'॥ (र० त० ११।२१६-१८)

Scanned with CamScanner

२ रत्ती साफ चूने की डली (बिना बुझा हुआ) को ५ तोला परिश्रुत (Distilled water) में डालकर १२ घण्टे तक छोड़ दें। अब इसे फिल्टर पेपर से छानकर काँचपात्र में रख लें। इसे हरे रंग की बोतल में अच्छी तरह डाट लगाकर रख लें।

चूर्णोदक की मात्रा[1]—१ वर्ष तक के बच्चों को ३० से ६० बूंद तक।

पूर्ण मात्रा—२ तोला।

चूर्णोदक के गुणकर्म—चूर्णोदक बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग में कृमिनाशक और अतिसारशामक है। यह अम्लपित्त में लाभकारी है। जिन बच्चों को दूध न पचता हो उन्हें दूध में मिलाकर या अलग से चूर्णोदक पिलाने से दूध पचने लगता है। यह उदरशूल तथा ग्रहणी में लाभकारी है। गन्धक द्राव के विषैले प्रभाव को नष्ट करता है।[2]

चूर्णोदक के कुल्ले करने से मुखपाक (मुँह के छाले) ठीक हो जाते हैं। ५ से १० तोला चूर्णोदक का एनीमा देने से स्थूलान्त्र के कृमि नष्ट होते हैं। चूर्णोदक को समभाग नारियल और अलसी तैल में धीरे-धीरे डालते हुए एक काँच की छड़ से खूब हिलाते जायें तो श्वेत वर्ण का गाढ़ मिश्रण (Emulsion) बन जाता है। इसे शीशी में भर लें तथा अग्निदग्ध स्थान पर इसका लेप करने से दाह की शान्ति होती है।

चूना, शहद अथवा गुड़ का लेप कमर अथवा घुटने आदि के दर्द में लाभ करता है। चूना अण्डे की सफेदी और शहद को खूब फेंटकर कपड़े पर लगाकर पट्टी के रूप में चोट-सूजन पर बाँध देने से लाभ होता है।

खटिका
(Chalk/Pipe clay)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : खटिका। हिन्दी : खड़िया मिट्टी।
अंग्रेजी : Chalk या Pipe clay.

काठिन्य—१।

पर्याय—खटिका, खटिनी, खटी, लेखनमृत्तिका, कठिनी, कठिनिका, वर्णिका, वर्णलेखिका।[3]

१. 'आरभ्य त्रिंशद्बिन्दुभ्यः षष्टिबिन्दुमितं परम्।
चूर्णोदकं प्रयुञ्जीत वापिकैकस्तनन्धये॥
चूर्णोदकस्य सुखदा तोलकद्वयसम्मिता।
पूर्णमात्रा समाख्याता रसतन्त्रविशारदैः' ॥ (र० त० ११।२२१-२२)

२. 'चूर्णोदकं कृमिहरमतीसारहरं परम्।
अम्लपित्तप्रशमनं विशेषाद्दग्धपाचनम्॥
शूलं ग्रहणिकां हन्ति खटीवद् गुणकारकम्।
द्रावकाशनसम्भूतां निहन्ति च विषक्रियाम्' ॥ (र० त० ११।२१९-२०)

३. 'खटिका खटिनी चैव खटी लेखनमृत्तिका।
कठिनी वै कठिनिका वर्णिका वर्णलेखिका' ॥ (र० त० ११।२२०)

इतिहास—गन्धक के एक भेद रूप में सर्वप्रथम रसरत्नसमुच्चयकार ने (१३वीं शताब्दी) में इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। बाद के भावप्रकाश तथा आयुर्वेद-प्रकाश आदि ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। रसतरंगिणीकार ने इसका विस्तृत चिकित्सकीय उपयोग का वर्णन किया है।

परिचय—यह श्वेतवर्ण की स्वादहीन किन्तु सोंधी गंध वाली खनिज मृत्तिका है। इसका काठिन्य सबसे कम अर्थात् १ है। यह भंगुर होती है तथा जीभ पर चिपकती है।

भेद—इसके दो भेद किये गये हैं।[1] १. खटी (मलीन), २. गौर खटी (शुभ्र)। इसमें प्रथम भेद खटी मृदु कुछ मैली किन्तु गौर खटी मृदु पाषाण सदृश (पिण्ड स्वरूप) अधिक श्वेत तथा भारी होती है।

खटिका का शोधन—खड़िया को चूर्ण कर एक पात्र में शुद्ध जल में अच्छी तरह घोलकर वस्त्र से छानकर कुछ काल तक (३-४ घंटे) स्थिर छोड़ दें। बाद में ऊपर का जल निथार कर निकाल दें तथा नीचे बैठी खड़िया मिट्टी को सुखा कर शुद्ध खटिका प्राप्त कर लें।[2]

मात्रा—½ से १ माशा। **अनुपान**—जल।

खटिका के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त एवं मधुर तथा गुण में शीत है। यह शोथघ्न, पित्तघ्न, तथा व्रणरोपण है। कफ, दाह, रक्तदोष तथा नेत्ररोग नाशक होती है। यह हरे रंग के अतिसार में लाभकारी है तथा पसीना एवं अन्य स्रावों को रोकने वाली होती है।[3]

खटिका-निर्मित प्रमुख योग—१. खटिकादि पेया, २. दशनसंस्कार चूर्ण एवं ३. मुग्ध रस।

गोदन्ती
(Gypsum)

वर्ग—सुधा वर्ग।

नाम—संस्कृत : गोदन्ती। हिन्दी : गोदन्ती। अंग्रेजी : Gypsum.

रासायनिक नाम—Calcium sulphate।

१. 'खटी गौरखटी चेति द्विधाऽद्या मलिना स्मृता।
मृदुपाषाणसदृशा खटी शुभ्राऽधिका गुरुः' ॥ (आ० प्र० २।२६४-६५)

२. 'खटीचूर्णं शुद्धपात्रे निधाय विमले जले।
प्रक्षालयेद्विधानज्ञो विशुद्धयति न संशयः' ॥ (र० त० ११।२१०)

३. 'खटिका शिशिरा तिक्ता मधुरा शोथनाशिनी।
पित्तदाहशमनी कामं विविधव्रणरोपणी॥
कफदाहास्रदोषघ्नी नेत्रामयनिषूदिनी।
हरिद्वर्णातिसारघ्नी स्वेदादिस्रावहारिणी' ॥ (र० त० ११।२११-१२)

Scanned with CamScanner

रासायनिक सूत्र—$CaSO_4\ 2H_2O$

काठिन्य—२। **आपेक्षित घनत्व**—२.४।

पर्याय—गोदन्तिका, गोदन्ता, गोदन्त, श्वेता।[1]

इतिहास—आयुर्वेदिक औषधियों में इसका उपयोग २०वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ है। इससे पूर्व इसका उल्लेख आयुर्वेदीय ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

परिचय—यह श्वेत, चमकदार, पारदर्शक एवं मृदु पाषाण खनिज है। इसकी स्थूल परतदार रचना होती है तथा छोटे-बड़े टुकड़ों के रूप में बाजार में उपलब्ध होता है। यह चूना (Calcium) तथा (Sulphuric acid) का यौगिक है। कुछ लोग इसे गोदन्ती हरताल कहते हैं, किन्तु यह हरताल का कोई भेद नहीं है।

भेद—इसका कोई भेद उपलब्ध नहीं होता है।

ग्राह्य स्वरूप—गोदन्ती पत्राकृति (आपस में मिले हुए अनेक पतले-पतले पत्रों से बना हुआ) बाहर से चिकना एवं देखने में शरत्कालीन चन्द्रमा के समान श्वेत चमकीला होता है। इसे ही ग्राह्य माना जाता है।[2]

प्राप्ति-स्थान—भारत में यह राजस्थान (बीकानेर के पास लूणकरणसर तथा जोधपुर) तथा गुजरात के सौराष्ट्र (जामनगर) क्षेत्र में पाया जाता है।

गोदन्ती का शोधन—गोदन्ती के छोटे-छोटे टुकड़े को पोट्टली में बाँध नीम्बू स्वरस में या द्रोणपुष्पी स्वरस में १½ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[3] अथवा गर्म जल से खूब अच्छी तरह धो डालने से शुद्ध हो जाता है।

गोदन्ती का मारण—१. शुद्ध गोदन्ती के छोटे-छोटे टुकड़ों को शरावसम्पुट में बन्द कर साधारण पुट दे देने से सुन्दर श्वेत वर्ण का भस्म बन जाता है।[4]

२. गोदन्ती को चूर्ण कर कुमारी स्वरस या निम्बपत्र स्वरस से १ दिन पर्यन्त अच्छी तरह मर्दन कर चक्रिका बना-सुखा शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक देने से सुन्दर श्वेत वर्ण का भस्म बन जाता है।[5]

---

१. 'गोदन्तिका च गोदन्ता गोदन्तं कथ्यते बुधैः।
तत्तु पाषाणजातीयं सौम्यं तालसमं न तत्' ॥ (र० त० ११।२३७)

२. 'पत्राचितं सुमसृणं शरदिन्दुसुनिर्मलम्।
दीप्तप्रभं तु गोदन्तं ग्राह्यमत्र प्रकीर्तितम्' ॥ (र० त० ११।२३८)

३. 'गोदन्तं निम्बुनीरेण द्रोणपुष्पीरसेन वा।
यामार्द्धेनैव सुस्विन्नं विशुद्धयति न संशयः' ॥ (र० त० ११।२३९)

४. 'शरावसम्पुटान्तःस्थं गोदन्तं सुविशोधितम्।
म्रियते पुटितं भस्म जायते शशिसुन्दरम्' ॥ (र० त० ११।२४०)

५. 'शुद्धगोदन्तिजं चूर्णं कुमारीस्वरसैर्दिनम्।
निम्बपत्ररसैर्वाऽपि मर्दितं कृतचक्रिकम् ॥
शुष्कं गजपुटे पक्वं श्वेतवर्णं प्रजायते' ॥ (रसामृत ५।५-६)

गोदन्ती भस्म की मात्रा—१ से ३ रत्ती (रसतरंगिणी)। १ से २ माशा (रसामृत)।

अनुपान—मधु, मिश्री, दूध या गोघृत।

गोदन्ती भस्म के गुणकर्म—यह गुण में शीत है तथा पित्तज्वर को नष्ट करता है। जीर्णज्वरहर, वल्य, दीपन तथा श्वासकासनाशक है।[1] यह शिरःशूल, ज्वर, क्षय, कास, पाण्डुरोग, उरःक्षत, बालशोष और श्वेतप्रदर में विशेष लाभकारी है।[2]

गोदन्ती भस्म-निर्मित प्रमुख योग—१. गोदन्ती भस्म, २. कालाग्निभैरव रस, ३. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, ४. बालपञ्चभद्र रस, ५. मुक्तादि वटी, ६. सुधापट्कयोग एवं ७. शंखद्रावक रस (सामान्य एवं बृहत्)।

श्वेताञ्जन (सफेद सुरमा)
(Calcite)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : श्वेताञ्जन। हिन्दी : सफेद सुरमा। फारसी : सुर्म ए सफेद। अंग्रेजी : Calcite.

परिचय—यह श्वेतवर्ण का चमकदार परतयुक्त, चिकना, कठिन तथा चतुष्कोणाकार स्फटिक के रूप में बाजार में सफेद सुरमा के नाम से मिलता है। यह केल्सियम तथा कार्बन का यौगिक (Calcium carbonate) है।

मारण—इसका बारीक चूर्ण कर घृतकुमारी के रस से मर्दन कर गजपुट की अग्नि में पका देने से श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है।

गुण-उपयोग—गोदन्ती भस्म की तरह इसका उपयोग करते हैं।

मृगशृंग
(Hart's Horn/Deer Horn)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : मृगशृंग। हिन्दी : हरिण सींग। अंग्रेजी : Hart's Horn/Deer Horn.

पर्याय[1]—मृगशृंग, एणशृंग, मृगविषाण, हरिणशृंग, विषाण।

इतिहास—अथर्ववेद में इसका उल्लेख मिलता है। सुश्रुत में मसि के रूप में

---

१. 'गोदन्तं सुमृतं शीतं पित्तज्वरनिषूदनम्।
जीर्णज्वरहरं वल्यं दीपनं श्वासकासनुत्' ॥ (र० त० ११।२४१)

२. 'गोदन्तभस्मशिशिरं शिरःशूलनिवारणम्।
ज्वरे क्षये तथा कासे पाण्डुरोगे ह्युरःक्षते ॥
शस्यते बालशोषे च प्रदरे श्वेतवर्णके' ॥ (रसामृत ५-७)

३. 'मृगशृङ्गं त्वेणशृङ्गं तथा मृगविषाणकम्।
हरिणशृङ्गकञ्चैव समाख्यातं भिषग्वरैः' ॥ (र० त० १२।१०३)

Scanned with CamScanner

इसका प्रयोग किया गया है। मध्य काल के बाद अनेक औषधि योगों में इसका प्रयोग हुआ है।

परिचय—यह हरिणजातीय वन्य पशु (बारहसिंघा) का शृंग (सींग) है।

ग्राह्य मृगशृंग—घुनरहित, लम्बा, छोटे-छोटे शृंग से युक्त, भारयुक्त, दृढ़ शृंग भस्म-निर्माण हेतु लेना चाहिए।[1] खोखला तथा घुन अथवा कीट खादित त्याज्य है।

मृगशृंग का मारण—मृगशृंग को आरी से काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें। अब इसे आग में डालकर जला दें। अच्छी तरह जल जाने पर इसे खरल में डाल कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें तथा अर्क दुग्ध की भावना देकर चक्रिका बना-सुखा शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इस प्रकार अर्क दुग्ध की भावना देते हुए ३ पुट देने से मृगशृंग का भस्म तैयार हो जाता है।[2] भस्म का वर्ण काला होता है। मृगशृंग को खुली हवा में अच्छी प्रकार जला कर कुमारी स्वरस की भावना देते हुए ४-५ गजपुट की अग्नि दे देने से मृगशृंग का श्वेत भस्म बन जाता है।

मृगशृंग भस्म की मात्रा—१ से २ रत्ती तक।

अनुपान—शहद, घी, दुग्ध, नवनीत आदि।

मृगशृंग भस्म के गुण-कर्म[3]—हृच्छूल, पार्श्वशूल, कास, श्वास एवं प्रतिश्याय-हर है। यह कफनिःस्सारक होता है।

मृगशृंग को जल से घिसकर सिर पर लेप करने से शिरःशूल में तत्क्षण लाभ होता है।

मृगशृंग-निर्मित प्रमुख योग—१. कन्दर्पसुन्दर रस, २. जवाहरमोहरा वटी, ३. ज्वरांकुश रस, ४. ग्रहणीवज्रकपाट रस, ५. त्रिनेत्र रस, ६. बालार्क रस तथा ७. सर्वेश्वर रस आदि।

---

१. 'कीटानुपहतं दीर्घं भाराढ्यं सुदृढं तथा।
अनेकशृङ्गसंयुक्तं मृगशृङ्गं वरं मतम्' ॥ (र० त० १२।१०४)

२. 'मृगशृङ्गं समादाय करपत्रेण कर्तयेत्।
खण्डशः कारयित्वा च त्वङ्गाराग्नौ दहेत्ततः ॥
सुदग्धञ्चाथ विज्ञाय खल्वे सञ्चूर्णयेद्भिषक्।
रविदुग्धेन सम्पेष्य चक्रिकाः कारयेत्ततः ॥
शरावसम्पुटान्तःस्थं पुटेत्तीव्राग्निना भिषक्।
त्रिवारं पुटनादेणविपाणं मृत्तिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० १२।१०५-१०७)

३. 'मृगशृङ्गसमुद्भूता विभूतिर्गव्यसर्पिषा।
विनाशयेत् क्षणादेव हृच्छूलमतिदारुणम् ॥
हरिणविषाणसमुत्था भूतिः क्षौद्रेण रक्तिमिता।
अपहरतीह निकामं हृच्छूलं पार्श्वशूलञ्च' ॥ (र० त० १२।१०८-१०९)

शुक्ति (मुक्ताशुक्ति/जलशुक्ति) (Pearl Oyster/Pearl Mother/Oyster)

Mollusca

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : शुक्ति। हिन्दी : सीप। अंग्रेजी : Oyster/Pearl oyster/Pearl Mother.

पर्याय—शुक्ति, शुक्तिका, मुक्तामाता, मुक्तागृह, महाशुक्ति, मौक्तिकप्रसवा, मुक्ता-शुक्ति, मुक्तागेह, मौक्तिकमन्दिर,[1] अब्धिमण्डूकी, मुक्ताप्रसू, मुक्तास्फोटा।[2]

जलशुक्ति—वारिशुक्ति, कृमिभू, क्षुद्रशुक्तिका, शम्बूक, जलडिम्ब, पुटिका, तोय-शुक्ति।[3]

इतिहास—शुक्ति का प्रयोग चरक एवं सुश्रुत के काल से होता चला आ रहा है। अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय में अम्लपित्त, ग्रहणी तथा शूल आदि रोगों में इसका उपयोग द्रष्टव्य है। रसार्णव एवं रसरत्नाकर में इसे शुक्ल वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है।

परिचय—यह मोलस्कजातीय प्राणी का आवरण (Kind of shell fish) है। यह अन्दर से श्वेत (रजत सदृश), इन्द्रधनुषी रंगों से युक्त भासती है, किन्तु बाहर का पृष्ठभाग मटमैला, धूसर, कृष्ण अथवा काई के वर्ण से युक्त होता है, जिसे खुरच देने पर श्वेत हो जाता है। मूलरूप में दो शुक्तियुग्म आपस में इस प्रकार जुड़े होते हैं कि सम्पुट जैसी रचना बनती है। इसमें पलने वाला प्राणी इसी सम्पुट के अन्दर निवास करता है। आकृति में यह गोल तस्तरी जैसी, लम्बगोल, चम्मच की आकृति वाली, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि विविध रूपों में उपलब्ध होती है। बड़े आकार तथा खड़े किनारे वाली शुक्ति में कई छिद्रयुक्त रचना होती है। यह छोटी-बड़ी आकृति की विविधता से पूर्ण होती है। अधिकतर यह कम गहराई वाले छिछले समुद्र तथा बड़े-बड़े जलाशयों में पायी जाती है।

प्राप्ति-स्थान—समुद्र तथा बड़े जलाशय।

शुक्तिभेद—शुक्ति के दो भेद किये गये हैं—१. मुक्ताशुक्ति एवं २. जलशुक्ति।

शुक्ति का शोधन[4]—शुक्ति को दोलायन्त्र विधि से जयन्ती (अरुणी) स्वरस

---

१. 'शुक्तिश्च शुक्तिका चापि मुक्तामाता तथैव च।
मुक्तागृहं महाशुक्तिर्मौक्तिकप्रसवा च सा ॥
मुक्ताशुक्तिस्तथा मुक्तागेहं मौक्तिकमन्दिरम्'। (र० त० १२।६४-६५)

२. 'शुक्तिर्मुक्ताप्रसूश्चैव महाशुक्तिश्च शुक्तिका।
मुक्तास्फोटोऽब्धिमण्डूकी मौक्तिकप्रसवा च सा' ॥
ज्ञेया मौक्तिकसूर्मुक्तामाता मौक्तिकमन्दिरम्' ॥ (आ० प्र० २।३२६)

३. 'जलशुक्तिर्वारिशुक्तिः कृमिभूः क्षुद्रशुक्तिका।
शम्बूका जलडिम्बश्च पुटिका तोयशुक्तिका' ॥ (आ० प्र० २।३२८)

४. 'जयन्त्याः स्वरसेनैव शुक्तिं दोलागतां पचेत्।
यामैकेनैव नियतं शुक्तिः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

Scanned with CamScanner

अथवा किसी भी अम्ल द्रव (कांजी, नीम्बू आदि) में १ प्रहर (३ घण्टा) तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाती है।

शुक्ति का मारण—शुद्ध शुक्ति को छोटे-छोटे टुकड़े कर शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक देने से श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है।[1] (एक मिट्टी की छोटी हांडी में २५० ग्राम शुक्ति के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक किलो घृतकुमारी के गूदे के मध्य रखकर हांडी के मुख पर एक ढक्कन रखकर अच्छी तरह कपड़मिट्टी कर गजपुट की अग्नि में फूंक दें; स्वांगशीत होने पर निकाल कर नीम्बू के रस से अच्छी तरह शुक्ति का मर्दन कर चक्रिका बना-सुखा पुनः शरावसम्पुट कर गजपुट की अग्नि दें। इस प्रकार करने से शुक्ति का अत्यन्त कोमल उत्तम श्वेतवर्ण का भस्म बन जाता है)।

शुक्ति भस्म की मात्रा—२ रत्ती।

अनुपान—शहद, घी, दूध।

शुक्ति भस्म के गुण-कर्म—यह रस में कटु, विपाक में मधुर तथा गुण में स्निग्ध है। यह उदरशूल तथा हृच्छूल को शान्त करता है। यह रुचिकारक, दीपन, श्वास-रोगनाशक, मूत्रशर्करानाशक, प्लीहारोग तथा सब प्रकार के उदररोगों को शीघ्र नष्ट करती है।[2]

जलशुक्ति भस्म के गुण-कर्म—यह रस में कटु एवं गुण में स्निग्ध तथा दीपन, गुल्म एवं शूलनाशक है। यह विषदोष को नष्ट करने वाली रुचिकारक, पाचक तथा बलप्रद होती है।[3]

शुक्ति भस्म-निर्मित प्रमुख योग—(१. ग्रहणीशार्दूल रस) २. प्रवालपञ्चामृत रस, ३. महागन्धक, ४. लूताविषनाशक अगद, ५. बड़वानल रस, ६. विषमज्वरान्तक रस।

अम्लेन केनचिद्वापि दोलायन्त्रेण यत्नतः।
शुक्तिकां पाचयेद्धीमान् शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० १२।६५-६६)

१. 'शुक्तिकां खण्डशः कृत्वा सम्पुटस्थां ततः पुटेत्।
हिमकुन्देन्दुसङ्काशां शुक्तेर्भूतिं समाहरेत्' ॥ (र० त० १२।६७)

२ (क) 'मुक्ताशुक्तिः कटुः स्निग्धा श्वासहृद्रोगहारिणी।
शूलप्रशमनी रुच्या मधुरा दीपनी परा' ॥ (आ० प्र० २।३२७)

(ख) 'शुक्तिका शूलशमनी हृदामयविनाशिनी।
स्निग्धा रुच्या श्वासहरा दीपनी मधुरा मता ॥
अक्षिकाव्रणसङ्काशां नाशयेन्मूत्रशर्कराम्।
प्लीहानं नाशयत्याशु तथा च जठरामयान् ॥
रक्तिद्वयमिता मात्रा मुक्तागेहस्य कीर्तिता'। (र० त० १२।६८-७०)

३. 'जलशुक्तिः कटुः स्निग्धा दीपनी गुल्मशूलनुत्।
विषदोषहरा रुच्या पाचनी बलदायिनी' ॥ (आ० प्र० २।३२९)

शंख
(Conch Shell)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : शंख। हिन्दी : शंख। अंग्रेजी : Conch Shell।

रासायनिक सूत्र—$CaCO_3$

पर्याय—शंख, शंखक, कम्बु, त्रिरेख, समुद्रज, सुनाद, दीर्घनाद, (कंबोज)[1] क्षुद्र एवं शंखनक।[2]

इतिहास—वैदिक काल से शंख का उल्लेख मिलता है। महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में विविध शंखों (पाञ्चजन्य, देवदत्त आदि) का नामोल्लेख मिलता है। चरक ने जल-जन्तुओं के वर्ग (वारिशय—सूत्र २७) में इसका उल्लेख किया है तथा चिकित्सार्थ अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग किया है। सुश्रुत में भी अनेक स्थलों पर इसका चिकित्सार्थ प्रयोग हुआ है। रसार्णव ने इसे शुक्ल वर्ग के अन्तर्गत माना है। बाद के लगभग सभी रसग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

परिचय—'शंख' समुद्र में उत्पन्न होने वाले मोलस्कवर्गीय प्राणी का बाह्य कवच है, जिसके अन्दर प्राणी—शंखकीट पलता है। समुद्र की लहरों से यह जीवित अथवा मृत तटीय भागों पर आ जाता है। मछुये इसे एकत्र कर लेते हैं। जीवित शंख को उबलते पानी में डाल कर पका डालते हैं, जिससे अन्दर का प्राणी मृत हो सिकुड़ कर शंख के भीतरी दिवाल की पकड़ ढीली कर देता है, जिसे आसानी से बाहर निकाल लेते हैं तथा खा जाते हैं। बचा हुआ कठिन पृष्ठभाग शंख कहलाता है। समुद्र से प्राप्त शंख का बाहरी पृष्ठभाग हरी काई से आवृत होता है, जिसे घिस-खुरचकर साफ कर दिया जाता है। यह साफ कर लेने पर बिलकुल स्वच्छ, चमकदार, चन्द्रमा के समान श्वेत वर्ण का, स्निग्ध एवं भारी होता है। रासायनिक दृष्टि से यह केल्सियम और कार्बन का यौगिक होता है। आकृति एवं आकार-प्रकार की दृष्टि से यह अनेक प्रकार का होता है। हिन्दु मान्यता में इसे पवित्र समुद्र से निकला लक्ष्मी का भाई माना जाता है। पूजा में इसे रखा जाता है तथा इसे बजाया जाता है। इसके मुखाग्र को काट कर छिद्र करते हैं तब यह बजता है। कटे मुखाग्र को 'शंखनाभि' कहते हैं।

प्राप्ति-स्थान—समुद्र के तटीय भागों में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है।

शंख के भेद[3]—

(१) रचना की दृष्टि से यह दो प्रकार का होता है—१. दक्षिणावर्त (पूजनार्थ एवं श्रेष्ठ) एवं २. वामावर्त (सुलभ, मारणार्थ)। इसमें दक्षिणावर्त को उत्तम, लक्ष्मी-

---

१. 'शङ्खस्तु शङ्खकः कम्बुस्त्रिरेखश्च समुद्रजः।
सुनादो दीर्घनादश्च कम्बोजश्च प्रकीर्तितः' ॥ (र० त० १२।१)

२. 'शङ्खः समुद्रजः कम्बुः क्षुद्रः शङ्खनकः स्मृतः'। (आ० प्र० २।२५९)

३. 'द्विधा स दक्षिणावर्तो वामावर्तः शुभेतरः ॥
दक्षिणावर्तशङ्खस्तु पुण्ययोगादवाप्यते।

Scanned with CamScanner

सुख-सौभाग्यदायक तथा परम शुभ माना गया है, किन्तु यह दुर्लभ है। वामावर्त आसानी से उपलब्ध है तथा औषधि कार्य हेतु प्रशस्त है।

(२) आकृति की दृष्टि से यह दो प्रकार का है—१. शंख एवं २. क्षुद्रशंख।

शंख का शोधन—शंख के छोटे-छोटे टुकड़े कर पोट्टली में बाँध दोलायन्त्र विधि से जम्बीरी स्वरस में ४ प्रहर अथवा जयन्ती स्वरस अथवा तण्डुलीयक स्वरस अथवा काञ्जी में १ प्रहर तथा स्वेदन कर उष्ण जल से प्रक्षालन कर लेने से शंख शुद्ध हो जाता है।[1]

शंख का मारण—शुद्ध शंख के टुकड़ों को शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की अग्नि में फूंक देने से शंख का श्वेत भस्म बन जाता है।[2]

यदि इसे दुबारा कुमारी स्वरस की भावना देकर चक्रिका बना-सुखा कर गजपुट की अग्नि में पका लिया जाय तो उत्तम कोटि का श्वेत भस्म बन जाता है।

शुद्ध शंख को दहकते अंगारे पर रख कर जलावें। वह जलने पर लावा की तरह फूल जाता है। इसे पीसकर रख लें। यही श्वेतवर्ण का शंख भस्म होता है।

शंखभस्म की मात्रा—२ रत्ती।

अनुपान—निम्बू स्वरस या उष्ण जल।

शंख भस्म के गुण-कर्म—यह रस में कषाय, कटु एवं क्षारीय; गुण में लघु एवं शीत तथा वीर्य में शीत है। कर्म की दृष्टि से यह ग्राही, बल्य, लेखन तथा अग्नि-दीपक है। यह त्रिदोषघ्न, ग्रहदोष, दरिद्रता, क्षय, विष, क्षीणता और नेत्र के रोगों को

तिष्ठति यद्गृहेऽसौ वै स लक्ष्म्या भाजनं भवेत् ॥
दक्षिणावर्तशङ्खस्तु त्रिदोषघ्नः शुचिर्निधिः।
ग्रहालक्ष्मीक्षयक्ष्वेडक्षामताक्ष्यामयापहः' ॥ (आ० प्र० २।२५९-६१)

१. 'शङ्खन्तु खण्डशः कृत्वा पोट्टल्यां स्थापयेद्भिषक्।
दोलायन्त्रे चतुर्यामं पचेज्जम्बीरवारिणा ॥
जयन्त्याः स्वरसेनैव शङ्खं दोलागतं पचेत्।
यामैकं पाचयेदेव शुद्धिमायात्यनुत्तमाम् ॥
तण्डुलीयद्रवेणेह शङ्खं दोलागतं पचेत्।
यामैकं पाचनादेव शुद्धिमायात्यनुत्तमाम् ॥
काञ्जिकेन पचेच्छङ्खं दोलायन्त्रे भिषग्वरः।
क्षालयेच्चोष्णतोयेन शङ्खः शुद्धिमवाप्नुयात्' ॥ (र० त० १२।६-१०)

२. 'शुद्धशङ्खस्य खण्डानि शरावे स्थापयेत्सुधीः।
शरावेण पिधायाथ यत्नात्सन्धिं प्रलेपयेत् ॥
आतपे त्वथ संशोष्य पुटेद् गजपुटे भिषक्।
स्वतःशीतं समुद्धृत्य खल्वे सञ्चूर्णयेद्भिषक् ॥
चूर्णितञ्चाथ विज्ञाय सम्पुटस्थं ततः पुटेत्।
एवं पुटद्वयेनैव शङ्खको मृतिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० १२।१७-१९)

नष्ट करता है। यह संग्रहणीनाशक, नेत्रपुष्पहर (आँख के फूले को काटने वाला), वर्ण के लिए उत्तम और युवानपिटिकाओं को नष्ट करने वाला होता है।[1]

यह अम्लपित्त, ग्रहणी, अतिसार, परिणामशूल एवं श्वास को नष्ट करता है।

शंख भस्म-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. अग्निकुमार रस, २. अग्निसंदीपन रस, ३. अपूर्वमालिनी वसन्त, ४. कफकेतु रस, ५. ग्रहणीकपाट रस, ६. प्रवालपञ्चामृत रस, ७. महाशंख वटी, ८. शंखभस्म तथा, ९. शंखद्राव।

शम्बूक
(Pila)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : शम्बूक। हिन्दी : घोंघा। अंग्रेजी : Pila.

रासायनिक सूत्र—$CaCO_3$

पर्याय[2]—क्षुद्रशंख, शंखनक, शम्बूक, स्वल्पशंख, क्षुल्लक, नखशंख आदि।

परिचय—यह मोलस्क (Mollusca) जाति का प्राणी है, जो नदी, तालाब, तथा झीलों में पाया जाता है। इसकी आकृति शंख से मिलती-जुलती है। किन्तु इसका कवच (जीव शरीर को ढकने वाला) पतला कठिन तथा कुण्डलित होता है। इस कठिन कवच की रचना में कैल्सियम कार्बोनेट ($CaCO_3$) होता है। मांसाहारी लोग इसके अन्दर के प्राणी को पकाकर खाते हैं तथा कवच को जलाकर चूना बना लेते हैं।

शम्बूक का शोधन—नीम्बू के रस अथवा किसी भी अम्ल द्रव में आधे प्रहर (१½ घंटे) तक शम्बूक के खण्डों को दोलायन्त्र विधि से स्वेदन कर लेने से शम्बूक शुद्ध हो जाता है।[3]

शम्बूक का मारण—शंख की तरह इसका मारण करते हैं। अथवा घृतकुमारी के गूदे में रखकर शरावसम्पुट कर गजपुट में पका लेने से इसका भस्म बन जाता है। भस्म का वर्ण श्वेत होता है।

१. (क) 'शङ्खः क्षारो हिमो ग्राही ग्रहणीरोगनाशनः।
नेत्रपुष्पहरो वर्ण्यस्तारुण्यपिटिकाप्रणुत्' ॥ (आ० प्र० २।२६२)
(ख) 'शङ्खः सुशीतलः क्षारस्त्वम्लपित्तविनाशनः।
अग्निमान्द्यहरो बल्यो ग्राही ग्रहणिकाहरः।
परिणामोत्थशूलघ्नस्तारुण्यपिडिकापहः।
विषदोषहरो वर्ण्यो मात्रा गुञ्जद्वयोन्मिता' ॥ (र० त० १२।२०-२१)

२. 'क्षुद्रशङ्खः शङ्खनकः शम्बूकः स्वल्पशङ्खकः।
क्षुल्लको नखशङ्खश्च नामान्येतानि शङ्खके' ॥ (र० त० १२।५७)

३. 'अम्लेन केनचिद्वापि कामं स्थालीगतं पचेत्।
यामार्द्धेनैव शम्बूकः शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० १२।५८)

Scanned with CamScanner

शम्बूक भस्म के गुण-कर्म—यह दीपन, पाचन, उदरशूलनाशक, नेत्ररोगहर तथा अतिसार को शान्त करने वाली होती है।[1]

शम्बूक भस्म की मात्रा—२ रत्ती।

अनुपान—निम्बू स्वरस एवं उष्ण जल।

समुद्रफेन
(Cuttle Fish Bone)

वर्ग—सुधावर्ग।

नाम—संस्कृत : समुद्रफेन। हिन्दी : समुद्रफेन।

पर्याय—समुद्रफेन, फेन, सफेन, फेनक, अब्धिफेन, डिण्डीर, अब्धिकफ।[2]

परिचय—यह केटल फिश बोन (Cuttle fish bone) के नाम से जाना जाता है। केटल फिश बोन समुद्र में पाये जाने वाले मत्स्यजातीय प्राणी का पृष्ठभाग है, जो प्राणी की मृत्यु के बाद अथवा ऐसे भी शरीर से छूट कर (पृथक् होकर) समुद्र की लहरों पर तैरता हुआ तटीय भाग तक आ जाता है, जिसे मछुआरे लोग एकत्र कर बेच देते हैं। यह समुद्र की लहरों पर तैरता हुआ फेन की तरह प्रतीत होता है, अतः इसे समुद्रफेन कहते हैं। यह स्थूल, चपटा नेत्राकार, लम्बे किनारे का अत्यन्त धारदार किन्तु भंगुर तथा मध्यभाग मोटा होता है। पृष्ठभाग किंचित् पाण्डुर, श्वेत तथा अन्तर्भाग निर्मल श्वेत वर्ण का होता है। नख से अन्तर्भाग खुरचने योग्य होता है। खुरचने पर श्वेत चूर्ण रूप का हो जाता है।

(समुद्री मछली की जाति का यह प्राणी लम्बा गोल शरीर वाला, पीठ कछुए की तरह कठिन चर्म वाला होता है। इसी पृष्ठभाग की अस्थि प्राणि के मृत होने पर शरीर से अलग होकर झाग की तरह समुद्र की लहरों पर तैरता हुआ समुद्र के किनार आ जाता है। समुद्र पर तैरता हुआ यह फेन की तरह प्रतीत होता है।[3] अतः इसे समुद्रफेन कहते हैं। यह श्वेत वर्ण का लम्बे पत्र की आकृति वाला होता है। इसका दोनों शिरा नुकीला तथा किनारा धारदार होता है। इसका पृष्ठ-

१. 'क्षुद्रशङ्खस्तु शूलघ्नो नेत्रामयनिषूदनः।
रक्तातिसारशमनो दीपनः पाचनस्तथा'॥ (र० त० १२।६०)

२. 'समुद्रफेनः फेनश्च सुफेनः फेनकस्तथा।
अब्धिफेनश्च फेनश्च डिण्डीरोऽब्धिकफो मतः'॥ (र० त० १२।११०)

३. 'समुद्रे वर्तुलः क्षुद्रो दशहस्तसमन्वितः।
मीनजातिसमुत्पन्नो जन्तुरेको विलक्षणः॥
भीषणाक्षः कूर्मपृष्ठः स यदा विजहात्यसून्।
तत्पृष्ठास्थि विशुष्कन्तु सुनाभं दृश्यते तदा॥
अब्धिमध्ये तरत्येतत्तरङ्गैराहतं मुहुः।
यतोब्धौ फेनवत्तारि त्वब्धिफेनं ततः स्मृतम्'॥ (र० त० १२।१२४-२६)

भाग चिकना तथा अन्तर्भाग रूक्ष होता है। अन्तर्भाग नख से खुरचा अथवा चाकू से काटा जा सकता है)।

शीशे को साफ करने के लिए इससे घिसते हैं। मूर्ति तथा विविध आकृति बनाने के लिए तथा औषधि कार्य के लिए इसका उपयोग किया जाता है।

समुद्रफेन का शोधन—शोधन हेतु प्रथम समुद्रफेन के बाह्य पतले कठिन परत को अलग कर लें। तत्पश्चात् खरल में पीस कर बारीक चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में नीम्बू स्वरस समान भाग डालकर अच्छी तरह मर्दन कर सुखा कर रख लें। (आभ्यन्तर प्रयोग हेतु इसका शोधन आवश्यक है)। विशेषतः इसे बाह्य प्रयोग के लिए लिया जाता है।[1]

मात्रा—२ रत्ती।

अनुपान—शहद अथवा जल।

समुद्रफेन के गुण-कर्म—यह रस में कषाय तथा वीर्य में शीत है। कर्म की दृष्टि से यह लेखन, दीपन तथा पाचन है। यह आन्त्र की गति को बढ़ाने वाला, नेत्र के लिए हितकर, कर्णस्राव में स्राव को सुखाने वाला होता है। यह विषदोष, कफ तथा कुष्ठरोगनाशक है।[2]

कूर्मपृष्ठ या कूर्मास्थि
(Tortoise Bone)

वर्ग—सुधावर्ग।

परिचय—कूर्मपृष्ठ कछुए के पृष्ठभाग को कहते हैं।

कूर्मपृष्ठ का शोधन—कूर्मास्थि को मट्ठे में १२ घण्टे रखकर स्वच्छ जल से धोकर सुखा लें।

कूर्मपृष्ठ का मारण—इसके टुकड़ों को घृतकुमारी के गूदे के मध्य रखकर शराव-सम्पुट में बन्दकर गजपुट की अग्नि में फूंक दें। इससे श्वेत वर्ण की कूर्मास्थि भस्म तैयार हो जाती है।

कूर्मपृष्ठ भस्म के गुण-कर्म—यह हड्डियों को बल प्रदान करता है। बालक,

१. 'पृष्ठास्थीन्यब्धिफेनस्य विलिख्यापनयेत्ततः।
खल्वे सम्पेष्य कृत्स्नेन श्लक्ष्णचूर्णञ्च कारयेत्॥
निम्बूकस्वरसेनाथ भावयेदेकवारकम्।
एवमब्धिकफः शीघ्रं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० १२।१११-१२)

२. 'समुद्रफेनः शिशिरो लेखनः पाचनः सरः'।
चक्षुष्यो दीपनश्चैव श्रुतिस्रावहरः परम्॥
विषदोषप्रशमनः कषायः कफनाशनः।
कुष्ठरोगहरोऽत्यर्थं मात्रा रक्तिद्वयोन्मिता'॥ (र० त० १२।११३-१४)

Scanned with CamScanner

प्रसूता तथा क्षयपीड़ित रोगी को इसके सेवन से लाभ होता है। अपस्मार के रोगी के लिए यह अत्यन्त हितकर है।

मात्रा—२ से ४ रत्ती।

अनुपान—शहद और गुडूची सत्त्व के साथ।

कुक्कुटाण्डत्वक्
(Egg Shell)

परिचय—अण्डे के छिलके को कुक्कुटाण्डत्वक् कहते हैं।

कुक्कुटाण्डत्वक् शोधन—अण्डे के छिलकों को सिरका (अम्ल) अथवा नमक एवं नौसादर ($\frac{1}{2}$-$\frac{1}{2}$ भाग) मिलाये जल में भिगो दें। ४–६ दिन में कोमल होने पर भीतर की झिल्ली को सावधानीपूर्वक निकाल कर धोकर सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है।

कुक्कुटाण्डत्वक् का मारण—चंगेरी अथवा घृतकुमारी स्वरस से कुक्कुटाण्डत्वक् का मर्दन कर चक्रिका बना-सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द कर ५ सेर उपलों की अग्नि में फूंक दें। स्वांगशीत हो जाने पर मुलायम श्वेत वर्ण का भस्म प्राप्त कर लें। कई बार एक पुट में उत्तम श्वेत वर्ण का भस्म नहीं बन पाता है, अतः दुबारा उपरोक्त विधि से पुट देना चाहिए।

मात्रा—१ से ४ रत्ती।

अनुपान—मक्खन, मिश्री, मलाई, शहद आदि से।

कुक्कुटाण्डत्वक् भस्म के गुण-कर्म—यह हृदय एवं पाचन संस्थान के लिए बल्य, मांसवर्द्धक और वाजीकर है तथा शुक्रविकार एवं प्रमेह में गुणकारी है। कफप्रकोप, वातविकार, स्वप्नदोष, हृदय एवं मस्तिष्क की दुर्बलता में लाभकारी है। नपुंसकता को दूर करती है। स्त्रियों के रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, बहुमूत्र और सोमरोग को नष्ट करती है। प्रसव के बाद स्त्रियों के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

सिकता वर्ग

दुग्धपाषाण
(Talc/Soft Stone)

वर्ग—सिकता वर्ग।

नाम—संस्कृत : दुग्धपाषाण। हिन्दी : संगजराहत। अंग्रेजी : Talc/Soft stone.

रासायनिक नाम—Magnesium silicate.

रासायनिक सूत्र— $H_2 Mg_3 (SiO_3)_4$ / $Mg_3 (OH_2) Si_4 O_{10}$

आपेक्षित घनत्व—२·६ से २·८। **काठिन्य**—१।

पर्याय[1]—दुग्धपाषाण, दुग्धी, दुग्धपाषाणिका, दुग्धा, दुग्धशिला, क्षीरक्षव, वज्राभ, दीप्तिक, सौध, गोमेदसन्निभ, दुग्धोपल, दुग्धदृषद्।

इतिहास—२०वीं शताब्दी के (रसतरंगिणी एवं रसामृत आदि) रस-ग्रन्थों में इसका वर्णन है। इससे पूर्व इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

परिचय—यह एक प्रकार का पत्थर है जो दुग्ध के समान श्वेत (नीलाभश्वेत), अत्यन्त चिकना तथा मृदु होता है। यह सिकता तथा मैग्नेशियम का यौगिक है। इसमें सिलिका (Si_2) ६३·५, मैग्नेशियम आक्साइड (MgO) ३१·७ तथा जल (H_2O) ४·८ प्रतिशत होता है। इसे आसानी से पीसा जा सकता है। फेस पावडर (टेलकम पावडर), स्नो, क्रीम आदि के निर्माण में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्राप्ति-स्थान—स्वीट्जरलैण्ड, इटली, फ्रांस, जर्मनी तथा न्यूजर्सी आदि देशों से।

शोधन—रसग्रन्थों में इसके शोधन-मारण का विवेचन उपलब्ध नहीं होता। इसका सूक्ष्म चूर्ण कर गुलाबजल के साथ पीसकर उपयोग करते हैं।

दुग्धपाषाण की मात्रा—१ से २ रत्ती।

दुग्धपाषाण के गुण-कर्म—यह रस में मधुर, वीर्य में शीत तथा गुण में स्निग्ध एवं शीत होता है। यह ग्राही, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन और दन्तरोगहर है।[2] यह ज्वर, पित्त एवं दाह नाशक तथा उदराध्माननाशक है। हृद्रोग में लाभकारी, रुचिकारक पित्तजशूल, कास तथा श्वासरोग शामक है।[3]

मसूढ़ों से रक्तस्राव रोकने के लिए दन्तमंजन निर्माण में अन्य द्रव्यों के साथ इसका विशेष रूप से उपयोग होता है।

कौशेयाश्म
(Asbestos)

वर्ग—सिकता वर्ग।

नाम—संस्कृत : कौशेयाश्म। फारसी : संगेरेशम। अंग्रेजी : Asbestos.

रासायनिक नाम—Silicate of Magnesium.

---

१. 'दुग्धपाषाणको दुग्धी दुग्धपाषाणिका तथा।
दुग्धा दुग्धशिला चैव क्षीरी क्षीरक्षवश्च सः॥
वज्राभो दीप्तिकश्चापि सौधो गोमेदसन्निभः।
दुग्धोपलो दुग्धदृषद् भिषग्भिः परिकीर्तितः'॥ (र० त० ११।२३०-३१)

२. 'दुग्धपाषाणको ग्राही व्रणरोपणकारकः।
शोणितास्थापनः शीतो दन्तरोगहरस्तथा'॥ (रसामृत ६।५)

३. 'दुग्धोपलस्तु मधुरस्त्वीषदुष्णो ज्वरापहः।
पित्तप्रशमनः कामं त्वग्दाहाध्माननाशनः॥
हृदामयहरो रुच्यः पित्तशूलविनाशनः।
कासश्वासहरश्चैव समाख्यातो भिषग्वरैः'॥ (र० त० ११।२३२-३३)

Scanned with CamScanner

परिचय—यह एक नरम प्रकार का पत्थर है, जो एक साथ दबाये हुए रेशम के तन्तुओं जैसा लाल एवं पीला रंग लिए श्वेत वर्ण का होता है। यह ताप का कुचालक (Bad conducter of heat) होता है, अतः अग्नि से रक्षार्थ इसका उपयोग वस्त्र एवं दस्ताने आदि के रूप में होता है। दन्तमञ्जन के रूप में इसका प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।

कौशेयाश्म भस्म—इसके सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण को कुमारी स्वरस की भावना देकर शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की ५ से ८ पुट दे देने से उत्तम श्वेत वर्ण की भस्म बन जाती है।

कौशेयाश्म पिष्टि—इस सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण को गुलाबजल या केवड़ा के अर्क में ३-४ दिन खूब अच्छी तरह मर्दन कर सुखा लेने से इसकी पिष्टि तैयार हो जाती है।

मात्रा—२ से ४ रत्ती।

अनुपान—शहद, दूध या मलाई आदि से।

गुण-कर्म—यह शीतवीर्य का माना जाता है। यह रक्तपित्तनाशक तथा रक्तस्तम्भक है। प्रमेह, प्रदर (श्वेत-रक्त) तथा दन्तपूय में लाभकारी है।

नागपाषाण
(Ophite/Serpentine)

वर्ग—सिकता वर्ग।

नाम—संस्कृत : नागपाषाण, नागाश्म। हिन्दी : जहरमोहरा। फारसी : जहर-मोहरा। अंग्रेजी Ophite या Serpentine।

रासायनिक सूत्र—$H_4Mg_3Si_2O_9$

आपेक्षित घनत्व—२·५ से २·८। **काठिन्य** : २·५ से ४.

परिचय—यह हरित, पीत एवं श्वेत मिश्रित वर्ण का चमकदार मृदु पत्थर है। यह अत्यन्त चिकना एवं वजन में हलका होता है। यह सिकता एवं मैग्नेशियम का का यौगिक (Magnesium Silicate) है।

प्राप्ति-स्थान—चीन, तिब्बत, लद्दाख, गढ़वाल, नेपाल आदि की पर्वतमालाओं से प्राप्त होता है।

शोधन-मारण—इसका शोधन-मारण नहीं किया जाता है।

जहरमोहरा पिष्टि—इसके सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण को गुलाबजल से ३-४ दिन अच्छी प्रकार घोंट-सुखा कर रख लेते हैं।

मात्रा—२ से ८ रत्ती।

अनुपान—शहद, अर्क गुलाब, अर्क केवड़ा या दुग्ध से।

गुण-कर्म—यह रूक्ष एवं उष्ण होता है। सौमनस्यजनन, हृदय, मस्तिष्क और यकृत् को बल देने वाला, ओजोवर्द्धक तथा विषहर है। बच्चों के अतिसार में लाभकारी है। हृत्स्पन्दन एवं हृदय की दुर्बलता में लाभकारी होता है। वमन में इसका प्रयोग किया जाता है।

बदराश्म
(Silicate of Lime)

वर्ग—सिकता वर्ग।

नाम—संस्कृत : बदराश्म। हिन्दी : बेर पत्थर या हजरत बेर। अरबी : हज्रुल यहूद। अंग्रेजी : Silicate of Lime.

पर्याय—अश्मभिद्, बदराश्म, पाषाणबदर, बदरीपाषाण।

परिचय—यह एक प्रकार का जीवाश्म (Fossil) है। यह बेर की गुठली की आकृति का लम्बगोल, दोनों सिरों पर नोकदार, बाहर से भूरे रंग का और झुर्रियों वाला (रुद्राक्ष की तरह) भीतर से हरापन लिये हुए सफेद रंग का १ से १·५ इन्च लम्बा पत्थर है। इसमें कोई स्वाद नहीं होता तथा जल में शीघ्र घुल जाता है। यह चूना एवं सिकता का यौगिक है।

प्राप्ति-स्थान—अरब, सीरिया, मिश्र आदि देशों से उपलब्ध होता है।

बदराश्म का शोधन—इसे मूली स्वरस या कदलीकन्द स्वरस में ७ बार बुझा लेने से शुद्ध हो जाता है।

बदराश्म का मारण—शुद्ध बदराश्म को कदलीकन्द स्वरस या मूली स्वरस से घोंटकर चक्रिका बना शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट की ५ से ७ अग्नि दे देने से भस्म हो जाता है। भस्म श्वेतवर्ण का होता है।

बदराश्मपिष्टि—बदराश्म को गरम जल से कपड़े से धो-पोंछ-सुखा सूक्ष्म कपड़-छान चूर्ण कर गुलाबजल या चन्दन आदि के अर्क में ३ से ४ दिन तक अच्छी तरह मर्दन कर सुखा कर रख लें।

मात्रा—४ से ८ रत्ती।

अनुपान—शहद, कदलीकन्द स्वरस, मूली स्वरस अथवा जल, दूध आदि।

गुण-कर्म—बदराश्म मूत्रल, पित्तशामक, वमन को रोकने वाला, अश्मरीशूलहर, मूत्राश्मरीभेदक है। मूत्रावरोध में जल से पीस कर वस्ति-प्रदेश पर लेप करने से लाभ होता है।

क्षारवर्ग

टंकण
(Borax)

वर्ग—क्षारवर्ग।

नाम—संस्कृत : टङ्कण। हिन्दी : सुहागा। अंग्रेजी : Borax.

रासायनिक नाम—सोडियम पायरो बोरेट (Sodium pyro borate)

रासा० सूत्र—$Na_2B_4O_7 10H_2O$

आपेक्षिक घनत्व—१.६९–१.७२। **काठिन्य**—२–२.५।

पर्याय—टंकण, टंकन, टंक, टंग, टंगण, द्रावक, टंकणक्षार, रंगक्षार, रंग, रंगद

Scanned with CamScanner

लोहशोधन, स्वर्णशोधन, सौभाग्य, सितक्षार, श्वेतक्षार, टंकण, क्षारराज, रसक्षार, रसघ्न ।

इतिहास—संहिता-काल से टंकण का उपयोग होता चला आ रहा है। चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, कल्याणकारक तथा गदनिग्रह आदि सभी ग्रन्थों में इसके अनेक उपयोग स्थल एवं योग देखे जा सकते हैं। रसशास्त्र में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है। क्षारत्रय, क्षारपञ्चक, मित्रपञ्चक तथा द्रावक वर्ग में इसका प्रमुख स्थान है। पारद को बुभुक्षित करने हेतु 'विड' एवं मुखकर द्रव्यों में यह प्रमुख है। विभिन्न द्रव्यों के सत्त्वपातन हेतु भी यह एक आवश्यक द्रव्य के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। विविध वत्सनाभ आदि विष वाले योगों में आवश्यक रूप से इसे सम्मिलित किया गया है, जिससे यह एक प्रतिविष (Antidot) के रूप में माना जाता है। लगभग सभी रसग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है।

परिचय—यह प्राकृत खनिज रूप में तथा कृत्रिम रूप से प्रयोगशालाओं में तैयार किया जाता है। यह श्वेत अथवा नीलाभश्वेत वर्ण का मणिभाकृति, छोटे-बड़े टुकड़ों में पाया जाता है। यह क्षारीय स्वभाव का होता है। इसका मणिभ पारदर्शक होता है, किन्तु वातावरण की उष्मा आदि के सम्पर्क से अपारदर्शक चूने जैसा श्वेत हो जाता है। यह तिब्बत, नेपाल और इरान के क्षारीय झीलों के किनारे जमे हुए दाने के रूप में पाया जाता है। यह जीवाणुनाशक के रूप में औषधियों में तथा शृंगार-प्रसाधन में खूब व्यवहृत होता है।

प्राप्ति-स्थान—काश्मीर, तिब्बत एवं केलिफोर्नियाँ के बोरक्स झील (Borax lake) एवं सर्लस्झील (Searlis lake) से प्राप्त होता है। खनिज रूप में हिमालय में तिब्बत प्रदेश के निकट मिलता है।

भेद—रसग्रन्थों में इसके दो भेद उपलब्ध होते हैं—

१. टंकण : श्वेत : सामान्य।

२. नीलकण्ठ टंकण : नीलाभ : श्रेष्ठ।

बाजार में यह—१. सोनारी सुहागा तथा २. चौकिया सुहागा—ऐसे दो प्रकार के मिलते हैं।

इसमें सोनारी सुहागा श्वेत, क्षारीय स्वभाव वाला मणिभाकृति एवं बड़े-बड़े टुकड़े के रूप में मिलता है। यह औषधि कार्य के लिए उत्तम होता है।

---

१. 'टङ्कणष्टङ्कनश्चैव टङ्कष्टङ्कश्च टङ्कणः।
द्रावकष्टङ्कणक्षारष्टङ्कक्षारश्च कथ्यते ॥
रङ्गक्षारस्तथा रङ्गो रङ्गदो लोहशोधनः।
लोहशोधनकश्चापि कीर्तितः स्वर्णशोधनः ॥
सौभाग्यश्च सितक्षारः श्वेतक्षारश्च टङ्कणः।
क्षारराजश्च कथितो रसायनविशारदैः' ॥ (र० त० १३।७२-७४)

अशुद्ध टंकण से हानि—अशुद्ध टंकण के सेवन से वान्ति भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अतः शोधन करके ही इसका प्रयोग करना चाहिए।[1]

टंकण का शोधन—

(१) **टंकण-निर्मलीकरण**—१ भाग टंकण को चूर्णकर २४ भाग जल में घुला-कर स्वच्छ वस्त्र या फिल्टर पेपर से छान कर अग्नि पर चढ़े जलीयांश को उड़ा दें। जब कुछ गीला रह जाय तो उसे धूप में सुखा लें। इससे स्वच्छ सुहागा प्राप्त हो जाता है।[2]

(२) **टंकण का शोधन**—सुहागे को चूर्ण करके लोहे की कड़ाही में तेज अग्नि पर चम्मच से चलाते हुए भूनें। जलीयांश के नष्ट होने पर सुहागा लावा की तरह फूल जाता है। इसे स्वांगशीत हो जाने पर चूर्ण कर रख लें।[3]

शुद्ध टंकण की मात्रा—१ से २ रत्ती।

अनुपान—मधु, घृत तथा विविध योगों के साथ।

टंकण के गुण-कर्म—यह रस में क्षारीय, गुण में रूक्ष, तीक्ष्ण, गुरु एवं वीर्य में उष्ण होता है। यह लेखन, रेचन, अग्निकर, विषदोषहर, हृद्य, द्रावी, विषघ्न, वर्ण्य, आर्त्तवजनन, स्वर्ण-रूप्य शोधन एवं अखिल धातुवेधी है।

यह उत्तम कफनिस्सारक, जठराग्निदीपक, पित्तकारक, मूढ़गर्भप्रवर्तक तथा वातरोग, कास, श्वास, विष, आध्मान तथा नाना प्रकार के व्रणों का नाशक है।[4]

---

१. 'अशुद्धष्टङ्कणो वान्ति भ्रान्तिकारी प्रयोजितः।
अतस्तं शोधयेदेव वह्नावुत्फुल्लितः शुचिः' ॥ (आ० प्र० २।२४४)

२. 'टङ्कणं चूर्णितं तोये तत्त्वसङ्ख्यगुणे भिषक्।
सन्द्राव्य वस्त्रपूतञ्च कृत्वा चूल्यां निधापयेत् ॥
तीव्राग्निना पचेत्कामं नीरं च परिशोषयेत्।
स्वल्पनीरांशशेषे च टङ्कणं निर्मलं हरेत्' ॥ (र० त० १३।७५-७६)

३. 'सुचूर्णितं टङ्कणं तु खलु पञ्चपलोन्मितम्।
समुज्ज्वलोदरे क्षुद्रकटाहे विन्यसेत्ततः ॥
चुल्लिकायां निधायाथ पचेद् दर्व्या प्रचालयन्।
सुपुष्पितं नष्टनीरं शुद्धिमायाति टङ्कणम्' ॥ (र० त० १३।७७-७८)

४. (क) 'टङ्कणः कटुरुष्णश्च रूक्षस्तीक्ष्णश्च सारकः।
कफविश्लेषणो हृद्यो वातामयनिषूदनः ॥
कासश्वासहरः कामं स्थावरादिविषापहः।
अग्निदीप्तिकरश्चापि भृशमाध्माननाशनः ॥
स्त्रीपुष्पजननो बल्यो विविधव्रणनाशनः।
पित्तकृच्च समाख्यातो मूढगर्भप्रवर्तकः' ॥ (र० त० १३।७९-८१)

Scanned with CamScanner

यह अश्मरी, अतिसार तथा स्थावर विष नाशक है।[1]

शुद्ध टंकण निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. आनन्दभैरव रस, २. कनकसुन्दर रस, ३. त्रैलोक्यचिन्तामणि रस, ४. पञ्चवक्त्र रस, ५. प्रतापतपन रस, ६. प्रतापलङ्केश्वर रस, ७. मृत्युञ्जय रस, ८. सन्निपातभैरव रस ९. सर्वांगसुन्दर रस तथा १०. सिद्ध-प्राणेश्वर रस आदि।

यवक्षार
(Mixture of Potassium Salts)

वर्ग—क्षारवर्ग।

नाम—संस्कृत : यवक्षार। हिन्दी : जौखार, जवाखार। अंग्रेजी : Mixture of Potassium saits.

पर्याय—यवक्षार, यवापत्य, यवज, यवशूकज, यव्य, यवाग्रज, यवाह्व, यवनालज, यवशूक, शुक्रज, यावशूकज, याव्य तथा पाक्य।[2]

इतिहास—चरक के काल से यवक्षार का प्रयोग चिकित्सा में होता चला आ रहा है। सुश्रुत ने क्षार एवं क्षार-निर्माण-विधि का विस्तार से विवेचन किया है। रस-ग्रन्थों में इसे क्षारत्रय, क्षारपञ्चक या क्षाराष्टक वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है तथा विविध रसकर्मों एवं चिकित्सा में इसका प्रयोग बतलाया गया है।

परिचय—यह पके जौ की बालियों तथा डण्ठलों को तोड़-सुखा एवं जला कर क्षारपाक-विधि से प्राप्त किया गया श्वेतक्षार है। यवक्षार श्वेतवर्ण, दानायुक्त चूर्णरूप तथा क्षार और तिक्त आस्वादयुक्त होता है। इसमें प्रधानतः पोटेशियम क्लोराइड ५०.८, पोटेशियम सल्फेट २०.२ तथा पोटेशियम बाइ कार्बोनेट ६.८ प्रतिशत होता है। यह पोटेशियम लवणों का मिश्रण है।

यवक्षार-निर्माण-विधि—जौ के पञ्चाग या डण्डी को जलाकर उसकी भस्म कर लें। इसे एक स्वच्छ पात्र में आठ गुने जल में घोल दें। कुछ समय तक इसे स्थिर होने दें, पश्चात् ऊपर के जल को निथार लें। निथारे हुए जल को मोटे स्वच्छ वस्त्र से ७ बार अथवा फिल्टर पेपर से छान कर अग्नि पर पकायें और जब गाढ़ा होने लगे

(ख) 'टङ्कणोऽग्निकरो रूक्षः कफघ्नो वातपित्तकृत्।
टङ्कणो वह्निकृत्स्वर्णरूप्ययोः शोधनः परः॥
विषदोषहरो हृद्यो वातश्लेष्मविकारनुत्' । (आ० प्र० २।२४३-४५)

१. 'अश्मरीमतिसारं च निहन्यात्स्थावरं विषम्' । (आ० क० क्रि० १।२५६)

२. 'यवक्षारो यवापत्यं यवजो यवशूकजः।
यव्यो यवाग्रजश्चैव यवाह्वो यवनालजः॥
यवशूको यावशूकः शूकजो यावशूकजः।
याव्यस्तथैव पाक्यश्च समाख्यातो भिषग्वरैः'॥ (र० त० १३।१-२)

तब अग्नि से पृथक् कर धूप में अथवा वाष्प स्वेद (Steem bath)[1] पर रख कर पूरा सुखा लें। इसे एकत्र कर रख लें। यही यवक्षार होता है।

यवक्षार की मात्रा—३ रत्ती से १० रत्ती तक।

अनुपान—जल या दूध से।

यवक्षार के गुण-कर्म—यह रस में कटु, उष्ण, वीर्य, सर (मलमूत्र को साफ करने वाला) तथा कफ, वात, हृद्रोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, प्लीहा और यकृत की वृद्धि, आनाह, गलग्रह, कफज कास, अर्श, उदर, आमशूल, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, विबन्ध, गुल्म और विषदोष को दूर करने वाला है।[2]

यवक्षार लघु, स्निग्ध, दीपन, पाचन, गुल्मप्लीहानाशक, कफनाशक (पतला कर निकालने वाला) तथा कोष्ठगत वायु को निकालता है। शूल, आनाह, उदराध्मान, मूत्रकृच्छ्र, गले के रोग में लाभदायक, हृद्य, अम्लपित्तनाशक एवं सर है। औपसर्गिक मेहजन्य व्रणशोथशामक, स्वेदप्रवर्तक तथा मूत्रल है।[3]

स्वर्जिकाक्षार
(Mixture of Potassium Salts)

वर्ग—क्षारवर्ग।

नाम—संस्कृत : स्वर्जिकाक्षार, सुवर्चिका। हिन्दी : सज्जी, सज्जीखार।

---

१. 'यवशूकभवं भस्म समादाय भिषग्वरः।
सलिलेऽष्टगुणे क्षिप्त्वा विमले भाजने ततः॥
सप्तवारं प्रयत्नेन स्रावयेत्पृथुवाससा।
स्रावितं सलिलञ्चाथ चुल्ल्यां तीव्राग्निना पचेत्॥
निःशेषं सलिलं ज्ञात्वा पाकपात्रतलस्थितम्।
यवक्षारं प्रयत्नेन गृह्णीयात्पाण्डुरप्रभम्' ॥ (र० त० १३।३-५)

२. (क) 'यवक्षारः कटूष्णश्च कफवातोदरार्तजित्।
आमशूलाश्मरीकृच्छ्रविषदोषहरः सरः' ॥ (रसामृत ७।२०)

(ख) 'हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहानाहगलग्रहान्।
कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति' ॥ (च० सू० २७।३०५)

(ग) 'ज्ञेयो वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शो गुल्मप्लीहविनाशनौ' ॥ (सु० सू० ४६)

३. 'यवक्षारो लघुः स्निग्धो दीपनः पाचनः परम्।
गुल्मप्लीहामयहरः कफहा वातनाशनः॥
शूलानाहोदराध्मानमूत्रकृच्छ्रप्रणाशनः ।
कण्ठामयहरो हृद्यश्चाम्लपित्तहरः सरः॥
औपसर्गिकमेहोत्थफलशोथनिवारणः ।
स्वेदप्रवर्तकश्चैव भिषग्भिर्मूत्रलो मतः' ॥ (र० त० १३।६-८)

Scanned with CamScanner

पर्याय—स्वर्जिक, स्वर्जिका, स्वर्जि, सुवर्चिका, स्वर्जका, स्वर्जिकाक्षार, सर्जी, सर्जिका, सुवर्चक, सुवर्चि, सुवर्च, सुवर्चिक, सुखोजिका, कपोत, सुखवर्च, सुखार्जिक, रुचक, स्वर्जिकाक्षार, स्वर्जिक्षार, सौवर्चल, सुवर्ची।[1]

इतिहास—स्वर्जिकाक्षार का उपयोग संहिताकाल से देखा जाता है। चरक एवं सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इसके अनेक उपयोग-स्थल देखे जाते हैं।

परिचय—पंजाब तथा सिन्ध में लाना नामक क्षारयुक्त वनस्पति को जला कर सज्जीक्षार बनाते हैं। यह भी पोटाशियम साल्ट का ही मिक्स्चर होता है।

स्वर्जिकाक्षार-निर्माण-विधि—उष्ट्रप्रिया (छोटी दुरालभा) पञ्चांग को धूप में सुखा-जला कर सफेद राख बना लें। इस राख को स्वच्छ पात्र में आठ गुने पानी में घोल कर कुछ देर छोड़ दें। तत्पश्चात् ऊपर का स्वच्छ जल निथार कर स्वच्छ मोटे वस्त्र से ७-८ बार छान लें अथवा फिल्टर पेपर से छान लें। इस छने जल को एक स्वच्छ पात्र में अग्नि पर चढ़ाकर जलीयांश सुखा लें। गाढ़ा होने पर अग्नि से पृथक् कर सुखा कर रख लें। उससे श्वेतवर्ण का स्वर्जिकाक्षार प्राप्त होगा।[2]

स्वर्जिकाक्षार की मात्रा—३ से १२ रत्ती तक।

अनुपान—मधु, जल, दुग्ध आदि से।

स्वर्जिकाक्षार के गुण-कर्म—यह रस में कटु, वीर्य में उष्ण तथा गुण में तीक्ष्ण, रूक्ष एवं लघु है। यह क्लेदन करने वाला, पाचक, ग्रन्थि और व्रणशोथ का विदारण करने वाला, दाह करने वाला, दीपन, छेदन और अग्नि तुल्य है।[3] सज्जीखार और

---

१. 'स्वर्जिकः स्वर्जिका स्वर्जिः स्वर्जः स्वर्जी सुवर्चिका।
स्वर्जका स्वर्जिकाक्षारः सर्जिः सर्जी च सर्जिका॥
सुवर्चकः सुवर्चिश्च सुवर्चोऽथ सुवर्चिकः।
सुखोजिकः कपोतश्च सुखवर्चः सुखार्जिकः॥
कचकं स्वर्जिकाक्षारः स्वर्जिक्षारस्तथैव च।
सौवर्चलं सुवर्ची च समाख्यातो भिषग्वरैः'॥
(र० त० १३।४२-४४)

२. 'उष्ट्रप्रियाक्षुपं दग्ध्वा यत्नात् क्षारं समाहरेत्।
तोयेऽष्टगुणिते क्षिप्त्वा भाजने विमले ततः॥
समकृत्वः प्रयत्नेन स्रावयेत्पृथुवाससा।
स्रावितं सलिलञ्चाथ पचेद् गाढं भिषग्वरः॥
निःशेषे सलिले तत्र स्थालिकातलसंस्थितम्।
हिमकुन्देन्दुसङ्काशं सर्जिक्षारं समाहरेत्'॥ (र० त० १३।४५-४७)

३. 'तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पक्ता विदारणः।
दहनो दीपनश्छेत्ता स्वर्जिक्षारोऽग्निसन्निभः'॥ (च० सू० २७।३०६)

यवक्षार उष्णवीर्य तथा कफ, विबन्ध, अर्श, गुल्म और प्लीहावृद्धि का नाश करने वाला होता है।[1]

सज्जीखार तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, पाचन, वायुप्रकोपनाशक तथा श्वासकासशामक है। अग्निदीपक, गुल्म एवं आध्मानरोगनाशक है। बाह्य प्रयोग में व्रण के लिए लाभकर और उदररोग तथा कृमिनाशक है।[2]

---

१. 'ज्ञेयो वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शो गुल्मप्लीहविनाशनौ'॥ (सु० सू० ४६)

२. 'सज्जीक्षारः स्मृतस्तीक्ष्णः कटुरुष्णश्च पाचनः।
समीरणहरः कामं कासश्वासनिवारणः॥
अग्निदीप्तिकरश्चैव गुल्माध्मानविनाशनः।
व्रणोदरामयहरः कृमिघ्नश्च प्रकीर्तितः'॥ (र० त० १३।४८-४९)

Scanned with CamScanner

दशम अध्याय

विषोपविष प्रकरण

(विष एवं उपविष)

(Poisons & Sub-poisons)

विष शब्द की निरुक्ति—जिसे देखने मात्र से मनुष्य (तथा पशु-पक्षी आदि) अत्यन्त दुःखी (अथवा शिथिल) हो जाते हैं, अथवा जो मृत्यु द्वारा मनुष्य को नष्ट कर दे उसे विष कहते हैं।[1] विष द्रव्य रसकर्म हेतु अत्यन्त उपयोगी होता है। यह पारद का बन्धन करता है। युक्तिपूर्वक यदि इसका प्रयोग नहीं किया गया तो यह निःसन्देह मनुष्य की जान ले लेता है।[2]

विष के नाम—क्ष्वेड, गरल एवं कालकूट—ये सभी विष के नाम कहे गये हैं।[3]

विष के भेद—

१. स्थावर (खनिज एवं वानस्पतिक स्रोत से प्राप्त)।
२. जांगम (सर्प, वृश्चिक, मकड़ी आदि में होने वाला विष)।
३. कृत्रिम (संयोगज या गर विष)।

विशेष—रसशास्त्र के अन्तर्गत मुख्यतः वानस्पतिक स्रोत से प्राप्त स्थावर विषों को ही औषधि कार्य हेतु ग्रहण किया गया है तथा इनकी विषाक्तता एवं तीव्रता के आधार पर इसे 'विष' एवं 'उपविष' इस प्रकार २ वर्गों में विभक्त किया गया है। विष-वर्ग के द्रव्य अधिक विषैले एवं तीव्र होते हैं, जब कि उपविष-वर्ग के द्रव्यों की विषाक्तता एवं तीव्रता अपेक्षाकृत कम होती है।

स्थावर एवं जाङ्गम विष—भूगर्भ से प्राप्त होने वाले संखिया, हरताल, मनःशिला, पारद, ताम्र आदि को तथा वनौषधियों से प्राप्त होने वाले वत्सनाभ, शृंगिक, कुचला आदि को स्थावर विष कहा जाता है और सर्प, बिच्छू, मकड़ी, कुत्ता आदि के विष को जाङ्गम विष कहते हैं।[4]

---

१. 'दृष्ट्वैतद् यद्विषीदन्ति जनास्तस्माद्विषं मतम्।
नरं वा विपिणीत्येतन्मृत्युपार्श्वंस्ततो विषम्' ॥ (र० त० २४।१)

२. 'रसकर्मणि शस्तोऽयं तद्बन्धनविधावपि।
अयुक्त्या सेवितश्चायं मारयत्येव निश्चितम्' ॥ (र० र० स० १०।८३)

३. 'विषं क्ष्वेडश्च गरलं कालकूटश्च तन्मतम्'। (र० त० २४।२)

४. 'खन्त्रौषधाश्रयं यत्तु विषं तत्स्थावराह्वयम्।
सर्पादिजन्तुप्रभवं विषं जङ्गमसंज्ञकम्' ॥ (र० त० २४।३)

स्थावर विष के अधिष्ठान—कन्द, सार, निर्यास, पुष्प, मूल, फल, पत्र, त्वचा, दूध तथा खान—ये दस स्थावर विष के अधिष्ठान (आश्रय) हैं।[1] यही आश्रय-भेद से स्थावर विष के १० प्रकार माने गये हैं।

स्थावर विष के २ भेद—स्थावर विष के—१. विष (प्रधान विष) तथा २. उपविष (अप्रधान विष) इस प्रकार दो भेद होते हैं। विषों में वत्सनाभ, शृंगक, कालकूट आदि तथा उपविष में विषतिन्दुक, कुचला, करवीर आदि लिये जाते हैं।[2]

विषवर्ग—विषवर्ग में सम्मिलित द्रव्यों की संख्या तथा उनके नामों में विविध रसग्रन्थों में भिन्नता देखी जाती है, जो ग्रन्थानुसार निम्न रूप में है

(१) रसार्णव तन्त्र : १. कालकूट, २. शृङ्गीक, ३. सक्तुक, ४. कृष्णविष तथा ५. शीतमुस्ता।

(२) रसरत्नाकर : १. कालकूट, २. रक्तशृंगी, ३. सक्तुक, ४. मुस्तक तथा ५. हारिद्र।

(३) रसेन्द्रचूड़ामणि : १. कालकूट, २. शृङ्गीक, ३. सक्तुक, ४. वत्सनाभ एवं ५. पीत।

(४) रसरत्नसमुच्चय : १. कालकूट, २. शृङ्गीक, ३. वत्सनाभ, ४. सक्तुक एवं ५. पित्त (पीला विष)।

रसेन्द्रचिन्तामणि, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, आयुर्वेदप्रकाश एवं रसतरङ्गिणी आदि ग्रन्थों में विषों की संख्या ९ बतलाई गई है। यथा—१. हलाहल, २. सक्तुक, ३. कालकूट, ४. शृङ्गीक, ५. प्रदीपन, ६. वत्सनाभ, ७. ब्रह्मपुत्र, ८. हारिद्रक और ९. सौराष्ट्रिक।[3] रसकर्म एवं औषधि (अथवा रसायन) कर्म के लिए वत्सनाभ को प्रशस्त माना गया है।

रससार, रसमञ्जरी, रसेन्द्रचूड़ामणि तथा रसेन्द्रचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में विषों की संख्या १८ बतलाई है। यथा—१. कालकूट, २. सक्तुक, ३. वत्सनाभ, ४. शृङ्गीक, ५. मुस्तक, ६. हलाहल, ७. हारिद्र, ८. मयूर, ९. बिन्दुक, १०. सुनाम, ११. शंखनाभ, १२. सुमंगल, १३. पुष्कर, १४. भ्रामर, १५. कर्कोटक, १६. शुक्लकन्द, १७. रक्तशृंगी, १८. विष (रससार) अथवा चक्र (र० मं०)।

इसमें रसेन्द्रचूड़ामणि में १०वें स्थान पर बालुका, १४ से १८वें स्थान पर क्रमशः हरीतक, मरकत, कर्दम, सिखि तथा चक्रविष को रखा गया है।

---

१. 'कन्दः सारोऽथ निर्यासः पुष्पं मूलं फलं दलम्।
त्वक् क्षीरं खनिरित्यस्य ह्यधिष्ठानानि वै दश' ॥ (र० त० २४।५)

२. 'विषं चोपविषं चेति द्विविधं स्थावरं विषम्।
प्रथमं वत्सनाभादि द्वितीयं तिन्दुकादिकम्' ॥ (र० त० २४।६)

३. 'हालाहलः कालकूटः शृङ्गकश्च प्रदीपनः।
सौराष्ट्रिको ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा ॥
वत्सनाभ इति ज्ञेया विषभेदा अमी नव'।
(रसे रसायनादौ च वत्सनाभः प्रशस्यते) ॥ (र० त० २४।७-८)

Scanned with CamScanner

इसी तरह रसेन्द्रचिन्तामणि में ८ से १४वें स्थान तक क्रमशः कूर्म, दर्वीक, सैकत, सर्षप, मेषशृंगी, कर्कोटक, केशर, मरकत, दर्दुर, रक्तशृंगी तथा यमदंष्ट्रा को रखा गया है।

विषग्रहण-विधि—(**विषद्रव्यों का संग्रह**)—विषवर्ग के द्रव्यों का संग्रह तब करें जब वे—नूतन, गुरु, स्निग्ध, घन (कठिन) तथा फल देने वाले हों। जिनके निकट में प्रतिविष द्रव्य उत्पन्न न होते हों, साथ ही ऋतु के प्रभाव से मुक्त हों तथा भलीभाँति पके हों।[1]

विष के दस गुण—लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्य रस (अव्यक्त रस)—ये दस गुण लगभग सभी प्रकार के विष में पाये जाते हैं।[2]

विष के आठ वेग—ज्ञान अथवा अज्ञानतापूर्वक विष का अधिक मात्रा में प्रयोग करने से निम्न आठ लक्षण उत्पन्न होते हैं। यथा—

प्रथम वेग में	:	शिथिलता एवं मन्दता।
द्वितीय वेग में	:	कम्प (कँपकपी)।
तृतीय वेग में	:	दाह।
चतुर्थ वेग में	:	संज्ञाहीनता अथवा मूर्च्छा।
पञ्चम वेग में	:	मुख से फेनोद्गम (अथवा लालास्राव)।
षष्ठ वेग में	:	स्कन्ध-भेद (बाहुशैथिल्य)।
सप्तम वेग में	:	जाड्य (जड़ता-शरीर में निष्क्रियता)।
अष्टम वेग में	:	मृत्यु।

विष-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध विष (बिना शोधन) में जो दुर्गुण होते हैं, वे शुद्ध किये हुए विष में नहीं होते, अतः विष की योजना प्रयोगों में शुद्ध करके ही करनी चाहिए।[3] शुद्ध कर लेने से विषों की विषाक्तता कम हो जाती है तथा औषधि-प्रयोग के योग्य हो जाते हैं।

विषों का सामान्य शोधन—विष के चने के बराबर टुकड़े करके एक पात्र में रख कर उस पात्र में गोमूत्र इतना डालें कि विष के टुकड़े पूरी तरह डूब जाय। नित्य प्रति नवीन गोमूत्र डालें तथा पुराना निकाल दें। इस प्रकार ३ दिन गोमूत्र में रखने के

१. 'उद्धरेत्फलपाके तु नवं स्निग्धं घनं गुरु।
अव्याहृतं विषघ्नैस्तु वातादिभिरशोषितम्' ॥ (आ० प्र० ६।४८)

२. 'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च।
उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः' ॥ (च० चि० २३।२४)

३. 'ये दुर्गुणा विषेऽशुद्धे ते स्युर्हीना विशोधिते।
तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधितं योजयेद्भिषक्' ॥ (आ० प्र० ६।४७-४८)

पश्चात् तीव्र धूप में रखकर सुखावें और प्रमाण भाग से योगों में प्रयोग करें[1] अथवा गाय के दूध में ५ प्रहर तक स्वेदन करने से भी विष शुद्ध हो जाता है।

विषों पर शोधन का प्रभाव—सावधानीपूर्वक विषों का शोधन कर लेने से वह रसायन, योगवाही, त्रिदोषघ्न, बृंहण, वीर्यवर्द्धक तथा प्राणदायी होता है।[2]

विषसंरक्षण-विधि—शुद्ध किये हुए विष को लाल सरसों के तैल में लिप्त वस्त्र में लपेट कर सावधानीपूर्वक रखना चाहिए, अन्यथा वह गुणहीन हो जाता है।[3]

विष का मारण—विष में विष के समान भाग टंकण मिला कर घोंट लेने से विष का विषत्व नष्ट हो जाता है। यह सर्वत्र प्रयोज्य है तथा विकार उत्पन्न नहीं करता। विष के समान भाग टंकण तथा द्विगुण मरिच डालकर[4] एकत्र मर्दन कर लेने से विष का शोधन एवं मारण दोनों हो जाता है।[5]

विषसेवन-विधि (**विष-प्रयोग**)—अनेक प्रकार की रसौषधियों द्वारा जब रोग का नाश न हो तो ऐसे में विष का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है। वात-कफोद्भव रोगों में यह विशेष लाभकारी होता है।[6]

विषसेवन के अयोग्य व्यक्ति—क्रोधी, पित्तरोगी, नपुंसक, क्षयरोगी, क्षुधा-तृष्णा-

१. 'कृत्वा चणकवत्स्थूलान् विषभागास्तु भाजने।
तत्र गोमूत्रकं क्षिप्त्वा प्रत्यहं नित्यनूतनम् ॥
शोधयेत्त्रिदिनादूर्ध्वं धृत्वा तीव्रातपे ततः।
प्रयोगेषु प्रयुञ्जीत भागमानेन तद्विषम् ॥
गोदुग्धे घटिकाः पञ्च शुद्धिमायाति तद्विषम्'।
(आ० प्र० ५।४९-५०, ५२)

२. 'विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकासि च।
वातश्लेष्मघ्नदाग्नेयं योगवाहि मदावहम् ॥
तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम्।
पथ्याशिनां त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम्' ॥
(आ० प्र० ५।४५-४६)

३. 'रक्तसर्षपतैलेन लिप्ते वाससि धारयेत्।
विषं शुद्धं प्रयत्नेन नान्यत्र गुणहानितः' ॥ (आ० प्र० ५।५१)

४. 'समटङ्कणसम्पिष्टं तद्विषं मृतमुच्यते।
योजयेत्सर्वरोगेषु न विकारं करोति च' ॥ (आ० प्र० ५।६०)

५. 'तुल्येन टङ्कणेनैव द्विगुणेनोषणेन च।
विषं संयोजितं शुद्धं मृतं भवति सर्वथा' ॥ (आ० प्र० ५।६१)

६. 'नानारसौषधैर्ये तु दुष्टा यान्तीह नो गदाः।
ते नश्यन्ति विषे दत्ते शीघ्रं वातकफोद्भवाः' ॥ (आ० प्र० ५।६२)

Scanned with CamScanner

युक्त, परिश्रम एवं चलने से थके हुए व्यक्ति को विष का सेवन न करावें। गर्भिणी, बालक, वृद्ध को तथा राजगृह में भी विष नहीं देना चाहिए।[1]

विष की मात्रा—एक तिल (यवाष्टक—यव का आठवाँ भाग) के बराबर मात्रा से प्रारम्भ कर आठ यव पर्यन्त भक्षण कर सकता है। शुद्ध विष का भक्षण मनुष्य के समस्त रोग का नाश करने वाला होता है।[2]

एक सर्षप से गुञ्जा पर्यन्त की मात्रा में आवश्यकतानुसार क्रमशः घटाते-बढ़ाते हुए प्रयोग करें।

सामान्य प्रतिविष (विषशामक)—टंकण, हरिद्रा, मेघनाद रस, सर्पाक्षी, पुत्रजीवक, निम्ब स्वरस, अर्जुनत्वक् चूर्ण, वन्ध्या कर्कोटकी, विश्वल्लिका, गोजिह्वा, गोघृत एवं अजादुग्ध—ये सभी विष के मात्राधिक्य अथवा लम्बी अवधि तक विष के सेवन से उत्पन्न होने वाले विकारों को शान्त करते हैं।

विषसेवन में पथ्य—घृत, क्षीर, शर्करा, मधु, गेहूँ, चावल, मरीच, सैन्धव, द्राक्ष, मधुर पेय, शीतल पेय, ब्रह्मचर्य, शीतप्रदेश, शीतकाल तथा शीतल जल—ये सभी विषसेवन करने वाले के लिए हितकर है।[3]

विशेष—विषवर्ग के द्रव्यों में वत्सनाभ रसकर्म एवं रसायन-प्रयोग में सर्वोत्तम है। हलाहल से सक्तुक पर्यन्त विषों का प्रयोग नहीं देखा जाता। अतः वत्सनाभ का विस्तृत वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वत्सनाभ
(Aconitam Ferex)

वर्ग—विषवर्ग।

नाम—संस्कृत : वत्सनाभ। हिन्दी : वछनाभ (वत्सनाभ)। अंग्रेजी : Aconitam ferex.

पर्याय—वत्सनाभ, वत्सनाग, श्वेड, विष, अमृत।[4]

१. 'न क्रोधिते न पित्तार्ते न क्लीबे राजयक्ष्मणि।
क्षुत्तृष्णाश्रमकर्माभ्यसेविनि क्षयरोगिणि॥
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न विषं राजमन्दिरे'। (आ० प्र० ५।६७-६८)

२. 'यवाष्टकं भवेद्यावदभ्यस्तं तिलमात्रया।
सर्वरोगहरं नृणां जायते शोधितं विषम्'॥ (आ० प्र० ५।७१)

३. 'घृतं क्षीरं सितां क्षौद्रं गोधूमांस्तण्डुलान्यवान्।
मरिचं सैन्धवं द्राक्षां मधुरं पानकं हिमम्॥
ब्रह्मचर्यं हिमं देशं हिमं कालं हिमं जलम्।
विषस्य सेवको मर्त्यो भजेदतिविचक्षणः'॥ (आ० प्र० ५।७८-७९)

४. 'वत्सनाभो वत्सनागः श्वेडोऽस्त्री च विषं मतम्।
अमृतञ्च तदेवोक्तं रसतन्त्रविशारदैः'॥ (र० त० २४।१६)

परिचय—वत्सनाभ कन्द ५ से ७ अंगुल लम्बा तथा १ से २½ अंगुल व्यास की मोटाई वाला होता है। यह मूली की तरह मूल से शिखा की ओर मोटा होता है। ऊपर से इसका रंग कृष्णाभ होता है। तोड़ने पर अन्तर्भाग पाण्डुर वर्ण का दिखलाई देता है। शीत अथवा वसन्त ऋतु में यह पूर्ण वीर्य होता है। उसी समय लम्बी मूल वाले स्थूल कन्द वत्सनाभ क्षुप को उखाड़ कर संचय करना चाहिए।[1]

प्राप्ति-स्थान—गढ़वाल, कश्मीर तथा नेपाल आदि पाँच हजार फीट से अधिक ऊँचाई वाले शीत पर्वतीय प्रदेशों में पाया जाता है।

वत्सनाभ के भेद—वर्ण-भेद से वत्सनाभ ३ प्रकार का पाया जाता है—

१. कृष्णाभ (कुछ काले रंग का)।
२. कपिश (पीला सफेद अथवा भूरे रंग का)।
३. पाण्डु (पीला सफेद)।

इनमें कृष्ण वर्ण की अपेक्षा कपिश तथा कपिश की अपेक्षा पाण्डुर वर्ण का वत्सनाभ गुणों में उत्तम होता है।[2]

उत्तम एवं ग्राह्य वत्सनाभ—मोटे (स्थूल) कन्द वाला, बाहर से चिकना (स्निग्ध), भारी (गुरु), नवीन तथा फल के आने के बाद उखाड़ा गया, कीट-घुन आदि से रहित वत्सनाभ औषधि-कार्य के लिए श्रेष्ठ होता है।[3]

वत्सनाभ-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध वत्सनाभ के सेवन से शरीर में दाह, मोह, हृदयगति-अवरोध उत्पन्न होता है तथा मृत्युकारक है, अतः शुद्ध करके ही वत्सनाभ उपयोग में लावें।[4]

वत्सनाभ का शोधन—वत्सनाभ के चने के बराबर छोटे-छोटे टुकड़े कर गोदुग्ध अथवा बकरी के दूध में दोलायन्त्र विधि से ६ घण्टे तक स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है। अथवा इन्हीं टुकड़ों को एक मिट्टी अथवा पत्थर के पात्र में रख कर इतना

१. 'दैर्घ्यं तु पञ्चाङ्गुलतः परं सप्ताङ्गुलोन्मितः।
व्यासे चैकाङ्गुलात् सार्द्धद्व्यङ्गुलप्रमितस्तथा॥
आमूलचूलं क्रमशः स्थूलश्च पाण्डुरप्रभः।
कन्दोऽस्य भिषजां वर्यैर्वत्सनाभ इति स्मृतः॥
दीर्घमूलं स्थूलकन्दं वत्सनाभविषक्षुपम्।
उत्पाटच शीतसमये वसन्ते वा समाहरेत्'॥ (र० त० २४।१२-१४)

२. 'कृष्णाभः कपिशः पाण्डुर्वर्णतस्त्रिविधो मतः।
वत्सनाभो विशेषेण क्रमेण गुणवत्तमः'॥ (र० त० २४।१५)

३. 'स्थूलं स्निग्धं गुरु नवं फलपाकोत्तरोद्धृतम्।
कीटाद्यभक्षितञ्चैव विषं ग्राह्यमिहोच्यते'॥ (र० त० २४।१७)

४. 'अविशुद्धं विषं दाहं मोहं हृद्गतिरोधनम्।
मृत्युञ्च विदधात्याशु तस्मात्तं परिशोधयेत्'॥ (र० त० २४।१८)

Scanned with CamScanner

ताजा गोमूत्र डालें कि वह पूरी तरह से डूब जाय, अब इसे तीव्र धूप में रख दें। प्रतिदिन प्रातःकाल पुराना (पहले का) गोमूत्र निकालकर नया गोमूत्र डाल धूप में रख दें। इस प्रकार क्रमशः तीन दिन तक नया गोमूत्र बदलते हुए आतप शोषण कर लेने के बाद गोमूत्र से बाहर निकाल, वत्सनाभ के छोटे टुकड़ों की बाहरी त्वचा को धीरे-धीरे चाकू की सहायता से निकाल कर अलग कर दें एवं भीतर के शुद्ध विष को धूप में सुखाकर रख लें।[1]

शुद्ध वत्सनाभ के गुण-कर्म—यह रस में कटु, तिक्त एवं कषाय तथा गुण एवं वीर्य में उष्ण है। यह उत्तम योगवाही एवं श्रेष्ठ रसायन है। अन्तः प्रयोग से त्रिदोषनाशक विशेष रूप से वात एवं कफ नाशक है। यह अग्निदीपक, शीतप्रभावशामक, पुष्टि एवं बलवर्द्धक, अग्निमान्द्यनाशक, प्लीहारोग, वातरक्त, श्वास, कासरोग नाशक है। अर्श, संग्रहणी, गुल्म, कुष्ठ, पाण्डु, ज्वर तथा आमवात नाशक है। यह तिमिर (रात्र्यन्धता) रोगनाशक है। यह नेत्राभिष्यन्द, नेत्रशोथ, कर्णशोथ, कर्णशूल, गृध्रसी एवं कटिशूल नाशक है। बाह्य प्रयोग से यह चूहा, बिच्छू तथा सर्प विषों को शीघ्र ही नष्ट करता है।[2]

---

१. 'विषं चणकसंस्थानं कृत्वा पोट्टलिकागतम्।
सुरभीपयसा चेह दोलिकायन्त्रयोगतः॥
यामद्वयं वा यामैकं स्वेदयेदतियत्नतः।
संशोधितं विषं त्वेवं विशुद्धयति न संशयः॥
खण्डीकृतो वत्सनाभः पोट्टलीगर्भसंस्थितः।
अजादुग्धेन सुस्विन्नो यामतः शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ (र० त० २४।२३-२५)

(अथवा)

'यथोक्तगुणसम्पन्नं वत्सनाभं समाहरेत्।
ततश्चणकसंस्थानं खण्डशः कारयेद्भिषक्॥
पाषाणचपके वापि मृत्तिकाभाजने ततः।
गोमूत्रेण समाप्लाव्य स्थापयेत्प्रखरातपे।
प्रत्यहं पूर्वनिक्षिप्तं गोमूत्रमपनीय तु।
दत्त्वा च नूतनं मूत्रं तीव्रघर्मे तु विन्यसेत्॥
एवं दिनत्रयं कृत्वा त्वचामपनयेत्ततः।
शोषयेच्च विषं त्वेवं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥

२. 'विषं तु कटुकं तिक्तमुष्णं चैव कषायकम्।
योगवाहि परं चैतन्महोत्कृष्टं रसायनम्॥
त्रिदोषघ्नं विशेषेण मतं वातबलासनुत्।
दीपनं शीतशमनं बृंहणं बलवर्द्धनम्॥
अग्निमान्द्यप्रशमनं प्लीहोदरनिबर्हणम्।
वातरक्तापहं चैव श्वासकासविधूननम्॥ (र० त० २४।१९-२२)

वत्सनाभ विष-प्रभाव की चिकित्सा—

१. वत्सनाभ की अधिक मात्रा से उत्पन्न विष-लक्षणों की स्थिति में टंकण एवं घी का प्रयोग करें।

२. अजादुग्ध की इतनी मात्रा दें कि वमन हो जाय। जब अजादुग्ध का वमन न हो तो विषप्रभाव नष्ट हो गया समझें।

३. हरिद्रा स्वरस एवं तण्डुलीय स्वरस अथवा सर्पाक्षी स्वरस टंकण एवं घी का प्रयोग करें।

४. गोदुग्ध, नवनीत, अजादुग्ध, मृद्विकाकल्क, उदुम्बरत्वक् कल्क, तण्डुलीय रस, पृश्निपर्णी रस, जम्बूत्वक् रस, हिंगु एवं खण्डशर्करा का उपयोग लाभकारी होता है।

विशेष—शुद्ध वत्सनाभ का स्वतन्त्र एकाकी प्रयोग प्रचलित नहीं है। इसका विविध योगों के माध्यम से ही प्रयोग किया जाता है।

शुद्ध वत्सनाभ-निर्मित प्रमुख योग—मृत्युञ्जय रस, २. हिंगुलेश्वर रस, ३. पञ्चामृत रस, ४. आनन्दभैरव रस, ५. शिवताण्डव रस, ६. कफकेतु रस, ७. अमृत-रसायन, ८. सूतशेखर रस तथा ९. विषप्रभावर्तिका आदि।

उपविष

(Sub-Poisons)

रसरत्नसमुच्चय के अनुसार उपविष ७ हैं। यथा—१. लाङ्गली (कलिहारी), २. कुचला, ३. कनेर, ४. भांग, ५. भल्लातक, ६. धत्तूरा और ७. अर्क (आक)—इनके समुदाय को उपविष वर्ग कहते हैं।[1]

रसतरङ्गिणीकार ने उपविष की संख्या ११ बतलाई है। यथा—१. विषतिन्दुक-बीज (कुचलाबीज), २. अहिफेन (अफीम), ३. जयपाल (जमालगोटा), ४. धत्तूरबीज, ५. विजया (भांग), ६. गुञ्जा (सफेद रत्ती), ७. भल्लातक (भिलावा), ८. अर्कक्षीर (आक का दूध), ९. स्नुहीक्षीर (थूहर का दूध), १०. लाङ्गली (कलिहारी) एवं ११. करवीर (कनेर की जड़)—इन सबको उपविष गण कहते हैं।[2]

गुदामयग्रहणिकागुल्मनिर्दलनं परम्।
कुष्ठपाण्डुज्वरहरं त्वामवातप्रणाशनम्॥
विनिहन्ति विशेषेण तिमिरं च निशान्धताम्।
अभिष्यन्दं नेत्रशोथं कर्णशोथञ्च दारुणम्॥
कर्णशूलं शिरःशूलं गृध्रसी कटिवेदनाम्।
आखुवृश्चिकसर्पाणां विषं चैवाविलम्बितम्' ॥ (र० त० २४।२६-३१)

१. 'लाङ्गली विषमुष्टिश्च करवीरं जया तथा।
नीलकः कनकोऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकः' ॥ (र० र० स० १०।८४)

२. 'विषतिन्दुकबीजं च त्वहिफेनञ्च रेचकम्।
धत्तूरबीजं विजया गुञ्जा भल्लातकाह्वयः॥

कुचिला (विषतिन्दुक)
(Strychnos Nuxvomica)

वर्ग—उपविष-वर्ग ।

नाम—संस्कृत : विषतिन्दुक, कारस्कर या विषमुष्टि । हिन्दी : कुचिला ।
अंग्रेजी : Nuxvomica. ले० नाम—Strychnos Nuxvomica.

पर्याय—कुचेलक, कुचेल, कुचिला, कुचिल, विषतिन्दु, तिन्दु, तिन्दुक, विषतिन्दुक, कारस्कर, रम्यफल, कुपाक, विषमुष्टिका, विषमुष्टि, कालकूट ।[1]

परिचय—कुचिला वृक्ष में लगने वाले फल का बीज है । कुचिला का फल नारंगी के रंग का, सुन्दर गोल आकार का चिकना फल होता है । इसी फल के भीतर पायी जाने वाली कोमल और सफेद मज्जा (गूदा) के बीच गोल टिकिया जैसा रोयेंदार बीज होता है । एक फल के अन्दर १ से ५ तक बीज होते हैं । बीज ½ इंच व्यास की चपटी, गोल, अत्यन्त कठिन एक पृष्ठ नतोदर तथा दूसरा उन्नतोदर चमकीले रेशमी रोयेंदार तथा भूरे (कपिश) रंग का होता है । इसे ही औषधि-कार्य के लिए लिया जाता है ।

प्राप्ति-स्थान—कोंकण, बंगाल एवं दक्षिण भारत (गर्म प्रदेश) में विशेष रूप से पाया जाता है ।

कुचिला का शोधन—

१. कुचिलाबीज को काञ्जी में डुबो कर ३ दिन तक पड़ा रहने दें । तीन दिन बाद बीजों को काञ्जी से निकालकर बाहरी त्वचा को छीलकर अलग कर दें तथा धूप में सुखा कर लोहे के इमामदस्ते में कूटकर चूर्ण कर रख लें । इस प्रक्रिया से कुचिला शुद्ध हो जाता है ।[2]

२. कुचिला बीज को एक तवे पर थोड़ा-सा घी डालकर खूब मन्द अग्नि से तब तक भूनें जब तक बीजों की बाहरी त्वचा कपिश वर्ण (लाल-भूरे वर्ण) की न हो

अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकम् ।
समास्थातो गणोऽयं तु बुधैरुपविषा भिधः' ॥ (र० त० २४।१६३-६४)

१. 'कुचेलकं कुचेलश्च कुचिला कुचिलं तथा ।
विषतिन्दुस्तथा तिन्दुस्तिन्दुकं विषतिन्दुकम् ॥
कारस्करो रम्यफलः कुपाको विषमुष्टिका ।
विषमुष्टिः कालकूटस्तदेव विनिगद्यते' ॥ (र० त० २४।१६५-६६)

२. 'विषतिन्दुकबीजानि विन्यसेद् गृहवारिणी ।
दिनत्रयं प्रयत्नेन त्वपनीय बहिस्त्वचम् ॥
निदाघे चाथ संशोष्य चूर्णयेद्भिषजां वरः ।
एवं विशुद्धिमायाति सर्वथा विषतिन्दुकम्' ॥ (र० त० २४।१७२-७३)

जाय । अब इसके ऊपरी छिलके को पृथक् कर दें तथा मज्जा को गरम स्थिति में ही कूट कर चूर्ण कर लें । कुचिला शुद्ध हो जाता है ।[1]

३. कुचिला बीज को गाय के दूध में दोलायन्त्र-विधि से ३ घंटे तक स्वेदन कर लें । तत्पश्चात् पोट्टली से इसे निकाल कर बीज के ऊपर का छिलका निकाल दें और गीली अवस्था में ही कूट कर चूर्ण कर सुखा लें । इस विधि से कुचिला उत्तम रूप से शुद्ध हो जाता है ।[2]

शुद्ध कुचिला के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त, कटु एवं कषाय; गुण में लघु, उष्ण तथा तीक्ष्ण; वीर्य में उष्ण तथा विपाक में मधुर होता है । यह कफ-वातशामक तथा पित्तशामक है ।

यह दीपन, पाचन, अम्लपित्तनाशक, मूत्रल, कामोद्दीपक, मेदोहर, रुचिकारक, ग्रहणी, उन्माद, आध्मान, अजीर्ण, आमाशयोत्थ शूल, हृद्दौर्बल्य, श्वास, फुफ्फुसशोथ, अर्धांगवात तथा अर्दित आदि रोगों को नष्ट करता है । अशुद्ध नाग-सेवन से उत्पन्न विकार तथा मदात्ययजनित अर्धांगवात रोग को नष्ट करता है । यह श्वानविष में (कुत्ते के काटने पर) लाभकारी है ।[3] यह नाड़ी के लिए बल्य (Nervous Tonic) है ।

---

१. 'कारस्करस्य बीजानि त्वतिमन्दाग्नियोगतः ।
निधाय पिष्टपचने तावदाज्येन भर्जयेत् ॥
यावद् बहिस्त्वचा किञ्चिज्जायते कपिशप्रभा ।
कुचेलमेवं त्वरितं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २४।१७४-७५)

२. 'विषतिन्दुकबीजानि पोट्टल्यां विन्यसेद्भिषक् ।
स्वेदयेद् गव्यपयसा दोलिकायन्त्रमार्गतः ॥
एवं यामैकमात्रेण शुद्धिमायान्त्यनुत्तमाम् ।
शोधितं तिन्दुकं त्वेवं वीतशङ्कः प्रयोजयेत्' ॥ (र० त० २४।१७६-७७)

३. 'विषतिन्दुकमाग्नेयं कटुकं दीपनं परम् ।
उग्रवीर्यं तीक्ष्णसारं कामोद्दीपनमुत्तमम् ॥
अम्लपित्तप्रशमनं मूत्रलं क्षुत्प्रदीपनम् ।
पाचनं श्लेष्महरणं बलसञ्जननं परम् ॥
रुहरं रुचिकरं सारमेयविषापहम् ।
ग्रहणीहरमत्यन्तं तथोन्मादविनाशनम् ॥
आध्मानापहमत्यन्तं तथाऽजीर्णविनाशनम् ।
आमाशयोत्थशूलघ्नं हृद्दौर्बल्यहरं परम् ।
श्वासप्रशमनञ्चैव तथा फुफ्फुसशोथनुत् ॥
अर्धाङ्गादितवातघ्नं नाडीबलविवर्धनम् ।
दुष्टनागाशनोद्भूतं वा मदात्ययसम्भवम्' ॥ (र० त० २४।१७८-८३)

Scanned with CamScanner

शुद्ध कुचिला का चूर्ण एक मास तक निरन्तर सेवन करने से पागल कुत्ते के काटने का विष नष्ट हो जाता है।[1]

मात्रा एवं अनुपान—१/४ से १ गुञ्जा एकाकी अथवा विविध योगों के साथ।

विषतिन्दुक का विष प्रभाव—धनुस्तम्भ, आक्षेपक, अंगमर्द, कम्प, दन्तहर्ष, कनीनिका विस्तार एवं नाड़ीमन्दता।

विष-प्रभाव की चिकित्सा—नागवल्लीदल स्वरस एवं गोघृत पिलाने से कुचिले का विष-प्रभाव नष्ट होता है।

शुद्ध कुचिला-निर्मित प्रमुख योग—१. नवजीवन रस, २. अग्नितुण्डी रस, ३. लक्ष्मीविलास रस, ४. शूलनिर्मूलन रस, ५. सूतिवातारि रस, ६. कुपिलुहिंग्वादि वटी, ७. विषतिन्दुक वटी तथा ८. कारस्करादि योग।

अहिफेन
(Opium)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : अहिफेन। हिन्दी : अफीम। अंग्रेजी : Opium.

ले० नाम—Papaver Somniferum Linn.

पर्याय—अहिफेन, अफेन, निफेन, अहिफेनक, आफूक, फणिफेन, नागफेन।[2]

परिचय—खस्तिल के फलों को चीरने से जो गोंद जैसा निर्यास निकलता है, उसे अफीम कहते हैं।[3]

प्राप्ति-स्थान—भारत में सर्वत्र इसकी खेती होती थी, सम्प्रति राजकीय नियन्त्रण के कारण राजकीय संरक्षण में ही बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है।

अहिफेन निर्यास का निर्मलीकरण—अहिफेन निर्यास को एकत्र कर जल में घोल कर कपड़े से छान लें। इस जल में थोड़ा गोदुग्ध मिलाकर मन्द अग्नि पर पकावें। द्रव जब गाढ़ा हो जाय तब इसे अग्नि से उतार ठण्डा कर स्वच्छ अहिफेन को प्राप्त कर लें।[4]

---

१. 'विषतिन्दुकबीजं तु प्रत्यहं परिशीलितम्।
निहन्ति कुक्कुरविषं खलु मासैकमात्रतः'॥ (र० त० २४।२३०)

२. 'अहिफेनमफेनञ्च निफेनमहिफेनकम्।
अफूकं फणिफेनञ्च नागफेनञ्च तन्मतम्' ॥ (र० त० २४।२३५)

३. 'खस्तिलस्य फलानां तु चीरणात्खलु दुग्धवत्।
निर्यासो योऽभिनिर्याति अहिफेनः स एव हि' ॥ (र० त० २४।२३६)

४. 'खस्तिलस्य तु निर्यासं सलिले तु सुनिर्मले।
सन्द्राव्य खलु यत्नेन वस्त्रपूतन्तु कारयेत्॥
निर्मलीकृतमेतत्तु खस्तिलद्रवतोयकम्।
गव्यदुग्धसमायुक्तं पचेन्मन्दाग्नियोगतः॥

अहिफेन का शोधन—जल एवं गोदुग्ध द्वारा स्वच्छ अहिफेन को आर्द्रक स्वरस की सात से इक्कीस भावना देकर सुखा कर रख लें। इससे अहिफेन शुद्ध हो जाता है।[1]

अहिफेन के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त होता है। यह शमन, ग्राही, दीपन, पाचन, स्तम्भन, निद्राजनन, वेदनाहर, शुक्रस्तम्भक, गर्भस्रावरोधक, रक्तस्रावरोधक एवं श्लेष्महर है। यह अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, सन्निपात, निद्रानाश एवं वमन आदि में लाभकारी है। बाह्य प्रयोग से फुप्फुसशोथ, आन्त्र-आवरणशोथ तथा सभी प्रकार की वेदना को शान्त करता है।[2]

अहिफेन की मात्रा—१/४ से १ रत्ती तक बल-काल का विचार करते हुए प्रयोग करें।[3]

अहिफेन का निषेध—बालक, वृद्ध, मधुमेहपीड़ित, हाथ-पैर ठण्डा होने पर तथा विसूचिका में, अधिक कफ-निष्ठीवन वाले कास में तथा वृक्कशोथ की स्थिति में अहिफेन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[4]

अहिफेन विष के प्रभाव की चिकित्सा—सौराष्ट्री चूर्ण, कार्पासत्वक् चूर्ण, हिंगु-

---

पाककालं सुविज्ञाय पाकविद्भिषजां वरः।
समाहरेत्प्रयत्नेन त्वफेनं निर्मलीकृतम्'॥ (र० त० २४।२३७-३९)

१. 'निर्मलं त्वहिफेनं तु भृङ्गवेरस्य वारिणा।
विभावितं सप्तवारं शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २४।२४२)

२. (क) 'अहिफेनं सुतिक्तं तु निद्राजनकमुत्तमम्।
ग्राहि चैव विशेषेण वेदनाविनिवारणम्॥
सन्निपातप्रशमनं तथा वमिनिषूदनम्।
पुरातनं नवं वापि विनिहन्त्यतिसारकम्'॥
(र० त० २४।२४३-४४)

(ख) 'अहिफेनं विशेषेण खलु बाह्यप्रयोगतः।
फुप्फुसच्छदशोथघ्नं त्वन्त्रावरणशोथनुत्॥
विविधोत्थानसम्भूतां विविधस्थानसंश्रयाम्।
तथा विविधसंस्थानां वेदनां विनिहन्त्यलम्'॥
(र० त० २४।२५८-५९)

३. 'आरभ्य गुञ्जापादांशाद् गुञ्जैकप्रमितं शुभम्।
अहिफेनं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० २४।२६२)

४. 'न बालेषु न वृद्धेषु मधुमेहप्रपीडिते।
शीतपादकरायाञ्च विषूच्यां खलु नैव च॥
न श्लैष्मिके तथा कासे प्रचुरश्लेष्मनिर्गमे।
अहिफेनं वृक्कशोथे प्रयुञ्जीत न कर्हिचित्॥ (र० त० २४।२५६-५७)

Scanned with CamScanner

जल, पिप्पलत्वक् कषाय तथा आर्द्रक स्वरस का उपयोग अहिफेन-सेवनजनित विष के प्रभाव में लाभकारी होता है।

अहिफेन-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. वेदनान्तक रस, २. निद्रोदय रस ३. सिन्दूर-भूषण रस, ४. हर्षोदया वटी, ५. अहिफेनासव, ६. मंगलोदया वटी, ७. कर्पूर रस तथा ८. वेदनान्तक मलहर।

जयपाल
(Croton Seed)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : जयपाल। हिन्दी : जमालगोटा। अंग्रेजी : Croton Seed। लेटिन : Croton Tiglium, Linn.

पर्याय[1]—जयपाल, जेपाल, रेचक, सारक, विभेदन, मलद्रावी।

परिचय—यह दन्ती जाति के वृक्ष का बीज है। यह ½ से ¾ इञ्च लम्बा अण्डाकार (छोटे एरण्ड बीज की तरह) भूरे मटमैले रंग का होता है। इसी बीज का उपयोग जयपाल के नाम से किया जाता है।

जयपाल का शोधन—(१) जयपाल के नूतन बीज को लेकर सर्वप्रथम उसका छिलका तथा बीज के दो दलों को अलग करके बीच के हरे रंग के अंकुर सदृश जीभ को निकाल दें। अब इस जीभरहित बीज मज्जा को एक कपड़े में बाँधकर दोला-यन्त्र-विधि से १ प्रहर तक पकावें। इस प्रकार ३ बार स्वेदन कर लेने से अथवा (२) जयपाल बीज मज्जा के आठवाँ भाग टंकण मिला कर पोट्टली बना दोलायन्त्र विधि से गोदुग्ध में ६ घंटे तक स्वेदन कर लेने से जयपाल शुद्ध हो जाता है। अथवा (३) जयपाल बीज मज्जा को गोदुग्ध में ३ घण्टे स्वेदन कर लेने के बाद अच्छी तरह पीस कर पीठी बना लें। अब इस पीठी को एक नये कोरे घड़े के बाहरी पेंदे पर (अथवा ब्लॉटिंग पेपर पर) पतला लेप कर दें। जब इसका तेल सूख जाय तब इसे खुरच कर एकत्र कर लें। इस प्रकार जयपाल शुद्ध हो जाता है।[2]

१. 'जयपालश्च जेपालो रेचकः सारकस्तथा।
विभेदनो मलद्रावी स एव परिकीर्तितः'॥ (र० त० २४।३०६)

२. 'जयपालस्य बीजानि नवानि तु समाहरेत्।
बाह्यत्वचमपाकृत्य द्विधा खलु विभेदयेत्॥
हरिद्वर्णा नातिदीर्घा रसनां तु परित्यजेत्।
पोट्टल्यामथ विन्यस्य दोलायन्त्रे विधानतः॥
गव्यदुग्धे प्रयत्नेन यामैकं स्वेदयेत्ततः।
एवं त्रिवारं संस्विन्नो जयपालो विशुद्धचति'॥
(अथवा)
'त्वग्रसज्ञाविरहितं जयपालस्य बीजकम्।
वस्वंशटङ्कणोपेतं पोट्टल्यां रोधयेद् दृढम्॥

जयपाल के तैलीय अंश को कम कर देने से इसकी विषाक्तता कम हो जाती है तथा सेवन से उदर में तोद (चुभन) आदि उत्पन्न नहीं होती है।

शुद्ध जयपाल के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण तथा गुण में गुरु, सर एवं उष्ण है। यह तीव्र विरेचक, वान्तिकर, पित्तजनक तथा वृश्चिक विषनाशक है। यह वातश्लेष्मनाशक, जलोदर, कृमि, नवज्वर एवं कुष्ठ नाशक है। इसके बीज को पीसकर वृश्चिक-दंश पर लेप करने से वृश्चिक-विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है।[1]

शुद्ध जयपाल की मात्रा—½ रत्ती से ¾ रत्ती तक विविध औषधियों के साथ मिला कर प्रयोग करें।[2]

जयपाल प्रयोग-निषेध—बाल, वृद्ध, कृश, क्षीण, गर्भिणी, गुदा के रोग, प्रवाहिका, आमाशय एवं पक्वाशय शोथ, गुदभ्रंश, आन्त्रशोथ युक्त बद्धगुदोदर तथा आन्त्रावरण-कलाशोथ की स्थिति में जयपाल युक्त योगों का प्रयोग न करें।[3]

विष-प्रभाव—तीव्र विरेचन, आन्त्रशोथ, उदरशूल एवं आटोप, स्वेदनिर्गम तथा नाड़ीगति की मन्दता आदि लक्षण जयपाल के विष-प्रभाव से होते हैं।

विष-प्रभाव की चिकित्सा—उष्ण जल, गोघृत, एलाचूर्ण एवं दधि, धान्यचूर्ण एवं शर्करा का सेवन लाभकर होता है।

स्वेदयेद् दोलिकायन्त्रे द्वियामं गव्यदुग्धतः।
इत्थं स्विन्नस्तु जैपालः शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्'॥
(अथवा)
'जयपालं त्वग्रसज्ञारहितं पोट्टलीगतम्।
दोलायन्त्रे तु यामैकं स्वेदयेद् गव्यदुग्धतः॥
सम्पेष्य खल्वे मूलेषु खर्परेषु प्रलेपयेत्।
विज्ञाय विगतस्नेहं जयपालं समाहरेत्॥
न्यसेद्वा यत्नतो मध्ये मपीशोषकपत्रयोः।
एवं तु विगतस्नेहो रेचकः शुद्धिमाप्नुयात्'॥ (र० त० १४।३१०-१७)

१. 'जयपालो मतस्तिक्तो विरेचनकरः परम्।
जलोदरप्रशमनो नवज्वरनिबर्हणः॥
कृमिहारी कुष्ठहरो वातश्लेष्मनिषूदनः।
वान्तिकृत्पित्तजननो वृश्चिकादिविषप्रणुत्'॥ (र० त० २४।३१८-१९)

२. 'अष्टमांशाद्रक्तिकाया रक्तिकाचरणांशिकम्।
जयपालं प्रयुञ्जीत भेषजैः सह योजितम्'॥ (र० त० २४।३२०)

३. 'बाले वृद्धे कृशे क्षीणे गर्भिण्यां च गुदामये।
प्रवाहिकायां शोथे च त्वामपक्वाशयाश्रिते॥
गुदभ्रंशे चान्त्रशोथयुते बद्धगुदोदरे।
तथान्त्रच्छदशोथे च जयपालं न योजयेत्'॥ (र० त० २४।३४०-४१)

Scanned with CamScanner

जयपाल-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. इच्छाभेदी रस, २. जलोदरारि रस, ३. ज्वरारिरस, ४. अञ्जनभैरव रस तथा ५. वृश्चिकविषहर प्रलेप।

जयपाल-निर्मित योगों का शीतल जल से प्रयोग करने पर विरेचन कर्म कराता है तथा मल की प्रवृत्ति रोकने के लिए उष्ण जल का प्रयोग किया जाता है।

धत्तूर
(Dhattura)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : धत्तूर। हिन्दी : धतूर या धतूरा। अंग्रेजी : Dhattura. लेटिन : Dhattura Stramonium.

पर्याय—धत्तूर, कितव, उन्मत्त, कनक (स्वर्ण नाम युक्त), शठ, कण्टक-फल, शिवशेखर।[1] मदन, शिवप्रिय, महामोही, देविका, स्वदूषण।

परिचय—धत्तूर क्षुप जाति की औषधि है। इसके फल के उपर काँटे उगे होते हैं। फूल के रंग की भिन्नता से धत्तूर कई प्रकार के होते हैं, किन्तु गुण की दृष्टि से सभी प्रायः समान होते हैं। काले फूल वाला अधिक गुण वाला होता है। इसके पत्र, मूल और बीज मुख्य रूप से औषधि कार्य के लिए लिये जाते हैं।

भेद—पुष्प के वर्ण के आधार पर इसके ५ प्रकार पाये जाते हैं। यथा—१. श्वेत, २. कृष्ण, ३. नील, ४. रक्त एवं ५. पीत। इनमें कृष्ण वर्ण के पुष्प वाला औषधीय दृष्टि से अधिक गुण वाला माना जाता है।

धत्तूर का शोधन—१. धत्तूर बीज को दोलायन्त्र-विधि से गोदुग्ध में ३ घंटे तक स्वेदन कर तत्पश्चात् गर्म जल से प्रक्षालन कर सुखा लेने से धत्तूर बीज शुद्ध हो जाता है।[2]

२. नवीन धत्तूर बीज को दोलायन्त्र-विधि से गोमूत्र में ३ घंटे स्वेदन कर बीज के उपर का त्वक् वस्त्र पर रगड कर निकाल दें। इससे धत्तूर बीज शुद्ध हो जाता है।[3]

शुद्ध धत्तूर के गुण-कर्म—यह कटु, तिक्त, कषाय एवं मधुर रसयुक्त; वीर्य में उष्ण तथा गुरु गुण युक्त होता है।

---

१. धत्तूरः कितवोन्मत्तौ धूर्तश्च कनकाभिधः।
शठश्च कण्टकफलः कीर्तितः शिवशेखरः'॥ (र० त० २४।३४२)

२. 'धत्तूरबीजान्यादाय पोट्टल्यां रोधयेत्ततः।
स्वेदयेद्दोलिकायन्त्रे गव्यदुग्धेन यामकम्॥
संस्वेद्य क्षालयेदुष्णतोयेन तु ततो भिषक्।
इत्थं शुद्धानि बीजानि वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥ (र० त० २४।३४६-४७)

३. 'नवानि धूर्त्तबीजानि दोलिकायन्त्रयोगतः।
स्वेदयेद् गव्यमूत्रेण यामैकं पोट्टलीगतम्॥
खल्वेऽथ खल्वं सम्पेष्य वस्त्रपूतं तु कारयेत्।
इत्थं शुद्धानि बीजानि वीतशङ्कः प्रयोजयेत्'॥ (र० त० २४।३४८-४९)

यह मद-मोह एवं मूर्च्छाजनक, अग्निदीपक, कान्तिवर्द्धक, वान्तिकर, वर्ण्य, त्वक्-दोषनाशक, स्तम्भन तथा हर्षवर्द्धक है। यह कफशामक, कफशोषक तथा पित्तनाशक है। श्वास, कास, आक्षेप, उन्माद, ज्वर, कुष्ठ, कण्डू, अभिष्यन्द एवं आमविष नाशक है। बाह्य प्रयोग से यह यूका तथा लिक्षा का नाश करता है (कृमिघ्न है)।[1]

मात्रा—धत्तूर बीज—½ रत्ती से ½ रत्ती तक।
पत्रचूर्ण—½ से १½ रत्ती तक।[2]

धत्तूर विष का प्रभाव—मुखशोष, लालानाश, गलशोथ, दृष्टिमान्द्य, स्वरभेद, कनीनिका-विस्तार, अंगों में रूक्षता तथा मृत्यु आदि लक्षण उत्पन्न करता है।

धत्तूर विष-प्रभाव की चिकित्सा—गोमूत्र-पेषित समुद्रफल का कल्क, वचाचूर्ण एवं दधि, शर्करा मिश्रित गोदुग्ध तथा कार्पास बीज क्वाथ से पिष्ट एरण्डमूल कल्क का प्रयोग धत्तूर के विष-प्रभाव को शान्त करता है।

शुद्ध धत्तूर-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. उन्मादगजांकुश रस, २. प्रलापान्तक रस, ३. ग्रन्थिशोथनिवारिका वर्तिका तथा ४. कनकासव।

भंगा
(Cannabis or Indian hamp)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : भंगा। हिन्दी : भांग। अंग्रेजी : Indian Hamp. लैटिन : Cannabis Indica.

पर्याय—भंगा, भंगी, मातुलानी, मादिनी, मातिका, मातुली, विजया, जया, तन्द्राकारिणी, बहुवादिनी।[3]

परिचय—भांग एक क्षुप जाती का पौधा है। यह उत्तर भारत के अनेक भागों में पाया जाता है। इसके पत्र एवं बीज का उपयोग औषधि कार्य के लिए किया जाता है।

---

१. 'धत्तूरः कटुकश्चोष्णस्तथा शोथनिषूदनः।
कृमिघ्नः कुष्ठशमनो विशेषाज्ज्वरनाशनः॥
परं त्वग्दोषशमनस्तथा कण्डूतिकापहः।
भ्रमकृन्मोहजननः समाख्यातो भिषग्वरैः'॥ (र० त० २४।३५०-५१)

२. 'आरभ्य गुञ्जापादांशाद् गुञ्जार्धं तु विशोधितम्।
धत्तूरबीजचूर्णन्तु प्रयुञ्जीत विधानवित्॥
गुञ्जार्द्धतः समारभ्य सार्द्धगुञ्जैकसम्मितम्।
चूर्णं धत्तूरपत्राणां प्राणाचार्यः प्रयोजयेत्'॥(र० त० २४।३६७-६८)

३. 'भङ्गा भङ्गी मातुलानी मादिनी मातिका तथा।
मातुली विजया तन्द्राकारिणी बहुवादिनी'॥ (र० त० २४।३९१)

Scanned with CamScanner

भांग का शोधन—

१. भांग की पत्ती को जल में भिगो-निचोड़ कर धूप में सुखा लें। तत्पश्चात् इसे गोघृत में मन्द-मन्द अग्नि पर भून लें, इस प्रकार भांग शुद्ध हो जाती है।[1]

२. भांग की पत्ती को बब्बूलत्वक् कषाय में आधे घण्टे उबाल कर पत्तियों को क्वाथ से निकाल-सुखा कर इसे पुनः गोदुग्ध से पीस (भावित) कर सुखा कर रख लें। इस प्रकार भांग शुद्ध हो जाती है।[2]

शुद्ध भांग के गुण-कर्म—यह रस में तिक्त, वीर्य में उष्ण तथा गुण में लघु एवं तीक्ष्ण होती है। यह ग्राही, दीपन, पाचन, मूत्रल, मदकारी, निद्राजनक, कामोद्दीपक तथा आमाशय के लिए बलप्रद है। यह कफनाशक किन्तु पित्तवर्द्धक है। यह ध्वजभंग, स्वप्नमेह, ग्रहणी, अतिसार, वृक्कशूल, पित्तशोषजशूल, धनुस्तम्भ, प्रलाप तथा निद्रा-नाश हर है।[3]

मात्रा—२ से ४ रत्ती तक।[4]

भांग के विष का प्रभाव—मद, प्रलाप, मूर्च्छा एवं तन्द्रा आदि लक्षण उत्पन्न करता है।

---

१. 'मातुलानीं शुष्कपत्रां सलिले तु निमज्जयेत्।
नीष्पीड्य शुष्कां गव्याज्ये भर्जयेन्मन्दवह्निना॥
सुभृष्टामथ विज्ञाय सत्वरं तु समाहरेत्।
इत्थं विशोधितां भङ्गां सर्वत्र विनियोजयेत्'॥ (र० त० २४।३९४-९५)

२. 'भङ्गां विशुष्कमादाय बब्बूलत्वक्कषायतः।
स्वेदयेद् घटिकार्द्धं तु मध्यमानलयोगतः॥
विज्ञाय विजयां स्विन्नां धर्मे खलु विशोषयेत्।
एवं संस्वेदिता भङ्गां शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्॥
एवं विशोधितां भङ्गां पिष्ट्वा गोदुग्धयोगतः।
कामोद्दीपनयोगेषु विशेषेण नियोजयेत्'॥ (र० त० २४।३९६-९८)

३. 'भङ्गा तिक्ता लघुस्तीक्ष्णा ग्राहिणी कफहारिणी।
दीपना पाचिनी चैव पित्तला मदकारिणी॥
भङ्गा क्षुद्दीपनी चैव ध्वजभङ्गहरा परम्।
स्वप्नमेहहरा चैव शुक्रस्तम्भनकारिणी॥
निद्राप्रदायिनी कामं कामोद्दीपनकारिणी।
प्रलापनाशिका चैव धनुःस्तम्भहरा तथा॥
आन्त्रशूलहरा चैव वृक्कशूलप्रणाशिनी।
पित्तशोषजशूलघ्नी त्वामाशयबलप्रदा॥
अजीर्णजातिसारघ्नी तथाजीर्णनिवारिणी'। (र० त० २४।३९९-४०३)

४. 'द्विगुञ्जतः समारभ्य चतुर्गुञ्जमितां परम्।
भङ्गां खलु प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० २४।४१४)

भांग विष के प्रभाव की चिकित्सा—तक्र, शुण्ठीकल्क मिश्रित दधि, चित्रकल्क मिश्रित तण्डुलोदक तथा बहुबीजफल कल्क का प्रयोग लाभकारी होता है।

शुद्ध भांग-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. मदनोदय मोदक, २. त्रैलक्यविजया वटी, ३. त्रैलोक्यसम्मोहन रस तथा ४. जातिफलादि चूर्ण आदि।

गुञ्जा
(Abrus Seed)

वर्ग—उपविषवर्ग।

नाम—संस्कृत : गुञ्जा। हिन्दी : रत्ती या घुघची। अंग्रेजी : Abrus seed.
लेटिन : Abrus precatorius.

पर्याय—गुञ्जा, रक्ता, रक्तिका, ताम्रिका, कृष्णचूड़िका, उच्चटा, शीतपाकी, भिल्लभूषणिका, अरुणा, चूड़ामणि, शिखण्डी, कृष्णला, काकणन्ती, कम्बोजी।[1]

परिचय—यह लता जाति की वनस्पति है। इसमें शिम्बी फलरूप में लगता है। जिसके पकने पर भीतर से गुञ्जा बीज रूप में प्राप्त होता है। गुञ्जा का मूल यष्टि-मधु की तरह मीठा होता है। इसकी लता सुन्दर होती है। इसका सुन्दर फल लम्ब-गोल आकार का होता है। बीज के उपर काला दाग होता है। श्वेत रक्तभेद के रूप में यह प्राप्त होता है। रक्त की अपेक्षा श्वेत गुञ्जा अधिक विषैला माना जाता है। स्वर्णकार लोग प्राचीन काल से स्वर्ण तौलने के लिए एक मात्रक के रूप में इसका उपयोग करते चले आ रहे हैं। जिससे यह रत्ती (एक भारमात्रक) के नाम से विख्यात है। चिकित्सा में इसके फल, मूल तथा बीज का उपयोग होता है। गुञ्जा बीज को ही उपविष मानते हैं।

गुञ्जा बीज-शोधन की आवश्यकता—अशुद्ध गुञ्जा बीज का अधिक मात्रा में सेवन वमन तथा तीव्र रेचन कराता है, अतः शोधन करके ही उपयोग में लेना चाहिए।[2]

गुञ्जा बीज-शोधन—१. नवीन गुञ्जा बीज के मोटे चूर्ण को द्विगुण वस्त्र की पोट्टली में बाँधकर गोदुग्ध में दोलायन्त्र-विधि से ६ घण्टे (२ प्रहर) स्वेदन कर लेने से गुञ्जा बीज शुद्ध हो जाता है।[3]

---

१. 'गुञ्जा रक्ता रक्तिका च ताम्रिका कृष्णचूडिका।
उच्चटा शीतपाकी च भिल्लभूषणिकारुणा॥
चूडामणिस्ताम्रिका च शिखण्डी कृष्णला तथा।
काकणन्ती च काम्भोजो सैवेह परिकीर्तिता'॥ (र० त० २४।४३७-४३८)

२. 'गुञ्जाबीजं वान्तिकरं तीव्ररेचनकृत्तथा।
शिलितं त्वतिमात्रं तु गुञ्जाबीजमशोधितम्'॥ (र० त० २४।४४१)

३. 'नवानि गुञ्जाबीजानि चूर्णीकृत्य प्रयत्नतः।
द्विगुणीकृतवस्त्रान्तः पोट्टल्यां रोधयेत्ततः॥

Scanned with CamScanner

२. गुञ्जा बीजको दोलायन्त्र-विधि से काञ्जी में १ प्रहर (३ घण्टे) स्वेदन कर लेने से शुद्ध हो जाता है।[1]

गुञ्जा के गुण-कर्म—गुञ्जामूल मधुर रसयुक्त, गुञ्जापत्र स्वरस मधुर एवं कटु रसयुक्त तथा वीर्य शीत होता है। यह गुण में लघु, रूक्ष एवं शीत है। शुद्ध गुञ्जा बीज—कामोद्दीपक, उरस्तम्भहर एवं बलवर्द्धक है। गुञ्जापत्र—शोथहर, आमवात-नाशक तथा वेदनाहर है। गुञ्जापत्र स्वरस—स्वरभेद, गलशोथ तथा कण्ठवेदना नाशक है। गुञ्जामूल—कफनिस्सारक, वातपित्तनाशक, स्वरभेदनाशक, तृष्णा एवं गलशोथ नाशक है। यह कासनाशक, शुक्रोत्पादक, रुचिकारक और विषनाशक है। यह बल एवं वर्णकर है।[2]

गुञ्जा बीज का बाह्य प्रयोग—शोथ, वेदना, पक्षवध, गृध्रसी, अपबाहुक, श्वित्र तथा इन्द्रलुप्त नाशक है।[3]

शुद्ध गुञ्जा बीज की मात्रा—½ रत्ती से १½ रत्ती तक।[4]

स्वेदयेद्दोलिकायन्त्रे द्वियामं गव्यदुग्धतः।
इत्थं तु गुञ्जाबीजानि शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २४।४४३-४४)

१. 'गुञ्जाबीजं पोट्टलीस्थं दोलायन्त्रे सकाञ्जिकम्।
यामैकं स्वेदनादेव शुद्धिमायात्यनुत्तमाम्' ॥ (र० त० २४।४४५)

२. 'गुञ्जाबीजं सुविमलं कामोद्दीपनमुत्तमम्।
उरस्तम्भहरं चैव बलसंवर्द्धनं परम् ॥
गुञ्जापत्रं शोथहरं त्वामवातप्रणाशनम्।
तथैव च समाख्यातं वेदनाहरमुत्तमम् ॥
गुञ्जापलाशनिर्यासो मधुरः कटुकस्तथा।
स्वरभेदप्रशमनः शोथघ्नो वेदनाहरः ॥
गुञ्जामूलं सुमधुरं कफनिस्सारकं परम्।
वातपित्तहरं चैव तृष्णाशोथनिवारणम् ॥
स्वरभेदप्रशमनं तथा वान्तिविनाशनम्।
मूत्रकृच्छ्रप्रशमनं बलवर्णकरं परम् ॥
कासघ्नं शुक्रजननं रुच्यं विषविनाशनम्'। (र० त० २४।४४६-५१)

३. 'गुञ्जाबीजं शिलापिष्टं वारिणा परिलेपितम्।
निहन्त्युत्पिष्टसन्धिस्थां दारुणां शोथवेदनाम् ॥
इन्द्रलुप्तं पक्षवधं तत्तदङ्गसमाश्रितम्।
गृध्रसीं दारुणां चैव सुघोरमवबाहुकम् ॥
गुञ्जाबीजं शिलापिष्टं वारिणा चित्रकान्वितम्।
प्रलिप्तं शमयत्येव श्वित्रकुष्ठविशेषतः'॥ (र० त० २४।४५४-५६)

४. 'गुञ्जार्द्धतः समारभ्य सार्द्धगुञ्जैकसम्मितम्।
गुञ्जाबीजं सुविमलं प्रयुञ्जीत विधानवित्' ॥ (र० त० २४।४५३)

गुञ्जा-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. गुञ्जादि तैल (प्रथम एवं द्वितीय), २. गुञ्जाजीवन रस तथा ३. गुञ्जाभद्र रस।

भल्लातक
(Marking Nut)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : भल्लातक। हिन्दी : भेलावा (भिलावा)। अंग्रेजी : Marking nut. लैटिन : Semicarpus anacardium Linn.

पर्याय—भल्लातक, भल्लात, तपन, अरुष्कर, अग्निक, दहन, वायुसखा, कृमिघ्न, वातारि।[1]

परिचय—हिमालय के गरम प्रदेशों में १० से ४० फुट ऊँचा भिलावे का सुन्दर वृक्ष होता है। भिलावा इसी वृक्ष का फल है। यह १ इंच लम्बा, पौन इंच चौड़ा अण्डाकार, लाल, चिकना तथा मोटी त्वचा वाला होता है। इस फल के अन्दर एक दाहक रस होता है, जो पकने, सूखने या हवा लगने पर काला हो जाता है। बीज के अन्दर एक प्रकार का गाढ़ा काला तेल भरा होता है तथा बीचोबीच भूरा सफेद बीज मज्जा होता है। चिकित्सा में भल्लातक फल का उपयोग किया जाता है।

ग्राह्य (उत्तम) भल्लातक के लक्षण—पक्व भल्लातक फल को पानी में डालने पर जो डूब जाय उसे उत्तम जानकर शोधन हेतु ग्रहण करें।[2]

भल्लातक-शोधन की आवश्यकता—यदि भल्लातक का रस बहुत थोड़ी मात्रा में भी शरीर के किसी भाग पर लग जाय तो वहाँ भयंकर दाह एवं व्रण उत्पन्न कर देता है। मुख पर लगने पर दाहयुक्त शोथ तथा विसर्पशोथ पैदा कर देता है, अतः उक्त उपद्रवों से बचने के लिए सावधानीपूर्वक भल्लातक फलों का शोधन करना चाहिए।[3]

भल्लातक का शोधन—

१. एक मजबूत कपड़े की पोट्टली अथवा थैली में भल्लातक एवं इष्टिका चूर्ण भर कर हाथों के मध्यम दबाव से रगड़ें। जब ईंट का चूर्ण तैल से तर हो जाय और

---

१. 'भल्लातकस्तु भल्लातस्तपनोऽरुष्करोऽग्निकः।
कृमिघ्नश्चैव वातारिः स एव परिकीर्तितः ॥ (र० त० २४।४७१)

२. 'भल्लातकस्य पक्वानि नीरक्षिप्तानि यानि तु।
निमज्जन्ति हि तान्येव ग्राह्याणीह विशुद्धये' ॥ (र० त० २४।४७३)

३. 'भल्लातकस्य तु रसः स्वल्पोऽपि पतितस्त्वचि।
करोति दारुणं दाहं व्रणं चैवातिदारुणम् ॥
शोथं सञ्जनयत्याशु तीव्रदाहसमन्वितम्।
मुखे निपतितो घोरं वीसर्पं प्रकरोति वै ॥
उक्तोपद्रवशान्त्यर्थं फलं भल्लातकोद्भवम्।
शोधयेद्भिषजां वर्यः सावधानतया सदा' ॥ (र० त० २४।४७४-७६)

Scanned with CamScanner

भल्लातक की त्वचा निकल जाय तब इसे गरम पानी में डालकर अच्छी प्रकार धोकर साफ कर सुखाकर रख लें। भल्लातक शुद्ध हो जाता है।[1]

२. सर्वप्रथम भल्लातक के वृन्तभाग की ओर से टोपी को चाकू से काट लें तथा रगड़ने से पूर्व हाथों में नारियल का तेल लगा लें। अथवा रगड़ने की बजाय, टोपी कटे भल्लातक को एक पात्र में बिछे इष्टिका चूर्ण में कटे भाग की ओर से प्रविष्ट कराकर २४ घण्टे के लिए छोड़ दें। दूसरे दिन भल्लातक के कटे भाग को बाहर निकालें। मुख पर लगे इष्टिका चूर्ण की मोटी परत को एक कपड़े से पोंछकर हटा लें, अब इसे गर्म जल से प्रक्षालन कर सुखाकर रख लें। इस प्रकार भल्लातक अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है।

३. भल्लातक के फलों को काट कर टुकड़े-टुकड़े कर वस्त्र में बाँधकर पोट्टली बना लें। अब इसे नारियल के जल में दोलायन्त्र-विधि से १ से २ घण्टे तक स्वेदन कर लें। इस विधि से भी भल्लातक शुद्ध हो जाता है।[2]

भल्लातक के गुण-कर्म—यह रस में कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर; वीर्य में उष्ण तथा गुण में अत्यधिक उष्ण एवं लघु होता है। यह रसायन, बलकर, कृमिनाशक तथा शुक्रल है। यह कफ एवं वातनाशक है। इसके प्रयोग से गुल्म, अर्श (कफज), ग्रहणी कुष्ठ, कृमि, विबन्ध, आध्मान, शूल, ज्वर, अग्निमान्द्य, श्वित्र, वातकफोदर, श्वास एवं कास रोग में लाभ होता है।[3]

मात्रा—१ से ३ रत्ती तक।[4]

भल्लातक-प्रयोग निषेध—पित्त प्रकृति के व्यक्तियों में इसका प्रयोग न करें।

भल्लातक के विष-प्रभाव की चिकित्सा—नवनीत के साथ तिल कल्क का प्रयोग, धान्यक कल्क, अर्जुनपत्र कल्क, विभीतकमज्जा, काममर्दपत्र कल्क, हरिद्रा कल्क तथा नारीकेलफल कल्क का लेप लाभकारी होता है।

---

१. 'इष्टिकाचूर्णसंयुक्तं फलं भल्लातकोद्भवम्।
पोट्टलीमध्यनिहितं घर्षयेन्नातिवेगतः॥
ततः प्रतप्ततोयेन क्षालयेदतियत्नतः।
इत्थं तैलत्वचाहीनं भल्लातं शुद्धिमाप्नुयात्'॥ (र० त० २४।४७७-७८)

२. 'भल्लातकफलानीह नारिकेलाम्बुयोगतः।
स्विन्नानि दोलिकायन्त्रे शुद्धिमायान्त्यनुत्तमाम्'॥ (र० त० २४।४७९)

३. 'भल्लातकः कटुस्तिक्त अत्युष्णः कृमिनाशनः।
रसायनो बलकरो गुल्मार्शोग्रहणीहरः॥
कुष्ठामयप्रशमनः कफवातोदरापहः।
विबन्धाध्मानशूलघ्नः श्वासादिगदनाशनः'॥ (र० त० २४।४८०-८१)

४. 'गुञ्जैकतः समारभ्य गुञ्जात्रितयसम्मितम्।
भल्लातकं प्रयुञ्जीत बलकालाद्यपेक्षया'॥ (र० त० २४।४८२)

भल्लातक-निर्मित कुछ प्रमुख योग—१. भल्लातक रसायन, २. सञ्जीवनी वटी, ३. अमृतभल्लातक तथा ४. भल्लातकावलेह।

करवीर
(Oleander)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : करवीर। हिन्दी : कनेर। अंग्रेजी : Oleander.
लेटिन : Nerium Indicum Mill.

पर्याय—करवीर, हयारि, हयमार, अश्वमार, अश्वान्तक, अश्वहा, अश्वघ्न, चण्डातक।[1]

परिचय—सर्वत्र सुलभ रूप से पाया जाने वाला वृक्ष है। इसके मूल को उपविष माना जाता है।

भेद—पुष्प-भेद से यह तीन प्रकार का पाया जाता है—१. श्वेतपुष्प, २. पीत-पुष्प एवं ३. रक्तपुष्प।[2]

प्रयोग—करवीर के मूलत्वक् स्वरस का उपयोग करने पर मोह, दाह एवं भ्रम आदि उत्पन्न करता है। यह बाह्य प्रयोग हेतु प्रयुक्त होता है। करवीर का आभ्यन्तर प्रयोग प्रचलित नहीं है।[3]

करवीर का बाह्य प्रयोग—करवीर मूलत्वक् को जल में पीस कर लेप करने से उपदंश व्रण में लाभ होता है। पत्र का स्वरस नेत्र में डालने से नेत्राभिष्यन्द तथा नेत्र से पानी निकलना बन्द हो जाता है।[4]

करवीर के निर्मित योग—करवीरादि तैल।

---

१. 'करवीरो हयारिश्च हयमारोऽश्वमारकः।
अश्वान्तकोऽश्वहाश्वघ्नो मतश्चण्डातकस्तथा'॥ (र० त० २४।४८७)

२. 'करवीरः श्वेतपीतरक्तपुष्पविभेदतः।
त्रिविधस्तु समाख्यातो वैद्यविद्याविशारदैः'॥ (र० त० २४।४८८)

३. 'करवीरः समाख्यातः सर्वत्र सुलभस्तरुः।
भिषग्वरैरस्य मूलं मतं तूपविषाह्वयम्॥
करवीरस्य मूलत्वक् तद्रसो वा निषेवितः।
करोति हि विशेषेण मोहदाहभ्रमादिकम्॥
करवीरकमूलन्तु बाह्ययोगे प्रयुज्यते।
आभ्यन्तरः प्रयोगोऽस्य न कुत्रापि प्रकीर्तितः'॥ (र० त० २४।४८९-९१)

४. 'करवीरकमूलं तु वारिणा परिपेषितम्।
समाख्यातं प्रलेपेन ह्युपदंशव्रणापहम्॥
करवीरदलद्रावो नेत्रयोर्विनियोजितः।
अभिष्यन्दं जलस्रावं व्यपोहति विशेषतः'॥ (र० त० २४।४९२-९३)

Scanned with CamScanner

लाङ्गली

(Gloriosa Superba Linn)

वर्ग—उपविष वर्ग ।

नाम—संस्कृत : लाङ्गली । हिन्दी : कलिहारी ।
लेटिन : Gloriosa Superba, Linn.

पर्याय—लांगली, हलिनी, सीरी, विशल्या, कलिहारिका, अग्निजिह्वा, स्वर्णपुष्पा, दीप्ता, नक्तेन्दुपुष्पिका, विद्युज्ज्वाला, वह्निशिखा, लांगली, गर्भपातिनी, हली, लांगलिनी ।[1]

परिचय—यह क्षुप जाति की वनस्पति है । यह हरिद्रा क्षुप से बड़ा किन्तु काफी समानता रखता है । इसके पत्ते बहुत कम चौड़े बाँस की तरह लम्बे काले रंग के होते हैं । इसका काण्ड कन्द से निकलते ही एक ओर से टेढ़ा सिकुड़ा हुआ होता है, जिससे इसकी आकृति हलके आकार की बन जाती है । इसका कन्द मांसल श्वेत वर्ण का मृदु तथा स्वाद में तिक्त होता है । पुष्प रक्त वर्ण का होने से इसे वह्निशिखा कहा जाता है । यह पंजाब के पर्वतों तथा हिमालय की तराई में पाया जाता है । इसका मूल (कन्द) उपविष माना जाता है ।

लांगली के आभ्यन्तर प्रयोग में दोष—लांगली के कन्द को सूखा अथवा गीला थोड़ी मात्रा में भी आभ्यन्तर प्रयोग करने पर भयंकर दाह, मोह, अतिसार तथा भ्रम उत्पन्न करता है ।[2]

लांगली का शोधन—लांगली का आभ्यन्तर प्रयोग न होने से शोधन की आवश्यकता नहीं है, तथापि लांगली को गोमूत्र में एक दिन रखने से शुद्ध हो जाता है ।

लांगली के गुण-कर्म—लांगली रस में कटु तथा वीर्य में उष्ण है । यह कफवातनाशक तथा सर है । यह अपरा का पातन करता है तथा सद्यः प्रसव कराने वाला होता है । शोथ, व्रण, कृमि एवं कुष्ठ नाशक है ।[3]

लांगली का बाह्य प्रयोग—अच्छी तरह धोकर स्वच्छ लांगलीमूल को जल से

---

१. 'लाङ्गली हलिनी सीरी विशल्या कलिहारिका ।
अग्निजिह्वा स्वर्णपुष्पा दीप्ता नक्तेन्दुपुष्पिका ॥
विद्युज्ज्वाला वह्निशिखा लाङ्गली गर्भपातिनी ।
हली लाङ्गलिनी चैव समाख्याता भिषग्वरैः' ॥ (र० त० २४।४९६-९७)

२. 'शुष्का वार्द्रा लाङ्गलिनी स्वल्पापि परिशीलिता ।
करोति दारुणं दाहं मोहातिसारविभ्रमम्' ॥ (र० त० २४।५००)

३. 'लाङ्गली कटुका चोष्णा कफवातहरा सरा ।
अपरापातिनी चैव सद्यःप्रसवकारिका ॥
शोथापहा विशेषेण मता व्रणनिवारिणी ।
कुष्ठकृमिप्रशमनी विशेषात्परिकीर्तिता' ॥ (र० त० २४।५०१-२)

पीस कर नाभि तथा योनि प्रदेश के उपर लेप करने से प्रसव शीघ्र हो जाता है । इसी लेप का हाथ एवं पैरों में लेप करने से अपरा (Placenta) निश्चित रूप से निकल आती है ।[1]

अर्कक्षीर

(Latex of Calotropis Procera)

वर्ग—उपविष वर्ग ।

नाम—संस्कृत : अर्कक्षीर । हिन्दी : मदार का दूध ।
लेटिन—Latex of calotropis procera.

पर्याय—अर्कक्षीर, रविक्षीर, सूर्यक्षीर, अर्कदुग्ध, सूर्यदुग्ध, रविदुग्ध ।[2]

अर्कक्षीर के गुण-कर्म—अर्कक्षीर रस में तिक्त तथा गुण में उष्ण और स्निग्ध है । इसके सेवन से कुष्ठ एवं गुल्म नष्ट होता है तथा उदररोग में लाभकारी है । यह अत्यन्त रेचक और वामक है । अर्श के मस्सों की वेदना में तथा कृमिदन्त की वेदना में इसके प्रयोग से लाभ होता है । त्वचा पर इसका लेप करने पर यह क्षार की तरह कार्य करता है ।[3]

अर्कक्षीर का बाह्य प्रयोग—समभाग अर्कक्षीर एवं मधु को एकत्र मिश्रित कर उसमें रूई भिगोकर कृमिदन्त वाले छिद्र में भर देने से वेदना शान्त हो जाती है । १ भाग अर्कक्षीर तथा ३ भाग शहद को एकत्र मिला कर इसे मुखक्षत में भीतर लेप करने से मुखक्षत में शीघ्र लाभ होता है । अर्कक्षीर में हरिद्रा एवं शिरीष बीज चूर्ण को मिला कर लेप बना अर्श के पुराने मस्सों पर लगाने से मस्से गिर जाते हैं ।[4]

---

१. 'सुधौतं लाङ्गलीमूलं वारिणा परिपेषितम् ।
नाभौ योनौ प्रलिप्तं वा सद्यः प्रसवकृन्मतम् ॥
लाङ्गली वारिणा पिष्टा करपादप्रलेपिता ।
अपरां पातयत्याशु न सन्देहोऽत्र कश्चन' ॥ (र० त० २४।५०४-५)

२. 'अर्कक्षीरं रविक्षीरं सूर्यक्षीरं तथैव च ।
अर्कदुग्धं सूर्यदुग्धं रविदुग्धं च तन्मतम्' ॥ (र० त० २४।५१०)

३. 'अर्कक्षीरं मतं स्निग्धं तिक्तोष्णं कुष्ठगुल्मनुत् ।
उदरापहमत्यन्तं रेचनं वान्तिकारकम् ॥
गुदाङ्कुरप्रशमनं कृमिदन्तव्यथापहम् ।
क्षारकर्मकरं चैव त्वचि लिप्तं विशेषतः' ॥ (र० त० २४।५११-५१२)

४. 'सक्षौद्रे रविदुग्धे तु तूलमल्पं निषेवितम् ।
कृमिदन्तस्थरन्ध्रस्थं कृमिदन्तव्यथापहम् ॥
त्रिगुणक्षौद्रसंयुक्तं रविदुग्धं प्रलेपितम् ।
मुखक्षतं शमयति द्रुतं नास्तीह संशयः ॥
निशाशिरीषबीजाढ्यं सूर्यदुग्धं विलेपितम् ।
गुदाङ्कुरान् पातयति चिरोत्थानप्यसंशयम्' ॥ (र० त० २४।५१३-५१५)

Scanned with CamScanner

अर्कक्षीर का विष-प्रभाव—आभ्यन्तर प्रयोग से यह तीव्र रेचन एवं वमन कराता है। बाह्य प्रयोग से स्फोट उत्पन्न करता है।

विषप्रभाव की चिकित्सा—गोघृत का पान तथा चिञ्चापत्र कल्क का बाह्य लेप लाभकारी होता है।

स्नुहीक्षीर

(Latex of Euphorbia nerifolia, Linn)

वर्ग—उपविष वर्ग।

नाम—संस्कृत : स्नुहीक्षीर। हिन्दी : थूहर का दूध।
लेटिन : Latex of Euphorbia nerifolia Linn.

पर्याय—स्नुहीक्षीर, सुधाक्षीर, सेहुण्डक्षीर, स्नुहीदुग्ध, स्नुग्दुग्ध।[1]

स्नुहीक्षीर का शोधन—दो पल (८ तोला) स्नुहीदुग्ध तथा २ तोले चिञ्चा-(इमली)पत्र स्वरस (कपड़े से छना हुआ) को एकत्र मिलाकर धूप में सुखा कर रख लें, इस प्रकार स्नुहीदुग्ध शुद्ध हो जाता है।[2]

स्नुहीक्षीर के गुण-कर्म—यह रस में कटु तथा गुण में गुरु एवं तीक्ष्ण है। यह दीपन, पाचन और विरेचक है तथा क्षारकर्म करता है। यह वातहर तथा गुल्म और उदररोग नाशक है। विषप्रभाव, आध्मान तथा गुदांकुर को नष्ट करता है। अन्तः प्रयोग से यह अत्यन्त विरेचन कराता है। आँख में पड़ जाने पर फूला उत्पन्न कर देता है। बाहर के किसी स्थान पर लगाने पर क्षारकर्म करता है।[3]

बाह्य प्रयोग—स्नुहीदुग्ध को हरिद्रा, कोपातकी एवं सैंधव सहित गोमूत्र में मिलाकर अर्श पर लेप करने से अर्श के अंकुर नष्ट हो जाते हैं।[4]

स्नुहीक्षीर का विष-प्रभाव—आभ्यन्तर प्रयोग से यह तीव्र रेचन कराता है।

---

१. 'स्नुहीक्षीरं सुधाक्षीरं सेहुण्डक्षीरकं तथा।
स्नुहीदुग्धं सुधादुग्धं स्नुग्दुग्धं च मतन्तु तत्' ॥ (र० त० २४।५१६)

२. 'पलद्वयं सुधादुग्धं तोलकद्वयसम्मिते।
चिञ्चादलद्रवे वस्त्रपूते धर्मे विशोषयेत् ॥
द्रवं विशुष्कं विज्ञाय सुधादुग्धं समाहरेत्।
ततः सर्वत्र योगेषु प्रयुञ्जीत भिषग्वरैः' ॥ (र० त० २४।५१७-५१८)

३. 'सुधादुग्धं वातहरं गुल्मोदरविनाशनम्।
विषाध्मानहरं चैव गुदाङ्कुरहरं परम् ॥
परं विरेचनकरं पुष्पकृत्त्वक्षिमध्यगम्।
समाख्यातं विशेषेण क्षारकर्मकरं परम्' ॥ (र० त० २४।५१९-५२०)

४. 'सुधादुग्धं निशाकोपातकी सैन्धवसंयुतम्।
गोमूत्रेण प्रलिप्तं तु पातयेद् गुदजाङ्कुरान्' ॥ (र० त० २४।५२१)

स्नुहीक्षीर के विष-प्रभाव की चिकित्सा—इसमें गोघृत का पान लाभकारी होता है।

क्षारसूत्र-निर्माण—स्नुहीदुग्ध में हरिद्रा का कपड़छन चूर्ण मिला कर इसमें एक दृढ़ सूत्र भिगोकर छाया में शुष्क कर लें। अच्छी तरह सूख जाने पर पुनः हरिद्राचूर्ण मिश्रित स्नुहीदुग्ध का लेप कर सुखा लें। इस प्रकार सात बार लेप कर सुखा कर सुरक्षित रख लें। इसे क्षारसूत्र कहते हैं। यह अर्श के मस्से को काटने तथा भगन्दर के छेदन के लिए काम में लेते हैं। सावधानी से इसका प्रयोग करें।[1]

---

१. 'सुधादुग्धे वस्त्रपूतहरिद्राचूर्णसंयुते।
निषिक्तेन तु तूलेन स्वल्पेन खलु यत्नतः ॥
प्रलिप्तं सुदृढं सूत्रं छायायामथ शोषयेत्।
विलिप्य सप्तधा ह्येवं शोषयेद् भिषजां वरः ॥
सूत्रमेतत्समाख्यातं क्षारसूत्रं तु नामतः।
गुदाङ्कुरच्छेदनार्थममोघास्त्रमिदं मतम् ॥
भगन्दरच्छेदनार्थमप्येतद्विनियुज्यते ।
प्रयोक्तव्यं क्षारसूत्रं सावधानतया सदा' ॥ (र० त० २४।५२७-५३०)

Scanned with CamScanner

शुद्धि-पत्रक

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
रसवाङ्मय की निरुक्ति	रसवाङ्मय में रसशब्द की निरुक्ति	१	११
प्रारम्भ में कब से	प्रारम्भ कब से	३	९
रूप	रुद्र	३	१७
मिलती है'	मिलती है	१०	१८
उपयोग देख जाता	उपयोग देखा जाता	२७	५
समला, पाँच	समला पाँच	२७	१८
रूप	रूप्य	२८	३
रस की २१ बार	रस में २१ बार	३२	१९
रससमं	रत्नसमं	४७	११
स्त्रीयोगे	स्त्रीयोगे	१७	१८
क्रमण	क्रमणं	४७	२०
भैरवनन्दी	भैरव, नन्दी	४९	१५
यह भी ज्ञात	यह ज्ञात	५६	२५
ओले कापड़	गीला वस्त्र	७६	चित्र
सात कापड़	कपड़मिट्टी द्वारा सन्धिबन्धन		
विटा	ईंट	८०	चित्र
पारदयुक्त बालुका लौह मूषा मुख पर बन्द की हुई	पारदयुक्त लौह मूषा	८४	चित्र
एवं रासायनिक	एवं विविध रासायनिक	१०३	२८
विशेद्वाह्नि	विशेद्वह्नि	१०३	३५
जमीन गर्त में	जमीन के गर्त में	१०८	१७
तापनियन्त्रक	तापमानसूचक	११०	चित्र
(Metal : s)	(Metals)	२९५	२०
उपलेह	उपलोह	२९८	४
Metalic	Metallic	३०८	१२
सामान्य स्वर्ण का	स्वर्ण का	३०९	११
लोहनां	लोहानां	३०९	२७
स्वर्णभस्म के अनुपान	स्वर्णभस्म के विशिष्ट अनुपान	३१५	१९
क्षाररहति	क्षाररहितं	३७५	२१

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद, नई दिल्ली
द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम

रसशास्त्र

(ज्ञातव्य—'रसशास्त्र एवं भैषज्य कल्पना' विषय में १००-१०० अंक के दो प्रश्नपत्र होंगे। इनमें प्रथम पत्र १०० अंक का रसशास्त्र विषयक होगा)

(प्रथम प्रश्नपत्र)

(भाग 'क' : ५० अंक)

(१) रसशब्द की निरुक्ति १, इतिहास और दर्शन का विवेचन। रस और रसायन में भेद का उचित परिज्ञान (पृष्ठ १-६०)।

(२) **परिभाषा-प्रकरण**—लवण पञ्चक ७०, पञ्चामृत ७०, पञ्चभव्य ७१, पञ्चमृत्तिका ७२, मधुरत्रय, ७०, क्षीरत्रय ७१, अम्लवर्ग ७०, द्रावकवर्ग ७१, कज्जली ७१, रसपंक ७१, रसपिष्टि ७१, भावना ७२, ढालन, आवाप ७२, निर्वाप ७२, शोधन ७२, मारण ७३, मृतलोह, अपुनर्भव, निरुत्थीकरण, वारितर आदि का ज्ञान।

(३) **यन्त्र**—दोलायन्त्र ७४, डमरुयन्त्र ७५, स्थालीयन्त्र ७६, पालिकायन्त्र ७७, स्वेदनी यन्त्र ७७, पुटयन्त्र ७९, विद्याधर यन्त्र ८०, घटयन्त्र ८१, पातालयन्त्र ८५, पातना यन्त्र ८२, भूधरयन्त्र ८४, खल्वयन्त्र ८६, तुलायन्त्र ८८, उदूखलयन्त्र ८९, कच्छपयन्त्र ९०, बालुका यन्त्र ७८, आदि का परिचय एवं उनका उपयोग।

(४) **मूषा**—सामान्य मूषा ९४, वज्र मूषा ९५, पक्व मूषा ९५, गोस्तनी मूषा ९५—इनका स्वरूप तथा मूषा के आधुनिक स्वरूप का ज्ञान।

(५) **कोष्ठी**—चुल्लिका १००, अंगारकोष्ठी १००, पातालकोष्ठी १०१, गारकोष्ठी १०१ और सत्त्वपातन कोष्ठियों के आधुनिक स्वरूप १०२।

(६) **पुट**—महापुट १०५, गजपुट १०५, वाराहपुट १०६, कुक्कुटपुट १०६, कपोतपुट १०७, गोमयपुट १०७, कुम्भपुट, बालुकापुट १०८, भूधरपुट १०८ तथा लावक पुट १०८—इनका परिचय उपयोग एवं आधुनिक विद्युत् भट्ठी का परिचय तथा विस्तृत ज्ञान १०९।

(भाग 'ख' : ५० अंक)

(७) **रस**—रस का पर्याय १११, प्राप्तिस्थान ११९, रस का यौगिक स्वरूप, नैसर्गिक, यौगिक, औपाधिक एवं कञ्चुकादि पारद के दोष १२०, पारद का ग्राह्याग्राह्य स्वरूप १२६, पारद का शोधन १२७, पारद के आठ संस्कार १३०, पारद की गतियाँ १४५ और पारद के बन्धन १८६।

Scanned with CamScanner

कज्जली, रसपर्पटी १६३, लोहपर्पटी १६४, ताम्रपर्पटी १६६, स्वर्णपर्पटी १६५, विजयपर्पटी १६५, पञ्चामृतपर्पटी १६९, रसपुष्प १८२, रसकर्पूर १८३, गुन्धरस १७२, रससिन्दूर १७७, मकरध्वज १७९, सिद्धमकरध्वज १८१ आदि पारदीय कल्पों का निर्माण-प्रकार; इन कल्पों की मात्रा, गुण, आमयिक प्रयोग, हिंगुलोत्थ पारद तथा पारद का सामान्य शोधन ।

(८) **महारसादि वर्ग**—महारस १९३, उपरस १९४, साधारण रस १९७; इनके अन्तर्गत द्रव्यों : **महारस**—अभ्रक २०१, वैक्रान्त २१२, माक्षिक २१६, विमल २२३, शिलाजतु २२५, सस्यक २३०, चपल २३६ एवं रसक २३८ । **उपरस**—गंधक २४१, गैरिक २४८, कासीस २५०, स्फटिका २५४, हरिताल २५७, मनःशिला २६२, अंजन २६६ तथा कंकुष्ठ २७१ । **साधारण रस**—कम्पिल्लक २७४, संखिया २७६, नवसादर २७९, कपर्द २८१, अग्निजार २८४, गिरिसिन्दूर २८६, हिंगुल २८७ और मृद्दारशृंग २९०; इनका स्वरूप, प्राप्तिस्थान, शोधन, मारण, सत्त्वपातन, मात्रा, गुण और आमयिक प्रयोग का विस्तार से वर्णन । स्वर्णवंग ३६८, रसमाणिक्य २६२, श्वेतपर्पटी १७१ आदि कल्पों की निर्माण-विधि, मात्रा और गुणों का विशद ज्ञान ।

(९) **धातुएँ**—स्वर्ण ३०५, रजत ३१९, ताम्र ३२५, लोह ३३४—इन सार लोहों का; नाग ३७०, वंग ३६०, यशद ३७७—इन पूति लोहों का तथा पित्तल ३८२, कांस्य ३८४, वर्त्त ३८६—इन मिश्र लौहों का प्राप्तिस्थान, स्वरूप, भेद, शोधन, मारण, लोहितीकरण, अमृतीकरण ३३२ की विधि तथा इनकी मात्रा और इनके गुणों का परिज्ञान । भूनाग २३४ और मयूरपिच्छ २३६ का सत्त्वपातन ।

(१०) **रत्नोपरत्नशंखादि**—माणिक्य ३९४, मुक्ता ३९६, प्रवाल ४०१, मरकत ४०४, पुष्पराग ४०६, हीरक ४०८, नीलम ४१४, गोमेद ४१६, वैडूर्य ४१९ इन रत्नों का तथा वैक्रान्त ४२२, सूर्यकान्त ४२२, चन्द्रकान्त ४२३, राजावर्त ४२४, पेरोजक ४२७, स्फटिक ४२८, व्योमाश्म ४२९, बदराश्म ४४९, कौशेयाश्म ४४७, गोदन्ती ४३५, तृणकान्त ४३१, पालक, रुधिर पूतिका सौगंधिक, दुग्धपाषाण ४४६, मृगशृंग ४३७, शंख ४४१, शुक्ति ४३९, खटिका ४३४ आदि सुधावर्गीय द्रव्यों का परिचय, प्राप्तिस्थान, स्वरूप, शोधन, मारण, पिष्टीकरण तथा मात्रा, गुण एवं आमयिक प्रयोगों का ज्ञान ।

(११) **विषोपविष**—विष एवं उपविषों का ज्ञान, सामान्य शोधन ४५८ और उनकी प्रयोग-विधियों की जानकारी ४४६-४८० ।

(१२) औषधि-प्रसाधन अधिनियम में वर्णित रसशाला का एवं औषधि निर्माण सम्बन्धी नियमों और परिनियमों का ज्ञान ६१-६८ ।